स उच्यते भिषक्
हा अमीव चातनः

तदेव युक्तं भैषज्यं
यदारोग्याय कल्पते

स चैव भिषजां
यो रोगेभ्यः प्रमो

आचार्य वैद्य

# धर्मदत्त अभिनन्दन-अंक

[ गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय की आयुर्वेद-पत्रिका ]



संवत् २०२९ विक्रमी

आचार्य वैद्य धर्मदत्त अभिनन्दन समिति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय (हरिद्वार)

सम्पादक मण्डल

प्रधान सम्पादक-डाक्टर अनन्तानन्द आयुर्वेदालंकार,
प्रिन्सिपल-आयुर्वेद महाविद्यालय, गुरुकुल कांगड़ी
सम्पादक-डा० क्रान्तिकृष्ण, आयुर्वेदालंकार, एम० ए०।

# ★ आचार्य धर्मदत्त वैद्य अभिनन्दन समिति ★

संरक्षक — १–श्री रघुवीरसिंह शास्त्री
२–पण्डित धर्मपाल विद्यालंकार

संयोजक — पण्डित किशोरीदास वाजपेयी

अध्यक्ष — वैद्य रामनारायण शर्मा,
( संचालक श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन )

व्यवस्थापक — पण्डित दीनदयालु शास्त्री, सिद्धान्तालंकार

मन्त्री — वैद्य अनन्तानन्द,
प्रिन्सिपल आयुर्वेद कालेज, गुरुकुल कांगड़ी

सह मन्त्री — डाक्टर क्रान्तिकृष्ण आयुर्वेदालंकार, एम०ए०

उपमन्त्री — डाक्टर विजयकुमार शास्त्री 'योगी' फार्मेसी

विशिष्ट सदस्य —
१–श्री पारस कुमार जैन
२–वैद्य रणजित् राय, सूरत
३–श्री योगेन्द्रपाल शास्त्री
४–डाक्टर धर्मानन्द केसरबानी, दिल्ली
५–आचार्य ब्रह्मदत्त शर्मा, दिल्ली
६–वैद्य गंगाधर, कनखल
७–श्री मनोहर विद्यालंकार, दिल्ली
८–श्री अमरनाथ विद्यालंकार, संसत्सदस्य, चण्डीगढ़
९–वैद्य दिलीपचन्द्र, पटियाला आयुर्वेदिक फार्मेसी, सरहिन्द
१०–पंडित गणपति वेदालंकार, गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी
११–महाशय बूढीराम, योगी फार्मेसी
१२–कविराज [illegible] मुलतानी, हैदराबाद

---

विप्रः स उच्यते भिषक् रक्षो हा अमीव चातनः | तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते | स चैव भिषजां श्रेष्ठो यो रोगेभ्यः प्रमोचयेत्

# आचार्य वैद्य
# धर्मदत्त अभिनन्दन-अंक

[ गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय की आयुर्वेद-पत्रिका ]



संवत् २०२८ विक्रमी



## आचार्य वैद्य धर्मदत्त अभिनन्दन समिति
## गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय (हरिद्वार)

सम्पादक मण्डल

प्रधान सम्पादक–डाक्टर अनन्तानन्द आयुर्वेदालंकार,
प्रिन्सिपल–आयुर्वेद महाविद्यालय, गुरुकुल कांगड़ी।
सम्पादक–डा० क्रान्तिकृष्ण, आयुर्वेदालंकार, एम० ए०।

# ❋ इस माला में हम जो फूल पिरो सके हैं ❋


| | | | |
|---|---|---|---|
| | शुभ कामनाएं-- | | १-२२ |
| १ | मैं अकेला बढ़ता चलूंगा (कविता) | डा० श्री कान्तिकृष्ण 'अपूर्व', एम०ए० | १ |
| २ | आचार्य धर्मदत्त वैद्य का जीवन परिचय | डाक्टर श्री कान्तिकृष्ण, एम०ए० | ३ |
| ३ | आयुर्वेद की चिकित्साप्रणाली | डा० बी०गोपाल रेड्डी,पी-एच०डी०,डी०लिट् | ७ |
| ४ | आयुर्वेद का त्रैदोषिक दृष्टिकोण | आचार्य धर्मदत्त वैद्य, विद्यालंकार | १० |
| ५ | आहार महिमा (चरक सुश्रुत) | | १६ |
| ६ | श्वित्र रोग | डाक्टर श्री नरेन्द्रपाल, आयुर्वेदालंकार | १७ |
| ७ | चिकित्सक के कर्तव्य | आचार्य धर्मदत्त वैद्य विद्यालंकार | २३ |
| ८ | वर्षा ऋतुचर्या (सुश्रुत) | | २७ |
| ९ | आयुर्वेद पद्धति के कायाकल्प | डाक्टर श्री अशोककुमार, आयुर्वेदालंकार | २८ |
| १० | आयुर्वेद चिकित्सापद्धति | श्री के.के शाह, स्वास्थ्यमन्त्री | ३३ |
| ११ | शांकर वेदान्त पर चरकानुमत शून्यवाद | डाक्टर रामराज वैद्य, आयुर्वेदाचार्य | ३४ |
| १२ | शरीर पर अग्निदग्ध का प्रभाव | श्री मंगलाप्रसाद बरनवाल | ४८ |
| १३ | जीवनसूत्र (सूक्ति संकलन) | श्री जितेन्द्रकुमार | ५६ |
| १४ | Medicine in Anicient India | Dr. C Dwarkanath | ५७ |
| १५ | प्रावृट् ऋतुचर्या (सुश्रुत) | | ७२ |
| १६ | फ़्लू | श्री वेदप्रकाश श्रीवास्तव | ७३ |
| १७ | आयुर्वेदिक द्रव्यगुण विज्ञानविधि | आचार्य धर्मदत्त वैद्य, विद्यालंकार | ७६ |
| १८ | ग्रीष्म ऋतुचर्या (सुश्रुत) | | ८१ |
| १९ | त्रिदोष या त्रिधातु का रहस्य | वैद्य सभाकान्त झा शास्त्री | ८२ |
| २० | प्रमेह विकार | आचार्य रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य | १०० |
| २१ | आहारकाल (सुश्रुत) | | ११६ |
| २२ | वैदिक यज्ञचिकित्सा | डाक्टर रामनाथ वेदालंकार, एम.ए. | ११७ |
| २३ | मन का द्रव्यत्व | आचार्य ब्रह्मदत्त शर्मा, आयुर्वेदालंकार | १२७ |
| २४ | ज़ख्म छोटा है मगर उपेक्षा न कीजिए | श्री जसबन्तराय गोयल | १३७ |
| २५ | आयुर्वेद में अनुसन्धान | श्री अशोककुमार वर्मा | १४० |
| २६ | Snake Bite | डाक्टर लक्ष्मीशंकर विश्वनाथ गुरु | १४३ |
| २७ | शरद ऋतुचर्या (सुश्रुत) | | १४८ |
| २८ | Ayurved in a Nut shell | आचार्य धर्मदत्त वैद्य, विद्यालंकार | १४९ |
| २९ | वनस्पति घृत | श्री मुकुटमोहन संगल | १५१ |
| ३० | आचार्य धर्मदत्त वैद्य जी के विचार | आचार्य निरंजनदेव, आयुर्वेदालंकार | १५४ |
| ३१ | अर्शोरोग | आचार्य ब्रह्मदत्त शर्मा, आयुर्वेदालंकार | १५७ |
| ३२ | बसन्त ऋतुचर्या (सुश्रुत) | | १६३ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३३ | बालपक्षाघात | श्री बृजमोहन जायसवाल | १६३ |
| ३४ | हेमन्तशिशिर ऋतुचर्या (सुश्रुत) | | |
| ३५ | फिरंग रोग | श्री अमरनाथ त्रिपाठी | १६७ |
| ३६ | जातकर्म संस्कार | डाक्टर क्रान्तिकृष्ण एम० ए० | २०१ |
| ३७ | पक्तिव्रणः एक मनः शारीरिक रोग | डाक्टर राजेन्द्रकुमार,एम०,ए०,आयुर्वेदालंकार | २०४ |
| ३८ | त्रिदोष कार्य पर प्रकाश के बिना.. | वैद्य किशोरदास भागीरथ गुप्ता | २१० |
| ३९ | स्नान से लाभ (सुश्रुत) | — | २१६ |
| ४० | श्वासरोग | डाक्टर रामदयाल कपूर एम.बी.बी एस. | २१७ |
| ४१ | अर्शः पीड़ादायक रोग | श्री नेत्रपालसिंह | २२३ |
| ४२ | अन्तरिक्ष आयुर्वेद | श्री गोविन्द जोशी | २२७ |
| ४३ | सुलभ रोगों की सुलभ चिकित्सा | वैद्य रामनाथ, आयुर्वेदाचार्य | २६६ |
| ४४ | वैयक्तिक स्वस्थवृत्त | आचार्य धर्मदत्त वैद्य विद्यालंकार | २५७ |
| ४५ | उपशय | श्री अम्बिकादत्त मिश्र, आयुर्वेदाचार्य | २६६ |
| ४६ | गाजर की पुष्टिकारकता | श्री रमेशचन्द्र त्रिपाठी | २७६ |
| ४७ | भारतीय संस्कृति का प्रतीक आयुर्वेद | वैद्य वासुदेव मिश्र | २८१ |
| ४८ | तस्मै श्री गुरवे नमः | आचार्य निरंजनदेव वैद्य | २८३ |
| ४९ | रीतिकालीन आयुर्वेद | डा० विष्णुदत्त राकेश, एम०ए०, पी-एच०डी | २८७ |
| ५० | आचार्य धर्मदत्त वैद्य आधुनिक धन्वन्तरि | डाक्टर सूर्यदेव प्राणाचार्य, आयुर्वेदालंकार | २९२ |
| ५१ | श्री वैद्य धर्मदत्त वरेण्यानाम् | श्री नरहरिः भटः | २९४ |
| ५२ | वह शहतूत का पेड़ | श्रीमती प्रेमलता दीप | २९८ |
| ५३ | आचार्य धर्मदत्त वैद्य विद्यालंकार | वैद्य रामनाथ, आयुर्वेदाचार्य | ३०१ |
| ५४ | कविराज पं० धर्मदत्त विद्यालंकार | पंडित धर्मदेव विद्यामार्तण्ड | ३०३ |
| ५५ | सखा, सुहृत् सत्शिष्य | श्री वेदस्वामी मेधारथी सरस्वती | ३०६ |
| ५६ | आचार्य धर्मदत्त वैद्य, विद्यालंकार | श्री मनसाराम व्यास, पुराणाचार्य | ३०७ |
| ५७ | आचार्य धर्मदत्त वैद्य का प्रसाद | प्रोफेसर जनमेजय विद्यालंकार | ३०९ |
| ५८ | जोत से जोत जले | महाशय बूड़ीराम वैद्य, योगी फार्मेसी | ३१० |
| ५९ | अजातशत्रु धर्मदत्त वैद्य, विद्यालंकार | डाक्टर वेदव्रत, एम०बी०बी०एस० | ३१२ |
| ६० | आचार्य धर्मदत्त वैद्य विद्यालंकार की सेवा में | श्री शिवचैतन्यपुरी | ३१४ |
| ६१ | आदरणीय वैद्य धर्मदत्त जी | लाला श्री वेणीप्रसाद जिज्ञासु | ३१६ |
| ६२ | आचार्य धर्मदत्त वैद्य विद्यालंकार | श्री सीताराम 'प्रेमी' | ३१८ |
| ६३ | कविराजं धर्मदत्त महोदयं प्रति | श्री धर्मदेवो विद्यामार्तण्डः | ३१९ |
| ६४ | श्री धर्मदत्त वैद्य विद्यालंकार | श्री महेशदास शिक्षारत्न | ३२० |
| ६५ | श्री धर्मदत्त गुरवे नमः | डाक्टर वासुदेव चैतन्य | ३२१ |
| ६६ | अभिनन्दनीय वैद्यराज | कविराज योगेन्द्रपाल शास्त्री | ३२२ |
| ६७ | महामान्यनां श्री धर्मदत्तवैद्य महोदयानां | प्रोफेसर जनमेजय विद्यालंकार, एम.ए. | ३२३ |
| ६८ | वह अविस्मरणीय दिवस | श्री महादेवप्रसाद ए एम एस., एम.ए. | ३२४ |


★

# * हम जिनके ऋणी हैं *

१. श्रीयुत वराहगिरि वेंकट गिरि,
राष्ट्रपति, भारत सरकार, नई दिल्ली–४

२ पण्डित किशोरीदास वाजपेयी, कनखल, हरद्वार
हिन्दी जगत के मूर्धन्य साहित्यकार।

३. श्री जगजीवन राम
रक्षामन्त्री, भारत सरकार, नई दिल्ली।

४. श्री गुलजारीलाल नन्दा,
रेलमन्त्री, भारत सरकार, नई दिल्ली।

५ श्रीयुत् के. के. शाह,
स्वास्थ्यमन्त्री, भारत सरकार, नई दिल्ली

६. श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी
(क) कुलपति, भारतीय विद्याभवन, चौपाटी, बम्बई–६।
(ख) भूतपूर्व राज्यपाल, उत्तर प्रदेश।

७. श्री डाक्टर बी. गोपाल रेड्डी
पी-एच. डी., डी. लिट्.,
राज्यपाल, उत्तरप्रदेश, लखनऊ।

८. आयुर्वेदचक्रवर्ती वैद्यरत्न पण्डित शिवशर्मा, संसत्सदस्य तथा श्री राष्ट्रपति के मानद निजी आयुर्वेद चिकित्सक, और लंका-महाराष्ट्रराज्य के मानद आयुर्वेदिक परामर्शदाता और अध्यक्ष–अखिल भारतीय आयुर्वेदमहासम्मेलन (१९३८–४२, १९५२-५५, १९६५-६७), बहारिस्तान, बोमनजी पेटिट रोड, कंबाला हिल, बम्बई–२६।

९. श्री मुकुन्दीलाल द्विवेदी,
निदेशक–आयुर्वेदिक यूनानी सेवा, उत्तर-प्रदेश, लखनऊ।

१०. आचार्य रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेद बृहस्पति,
(क) भूतपूर्व प्रिन्सिपल, आयुर्वेद कालेज गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
(ख) भूतपूर्व प्रिन्सिपल, आयुर्वेद कालेज, बेगूसराय (बिहार)।
(ग) भूतपूर्व डाइरेक्टर, आयुर्वेदिक अनुसन्धान संस्था, जामनगर (गुजरात)
(घ) भूतपूर्व आयुर्वेद परामर्शदाता, लंका सरकार।

११. श्री डाक्टर सी. द्वारकानाथ
**Formerly cheif Adviser in Indian system of Medicine Ministry of Health, New Delhi,**
(आयुर्वेद ग्रन्थों के प्रणेता)।

१२. आचार्य प्रियव्रत शर्मा,
(क) निदेशक, स्नातकोत्तर, आयुर्वेदीय संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५
(ख) भूतपूर्व प्रिन्सिपल, गवर्नमेन्ट आयुर्वेदक कालेज, पटना।

१३. आचार्य निरंजनदेव, आयुर्वेदालंकार
(क) भूतपूर्व प्रिन्सिपल, आयुर्वेद कालेज, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरद्वार
भूतपूर्व प्रिन्सिपल, आयुर्वेद कालेज, बरेली।

१४. आचार्य ब्रह्मदत्त शर्मा, आयुर्वेदालंकार
(क) प्रिन्सिपल, आयुर्वेदिक यूनानी तिबिया कालेज, दिल्ली
(ख) भूतपूर्व प्रिन्सिपल, आयुर्वेद कालेज, बेगूसराय (बिहार)।
(ग) भूतपूर्व प्रिन्सिपल श्री मस्तनाथ आयुर्वेद कालेज, अस्थल बोहर, रोहतक।

१५. वैद्य किशोरदास भागीरथ गुप्ता,
ए. सी. एण्ड डी. सी. (बम्बई)।
(क) दन्तस्वास्थ्य-दन्तरोग विशेषज्ञ,
(ख) बिना बधिरता, बिना वेदना दांत उखाड़ने की कला के विशेषज्ञ,
(ग) दन्तरोग विषयक अनेक ग्रन्थों के कर्त्ता; (३२८ विट्ठलभाई पटेल रोड, बम्बई–४)।

१६. आचार्य डाक्टर लक्ष्मीशंकर विश्वनाथ गुरु, एम.एम.एस., एम.ए.,पी-एच.डी रीडर, स्नातकोत्तर आयुर्वेदीय संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस ।

१७. डाक्टर रामदयाल कपूर, एम०बी०बी०एस० (प्रसूतितन्त्र ग्रन्थ के कर्त्ता) हरिद्वार

१८. कविराज योगेन्द्रपाल शास्त्री, शक्तिआश्रम, कनखल (हरिद्वार)।

१९. श्री महादेव प्रसाद पाण्डे, ए.एम.एस.,एम.ए रीडर, गवर्नमेन्ट आयुर्वेद कालेज, रायपुर।

२०. प्रोफेसर श्री जनमेजय विद्यालंकार, एम.ए. ७।१८३ स्वरूपनगर, कानपुर ।

२१. श्री पण्डित धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, आनन्द कुटीर, ज्वालापुर । वैदिक-साहित्य-संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित।

२२. डाक्टर रामराज वैद्य, एम.ए., पी-एच.डी. दर्शनाचार्य, नव्यव्याकरणाचार्य, आयुर्वेदाचार्य प्रोफेसर, आयुर्वेद कालेज, गुरुकुलकांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (आयुर्वेद, दर्शन, व्याकरण के उच्च कोटि के विद्वान)।

२३. डाक्टर रामनाथ वेदालंकार, एम.ए., पी-एच. डी., रीडर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान) ।

२४. वैद्य सभाकान्त झा शास्त्री १ गुप्ता लेन, जोड़ासांकू, कलकत्ता, (आयुर्वेद जगत के सम्पादनकला-पत्रकारिता के मर्मज्ञ)।

२५. वैद्य रामनाथ आयुर्वेदाचार्य,एम.एस.सी.ए. रीडर, आयुर्वेद कालेज, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार । (आयुर्वेदिक वनस्पतियों के मर्मज्ञ,चिकित्सक)

२६. डाक्टर क्रान्तिकृष्ण, आयुर्वेदालंकार, एम.ए. आयुर्वेद के तथा संस्कृत के विद्वान, सम्पादक, कवि, लेखक, चिकित्सक। आयुर्वेद कालेज, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार ।

२७. डाक्टर श्री राजेन्द्रकुमार, आयुर्वेदालंकार, मनोविज्ञान से एम.ए., आयुर्वेद कालेज,गुरुकुलकांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार (आयुर्वेद के विद्वान चिकित्सक)

२८. डाक्टर श्री नरेन्द्रपाल, आयुर्वेदालंकार, एम.ए., ए.एम.बी.एस., आयुर्वेदकालेज गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (आयुर्वेद के विद्वान लेखक)

२९. श्री महेशचन्द्र शास्त्री परीक्षामन्त्री, भारतीय विद्या भवन, चौपाटी-पथ बम्बई–७

३०. श्री पण्डित धर्मपाल विद्यालंकार स.मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

३१. डाक्टर श्री अशोककुमार, आयुर्वेदालंकार (प्रधान सम्पादक, नेशनल मेडिकल गजट) नया बाजार, लश्कर (ग्वालियर)

३२. वैद्य अम्बिकादत्त मिश्र, आयुर्वेदाचार्य, विभागाध्यक्ष, आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जामनगर, गुजरात ।

३३. वैद्य वासुदेव मिश्र, आयुर्वेदाचार्य, (सदस्य, इण्डियन मेडिसिन बोर्ड, उत्तर-प्रदेश, लखनऊ) खेतासराय, जौनपुर ।

३४. डाक्टर विष्णुदत्त राकेश, एम.ए.,पी.एच. डी., गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरद्वार ( कवि तथा हिन्दी के विद्वान लेखक )।

३५. डाक्टर सूर्यदेव प्राणाचार्य, आयुर्वेदालंकार आर्यसमाज मार्ग, गोरखपुर, (आयुर्वेद के विद्वान चिकित्सक)।

३६. श्रीमती प्रेमलता दीप
मिलवांकी, विसकान्सिन, अमरीका ।

३७. परिव्राजकाचार्य वेदस्वामी मेधारथी सरस्वती एम.ए., एल.टी. सामवाचस्पति, विद्यालंकार, पालिरत्नम्, आयुर्वेद शास्त्री, ब्रह्मापर्वयज्ञ सुधारक परिषद्, आनन्दबाग कानपुर

३८. श्री नरहरि भट्ट, एम.ए., (संस्कृत के विद्वान्)
श्री हरेराम आश्रम, कनखल (हरद्वार) ।

३९. श्री मनसाराम व्यास व्याख्यानदिवाकर पुराणाचार्य, कनखल हरिद्वार।

४०. महाशय बूड़ीराम वैद्य, योगी फार्मेसी, कनखल (आयुर्वेद तथा हिकमत के विद्वान) ।

४१. डाक्टर वेदव्रत, एम.बी.बी.एस.,एम.ए., ई–११ कृष्णनगर, दिल्ली–५१ ।

४२. श्री शिवचैतन्यपुरी, म्यु० कमिश्नर
कनखल हरिद्वार ।

४३. श्री लाला वेणीप्रसाद जिज्ञासु, कनखल हरिद्वार

४४. श्री सीताराम 'प्रेमी'
महामन्त्री, गंगा सभा, हरद्वार ।

४५. श्री महेशदास शिक्षारत्न, भूतपूर्व प्रिन्सिपल सनातनधर्म हायर सेकण्डरी स्कूल, कनखल

४६. डाक्टर वासुदेव चैतन्य, आयुर्वेदालंकार ।
आयुर्वेद कालेज गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार (संस्कृत के कवि) ।

४७. श्री मंगलाप्रसाद, आयुर्वेद कालेज, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार ।

४८. श्री जितेन्द्रकुमार, आयुर्वेद कालेज,
गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार ।

४९. श्री वेदप्रकाश, आयुर्वेद कालेज, गु० कांगड़ी

५०. श्री जसवन्तराय, आयुर्वेद कालेज गु०कांगड़ी

५१. श्री अशोककुमार वर्मा, आयुर्वेद कालेज
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ।

५२. श्री मुकुटमोहन संगल, आयुर्वेद कालेज
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

५३. श्री बृजमोहन जायसवाल,
आयुर्वेद कालेज, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

५४. श्री अमरनाथ त्रिपाठी, आयुर्वेद कालेज
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरद्वार ।

५५. श्री नेत्रपालसिंह आयुर्वेद कालेज, गुरुकुल कांगड़ी ।

५६. श्री गोविन्द जोशी, आयुर्वेद कालेज गु०कांगड़ी

५७. श्री रमेशचन्द्र त्रिपाठी, आयुर्वेद कालेज,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार ।

५८. वैद्य रणजितराय देसाई,
आयुर्वेदालंकार, प्रिंसिपल आयुर्वेद कालेज, सूरत, (आयुर्वेद ग्रन्थों के कर्त्ता, लेखक प्रसिद्ध विद्वान्) ।

५९. पण्डित रामनारायण शर्मा वैद्य,
संचालक, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड, झांसी (आयुर्वेद की शास्त्रचर्चापरिषद् के प्रणेता, आयुर्वेदिक औषधियों के प्रसिद्ध निर्माता, आयुर्वेद ग्रन्थों के प्रणेता) ।

६०. वैद्य दुर्गाप्रसाद शर्मा, आयुर्वेदाचार्य, प्राणाचार्य, वैद्यरत्न, आयुर्वेद शिरोमणि, आयुर्वेदचक्रवर्ती । संचालक, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेदभवन प्राइवेट लिमिटेड, पटना, (कौंसिल ऑफ स्टेट बोर्ड्स एण्ड फ़ैकल्टीज ऑफ इण्डियन मेडिसिन के १३वें अधिवेशन, नैनीताल के अध्यक्ष; बिहार राज्य आयुर्वेदिक यूनानी अधिकाय के अध्यक्ष) ।

६१. डा धर्मानन्द केसरवानी, आयुर्वेदालंकार विद्यामार्त्तण्ड,आयुर्वेद महोपाध्याय एम डी. (म्यूनिख),एम डी (रोम), टी.डी.डी. (इटली), जैड.टी. (वीएना), जैड. चिरुर्जी (बर्लिन) / Ex-civil Surgeon in Bavaria—Germany & also Lecturer in

Medicine—University of Munich/Ex-Medical officer to U.S.A. Air Field—Holzkirchen—Germany/Former, Medical Superintendent—King Edward VII Sanatorium—Bhowali—Nainital & Principal G.K. Ayurvedic College—Jamnagar & Principal State Ayurvedic College—Lucknow.

## जिनकी शुभ कामनाएं हमारा बल है


| | | पृष्ठ संख्या |
|---|---|---|
| १. | श्रीयुत वी.वी. गिरि<br>राष्ट्रपति, भारत सरकार | ३ |
| २. | श्री जगजीवनराम, रक्षामन्त्री, भारत सरकार | ३ |
| ३. | श्री गुलजारीलाल नन्दा, रेलमन्त्री, भारतसरकार | ४ |
| ४. | श्री कन्हैयालाल, माणिकलाल मुंशी | ४ |
| ५. | पण्डित शिवशर्मा वैद्य, संसतसदस्य | ५ |
| ६. | श्री महेशचन्द्र शास्त्री, बम्बई | ५ |
| ७. | वैद्य मुकुन्दी लाल द्विवेदी, डाइरेक्टर आयुर्वेद | ६ |
| ८. | आचार्य प्रियव्रत शर्मा, निदेशक स्ना. आ. सं., बनारस | ७ |
| ९. | श्री धर्मपाल विद्यालंकार, स. मुख्याधिष्ठाता | ८ |
| १०. | श्री भूदेव विद्यालंकार, कानपुर | ९ |
| ११. | श्री प्रेमनाथ सेठी, दिल्ली | १० |
| १२. | श्री कविराज पुरुषोत्तमदेव मुलतानी, हैदराबाद | १० |
| १३. | कर्नल सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, दिल्ली | ११ |
| १४. | आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, गुरुकुल कांगड़ी | १२ |
| १५. | वैद्यरत्न दुर्गा प्रसाद शर्मा, पटना | १३ |
| १६. | वैद्य रणजितराय देसाई, प्रिन्सिपल, सूरत | १४ |
| १७. | डाक्टर धर्मानन्द केसरवानी, एम. डी., | १५ |
| १८. | पण्डित रामनारायण शर्मा, झांसी | १७ |
| १९. | प्रोफेसर मूलरतन, कनखल | २० |
| २०. | श्री आत्मानन्द, नई दिल्ली | २१ |
| २१. | श्री हरिदत्त बहुगुणा, कनखल | २२ |
| २२. | श्री पारसकुमार जैन, वैद्य गंगाधर शर्मा, कनखल | २२ |
| २३. | पण्डित किशोरीदास वाजपेयी | २३ |

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के संस्थापक
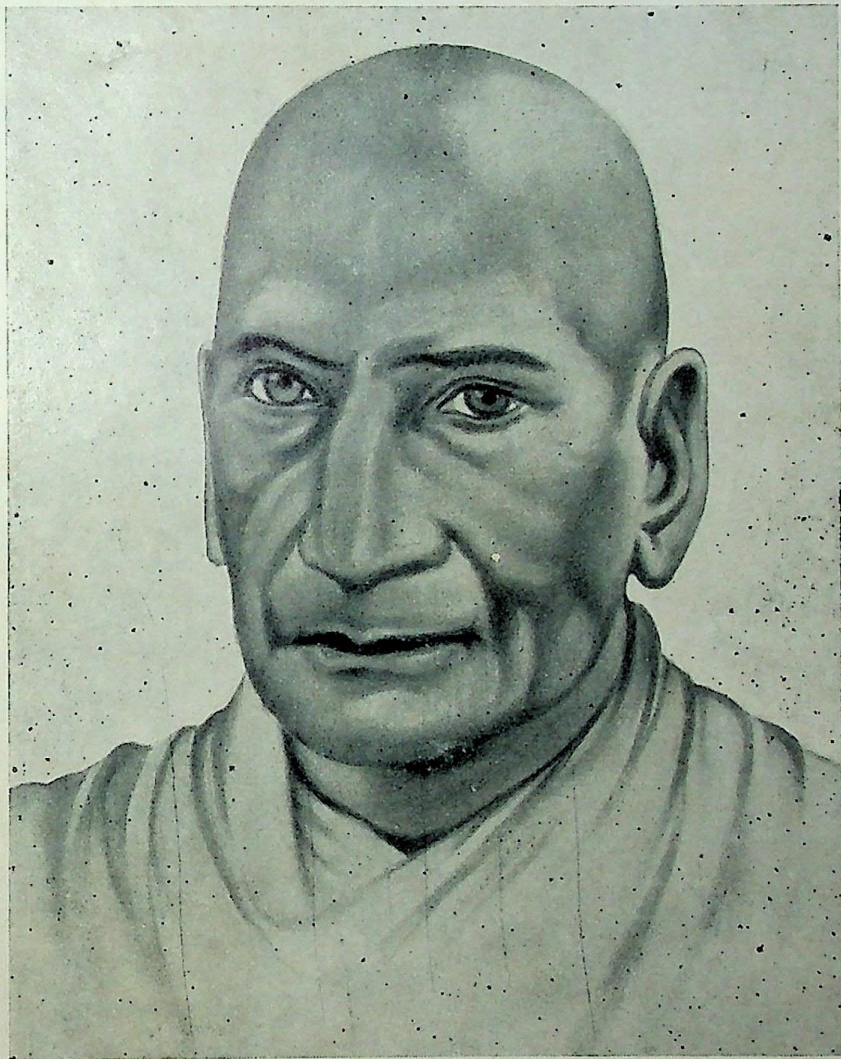
अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज

आचार्य वैद्य धर्मदत्त जी (कनखल)

की सेवा में

# शुभ कामनाएं

# प्रार्थना

ओ३म् आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यतां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

—यजुर्वेद २२।२२॥

राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली–४

अक्तूबर ५, १९७०
पत्रावली संख्या ११८–हि। ७०

प्रिय महोदय,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आचार्य वैद्य धर्मदत्त विद्यालंकार को सम्मानित करने के लिए अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का आयोजन किया जा रहा है।

आचार्य वैद्य धर्मदत्त विद्यालंकार के स्वस्थ एवं दीर्घजीवन के लिए राष्ट्रपति जी अपनी शुभकामनायें भेजते हैं।

भवदीय,
हस्ताक्षर खेमराज गुप्त
(खेमराज गुप्त)
राष्ट्रपति के अपर निजी सचिव

राष्ट्रपति

★ ★ ★

रक्षा मन्त्री, भारत
नई दिल्ली
दिनांक १९ अक्टूबर १९७०

वैद्य श्री धर्मदत्त के ७६वें वर्ष में पदार्पण करने के उपलक्ष में उनकी हीरक जयन्ती समारोह-पूर्वक मनाई जा रही है, यह ज्ञात हुआ।

मेरी शुभकामना है कि श्री धर्मदत्त दीर्घायु हों। चिकित्सा क्षेत्र में सामाजिक सेवा करते रहें।

समारोह सफल हो।

ह० जगजीवनराम
(जगजीवनराम)

रेल मन्त्री, भारत
नई दिल्ली
२७ नवम्बर, १९७०

यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि वैद्य धर्मदत्त विद्यालंकार की हीरक-जयन्ती मनाने का निश्चय किया गया है।

आयुर्वेद भारत की ही नहीं, सम्भवतः दुनियां की सबसे पुरानी चिकित्सा-पद्धति है। नाड़ी-ज्ञान, रोग-निदान और रोग के कारण को ही समाप्त करना–इस पद्धति की विशेषता होती है। भले ही आज डाक्टरी चिकित्सा (एलोपैथी) का अधिक प्रचार है, फिर भी साधारण जनता में आयुर्वेद पर ही अधिक विश्वास है। यह बात दूसरी है कि आजकल आयुर्वेद में भली-प्रकार प्रशिक्षित वैद्यों की संख्या कम है और आयुर्वेद के क्षेत्र में अनुसन्धानकार्य हमारी आज की जरूरतों के मुताबिक नहीं हो पा रहा है।

मेरी कामना है कि वैद्य जी चिरायु हों जिससे आयुर्वेद के क्षेत्र में वह जो सेवा कर रहे हैं, उसे बल मिले और समाज का भी लाभ हो।

ह० गुलजारीलाल नन्दा
(गुलजारीलाल नन्दा)

★ ★ ★

भारतीय विद्याभवन
चौपाटी पथ, बम्बई–७
९ दिसम्बर १९७०

वैद्य श्री धर्मदत्त जी की आयुर्वेद सेवा के उपलक्ष में जो अभिनन्दन समारोह आयोजित किया जा रहा है, वह प्रशंसनीय है।

आयुर्वेद की सेवा इसी प्रकार उनके शिष्य प्रशिष्यों द्वारा भी होती रहे और यह विद्या हमारे देश के लिए उपादेय बनी रहे यही कामना है।

ईश्वर श्री वैद्य धर्मदत्त जी को दीर्घायु दे, यही शुभकामना है।

भवदीय,
हस्ताक्षर : कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी
(कुलपति)
(क० मा० मुंशी)
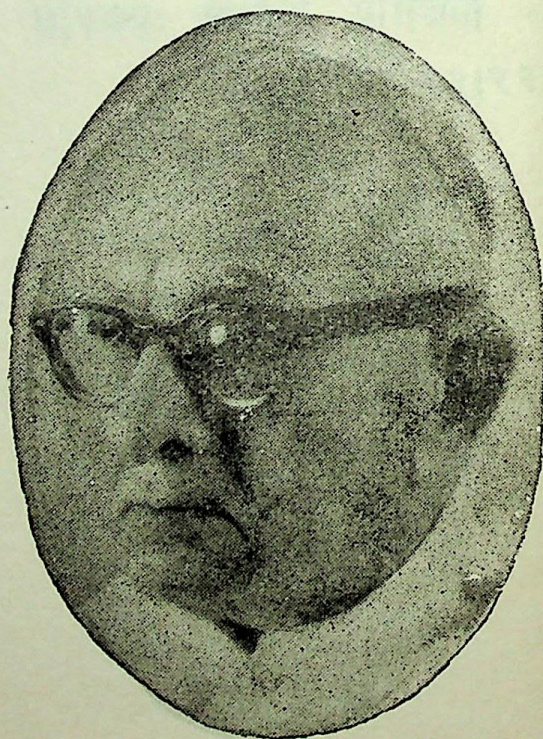
५ अक्टूबर १९७०

आचार्य वैद्य श्री धर्मदत्त जी विद्यालंकार भारतीय चिकित्साविज्ञान, आयुर्वेद के एक प्रकाशस्तम्भ हैं। इनके अनेक शिष्य प्रशिष्य भारत भर में–चिकित्सा क्षेत्र में, आयुर्वेद के शिक्षण प्रशिक्षण की संस्थाओं में, तथा औषधनिर्माण के क्षेत्र में यश प्राप्त कर रहे हैं। इस कोटि के विद्वानों तथा चिकित्सकों की संख्या भारत में बहुत कम रह गई है। इनसे इनके जीवनकाल में जितना ज्ञान प्राप्त कर लिया जाए कम है। ईश्वर इन्हें दीर्घायु करे।

मुझे यह जान कर हर्ष और संतोष हुआ है कि भारत का वैद्य समाज उनकी हीरक जयन्ती मना रहा है और इस प्रकार शास्त्र के प्रति तथा प्रखर विद्वत्ता के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा है। इस सुअवसर पर श्री विद्यालंकार जी के प्रति मैं भी अपनी शुभकामना अर्पित करता हूं और आशा करता हूं कि इस हीरक जयन्ती समारोह को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त होगी।

ह० शिवशर्मा
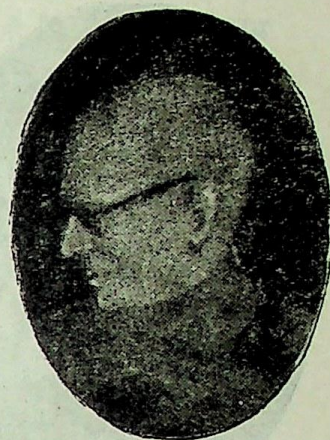
पंडित शिवशर्मा
संसद सदस्य

★ ★ ★

भारतीय विद्याभवन
चौपाटी पथ, बम्बई ७
१० दिसम्बर, १९७०

हमें यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि वैद्य श्री धर्मदत्त जी का अभिनन्दन किया जा रहा है। आयुर्वेद जगत् में आपकी सेवायें प्रशंसनीय हैं। हमारे देश की इस प्राचीन विद्या की रक्षा एवं उसके विकास में आपका योगदान सदैव स्मरणीय रहेगा।

हम आपके दीर्घजीवन एवं सुयश की कामना करते हैं।

भवदीय,
महेशचन्द्र शास्त्री
(परीक्षा मन्त्री)
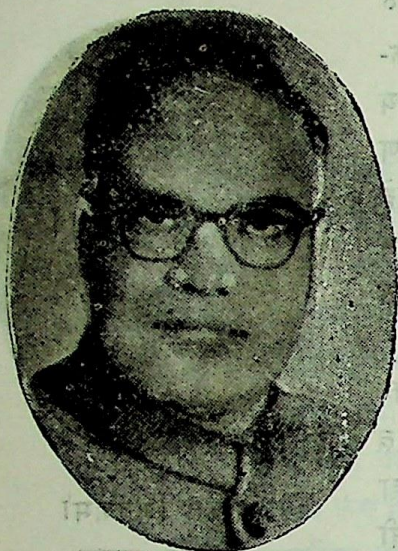
श्री मुकुन्दीलाल द्विवेदी,
आयुर्वेदिक एवं यूनानी सेवा निदेशक
उत्तर प्रदेश । १२ अक्टूबर १९७०

प्रिय महोदय,

मुझे यह जान कर हर्ष हुआ कि आचार्य वैद्य धर्मदत्त विद्यालंकार की हीरक जयन्ती समारोह मनाने का निश्चय किया गया है। आचार्य धर्मदत्त जी द्वारा की गई आयुर्वेदजगत् की सेवायें बहुमूल्य हैं और वे सदा स्मरणीय रहेंगी। प्राच्य और प्रतीच्य आयुर्वेदशास्त्र का उनका समन्वित ज्ञान सराहनीय है और उन्होंने आयुर्वेद के वांगमय की श्रीवृद्धि में जो योगदान दिया है वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। शिक्षा और चिकित्सा के क्षेत्र में भी उन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। वे एक अत्यन्त सौम्य गम्भीर एवं उदारहृदय व्यक्ति हैं और आयुर्वेद सद्वृत्त के मूर्तिमान स्वरूप हैं। ऐसे निर्लिप्त एवं कर्मनिष्ठ विद्वान् का समादर एवं अभिनन्दन अवश्य ही किया जाना चाहिए।

ईश्वर से मेरी प्रार्थना है कि वे आचार्य धर्मदत्त जी को शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से सौ वर्ष से भी अधिक समय तक स्वस्थ बनाये रक्खें जिससे कि वे आयुर्वेदजगत को मार्गदर्शन एवं प्रकाश प्रदान करते रहें।

भवदीय,
ह० मुकुन्दीलाल द्विवेदी
(मुकुन्दीलाल द्विवेदी)

★

श्री मुकुन्दीलाल द्विवेदी,
आयुर्वेदिक एवं यूनानी सेवा निदेशक,
उत्तर प्रदेश।

१ अप्रैल १९७०

प्रिय महोदय,

मुझे यह जानकर हर्ष हुआ कि आपकी संस्था वार्षिक आयुर्वेदपत्रिका का प्रकाशन शीघ्र करने जा रही है। किसी भी महाविद्यालय की पत्रिका उस संस्था के कार्यकलाप तथा उसके विद्वान अध्यापकों द्वारा किए गए गवेषणा कार्य का निर्देशन तो करती ही है किन्तु उसके द्वारा छात्रों को भी ज्ञानार्जन और अपनी प्रतिभा के विकास का अच्छा अवसर मिलता है। मुझे आशा है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के साथ-साथ पत्रिका सर्व-साधारण तथा विशेष रूप से आयुर्वेद जगत के लिए उपादेय होगी। कार्य में अधिक व्यस्त होने के कारण मैं इस अवसर पर उपर्युक्त पत्रिका के लिए लेख भेजने में असमर्थ हूं।

कृपया पत्रिका के लिए मेरी शुभकामनायें स्वीकार करें।

मुकुन्दीलाल द्विवेदी

५ अक्टूबर १९७०

निदेशक--स्नातकोत्तर आयुर्वेदीय संस्थान
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

मान्य महानुभाव,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आचार्य वैद्य धर्मदत्त विद्यालंकार की हीरक-जयन्ती आप लोगों ने मनाने का निश्चय किया। अपने अग्रजों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति शनैः शनैः समाप्त होती जा रही है। आयुर्वेदीय क्षेत्र में तो इसका नितान्त अभाव है। थोड़े दिन पूर्व जो हमारे बीच से चले गये और जो अभी हमारे बीच वर्तमान हैं उनके नाम लेने वाले बहुत थोड़े हैं। ऐसी स्थिति में आचार्य धर्मदत्त जी की हीरक-जयन्ती मनाकर आप न केवल एक वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध आयुर्वेदमहारथी का अभिनन्दन कर रहे हैं अपितु आयुर्वेदसमाज में इस लुप्त भावना को पुनरुज्जीवित कर रहे हैं। मुझे एक ही वार उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और मैं उनकी विद्वत्ता, अध्यवसाय तथा व्यवहार से अत्यन्त प्रभावित हुआ हूं।

इस अवसर पर मेरी हार्दिक शुभकामना स्वीकार करें। ईश्वर से मेरी प्रार्थना है कि आयुर्वेद की उन्नति के लिए आचार्य जी को लम्बी आयु प्रदान करें।

भवदीय,
ह० प्रियव्रत शर्मा
(प्रियव्रत शर्मा)

★

आचार्य वैद्य श्री धर्मदत्त जी अपने शिक्षा-काल में सर्वोत्तम छात्रों में गिने जाते थे – वैदिक साहित्य की ओर विशेष अभिरुचि थी। सैद्धान्तिक ग्रन्थों के अनुशीलन से आप की प्रवृत्ति आचार-सम्बन्धी साहित्य व आयुर्वेद की तरफ हो गई। जहां अन्य छात्रों ने वैदिक धर्म-प्रचार,पत्रकारिता, इतिहास आदि विषयों में दक्षता प्राप्त की वहां पंडित धर्मदत्त जी ने मद्रास के आयुर्वेद कालेज में प्रविष्ट होकर आयुर्वेदभूषण की उपाधि ग्रहण की। आप के सब भाईयों ने गुरुकुल में अध्ययन किया था, अत:आचार्य-ऋण व गुरुऋण को उतारने की दृष्टि से गुरुकुल में आयुर्वेद की शिक्षा के लिए महात्मा मुंशीराम जी (स्वामी श्रद्धानन्द जी) के आदेशानुसार आपने आयुर्वेद के उपाध्याय पद को स्वीकार कर लिया। गुरुकुल के महान् आदर्शों की पूर्ति के लिए जब महात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल प्रारम्भ किया तो प्रारम्भ के उन ब्रह्मचारियों में अपने सब भाईयों के साथ वैद्य जी भी प्रविष्ट हुए। गुरुकुल में कौन अपने पुत्रों को प्रविष्ट करायेगा–इस आशंका को निर्मूल सिद्ध कर दिया।

इस अन्तर में आयुर्वेद के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी प्रामाणिक पुस्तकें लिखकर आयुर्वेद की वैज्ञानिक उपयोगिता को सिद्ध किया।

वैद्य जी बहुत ही सरल प्रवृत्ति के दृढ़, सदाचारी, जनसेवक, उत्कृष्ट श्रेणी के पीयूषपाणि वैद्य हैं। हरिद्वार में संस्था रूप में आप मान्यता प्राप्त हैं। आपने अपने कार्य, साहित्य और जनसेवा से आयुर्वेद को जो प्रतिष्ठा दी है उस से उन का यदि अभिनन्दन न किया जाता तो कृतघ्नता की सी अनुभूति रहती।

अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन से आयुर्वेद के अनेक विषयों पर ज्ञानवर्द्धक सामग्री रहने से सोने में सुहागा की बात चरितार्थ हुई है।

(धर्मपाल विद्यालंकार)
स०मुख्याधिष्ठाता (प्रशासक)
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

★

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के उपकुलपति

**माननीय श्री रघुवीरसिंह शास्त्री**

श्री वैद्य धर्मदत्त जी जैसे साधुमना एवं कर्मठ विद्वान् पर वैद्य समाज को गर्व होना चाहिए । गुरुकुल के आयुर्वेद महाविद्यालय के प्रधानाचार्य के रूप में इस संस्था के निर्माण एवं विकास का जो महान् कार्य उन्होंने किया है वह गुरुकुल के इतिहास में अविस्मरणीय रहेगा । उनका उदात्त एवं सरल व्यक्तित्व युवा वैद्यवर्ग के लिए अनुकरणीय है । अपने बहुमूल्य जीवन के ७५ वर्ष पूरे कर के वे ७६ वें वर्ष में पदार्पण कर रहे हैं, इस शुभावसर पर उनके बहुमूल्य जीवन का अभिनन्दन सभी परिचितों, प्रेमियों, मित्रों तथा आयुर्वेद के विद्वानों के लिए स्पृहा और उल्लास का जनक है । हम सब उनके महान् व्यक्तित्व से प्रेरणा लेते हुए उनके दीर्घायुष्य एवं स्वास्थ्य की कामना करें जिससे हमारा समाज दीर्घकाल तक उनकी सेवा से लाभान्वित होता रहे । यह अभिनन्दन विद्वत्पूजा तथा स्थविर सत्कार का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है ।

**—— रघुवीरसिंह शास्त्री**

# दीर्घ जीवन की कामना

मेरा श्रद्धेय वैद्य धर्मदत्त जी से काफी पुराना सम्पर्क रहा है। पाश्चात्य एवं आयुर्वेद दोनों ही जगत् के वे कमाल के चिकित्सक हैं। दोनों प्रणालियों पर ही उनके उच्चस्तर के ग्रन्थ उपलब्ध हैं। पर सफल चिकित्सक के साथ-साथ उनमें वे गुण भी हैं जो एक महान् मानव में होने चाहिए। मैं उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हूं।

**—डा० गंगाराम गर्ग**
एम० ए०, पी-एच० डी०
रजिस्ट्रार, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय।

o o o o o

विद्यार्थी काल से ही हमारे लिए गुरुवर श्री वैद्य धर्मदत्त जी सर्वदा आदर्श रहे हैं। इनकी विद्वत्ता, निरभिमानता, वात्सल्य तथा कार्य करने की लगन छात्रों के लिए प्रेरणा के स्रोत थे। एक कुशल चिकित्सक, गांधी जी तथा विनोबा जी की विचारधारा के प्रवल पोषक, भारत सेवक समाज के एक निष्ठ कार्यकर्त्ता इस अजातशत्रु व्यक्ति का अभिनन्दन करते हुए परमपिता परमेश्वर से यही प्रार्थना है कि ये शतायु हों और दीर्घकाल तक हमारा पथ-प्रदर्शन करते रहें।

७-९-७१ **—अनन्तानन्द**

डाक्टर क्रान्तिकृष्ण 'अपूर्व'
आयुर्वेदालंकार, एम.ए.
सम्पादक

गुलजारीलाल नन्दा
रेलमन्त्री, भारत सरकार
२७ नवम्बर १९७०

वह शहतूत का पेड़
श्रीमती प्रेमलता दीप

श्रीनरहरिर्भट्टः-वेदान्त-दर्शनाचार्य्यः,
एम०ए० (वेद)
कनखल

१० नवम्बर १९७० ७६।४४ वल्लभ भाई पटेल मार्ग
कानपुर

मनुष्य के जीवन की सफलता के अनेक मापदण्ड मनीषियों ने स्थापित किये हैं। उन मापदण्डों द्वारा किसी के जीवन की सफलता या असफलता का निर्णय कर सकना असम्भव नहीं तो भगीरथप्रयत्नसाध्य अवश्य है। किन्तु एक मापदण्ड ऐसा है, जिससे किसी के जीवन की सफलता तथा असफलता का निर्णय अनायास ही हो सकता है, होजाता है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसके आचार विचार तथा व्यवहार की जो प्रतिक्रिया, उसके आसपास, टोलापड़ोस, मुहल्ला और नगर के निवासियों पर प्रतिलक्षित होती है, वही उसकी सफलता या असफलता का प्रमाण होता है। वह जनता जनार्दन द्वारा हार्दिक प्रमाण होता है।

मुझे भाई धर्मदत्त जी विद्यालंकार के साथ चौदह वर्ष गुरुकुल कांगड़ी में रहने का सौभाग्य प्राप्त है। वहां से स्नातक होने के अनन्तर उन्होंने आयुर्वेद का अध्ययन किया। तदनन्तर वर्षों तक गुरुकुल कांगड़ी में आयुर्वेद का अध्यापन तथा चिकित्सा का कार्य सफलता-पूर्वक किया। प्रतिष्ठा के साथ वहां से अवकाश लेकर गंगातटवर्ती दक्षयज्ञ की पावन भूमि पर बसे कनखल को इन्होंने अपना कार्य क्षेत्र चुना। सन् १९४३ में कमला फार्मेसी की स्थापना की। उसके द्वारा अपने ज्ञान और शक्ति का उपयोग जिस सफलता के साथ आपने जनसेवा के लिए किया है यह अभिनन्दनीय समारोह उसी का परिणाम है। यह सच्चे अर्थों में धर्मदत्त जी की सफलता का प्रमाण है।

मुझे अपने चौदह वर्षों के सहपाठी, साथी और सहयोगी धर्मदत्त जी विद्यालंकार के इस अभिनन्दन समारोह से वही प्रसन्नता और सुख प्राप्त हो रहा है जो 'ज्यों बडरी अंखियान लखि आंखिन को सुख होत' में होता है।

भाई धर्मदत्त जी विद्यालंकार चिरजीवी हों, सुखी और सम्पन्न हों तथा धन्वन्तरि की कृपा से उनका हाथ अश्विनीकुमारों के सदृश आरोग्य प्रदान करने वाला हो। यही मेरी कामना और अभिलाषा है।

अभिनन्दनाभिलाषी,
भूदेव विद्यालंकार

८–रिङ्ग. रोड, लाजपतनगर, दिल्ली

My dear respected Vaidya ji,

What a pleasure to learn that you shall be 76 on 20th December. May God bless you to complete full century.

I am so glad that Gurukula Kangri Ayurvedic College has realised that you possess great Values and deserve to be honoured. Kindly do convey my heartiest thanks to the college staff for their right and high thinking. We must pray to the Almighty for your happy healthy long life so that you may keep on serving the humanity in the real sense. I wish I could come personally to pay you homage and to convey you my heartiest congratulations.

Kindly keep on serving, and seeking blessings of late shri Swami Satyanand ji Maharaj. May you keep on growing like this even in future. My Namaskars to Mata ji.

P. N. Sethi.

  

आचार्य प्रवर श्रद्धेय श्री वैद्य धर्मदत्त जी विद्यालंकार की हीरक जयन्ती के शुभ अवसर पर "आयुर्वेद पत्रिका" का "अभिनन्दन ग्रन्थ अंक" प्रकाशित किया जा रहा है, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। मैं उनको सम्मान अर्पण करने में अति हर्ष, गौरव अनुभव करता हूं। वे आयुर्वेद के उद्भट विद्वान्, उच्च कोटि के चिकित्सक, लेखक, विचारक हैं। आप प्राच्य प्रतीच्य चिकित्साग्रन्थों का मन्थन तथा गम्भीर चिन्तन करने वाले इने गिने विद्वानों में हैं।

पिछले ५० वर्ष में आयुर्वेद क्षितिज में कितने ही सितारों को जगमगाने का श्रेय आपको है। भगवान धन्वन्तरि की शिष्यपरम्परा की तरह आपकी शिष्यपरम्परा ने भी भारत में आयुर्वेद की श्रीवृद्धि की है।

आयुर्वेद के महर्षियों की, आयुर्वेद की शिक्षा-दीक्षा तथा लोक-कल्याण की अमर परम्परा को आपने अपने जीवन से सींचा है। जिसके फलस्वरूप अनेक नयी शाखाओं और प्रशाखाओं का जन्म हुआ है। ऐसे अमरजीवी, आदर्श गुरु, मेरे आराध्य आचार्य श्री वैद्य धर्मदत्त जी के प्रति मैं अपनी शुभकामना सादर समर्पित करता हूं। उनके स्वास्थ्य दीर्घायुष्य की कामना करते हुए अभिनन्दन समारोह की सफलता चाहता हूं।

पुरुषोत्तमदेव मुल्तानी, आयुर्वेदालंकार<br>आंध्र राज्यपाल के निजी चिकित्सक,<br>अध्यक्ष, राजकीय आयुर्वेद रसशाला, हैदराबाद<br>डाइरेक्टर इम्पकाप्स मद्रास।

हैदराबाद<br>३० नवम्बर १९७०

१६ मई १६७१

कर्नल सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
ई–४४ ग्रेटर कैलाश (१)
नई दिल्ली ४८

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्याल के आयुर्वेद कालेज के तत्वावधाम में भारत का वैद्य-समुदाय श्री वैद्य धर्मदत्त जी के ७६ वें वर्ष में पदार्पण करने पर उनकी आयुर्वेद के प्रति की गई सेवाओं के उपलक्ष में उनकी हीरक-जयन्ती मनाने का उपक्रम कर रहा है। वैद्य जी नि:सन्देह भारत के उन इने-गिने विद्वान वैद्यों में से हैं जिन्होंने आयुर्वेद का गम्भीर अध्ययन कर उसका वर्तमान प्रगतिशील विज्ञान के साथ समन्वय कर दिखलाया है।

वैद्य जी ने अपने आयुर्वेद के ज्ञान को एलोपैथी के ज्ञान से ऐसा मांज दिया है जिससे उनका आयुर्वेद का ज्ञान चमक उठा है। वे आयुर्वेद के साथ एलोपैथी के भी ज्ञाता हैं, और इसलिए अपनी तुलनात्मक दृष्टि के कारण वैद्यों तथा डाक्टरों में––किसी भी समुदाय में वे अपने ज्ञान के कारण चमक ही नहीं उठते हैं, परन्तु दोनों में से किसी भी समुदाय में ज्ञान की दृष्टि से वे दूसरों से उच्च-स्तर पर दिखलाई देते हैं। यह स्थिति उन्होंने युवावस्था में अपने अगाध परिश्रम तथा लगन से प्राप्त की है।

बहुत पुरानी बात है जब डाक्टर राधाकृष्ण जी गुरुकुल के आयुर्वेद कालेज के प्रिंसीपल थे और वैद्य जी उनके अधीन आयुर्वेद कालेज में आयुर्वेद के प्राध्यापक थे। डाक्टर राधाकृष्ण जी एलोपैथी के अच्छे ज्ञाता थे। उनकी पढ़ाने की पद्धति, विषय पर अधिकार उत्कृष्ट-कोटि का था। वैद्य जी के विद्याव्यसनी मन ने कहा होगा कि ऐलोपैथी के ऐसे ज्ञाता से लाभ उठाना चाहिए। मैंने देखा कि बिना इस बात का ख्याल किये कि वे प्राध्यापक हैं, वैद्य जी डाक्टर राधाकृष्ण जी की कक्षा में उन विद्यार्थियों के साथ बैठने लगे जिन्हें वे स्वयं पढ़ाया करते थे। जिन विद्यार्थियों को कोई पढ़ाये उन्हीं के साथ पढ़ने के लिए बैठ जाना, और जिस व्यक्ति के वह सम-कक्ष हैं उसी से विद्या ग्रहण करने के लिए अपने को झुका लेना वही कर सकता है जिसमें विद्या का व्यसन चरम सीमा तक पहुंच गया हो, जिसे किसी तरह का अभिमान छू न गया हो, जो विद्याग्रहण करने को ही जीवन का चरम-लक्ष्य समझता हो। ये सब गुण वैद्य जी में प्रारम्भ से ही विद्यमान हैं, और इन्हीं गुणों के कारण उन्होंने आयुर्वेद क्षेत्र में उच्च-स्थान प्राप्त कर लिया है।

वैद्य जी की हीरक-जयन्ती मनाने के इस शुभ अवसर पर मेरी उनके लिए शुभ-कामनायें हैं। परमात्मा उन्हें दीर्घायु के साथ स्वास्थ्य दे ताकि वे आयुर्वेद के क्षेत्र में दिनोंदिन अधिकाधिक सेवा कर सकें।

हस्ताक्षर/सत्यव्रत

———

# अहर्निश सेवा के व्रती आचार्य धर्मदत्त वैद्य

यह जानकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई है कि भारत का वैद्य समाज आचार्य वैद्य धर्मदत्त जी विद्यालंकार को सम्मानित करने के लिए उन के छियत्तरवें वर्ष में प्रवेश करने के अवसर पर उन्हें अभिनन्दनग्रन्थ समर्पित करने का आयोजन कर रहा है। आचार्य धर्मदत्त जी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के योग्यतम स्नातकों में से एक हैं। श्री वैद्य जी की विद्वत्ता और रोगों से पीड़ित जनता की निरन्तर सेवा करते रहने के कारण गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का जो गौरव बढ़ा है और यशोवृद्धि हुई है उसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। श्री वैद्य जी ने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से विद्यालंकार और सिद्धांतालंकार की उपाधियां प्राप्त की थीं। इन उपाधियों की प्राप्ति के लिए उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में निरन्तर १४ वर्ष तक अध्ययन करके साहित्यिक, दार्शनिक और धार्मिक वांङ्मय का भारी मन्थन और आलोडन किया था। इस के साथ ही आंग्लभाषा और पाश्चात्य दर्शनों का मन्थन भी उन्होंने इस काल में भलीभांति किया था। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में उन के इस अध्ययन से उन्हें जो प्रगाढ़ पाण्डित्य और सूक्ष्म चिन्तनशक्ति उपलब्ध हो गई, वह कम लोगों को प्राप्त होती है। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से स्नातक होने के पश्चात् आपने मद्रास के आयुर्वेदिक कालेज में आयुर्वेद का गहरा अध्ययन किया और वहां से आयुर्वेदभूषण की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य आयुर्वेद की सेवा और उस के द्वारा जनता जनार्दन की सेवा बना लिया। लगभग गत ५०-५५ वर्षों से आयुर्वेद महासागर के अवगाहन से आचार्य श्री वैद्य धर्मदत्त जी को इस शास्त्र में जो ज्ञान की गहराई और चिकित्सा में निपुणता और कौशल प्राप्त हो गया है वह उन्हीं का भाग है। आयुर्वेद के शास्त्रीय ज्ञान और चिकित्सा में वैद्य जी को सिद्धहस्तता प्राप्त है। प्राचीन आयुर्वेद पद्धति के तलस्पर्शी पाण्डित्य के साथ-साथ वैद्य जी को नवीन एलोपैथी का भी मर्मस्पर्शी ज्ञान है। चिकित्सा की इन दोनों पद्धतियों का गहरा ज्ञान होने के कारण इस विज्ञान के क्षेत्र में श्री वैद्य जी को एक ऐसी सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त हो गई है जो उन के ग्रन्थों, व्याख्यानों और चिकित्सा में पूर्णरूप से परिलक्षित होती है। श्री वैद्य जी ने आयुर्वेद सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जिन का वैद्य समाज में भारी आदर हुआ है। उन के इन ग्रन्थों का आदर होने का प्रधान कारण यह है कि उन्होंने अपने ग्रन्थों में प्राचीन और नवीन चिकित्सापद्धतियों के समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपनाया है। आचार्य श्री वैद्य धर्मदत्त जी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के आयुर्वेदमहाविद्यालय में लगभग इक्कीस वर्ष तक अध्यापन का कार्य भी करते रहे हैं। और चार साल तक इस महाविद्यालय के अध्यक्ष (प्रिन्सिपल) भी रहे हैं। उन की अध्यापन शैली से विद्यार्थी पूर्णरूप से सन्तुष्ट रहते थे।

श्री आचार्य वैद्य धर्मदत्त जी आयुर्वेद शास्त्र के प्रखर विद्वान् और सिद्धहस्त चिकित्सक तो हैं ही इसके साथ ही आपमें मानवता के गुण भी भरपूर मात्रा में विद्यमान हैं। आप सहृदय, संवेदनशील, उपकार-वृत्ति-परायण, सत्य और न्यायनिष्ठ, पर-दुःख कातर और दयालु स्वभाव के

व्यक्ति हैं । मृदुभाषिता आप का एक विशिष्ट गुण है । आप अपने इन मानवता के गुणों से अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपना बना लेते हैं । जो कोई उन के सम्पर्क में एक वार भी आ जाता है वह उन्हें फिर कभी नहीं भूल सकता । उन से मिलने वाले हर एक व्यक्ति को अनायास ही यह अनुभव होने लगता है कि वह एक बहुत ही सात्विक वृत्ति के अति श्रेष्ठ व्यक्ति से मिल रहा है ।

मैं उन की पचहत्तर वर्ष की आयु की पूर्ति के अवसर पर किये जा रहे उन के अभिनन्दन में आदरपूर्वक अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करता हुं और भगवान से कामना करता हूं कि वे उन्हें सौ साल और उस से भी अधिक काल तक का दीर्घ जीवन प्रदान करें, तथा उन्हें पूर्ण रूप से स्वस्थ रखें जिस से वे अपनी विद्वत्ता और चिकित्साकौशल से आयुर्वेदविज्ञान तथा रोग-पीड़ित जनता की और भी अधिक सेवा करते रह सकें ।

प्रियव्रत वेदवाचस्पति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

★ ★ ★

१५ मई १९७१

वैद्यरत्न प्राणाचार्य **दुर्गाप्रसाद शर्मा** आयुर्वेदाचार्य
सभापति, बिहार राज्य आयुर्वेदिक-यूनानी अधिकाय
निदेशक, श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि०

मुझे यह जानकर हर्ष हुआ कि आचार्य वैद्य धर्मदत्त जी का अभिनन्दन किया जा रहा है। यह प्रयास स्तुत्य है, क्योंकि आचार्यों के प्रति समुचित रूप में श्रद्धालु होकर ही कोई भी राष्ट्र आगे बढ़ सकता है।

आचार्य जी की हीरक जयन्ती समस्त आयुर्वेद-जगत् के लिए हर्ष एवं गौरव का विषय है। मेरी श्रद्धा उनको समर्पित है । परम प्रभु से प्रार्थना है कि वे आचार्य जी को शताधिकायु करें तथा स्वस्थ रखें, जिससे आयुर्वेद-जगत् उनकी उपस्थिति में उनका शताब्दी-समारोह आयोजित करने का सौभाग्य प्राप्त कर सके। उनकी विद्वत्ता प्रेरक और सेवाएं चिरस्मरणीय अनुकरणीय हैं । मैं उन्हें हार्दिक बधाई देता हूं ।

मैं आचार्य जी के हीरक जयन्ती-समारोह के साफल्य की कामना करता हूं ।

हस्ताक्षर/दुर्गाप्रसाद शर्मा

★ ★ ★

# अश्रान्त सारस्वत

अपने सभी ग्रन्थों—आयुर्वेदीय क्रियाशारीर, निदान-चिकित्साहस्तामलक, आयुर्वेदीय हितोपदेश तथा आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान के आरम्भ में मैंने परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर वैद्य धर्मदत्त जी को निम्न पदों में स्मरण किया है—

रोपिता धर्मदत्तेन गुरुणा गुणशालिना ।
सिक्ता श्रीयादवाचार्य चरणैः सुविचक्षणैः ।।
पालिता यत्नतो वैद्यरामनारायणेन या ।
लता ज्ञानमयी तस्याः प्रथमः कुसुमोद्गमः ।।
ग्रथितो वालिशतया नीतो वः कण्ठहारताम् ।
आवहेद्विबुधाः प्रीतिमित्येवाऽभ्यर्थनाऽऽसकृत् ।।

—विदुषामाश्रवस्य ग्रन्थकर्त्तुः

जैसे-जैसे नवीन संस्करण प्रकाशित होते जाएं वैसे-वैसे 'प्रथमः' के स्थान पर संस्करण की संख्या का सूचक शब्द रखा जाता था ।

'राष्ट्रभारती के पाणिनि' नाम से प्रसिद्ध श्री पंडित किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री ने ये पद्य पढ़ कर माननीय वैद्य जी को कहा था—आज कौन शिष्य इस प्रकार अपने गुरु का स्मरण करता है ? यत्सत्यं, ये शब्द आन्तरिक अनुभूति के परिपाक रूप हैं । आज आयुर्वेद-जगत् में लेखक का जो स्थान है उसका मूल माननीय वैद्य जी द्वारा छात्रावस्था में तथा तदुत्तर अपने ग्रन्थों द्वारा दिया गया मार्ग-दर्शन ही है ।

आयुर्वेद हमें जिस रूप में प्राप्त हुआ है, वह परिगणित रोगों पर परिगणित औषधों के रूप में ही, यह सत्य कोई भी स्वीकारेगा ? आयुर्वेद को उन्नत स्थान देना हो, अथ च उसे लोकोपयोगी स्वरूप प्रदान करना हो तो आयुर्वेद के विभिन्न अंगों में किये गये सूत्र-रूप विवरण को प्रथम आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की संज्ञा-परिभाषा में समझ कर ही उसकी व्याख्या करना 'श्रेयसाम् एष पन्थाः' है, इसमें मुझे लेशमात्र संशय नहीं ।

श्रद्धेय वैद्य धर्मदत्त जी ने इसी मार्ग पर चल कर आयुर्वेद का स्वयं अवगाहन किया है तथा अपने शिष्यों एवं वाचकों के समक्ष इसी दृष्टि से आयुर्वेद की व्याख्या प्रस्तुत की ।

माननीय वैद्य जी के जीवन की अन्य विशिष्टता आपका असाधारण विद्याव्यासंग है । गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी से आपने प्रथम विद्यालंकार और सिद्धान्तालंकार ये दो पदवियां प्राप्त कीं । सामान्यतया छात्र किसी एक ही पदवी से संतोष कर लेते हैं । परन्तु इससे मान्य वैद्य जी का विद्यारसिक आत्मा कैसे सन्तुष्ट रह सकता था । इसके अनन्तर आपने आयुर्वेद और वर्तमान चिकित्साशास्त्र के समन्वयात्मक अध्ययन-अध्यापन की नींव भारत में सर्वप्रथम डालने वाले डाक्टर केप्टेन श्रीनिवासमूर्ति द्वारा मद्रास में स्थापित आयुर्वेदमहाविद्यालय में प्रवेश किया और वहां विधिवत् अभ्यास कर उभय पद्धतियों का चूडान्त ज्ञान कर्माभ्यास सहित प्राप्त किया । वहां से

वापस आकर आपने मोगा के प्रसिद्ध नेत्रचिकित्सक डाक्टर मथुरादास जी के नीचे रह कर नेत्र रोगों का सांगोपांग अध्ययन-अनुशीलन किया, साथ ही नेत्ररोगों में उपयोगी शस्त्रकर्म का भी आधुनिक मतानुसार कौशल प्राप्त किया। पश्चात्, आपने माइनोर सर्जरी का भी ज्ञानकर्मात्मक अध्ययन किया। अपने व्यवसाय में आप इन दोनों क्षेत्रों में शस्त्रकर्म करते थे।

स्वाध्यायशीलता वैद्य जी की कितनी प्रचण्ड थी इसकी प्रतीति इसी एक वस्तु से हो सकती है कि यह लेखक आयुर्वेदमहाविद्यालय में छात्र रूप में रहा उन वर्षों में तथा आगे-पीछे वैद्य जी आयुर्वेद के दोषधातुमलविज्ञान, द्रव्यगुणविज्ञान, रसशास्त्र एवं कायचिकित्सा विषयों में तो यशस्वी अध्यापक रहे ही, साथ एनेटॉमी और मेडिसन-सदृश आधुनिक विषयों का भी प्रावीण्यपूर्ण अध्यापन आप करते रहे। अन्य भी कोई विषय आप अवश्य सिखाते ही होंगे। परन्तु इतने वर्षों के पश्चात् उसकी स्मृति लेखक को नहीं।

अन्त में इस परिणत वय में भी आपने आयुर्वेद और एलोपैथी की चिकित्सा का समन्वयात्मक बृहद् ग्रन्थ लिखा।

माननीय वैद्य जी का यह आदर्श विद्या-व्यासंग सांप्रत काल में अतिशय ध्यान खींचने वाली वस्तु है। आज न केवल छात्रों में, स्वयं विद्यालयों और महाविद्यालयों के शिक्षकों में भी घोर विद्या-विमुखता पदे-पदे दृग्गत होती है। इसके अनिष्ट परिणाम भी नित्य देखने में आते हैं।

विद्या-व्यासंग तथा विद्यार्थियों के अध्यापन के अतिरिक्त अपने शिष्यों के प्रति पूज्य वैद्य जी का अपार वात्सल्य, उनकी सतत हितचिन्ता आदि सद्गुणों का प्रत्यक्ष अनुभव उनके छात्रों को नित्य होता रहता था। विनय आपमें इतना कि कभी-कभी किसी विषय पर विद्यार्थियों के साथ भी सहयोगी और समकक्ष के समान आप संभाषा करते थे।

परम पूज्य आचार्य-प्रवर की हीरक जयन्ती पर आपकी विशिष्टताओं में कतिपय के प्रति संकेत कर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं। भगवान् धन्वन्तरि पूज्य गुरुदेव को शतायु करें और आपके हाथ से आयुर्वेद की भूयसी सेवा कराएं यही अभ्यर्थना है!

**रणजितराय देसाई**
आयुर्वेदालंकार
प्रिन्सिपल, आयुर्वेदिक कालेज, सूरत।

★ ★ ★

# श्रद्धा प्रसून

इसमें सन्देह नहीं कि यूरोप में उठे 'रेनेसां' के आन्दोलन ने मानवजाति के भाग्य को एक अद्भुत पलटा दिया, एवं १२वीं सदी के प्रारम्भ में "आबेलार्ड" ने एक सहस्र वर्ष पूर्व की इस स्थापना को कि "समझ के लिए प्रथम विश्वास का होना परमावश्यक है" यह उद्घोषित कर पलट दिया कि "विश्वास के लिये प्रथम समझ परमावश्यक है।" परिणामतः, लोम्बार्ड ने आबेलार्ड के सिद्धान्त को अपना कर पेरिस विश्वविद्यालय की स्थापना की जो कि पश्चात् संसार में वैज्ञानिक अध्ययन का एक महान् केन्द्र बना।

इसी प्रकार १६वीं सदी में फ्रांसिस बेकन ने अपने ग्रन्थ "नोबुम ओर्गानुम" द्वारा इंग्लैण्ड में ही नहीं अपितु समग्र विश्व में "इण्डक्टिव लाजिक" और "एक्सपेरिमेण्टेशन" द्वारा आधुनिक अनुसंधान-विधान की नींव रखी। भारत में "माङ् माने" धातु से बने प्रमा-प्रमेय-प्रमिति-प्रमाण आदि शब्द दार्शनिक ही बने रह गये; जब कि पीसा नगरी के इतालियन मनीषी "गालीलेओ गालीलेई" के इस क्रान्तिकारी विचार ने, अर्थात् "संसार में प्रत्येक वस्तु मापी जा सकती है और जो वस्तु मापी नहीं गई है, उसे समय और मानवीय अध्यवसाय माप कर रख देंगे" इस प्रकार मानवजाति को एक क्रियात्मक स्फूर्त्ति प्रदान की। पूर्व और पश्चिम में विचार तरङ्गों का प्रकट या अप्रकट रूप से आदान-प्रदान कब से होता रहा है। चरक ने युक्ति (रीज़न) को भी साध्य के प्रतिपादन के लिये पहले के दार्शनिकों से अधिक बल दिया है। इसी प्रकार भावमिश्र ने भारतेतर देशों से प्राप्य "प्रभावकारी" द्रव्यों को भी अपने निघण्टु में विशिष्ट स्थान दिया है। "मिश्र चिकित्सा" शब्द वस्तुत: भावमिश्र की परिपाटी का द्योतक है जो चिकित्साक्षेत्र में वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर आदान-प्रदान के सिद्धान्त को आत्मसात करने के लिए सर्वदा उद्यत है।

श्री वैद्य धर्मदत्त जी का चिकित्साशास्त्र एवं अन्य शास्त्रों में अध्ययन गम्भीर और विशाल है। आपने जहां पूर्ववर्त्ती रेनेसां में प्रादुर्भूत सिद्धान्तों का मनन किया है, वहां भारतीय दर्शन, वैदिक साहित्य और आधुनिक विज्ञान एवं चिकित्साशास्त्र का मंथन किया है। आपकी विवेचन-शैली में 'विश्वास' और 'समझ' का अद्भुत समन्वय है। किसको प्रथमता दें इसे कुछ कसौटियों पर ही परख कर निर्णय करते हैं। विश्वास और समझ के समन्वय को ही श्रद्धा कहते हैं। जो आरोग्य को प्रदान करे उसी को आप भैषज्य तथा रोगों से जो प्रमोचन करावे उसे ही भिषक श्रेष्ठ समझते हैं और औषध ग्रहण और निरूपण में भावमिश्र की पद्धति को अपरिहार्य मानते हैं। आयुर्वेद के आधारभूत सिद्धान्तों के विवेचन में आपकी तुलनात्मक शैली अपनी विशदता एवं प्रगल्भता के लिए कोई सानी नहीं रखती।

१९२१ में अमरशहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की प्रेरणा से आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना हुई और इस महाविद्यालय के लिए यह सौभाग्य की बात रही कि गुरुकुल के ही एक स्नातक ने प्राध्यापक एवं आचार्य के आसन पर बैठ कर इसे गति दी और भारतवर्ष का यही प्रथम राष्ट्रिय आयुर्वेदमहाविद्यालय है, जिसके स्नातकों को यूरोप के, विशेषकर जर्मनी के विश्वविद्यालयों ने एम. डी. की उपाधि के लिए स्वीकार किया।

आदरास्पद पण्डित धर्मदत्त जी का मैं कृतज्ञ हूं, जिन्होंने अपनी ज्ञानांजनशलाका से विद्यार्थी-काल में मेरे ज्ञानचक्षु खोले और मैं कुछ बन सका। ऐसे गुरुवर को मेरा बार-बार प्रणाम !!!

**धर्मानन्द केसरबानी**
**M. D. (Hons.) Munich, Germany**
**M. D. (Royal University, Rome)**
**Z. Chirurgie (Berlin)**
**T. D. D. (Italy),** विद्यामार्तण्ड
**Z. T. (Vienna),** आयुर्वेदालंकार
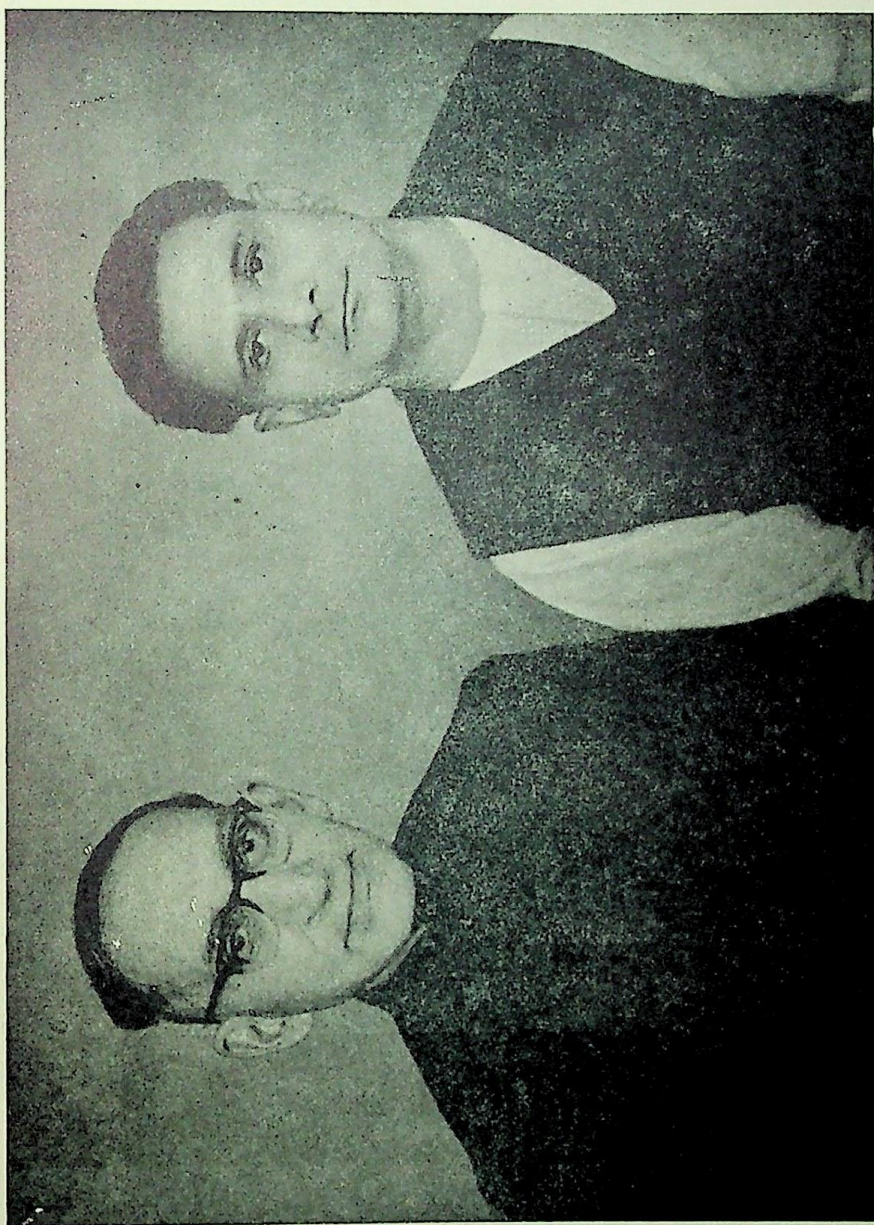
श्री वैद्य धर्मदत्त जी और श्री शान्तिस्वरूप जी विद्यालंकार (१९७०)
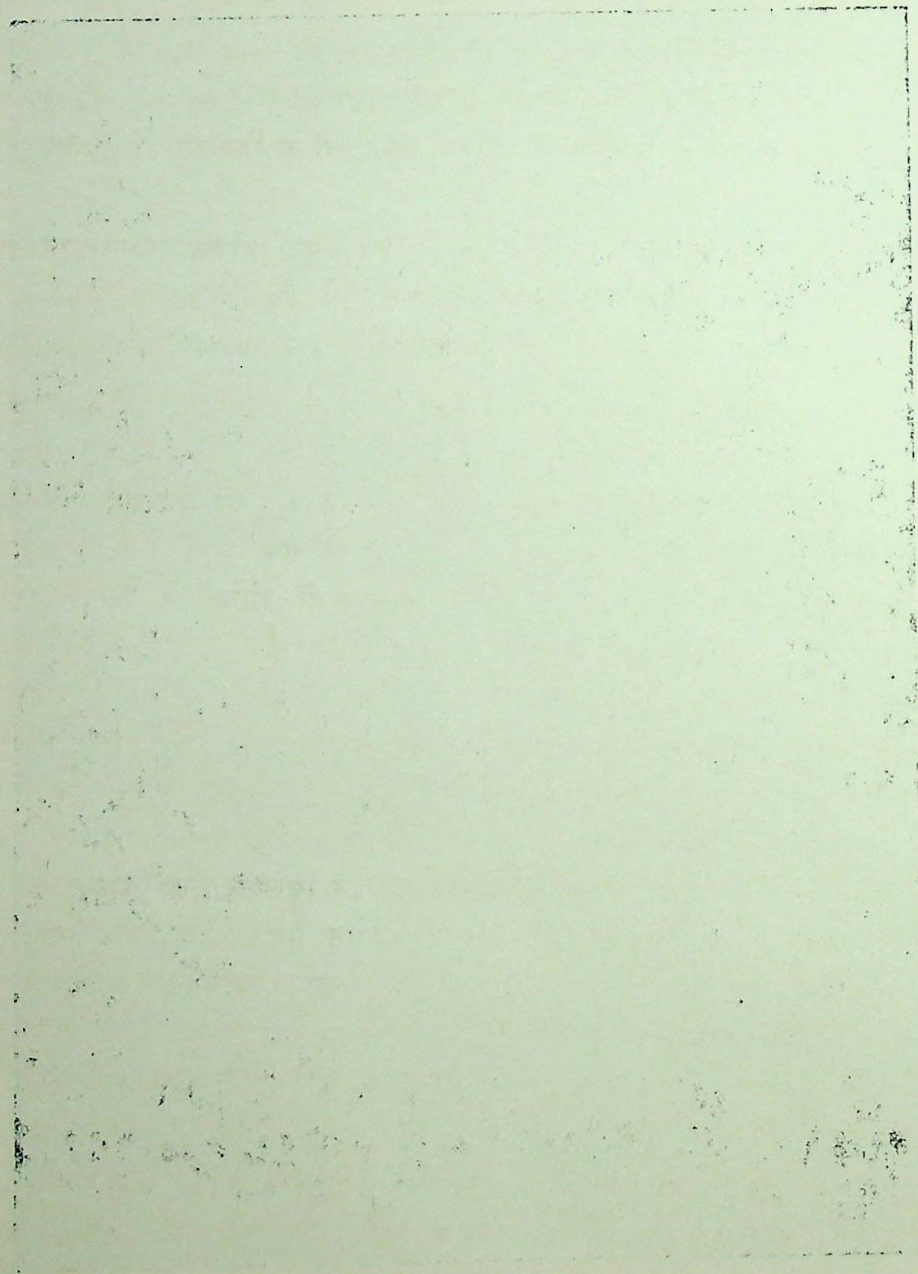
# आयुर्वेद के नये स्नातकों से

मैं आचार्य धर्मदत्त वैद्य जी की हीरक जयन्ती के अवसर पर उनका अभिनन्दन करते हुए अपना सौभाग्य और गर्व अनुभव कर रहा हूं। आयुर्वेद की शिक्षा के क्षेत्र में उनके लिखे ग्रन्थों से जो नवीन मार्गदर्शन तथा प्रेरणा मिलती रही है आयुर्वेदजगत के लिए वह गौरव का विषय है। आयुर्वेद के अनुसन्धान के क्षेत्र में कार्य करने वाले शोधकर्त्ताओं को भी आचार्य धर्मदत्त वैद्य जी से उचित मार्गदर्शन मिलता रहा है। आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों के विवेचन की शैली इनकी निजी प्रतिभा की देन है।

आचार्य धर्मदत्त वैद्य जी की, ७६ वर्ष में पदार्पण करने पर, हीरक जयन्ती मनाना धन्वन्तरि पूजन का ही एक अंग है। इनकी हीरक जयन्ती के अवसर पर आयुर्वेद के नये स्नातक को नवीन प्रेरणा लेनी चाहिए, अतः आयुर्वेद के नये स्नातकों को दो शब्द कहना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं।

आयुर्वेद की दवाओं के निर्माण का काम मैंने करीब ५० वर्ष पहले जो प्रारम्भ किया था उसकी अब तक की स्थिति से या अनुभव से मुझे यह दृढ़ निश्चय हो गया है कि आयुर्वेदीय ओषधियों की भारत और पाकिस्तान में बहुत बड़ी मांग है। श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन सदृश सैकड़ों फार्मेसी खूब शान से चल सकती हैं। गत वर्ष से एक मेरा नया अनुभव हुआ है, उसका मैं विस्तारपूर्वक वर्णन कर रहा हूं—सभी भारतवासी जानते हैं कि सोमनाथ मन्दिर और कृष्णमन्दिर मथुरा का इतिहास एक जैसा है, ये स्थान आततायियों द्वारा बहुत बार भूमिसात् किये गये, बहुत बार ही इनका पुनर्निर्माण भी हुआ। स्वराज्यप्राप्ति के बाद करीब तेंतीस लाख रुपया लगा कर सोमनाथ मन्दिर का नवनिर्माण सरदार वल्लभ भाई पटेल द्वारा कराया गया। इसी प्रकार राष्ट्रपिता श्री मालवीय जी ने श्रीकृष्ण जन्मस्थान का, स्वर्गीय जुगलकिशोर बिड़ला जी की सहायता से, नव निर्माण कराया। इस निर्माण को मैंने सात वर्ष पहले देखा और उसमें एक बहिरंग औषधालय स्थापित किया, और इसके निर्माताओं से मिलकर एक विशाल आयुर्वेद भवन बनाने का विचार प्रकट किया जिसमें विधिवत् प्रवेश सन् १९६७ में किया गया। गत वर्ष माननीय श्री जगजीवनराम जी से इसके अन्तःकक्ष का विधिवत् उद्घाटन कराया। करीब पन्द्रह महीने से इस आयुर्वेद भवन में मैं अपना समय देता हूं और श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन का कार्य मेरे सुपुत्रगण संभालते हैं। इस समय या इन दिनों में जो मेरा अनुभव हुआ है उससे मैं स्वयं भी बहुत प्रभावित हुआ हूं।

सर्वप्रथम तो अनुभव यह हुआ कि पुराने वैद्यगण अपने औषधालय को बहुत जीर्णशीर्ण दीन अवस्था में रखते हैं, जहां आजकल का सभ्य बाबू जाने में संकोच करता है। लेकिन हमारे औषधालय का यह भवन बहुत प्रभावशाली तथा भव्य है, जिसके भीतर प्रवेश करते ही रोगी तुरन्त ही प्रभावित होता है। रोगियों की इतनी ज्यादा संख्या में उपस्थिति रोजाना होती है कि रोगी को पंक्ति में खड़ा होना पड़ता है और उसे टिकट लेकर अन्दर प्रधान वैद्य के पास जाने दिया जाता है, इसी प्रकार अब जो नये आयुर्वेद के स्नातक निकल रहे हैं उनको भी

खूब साज-सज्जा बनाकर रखनी चाहिए, औषधालय या चिकित्सालय को उत्तम रीति से सजा कर सुन्दर बना कर रखना चाहिए कि इसमें प्रवेश करते ही रोगी को बैठने के लिए साफ सुथरा गद्देदार सोफा मिले, और वैद्यराज बिलकुल अपटुडेट पोशाक में-जैसा कि आयुर्वेदनेता श्री पण्डित शिवशर्मा आयुर्वेदचक्रवर्ती की वेशभूषा सुसज्जित (अपटुडेट) लगती है वैसी होनी चाहिए। नये वैद्य को स्टैथेस्कोप साथ में अवश्य रखना चाहिए और मेज पर ब्लडप्रेशर नापने का यन्त्र स्फिगमो नोमीटर और गला कान, नाक देखने का यन्त्र (लैरिंजोस्कोप, औरोस्कोप, नेजल स्पैकुलम) सुसज्जित रखे होने चाहिएं। रोगीपरीक्षण के लिए एक अलग कक्ष में एक टेबिल होनी चाहिए। पहले पहल चिकित्सा प्रारम्भ करते समय नये स्नातक को गरीब आदमी पर सेवा के लिए अधिक से अधिक ध्यान देना चाहिए। रोगी को देखने के लिए पूरा समय लगाये ताकि रोगियों की अधिक उपस्थिति सदा बनी रहे और डाक्टर की तरह अधिक से अधिक द्रव्य लेने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। हम सभी वैद्य यह कहते हैं कि हमारी चिकित्सा बहुत सस्ती है, लेकिन मेरा इसके विपरीत बहुत कटु अनुभव है कि वर्तमान में हमारे जो वैद्य चिकित्सक हैं वे संजीवनी वटी के भी पच्चीस पैसे लेते देखे जाते हैं। इस श्री कृष्णजन्म स्थान अस्पताल में शुरू में रोगियों को निःशुल्क दवा दी गयी। उसमें बहुत से रोगी अनुभव करते थे कि दवा बिलकुल घटिया है और दवा की पुड़िया को वहीं पटक कर चले जाते थे। फिर भी हम निष्ठा से चिकित्सा करते रहे। फिर प्रतिदिन प्रति रोगी पांच पैसे लेना शुरू किया इससे अत्यधिक रोगियों की उपस्थिति होने लगी जिस कारण हमने दस पैसे रोगी लेना शुरू किया। अब यह अवस्था है कि रोगी से बीस पैसे प्रतिदिन भी लिया जाए तो रोगी संख्या बढ़ेगी ही। इसी प्रकार वैद्य को रोगी से कम से कम द्रव्य लेना चाहिए। कालान्तर में वह रोगियों से प्रतिदिन पचास पैसे से सौ पैसे तक भी ले सकता है। मुझे याद है कि बम्बई में स्वर्गीय आचार्य यादव जी बारह आने ही प्रतिरोगी प्रतिदिन लिया करते थे और रोगियों की दैनिक संख्या तीन सौ होती थी, और चार कम्पाउण्डर कार्य करते थे।

हम इस औषधालय में प्रतिदिन धान्यपंचक, दशमूल, गुडूच्यादिक्वाथ, जोशांदा आदि सात-आठ काढ़े रोज उबाल कर तैयार करते हैं और एक बार बनाये हुए काढ़े को तीन दिन से ज्यादा व्यवहार में नहीं लाते हैं। उन काढ़ों को बोतलों में भर कर रखते हैं। सौंफ, अजवायन आदि का अर्क भी बनाकर बोतलों में भरकर रखते हैं। हमारे यहां तीन कम्पाउण्डर, एक वैद्य कम्पाउन्डर औषधालय में कार्य पर व्यस्त रहते हैं। आयुर्वेद के नये स्नातकों को चाहिए कि एक बिजली का छोटा चूल्हा रखें और उस पर काढ़ों को हर मरीज के लिए उतना ही बना कर दें जितना उस मरीज को उसी दिन काम आ जावे-ऐसा ही आचार्य यादव जी त्रिकम जी किया करते थे-वे जिस काढ़े को लिखते थे-उस काढ़े को वहीं उबाल कर शीशी में भर कर दिया करते थे।

आयुर्वेद के नये स्नातक को यह पूरा विश्वास रखना चाहिए कि यदि वह वात पित्त कफ को दृष्टि में रख कर रोग का निदान करता है और काष्ठौषधियों का प्रयोग अधिकतर करता है तो उसको निश्चय ही यश की, धन की विपुल प्राप्ति होगी। उदाहरण के लिए मथुरा में

काशी विश्वविद्यालय के स्नातक श्री रमणलाल पण्ड्या जी का नाम लिया जा सकता है जो बिलकुल नये ढंग से आयुर्वेद की चिकित्सा करते हैं जिससे उनके यहां अत्यधिक रोगियों की संख्या रहती है जिससे उनको यशोलाभ धनलाभ हो रहा है। नये आयुर्वेद के स्नातक को अपने औषधालय को खूब चमका कर उत्तम रीति से व्यवस्थित करके रखना चाहिए, कहीं एक भी धूल नहीं होनी चाहिए, जिसमें बड़ी बोतलें, प्लास्टिक की चौड़े मुंह की शीशियां—इन सबको यथावत् सजा कर रखना चाहिए। संभव हो तो दवाई कूटने पीसने की एक छोटी सी मशीन भी लगा कर रखनी चाहिए, क्योंकि इसकी ज्यादा कीमत नहीं है—लगभग चार सौ पांच सौ रुपये में मिल जाती है और ३×३ फुट जगह घेरती है। इस मशीन से हरीतकीचूर्ण आमलकीचूर्ण आदि दवाएं बना कर आसानी से रोगियों को वितरित किए जा सकते हैं।

सबसे विशेष बात आयुर्वेद के नये स्नातक को यह कहना चाहता हूं कि वर्तमान समय में नीचे की श्रेणी के लोगों में डाक्टरी इन्जेक्शन आदि का प्रचार बहुत तेज़ी से बढ़ रहा है। इसी प्रकार बुद्धिजीवी और उच्च श्रेणी के लोगों में आयुर्वेद की औषधियों का प्रचार तथा विश्वास ठोस रूप में बढ़ रहा है। वर्तमान समय में एण्टीबायोटिक तथा सल्फा ड्रग के मारे नाक में दम आ गया है और वे लोग अब इन तीव्र जीवाणुनाशक औषधियों से नफरत करने लगे हैं। मथुरा के इसी श्रीकृष्णमन्दिर अस्पताल में सरकारी बड़े अफसर वकील इंजीनियर तथा बुद्धिजीवी अन्य वर्ग प्रचुर मात्रा में इलाज कराने आ रहा है, और आयुर्वेद की सामान्य काष्ठौषधियों से नीरोग हो कर अपने सहयोगियों को आयुर्वेद के प्रति अधिकाधिक आकर्षित कर रहा है। यह सत्य है कि नया स्नातक जो मिश्रित चिकित्साप्रणाली का अध्ययन करके चिकित्सा व्यवस्था प्रारम्भ करते हैं वे अपने को डाक्टर कहते हैं और डाक्टरी दवाओं का ही व्यवहार करते हैं। डाक्टर कहलाना कोई दोषवाचक नहीं है—डाक्टर शब्द प्रतिष्ठासूचक हो गया है—जैसे आज से पचास वर्ष पूर्व बंगाल के डाक्टर अपने नाम से पूर्व कविराज शब्द भी लगाते थे क्योंकि कविराज शब्द भी उस समय प्रतिष्ठासूचक माना जाता था। पंजाब में वैद्यों को डाक्टरों को भी हकीम जी कह कर पुकारा जाता था। अतः प्रतिष्ठा के लिए यदि नाम से पूर्व डाक्टर शब्द का प्रयोग किया जाता है तो इसमें कोई हानि नहीं है, लेकिन उनको चिकित्सा आयुर्वेद की ही करनी चाहिए और हकीमी दवाओं का प्रयोग भी करना चाहिए क्योंकि हकीमी चिकित्सा का सम्बन्ध आयुर्वेद के साथ बहुत कुछ है, अत्यावश्यक होने पर संकट उपस्थित होने पर अंगरेज़ी दवाओं का प्रयोग करना चाहिए।

नये जमाने के अनुरूप वैद्य को रोब से, इज्जत से गौरव से रहना चाहिए। जो वैद्य मैले कुचैले, फटे हाल, भद्दे-भौंडे ढंग से रहते हैं, और जिस वैद्य के औषधालय में मैल से काले तथा पुराने जर्जर कुर्सी मेज उसकी दीन दशा को प्रकट कर रहे हैं, और दवाओं की शीशियां गर्द जमने से मटमैली मालूम देने लगी हैं, और फर्श पर कूड़ाकचरा जमा होने से मक्खियां भिनक रही हैं, और फटा-पुराना मैला-कुचैला पर्दा टंगा हुआ है, और साइनबोर्ड के अक्षर उधड़ उधड़ कर गिरने लगे हैं—उस वैद्य की पूजा नहीं होती है। डाक्टर को प्रतिष्ठा क्यों मिलती है इसके कारणों पर

विचार करें तो यही परिणाम निकलता है कि डाक्टर समाज में नये जमाने के मुताबिक प्रतिष्ठा प्राप्त करना जानता है। क्योंकि डाक्टर प्रतिष्ठा से रहता है इसलिए डाक्टर शब्द में भी मानों प्रतिष्ठा समा गई है इसलिए आयुर्वेद का नया स्नातक अपने को डाक्टर शब्द से संबोधित कराना चाहता है।

आचार्य धर्मदत्त वैद्य जी के हीरकजयन्ती के शुभ अवसर पर मैं इनके आरोग्य तथा दीर्घजीवन की कामना करता हूं जिससे आयुर्वेद जगत को निरन्तर मार्गदर्शन होता रहे।

(श्री पण्डित रामनारायण शर्मा वैद्य)
मैनेजिग डाइरेक्टर
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राईवेट लिमिटेड

★ ◈ ★

## "A SENTIMENT IN WORDS"

The year 1947 was a landmark in the history of our country. It liberated our nation from foreign rule, no doubt, but it also brought in its train unforseen and untold problems. The transfer of hearth and home was the most bone-breaking problem,because it touched millions of men and women who were called refugees.

Fortunately I belong to that class. After staying here and there with undecided motives. I came to Kankhal in 1150, in response to the irresistible fascination of Shri Din Dayal Shastri and restarted my carrer in Dr. Hari Ram Arya Inter College, Kankhal. It was a small school at that time but it promised a bright furture.

Being in its initial stage the school needed, and did receive, the devoted and selfless attention of the management. Shri Din Dayal Shastri was the virtual manager and Shri Vaid Dharam Dat his right hand. The school made progress by leaps and bounds and in a couple of years it was raised to a full-fledged Intermediate College.

Many a time has Shri Vaidji visited the college and inspired the students by his invigourating ideas and rejuvinating presentation. His patriotic speeches go deep into the hearts of the budding youths and when he stops speaking, it appears as if he has taken away sweet dish from a hungry men. Both the subject and the style of his discourses are equally engaging.

For the last two decades have I been studying him and I have studied him from all sides. I have seen him in his clinic in his laboratory, marked for his Hari bund and his study-table where he reads and writes voraciously. I have seen him all by himself, absorbed in thoughts and I have seen him during his morning and evening walks and also in 'Prabhat Pheri' congregations. I have seen him surrounded by a crowd of patients. But one thing I have invariably, noted with concern: His smile never forsakes his modest, bright looks from his face.

A visit to his residence is a lesson in hospitality, a breif talk with him is a sermon in civility; in fact a casual contact with him is a nectar to restless soul.

Running in the seventy-sixth year of his life, he is as young and fresh as ever.

May he live long to sublimate the society !

*(Prof.)* Mul Ratan
M.R.A.S. (London)
B.A. (S.A.V.) B.T.

**Dr. H. R.**
**Arya Inter College,**
Kankhal (Hardwar)

# महाप्राज्ञ श्री धर्मदत्त जी
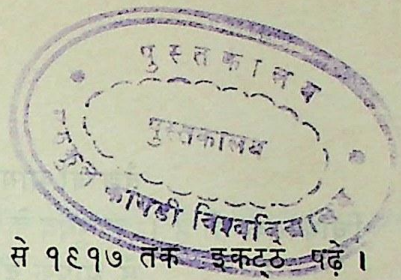
मेरे सहपाठी श्री धर्मदत्त जी और मैं गुरुकुल कांगड़ी में १६०३ से १६१७ तक इकट्ठे पढ़े। विधि का विधान है कि इन १४ वर्षों में हम दोनों प्रायः एक ही कमरे में रहे। यद्यपि १६१७ से आज १६७१ तक इन ५४ वर्षों में हमें आपस में मिलने के बहुत अवसर तो नहीं मिले, परन्तु मेरे बन्धु श्री धर्मदत्त जी का व्यक्तित्व ऐसा है कि वह मन पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। समाचार-पत्र और विज्ञापन आजकल लोगों का नाम दूर-दूर तक प्रसिद्ध करते रहते हैं, परन्तु ऐसी प्रसिद्धि का मुझ पर चिरस्थायी और गहरा असर नहीं होता। दूरस्थ, शान्त, इस सद्गृहस्थ के व्यक्तित्व के लिए मेरे हृदय में गहरा आदर है।

श्री धर्मदत्त जी आरम्भ से ही गम्भीर और अध्यवसायी रहे हैं। अपने गुरुकुल के अध्ययनकाल में वे अपनी स्थिर गति से गहरा पुरुषार्थ करने वाले थे। विद्यालकार और आर्यसिद्धान्त का पाठ्यक्रम उन्होंने अपने अध्यवसाय से ससम्मान समाप्त किया। सुदूर मद्रास प्रदेश में तन्मयता से आयुर्वेद पढ़ा। चिकित्सापद्धति के दूसरे मार्गों का भी अनुशीलन करते रहे। "सर्वो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः" के अनुसार वे सबसे ज्ञानसंग्रह करते रहे, जैसे मधुमक्षिका मधुसंग्रह करती है। मितभाषी मित-मिलनी मितव्ययी वे शुरू से रहे हैं। अनेक ग्रन्थों के यशस्वी रचयिता हैं। चिकित्सा की अनेक पद्धतियों के मर्मज्ञ समन्वयकार हैं। अपने पेशे-धन्धे में सफल और यशस्वी प्राणाचार्य हैं। उनके पूज्य माता-पिता दीर्घ आयुष्य लाभ कर गये—वैद्य जी भी दीर्घायु और स्वस्थ हैं। वे गुरुकुल के रत्न हैं। यदि किसी बड़े नगर में चिकित्सा करते तो बड़े यश, धन मान के भाजन भी हो जाते। अब भी यह प्राणाचार्य अपने स्थिर स्थान पर आसन जमाए आयुर्वेद और जनता की रक्षा में सानन्द निरत है। इतने महान अनुभव विवेक, सहृदयता, अध्यवसाय की निधि यह मनीषी अपने देश, धर्म, जाति, संस्कृति, आर्यसमाज और गुरुकुल को अपने सत्परामर्श और सहृदयता से बड़ा लाभ पहुंचाने का सामर्थ्य रखता है। यह इन संस्थाओं की बुद्धिमत्ता पर निर्भर है कि ये सब संस्थाएं और प्राणाचार्य जी के बन्धु-बान्धव इन से कितनी सेवा लेवें। आर्य जाति को समझ लेना चाहिए कि यह सत्पुरुष श्री विदुर जी के समान महाप्राज्ञ और हितैषी है। आज भारतवर्ष में ऐसे मनीषियों की कमी है और ऐसे महामति सज्जनों की परम आवश्यकता है। आओ बन्धुओ! ऐसे महाप्राज्ञ सत्पुरुष का हम सानन्द सर्वात्मना अभिनन्दन करें।

**आत्मानन्द**
A 39, Defence Colony, New Delhi.

★ ★ ★

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि आचार्य श्री धर्मदत्त जी, भू. पू. प्रिन्सिपल आयुर्वेदिक कालेज, गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार, का आयुर्वेद क्षेत्र में उनके द्वारा की गई सेवाओं के लिए अभिनन्दन किया जा रहा है तथा उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है।

वैद्य जी आयुर्वेद के एक प्रकाण्ड विद्वान् ही नहीं एक सुयोग्य अध्यापक एवं कुशल चिकित्सक भी हैं। आयुर्वेद के प्रति की गई उनकी सेवायें चिरस्मरणीय रहेंगी।

मैं आपके दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन की कामना करता हूं।

हरिदत्त बहुगुणा
१२-८-७१

★ ★ ★

प्रिय महोदय,

यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि आपकी संस्था वैद्यराज श्री धर्मदत्त जी को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने जा रही है, वास्तव में यह महान कार्य है। आयुर्वेद जगत में वैद्य जी की सेवायें सराहनीय हैं।

मैं अपनी शुभकामनायें प्रेषित करता हुआ भगवान से प्रार्थना करता हूं कि वह वैद्य धर्मदत्त जी को दीर्घायु करे ताकि उनकी अधिक से अधिक सेवायें आयुर्वेदजगत को उपलब्ध हो सकें।

भवदीय
(पारस कुमार जैन)
अध्यक्ष
नगरपालिका समिति हरिद्वार

★ ★ ★

श्री वैद्य धर्मदत्त जी से मैं उसी समय से परिचित हूं जब कि वे आयुर्वेद महाविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य पद पर आसीन थे। आपकी अध्ययनशीलता आज भी बराबर पहले के समान ही चली आ रही है। चिकित्सा के साथ-साथ शेष समय आपका इसी में व्यतीत है, यह देखने का और विचार विनिमय का मुझे भी सौभाग्य प्राप्त होता रहता है, इस सम्बन्ध में आपके द्वारा उत्कृष्ट प्रकाशन भी किया गया है।

ऐसे पीयूषपाणि वयोवृद्ध विद्वान् वैद्य के अभिनन्दन समारोह का आयोजन करने वाले श्री डा० अनन्तानन्द जी वर्तमान आचार्य आयुर्वेद महाविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी तथा हिन्दी जगत के माननीय विद्वान् श्रद्धेय श्री किशोरीदास वाजपेयी का ऐसे स्तुत्य कार्य के लिए हृदय से अभिनन्दन करता हूं। कारण कि ऐसे वैद्य मिलने दुर्लभ हैं।

ये रसायन संयोगाः वृष्या योगाश्चयेमतः।
यच्चौषधं विकाराणां सर्वं तद्वैद्य संश्रयम्॥
प्राणाचार्यं बुधस्तस्माद्धीमतां वेदपारगम्।
अश्विनाविवदेवेन्द्रः पूजयेदतिशक्तितः॥

गंगाधर शर्मा वैद्य
भूतपूर्व आचार्य,
ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज, हरिद्वार।

# आयुष्यं च यशस्यं च महतां गुणकीर्तनम्

वैद्य धर्मदत्त जी मेरे गिने-चुने प्रिय मित्रों में हैं, और इसलिए उनके अभिनन्दन से मुझे परमानन्द मिलना स्वाभाविक है। वैद्य जी का अभिनन्दन साधारण जन नहीं, देश के प्रमुख वैद्य जन कर रहे हैं; यह बहुत बड़ी बात है; क्योंकि साधारणतः—

'नाऽगुणी गुणिनं वेत्ति, गुणी गुणिषु मत्सरी'

इस का अपवाद यह अभिनन्दन-सदनुष्ठान है। इस के लिए वैद्य अनन्तानन्द जी तथा उनके साथी सहयोगी बधाई के पात्र हैं, जो अपने शुभ संकल्प को मूर्त्त रूप देने में सफल हुए।

यह 'अभिनन्दन-पत्रिका' बड़े काम की चीज़ है। इस से वैद्य-समाज को प्रेरणा मिलेगी, वास्तविक धन्वन्तरि-पूजन करने की। आयुर्वेद की उन्नति का यह मार्ग है।

वैद्य अनन्तानन्द जी का अध्यवसाय सफल हुआ, यह उन के लिए और उनके सहयोगियों के लिए परम सन्तोष की बात है। इससे बहुत पहले एक और भी अध्यवसाय प्रस्फुटित हुआ था। आचार्य यादव जी त्रिकम जी का महाभिनन्दन करने की योजना वैद्य रामनारायण शर्मा (वैद्यनाथ) ने बनाई थी। काम भी शुरू हो गया था। पर कालचक्र ने अभिनन्दन-ग्रन्थ को 'स्मृति-ग्रन्थ' बना दिया। आचार्य यादव जी नहीं देख पाए कि उन के शिष्यों ने किस तरह कृतज्ञता प्रकट की है!

वैद्य धर्मदत्त जी के प्रमुख शिष्य अपने आचार्य का अभिनन्दन उन के स्वस्थ रूप में कर रहे हैं। हमारे अभिनन्द्य बन्धु अभी दो वर्ष पहले बहुत अस्वस्थ हो गए थे, इस समय वे पूर्ण स्वस्थ हैं; प्रसन्न हैं। यह हम सब के लिए परम सन्तोष और प्रसन्नता का विषय है।

यह अभिनन्दन-पत्रिका उन पोथों से अधिक महत्त्व रखती है, जो सेठ साहूकारों की थैलियों से प्रकाशित होते हैं। असली जगमगाहट इस पत्रिका में है। यदि कहीं कुछ लेखन-मुद्रण में त्रुटि है, कागज बढ़िया नहीं है, तो इससे क्या? 'घी का लड्डू टेढ़ा भला।'

३-५-७१ —किशोरीदास वाजपेयी, (कनखल)

श्री मनसाराम व्यास, पुराणाचार्य

प्रकाण्ड पाण्डित्य की सरल सौम्य मूर्ति

आचार्य धर्मदत्त वैद्य, विद्यालंकार, आयुर्वेदाचार्य, ७६ वर्ष की आयु में पदार्पण (१९७०)

## मैं अकेला बढ़ता ही चलूंगा

डाक्टर श्री कान्तिकृष्ण "अपूर्व"

मैं इस भूतल पर अकेला हो निरन्तर,
छोड़ आशा अन्य मीत की पन्थ में बढ़ता ही चलूँगा।
मैं अकेला बढ़ता ही चलूँगा॥

घिर रही हों घोर विपद में घोर घटायें,
सता रही हों रोग-व्रणों की मर्म व्यथायें,
तीमारदार की चिर आशा, मैं न करता ही रहूंगा।
मैं अकेला बढ़ता ही चलूँगा॥

जब करेगा विश्व को सन्तप्त सहस्रकर,
विकल हों प्राण ये ग्रीष्म ज्वाला से प्रखर,
जलधरों की सजल आशा, मैं न करता ही रहूंगा।
मैं अकेला बढ़ता ही चलूँगा॥

उपवन को जब कुसुमित करता हो कुसुमाकर,
उधर छिड़ता हो मधु-कोकिल का पंचम स्वर,
तब प्रिया की चिर प्रतीक्षा, मैं न करता ही रहूंगा।
मैं अकेला बढ़ता ही चलूँगा॥

व्योम में व्याप्त प्रलय पयोद प्रलयंकर,
जल-प्लावन से डूब रही हो मही भयंकर,
वृष्टि रुकने की प्रतीक्षा मैं न करता ही रहूंगा।
मैं अकेला बढ़ता ही चलूँगा॥

गिर जायेंगे जब गगन में पंख कट कर,
उड़ते उड़ते निस्पन्द जब पंख थक कर,
अन्य डैनों की तब आशा, मैं न करता हो रहूंगा।
मैं अकेला बढ़ता ही चलूँगा ॥

हो कर हताश मांझी छोड़ देगा जब पतवार,
फंसने पर भी नौका के मध्य पयोधि धार,
डांडों को छोड़ आशा, मैं बाहुओं से खेता ही चलूँगा।
मैं अकेला बढ़ता ही चलूँगा ॥

तिमिर छा जाय जब प्रलय रात्रि का जग में,
विद्युत की ज्योति न दीखे शून्य गहन वन में,
स्वर्ण ऊषा की अभिलाषा, मैं न करता ही रहूंगा।
मैं अकेला बढ़ता ही चलूँगा ॥

मेघों का गर्जन कंपाता हो सृष्टि को समस्त,
अशनिपात के भयंकर तर्जन से विश्व हो त्रस्त,
मेघ छंटने की प्रतीक्षा, मैं न करता ही रहूंगा।
मैं अकेला बढ़ता ही चलूँगा ॥

जब तीव्र तूफां से जग धूलिधूसर हो जाए,
नभ के नक्षत्रों की ज्योति मन्द पड़ जाए,
तूफां शान्त होने की प्रतीक्षा, मैं न करता ही रहूंगा।
मैं अकेला बढ़ता ही चलूँगा ॥

दीप शिखा को जब न कोई स्नेह भरेगा,
क्षुब्ध तूफां में जब न कोई ओट करेगा,
स्नेह मिलने की चिर आशा, मैं न करता ही रहूंगा।
मैं अकेला बढ़ता ही चलूँगा ॥

जब देख संकट छोड़ देंगे सब स्वजन,
जब छोड़ देंगे साथ साथी देख निर्धन,
बन्धुओं की फिर अभिलाषा, मैं न करता ही रहूंगा।
मैं अकेला बढ़ता ही चलूँगा ॥

आयुर्वेदमहोपाध्याय आयुर्वेदभूषण, विद्यालंकार, सिद्धान्तालंकार

# आचार्य श्री वैद्य धर्मदत्त जी का जीवन परिचय

डाक्टर श्री कान्तिकृष्ण आयुर्वेदालंकार, एम० ए०

श्री वैद्य धर्मदत्त जी १९१७ में गुरुकुल विश्वविद्यालय के स्नातक हुए. तथा १९१८ में मद्रास आयुर्वेद कालेज में प्रविष्ट हुए थे। इस प्रकार आज १९७० में उन्हें आयुर्वेद कार्यक्षेत्र में रहते हुए ५२ वर्ष हो चुके हैं। आपका जन्म २०दिसम्बर १८९४को हुआ। आप ७५वर्ष पूरे करके ७६वें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं। श्री वैद्य धर्मदत्त जी के पुरखा पशिचमी पंजाब के लायलपुर जिले के चिनियोट शहर के रहने वाले थे। इनके पिता लाला खुशाबीराम जी नार्थवेस्टर्न-रेलवे में स्टेशन मास्टर रहे। वे दृढ़ आर्यसमाजी थे तथा उन्होंने स्थान-स्थान पर आर्यसमाजों की स्थापना की थी,इसीलिए वे महाशय खुशाबीराम जी कहाते थे। वे अपनी ईमानदारी के लिए मशहूर थे। अपने सेवाकाल में उन्होंने कभी रिश्वत नहीं ली। वे महात्मा मुन्शीराम जी के बड़े भक्त थे। जब महात्मा जी पंजाब में गुरुकुल की स्थापना के लिए चन्दा मांगने निकले तो उन्होंने चन्दा एकत्रित करने में उनकी बड़ी सहायता की। वे जब तक जिए तब तक गुरुकुल के लिए धन एकत्रित करने में बड़ा उत्साह दिखाते रहे। १९०० में जब गुरुकुल कांगड़ी खुला और महात्मा मुन्शीराम जी ने लड़के मांगे तो उन्होंने अपने दोनों बड़े लड़के गुरुकुल में दाखिल कर दिए। ये दोनों श्री वैद्य धर्मदत्त जी के बड़े भाई थे। श्री वैद्य धर्मदत्त जी इनके छह पुत्रों एक पुत्री में से तीसरे नम्बर पर थे। इनको इनके पिता ने १९०३में गुरुकुल में दाखिल कर दिया। जहां १० वर्ष बाद १९१३ में इन्होंने विद्याधिकारी परीक्षा और चार साल बाद १९१७ में विद्यालंकार परीक्षा पास की। आर्ट्स कालेज में इतिहास के विषय के साथ २ इन्होंने आर्यसिद्धान्त विषय का भी अध्ययन किया था इसलिए इन्हें विद्यालंकार के साथ २ सिद्धान्तालंकार की उपाधि भी प्रदान की गई।

अध्ययन काल में स्कूल तथा कालेज दोनों में आप अपनी कक्षा में अच्छे पढ़ने वाले लड़कोंमें गिने जाते थे। स्कूल तथा कालेज की सभा-सोसाइटियों में आगे बढ़कर भाग लेते थे। हर महीने प्रकाशित होने वाली कालिज पत्रिका का सम्पादन भार अपने ऊपर लेते थे। कालेज में हाकी की प्रथम टीम में आप एक खिलाड़ी थे।

१९१७ में स्नातक बनने के बाद इन्होंने यत्न किया कि अपने दोनों बड़े भाइयों के समान अर्थात् श्री विश्वकर्मा जी तथा श्री जयदेव जी विद्यालंकार के समान इन्हें भी पंजाब या उत्तरप्रदेश के आर्य-समाज के क्षेत्र में कोई सेवा मिल जाए। परन्तु एक वर्ष तक प्रयत्न करने पर भी आर्यसमाज के क्षेत्र में इन्हें कोई काम न मिला। इस बीच में इन्होंने 'प्राचीन भारत में स्वराज्य' नामक एक ग्रन्थ लिखा। उन दिनों कांग्रेस की ओर से स्वराज्य की मांग हो ही रही थी। इस ग्रन्थ में इन्होंने यह सिद्ध किया कि वैदिक काल तथा उसके बाद के काल में भारत में अनेक स्थानों पर प्रजातन्त्र शासनपद्धति प्रचलित थी, तथा इस प्रकार की शासनपद्धति का विधान प्राचीन संस्कृत साहित्य में अनेक स्थानों पर मिलता है। प्रोफेसर श्री रामदेव जी ने इस ग्रन्थ को पसन्द किया और उन्होंने ही इसका प्रकाशन गुरुकुल-साहित्य-परिषद् की ओर से कराया।

आर्यसिद्धान्त के स्नातक होने पर भी जब आप को आर्य समाज में कोई काम न मिला तो आपने आयुर्वेद के अध्ययन का निश्चय कर लिया। उत्तर

भारत में उस समय कोई नियमित आयुर्वेद कालेज नहीं था । इसलिए आप १६१८ में मद्रास शहर में जाकर मद्रास आयुर्वेद कालेज में प्रविष्ट हो गए । इनको संस्कृत, अंग्रेजी, साइन्स का अच्छा ज्ञान था । इसलिए इन्हें कालेज के द्वितीय वर्ष में प्रवेश मिल गया । इस प्रकार कालेज के चार वर्ष के कोर्स को तीन वर्ष में पूरा करके आपने १६२१ अप्रैल में वहां आयुर्वेदभूषण उपाधि प्राप्त करली ।

इसके बाद अभी आप मद्रास में ही थे कि स्वामी श्रद्धानन्द जी का (जो १६१७ में संन्यास लेने के बाद फिर १६२० में गुरुकुल के आचार्य पद पर आगए थे) एक पत्र इनको मिला, जिसमें उन्होंने लिखा था कि उनका विचार गुरुकुल विश्वविद्यालय में एक आयुर्वेदिक कालेज खोलने का है । इसलिए जब ये उत्तर भारत में आवें तो ये उनको मिलें क्योंकि इस कार्य में श्री स्वामी जी इनका सहयोग चाहते हैं । उनकी आज्ञानुसार जब ये वहां से लौटकर उन्हें मिले तो उन्होंने कहा कि उनका अपना विचार तो आयुर्वेदिक कालेज खोलने का है, पर गुरुकुल की स्वामिनी सभाने अभी तक स्वीकृति प्रदान नहीं की है । तथापि वे इस दिशा में यत्न कर रहे हैं । इस पर श्री वैद्य जी अपने घर पंजाब चले गए । छह मास बाद श्री स्वामी जी का पत्र उन्हें मिला जिसके साथ गुरुकुल में आयुर्वेदोपाध्याय पद का १०० रुपया मासिक वेतन पर नियुक्ति पत्र भी था ।

नियुक्ति-पत्र पाकर जब ये गुरुकुल पहुंचे तो श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी गुरुकुल छोड़कर जा चुके थे और श्री प्रो० रामदेव जी आचार्य पद पर नियुक्त होकर आ गए थे । प्रतीत होता है कि जब श्री स्वामी जी महाराज को पता लगा कि वे अब आचार्य नहीं रहेंगे, दूसरे सज्जन उस पद पर आएंगे, तो उन्होंने अपने दिए हुए वचन को निभाने के लिए आचार्य पद छोड़ने से पहले श्री वैद्य जी को नियुक्ति-पत्र वे देते गए । इन पर यह उनकी कृपा ही थी ।

उस समय आयुर्वेद कालेज तो नहीं खुला था परन्तु आयुर्वेद एक विषय के तौर पर तीन-चार साल से पढ़ाया जा रहा था जिसके लिए दो उपाध्याय रहते थे ।

यथाविधि गुरुकुल आयुर्वेद कालेज का श्री गणेश तो १६२२ में हुआ । तीन एम. बी. बी. एस डाक्टरों तथा तीन आयुर्वेदाचार्य वैद्यों से यह कालेज शुरू किया गया । श्री डा० राधाकृष्ण जी एम० बी० बी० एस० प्रिन्सीपल नियुक्त हुए । सब ने मिलकर पाठविधि बनाई । मद्रास आदि के आयुर्वेद कालेजों की पाठविधि मिश्रित चिकित्सा की थी, उस तरह की पाठविधि इस कालेज की भी बनाई गई । कलकत्ते के प्रसिद्ध वैद्य श्री गणनाथसेन जी तथा बम्बई के श्री यादव जी महाराज आदि को यह दिखा कर उनके आदेशानुसार पाठविधि तय्यार की गई ।

औषधिनिर्माण के लिए एक फार्मेसी आरम्भ की गई, आयुर्वेदिक द्रव्यों का एक संग्रहालय बनाया गया, शवच्छेदन के लिए शवच्छेदगृह बनाया गया, प्रकृतिविज्ञान ( फिजिओलोजी ) तथा विकृति विज्ञान (पैथोलोजी) की एक प्रयोगशाला बनाई गई । तथा एक हस्पताल जिसमें थोड़े ही पलंग थे बना लिया गया । दो-तीन वर्ष में ही कालेज ने इतनी उन्नति करली कि यू०पी० गवर्नमेंट के एक कमीशन ने जिसके प्रधान गोकर्णनाथ मिश्र थे इस कालेज को देख कर जो रिपोर्ट गवर्नमेंट को दी उसमें इस कालेज को यू० पी० का सर्वोत्तम आयुर्वेद कालेज बताया ।

श्री वैद्य धर्मदत्त जी की पहले से ही यह धारणा थी कि आयुर्वेद को नवीन विज्ञान के प्रकाश में पढ़ने से अर्थात् नवीन विज्ञान की परिभाषाओं में उसकी व्याख्या करने से वह छात्रों को सरल और सुबोध हो जाता है ।

यद्यपि आयुर्वेद की उत्पत्ति नवीन विज्ञान से पहले हुई थी और इसके बनाने वालों ने इसे अपने दर्शन ( Observation) के आधार पर बनाया था, तथापि उनका दर्शन इतना यथार्थ था कि उनका आयुर्वेद आज भी विज्ञानानुमत या विज्ञान समर्थित है। उदाहरणतः आयुर्वेद का त्रिधातु सिद्धान्त शरीरक्रियाविज्ञान के मूल सिद्धान्तों से तथा आयुर्वेद का पञ्चभूत सिद्धान्त आज के cosmology के मूल सिद्धान्तों से पूरी तरह मेल खाता है। फिर ये सिद्धान्त जितने मौलिक हैं और जितनी अधिक समस्याओं को हल करते हैं उतना अधिक मौलिक सिद्धान्त नवीन चिकित्साशास्त्र में उपलब्ध नहीं होता।

इसीलिये उचित समझा गया कि आयुर्वेद की पढ़ाई आरम्भ करने से पहले छात्रों को प्राणी-विज्ञान ( बायोलोजी ) शरीररसायनविज्ञान (बायोकेमिस्ट्री) भौतिक विज्ञान (फिजिक्स) तथा दर्शनशास्त्र का मौलिक ज्ञान करा देना चाहिए।

इसके बाद आयुर्वेद की पढ़ाई के विषय में यह नीति बनाई गई कि द्रव्यगुणविज्ञान में तथा कायचिकित्सा के विषय में आयुर्वेद के साथ गौण-रूप से नवीन औषधिविज्ञान तथा आधुनिक-चिकित्साविज्ञान का समावेश किया जाए। शरीरशास्त्र और शल्यचिकित्सा के अध्यापन में नवीन विज्ञान को प्रमुखता देते हुए तत्सम्बन्धी आयुर्वेद को भी गौणरूप से पढ़ाया जाए। इस सिद्धान्तके आधार पर आयुर्वेद महाविद्यालय की पाठविधि बनाई गई।

आयुर्वेद महाविद्यालय के छात्रों को औषधि-निर्माण की शिक्षा देने के लिए गुरुकुल फार्मेसी भी १९२२ में एक बहुत छोटे से रूप में आरम्भ हुई। बनी हुई औषधियों की बिक्री हो सके, इसके लिए कुछ एक पत्रों में इश्तहार भी दिए जाने लगे। दो-तीन वर्ष में जब फार्मेसी का कार्यभार बढ़ गया तो श्री वैद्य सत्यदेव जी विद्यालंकार ने फार्मेसी का कार्य संभाल लिया और वह फार्मेसी जो बहुत छोटे से रूप में शुरु हुई थी उत्त-रोत्तर विशाल रूप लेती गई।

श्री वैद्य जी ने आयुर्वेद कालेज के प्रारम्भिक दिनों में 'औषधिविज्ञान' नामक एक ग्रन्थ सन् १९३४ में लिखा जिसका प्रकाशन अनुभूतयोगमाला प्रेस इटावा ने किया। छात्रों ने द्रव्यगुणविज्ञान के विषय के अध्ययन के लिए इस ग्रन्थ को उपयोगी पाया। यह ग्रन्थ अब भी उक्त प्रेस से मिल सकता है।

१९३० मई मास में जब गुरुकुल विश्वविद्यालय पुरानी भूमि कांगड़ी से हटकर नवीन भूमि पर आया तो उसके साथ गुरुकुल आयुर्वेद कालेज भी नवीन भूमि पर आ गया। इधर आकर आयुर्वेद कालेज की उन्नति और भी अधिक हुई।

१९३५ के लगभग श्री वैद्य जी का त्रिदोष विमर्श नामक ग्रन्थ जो संस्कृत भाषामें लिखा गया था और लाहौर के मैसर्स मोतीलाल बनारसीदास की ओर से प्रकाशित हुआ। इसमें त्रिदोष सिद्धान्त की नवीन व्याख्या की गई थी। बम्बई के श्री यादव जी महाराज आदि वैद्यों ने इसकी प्रशंसा की थी।

इसके बाद आपने ६-७ वर्ष लगाकर लाहौर-वाले मैसर्स मेहरचन्द लछमनदास जी के कथन पर चरकसंहिता पर एक व्याख्याग्रन्थ लिखा था। उसका प्रारम्भिक बहुत बड़ा भाग आपने लिखकर उनको भेज भी दिया था,परन्तु १९४७ में पाकिस्तान बन जाने पर उनको वहां से बहुत जल्दी निकलना पड़ा जिससे वे इनकी हस्तलिखित चरक की व्याख्या को ला न सके और वहां ही छोड़ आए जिससे इनका वह ग्रन्थ प्रकाशित होने से रह गया।

१९४३ के मई मास में श्री वैद्य धर्मदत्त जी

आयुर्वेद कालेज की २१ वर्ष सेवा करने के बाद सेवा-निवृत्त हो गए। अपने इस सेवा काल के पिछले ४ वर्ष में वे कालेज के अध्यक्ष पद पर भी रहे। आपके २१ वर्ष के सेवा काल में आयुर्वेद कालेज में पूर्ण व्यवस्था और शान्ति बनी रही। एक भी दिन ऐसा नहीं आया जब कालेज में किसी प्रकार का कोई असन्तोष या आन्दोलन हुआ हो। अध्यापक वर्ग को या छात्रों को शिकायत करने का कभी कोई अवसर नहीं आया।

गुरुकुल की सेवा से निवृत्त होकर आपने कनखल शहर में अपनी निजी चिकित्सावृत्ति आरम्भ करदी और अब भी वहीं चिकित्सा कार्य कर रहे हैं। १९५६ में आपका एक ग्रन्थ इंगलिश भाषा में Ayurvedic Interpretation of medicine नाम से प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ अंग्रेजी भाषाभाषियों को आयुर्वेद का चिकित्सासम्बन्धी दृष्टिकोण बताने के लिए लिखा था। इस ग्रन्थ पर यू० पी० की गवर्नमेंट ने आपको पुरस्कार भी प्रदान किया था।

इसके बाद १९६६ में आप का एक ग्रन्थ 'आधुनिक चिकित्साशास्त्र' नाम से मैसर्स मोतीलाल बनारसीदास जी देहली की ओर से प्रकाशित हुआ जिसे हिन्दी भाषा में आधुनिक चिकित्साविज्ञान का एक उत्तम ग्रन्थ माना जाता है। इसमें रोगों की आधुनिक चिकित्सा का वर्णन विस्तार से है। साथ-साथ आयुर्वेदिक चिकित्सा का भी उल्लेख किया गया है।

इसके बाद १९६९ में आपका त्रिदोषसंग्रह नाम का एक ग्रन्थ चौखम्बा प्रेस बनारस की ओर से प्रकाशित हुआ जिसमें आयुर्वेदीय ग्रन्थों के त्रिदोष विषयक वाक्यों का इस तरह संग्रह किया है कि छात्रों को यह विषय सुगम हो जाए। इस ग्रन्थ पर लखनऊ की आयुर्वेदिक एण्ड तिब्बी एकाडमी ने अच्छा पुरस्कार दिया है।

उपर्युक्त चिकित्सा सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त आपने गत तीन चार वर्षों का समय लगाकर एक धार्मिक ग्रन्थ 'सदाचार संहिता' के नाम से भी लिखा है। इसमें सदाचार के अंगों का प्रतिपादन करने वाले वचनों का संग्रह भिन्न २ धर्मों के मूल ग्रन्थों से लेकर किया गया है। सभी साम्प्रदायिक धर्म एक ही धर्म का प्रतिपादन करते हैं इस बात पर बल दिया गया है। युवकों को सदाचार की शिक्षा देने तथा उनके हृदय में सर्व धर्म समानता की भावना को उत्पन्न करने के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी होगा।

आन्ध्रप्रदेश हैदराबाद की आयुर्वेद एकाडमी ने आपकी आयुर्वेद की सेवाओं का सन्मान करते हुए १९६७ में आपको 'आयुर्वेद-महोपाध्याय' की उपाधि प्रदान की थी।

आयुर्वेद की सेवा के साथ-साथ आप सर्वोदय समाज के एक प्रमुख कार्यकर्ता हैं। आपने कनखल में सर्वोदय समाज के कार्य को चलाने के लिए पर्याप्त उद्योग किया है। आर्यसमाज कनखल के भी आप प्रधान हैं।

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहा मीव चातनः॥

—अथर्वेद

# आयुर्वेद की चिकित्साप्रणाली

श्री डाक्टर बी० गोपाल रेड्डी, Ph. D., D. Litt., राज्यपाल उत्तरप्रदेश

(आयुर्वेद कालेज, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के आयुर्वेद सम्मेलन में उद्घाटन भाषण)

स्वामी श्रद्धानन्द जी की प्रेरणा से स्थापित इस गुरुकुल में जब भी आता हूं, मेरा मन उस महान आत्मा के प्रति श्रद्धा से भर जाता है। शिक्षा की जो भारतीय परम्परा चली आ रही है, यह संस्था उसका प्रतीक है। यहां गुरू और शिष्य एक परिवार की तरह रहते हैं, और शिक्षा-दीक्षा दी जाती है। यही कारण है कि इस गुरुकुल विश्वविद्यालय ने अनेक पत्रकार, लेखक और राजनीतिज्ञ देश को दिए हैं।

इस आयुर्वेद सम्मेलन में आप लोगों को सम्बोधित करके मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। प्रसन्नता इसलिए कि यह आयुर्वेद सम्मेलन, नवीन व प्राचीन के बीच एक ऐसी कड़ी है, जिसका हमें स्वागत करना चाहिए। आज के युग में आयुर्वेद पर अधिकांश लोगों को विश्वास हो, और यह प्रणाली बहुप्रचलित हो, इसके लिए आपको प्रयत्न करना है। आयुर्वेद भारत की प्राचीनतम चिकित्सा प्रणाली है, ज्ञान की वृद्धि के साथ ही साथ इसका भी विकास हुआ है। आयुर्वेद की परम्परा ब्रह्मा से शुरू होती है। ब्रह्मा अर्थात् स्वयंभू अर्थात् जिसे किसी के द्वारा उत्पन्न न किया गया हो, जो स्वयं अपना जनक हो।

आयुर्वेद उस विद्या का नाम है जिसके द्वारा आयु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। आयु के विषय में कहा गया है कि शरीर, इंद्रिय, मन और आत्मा के संयोग का नाम आयु है। जहां आज का चिकित्साशास्त्र केवल शरीर को ही चिकित्सा का मुख्य अंग मानता है, वहां आयुर्वेद शरीर, इंद्रिय, मन और आत्मा सभी के प्रति सजग है। शरीर को आत्मा का भोगायतन, इंद्रियों को भोग का साधन, मन को अंतःकरण और आत्मा को मोक्ष प्राप्त करने वाला माना गया है, और इन चारों का जो संयोग है, उसे आयु और उन सभी के प्रति ज्ञान कराने वाला आयुर्वेद है। वेदों के मंत्रों में देवतावाद बहुत स्पष्ट है। प्रत्येक सूक्त का कोई देवता होता है, और अन्य देवताओं के साथ अश्विनौ देवता से सम्बन्धित सूक्त भी मिलते हैं। अश्विनौ स्वर्ग के वैद्य हैं। इन्होंने वैदिक देवताओं की चिकित्सा की है। वेदों में इन्द्र, अग्नि और सोम देवताओं के बाद अश्विनौ का ही नाम आता है। अश्विनौ के द्वारा काय-चिकित्सा और शल्य-चिकित्सा दोनों प्रकार के उपचार किये गये। आयुर्वेद के आठ अंगों में यह दोनों अंग ही प्रधान हैं, और शेष अंग सामयिक हैं। बाद में यह भी विश्वास किया जाने लगा कि अश्विनौ सम्भवतः एक उपाधि थी जो काय-चिकित्सा और शल्य-चिकित्सा दोनों में पारंगत व्यक्तियों को प्रदान की जाती थी। वैदिक काल में रोगों को राक्षस और औषधियों को देवियों की संज्ञा दी गई है। जिसके पास औषधियां एकत्रित हों और जिसको इन औषधियों के प्रयोग करने की विधि मालूम हो तथा जो राक्षसों का संहार कर सके उसे वैद्य कहा गया है। उपनिषदों में आत्मा को रथी अर्थात् रथ वाला और मन को सारथी बताया गया है। इस रथ के घोड़े इंद्रियां हैं। मन रूपी सारथी इन इन्द्रियों को वश में रखता है। मन को वश में रखने के लिए प्राणायाम की चिकित्सा बताई गई है।

आयुर्वेद में चिकित्सा की ओर जितना ध्यान दिया गया है, शरीर और मन को स्वस्थ रखने पर भी उतना ही बल दिया गया है। सारे उत्तर भारत में आयुर्वेद की यह परम्परा प्रचलित है। दक्षिण-

भारत में भी आयुर्वेद का सिद्ध सम्प्रदाय विकसित हुआ। इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ अगस्त्य से माना जाता है। दक्षिण में संस्कृत का प्रसार करने वाले अगस्त्य ऋषि माने जाते हैं। केरल में अष्टवैद्य नाम से वैद्यों के आठ कुटुम्ब प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार कर्नाटक में पूज्यपाद नामक आचार्य की परम्परा चलती है। आन्ध्र प्रदेश के वैद्य, "चिन्तामणि" और "वसवराजीयम" नाम के दो संस्कृत ग्रन्थों का मुख्यतः उपयोग करते हैं। वसवराज आन्ध्र के ही निवासी थे और दक्षिण में इनके ग्रन्थ का वही सम्मान है जो बंगाल में चक्रदत्त और रसेन्द्रसार संग्रह का या महाराष्ट्र में योगरत्नाकर और गुजरात में शारंगधर का है।

भारतीय आयुर्वेदिक चिकित्साप्रणाली का सम्बन्ध प्राचीन विदेशी चिकित्साप्रणाली से भी बहुत घनिष्ट रहा है। यूरोप के बहुत से देशों में मन्दिर के पुजारी रोगों या कष्टों को दूर करने के लिए मन्त्रों का प्रयोग करते थे और देवालय ही चिकित्सास्थान हुआ करते थे। कैल्टिक जाति में वैद्यक और धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध था और धर्म गुरु ही इनके चिकित्सक हुआ करते थे। यूनानी और भारतीय चिकित्सा में अत्यधिक समानता है। १७वीं शताब्दी तक योरोपीय चिकित्सापद्धति भारतीय चिकित्सापद्धति पर ही आधारित थी। शरीररचनाविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली देखने से स्पष्ट हो जाता है कि यह तथ्य है और बहुत से शब्द ऐसे हैं जो दोनों भाषाओं में समान हैं। उदाहरण के लिए शिरोब्रह्म के लिए सेरीब्रम, शिरोविलोम के लिए सैरीबेलम, हृद के लिए हार्ट आदि अनेक शब्द ऐसे हैं जो समान हैं। सिकन्दर का आक्रमण ३३० ईसा पूर्व में हुआ और वह भारत से ३२६ ईसा पूर्व में वापस लौटा। इन चार सालों में उसे यहां की सभ्यता, संस्कृति और चिकित्साविज्ञान के बारे में अच्छी जानकारी मिली। सिकन्दर के समय तक्षशिला विद्या का केन्द्र था। सिकन्दर की सेना में बहुत से चिकित्सक थे लेकिन वह सर्पविष-चिकित्सा करने में असमर्थ थे। सिकन्दर ने इसके लिए भारतीय चिकित्सक नियुक्त किए थे। इसी प्रकार तिब्बत, श्रीलंका आदि देशों की प्राचीन चिकित्सापद्धति भारतीय चिकित्सापद्धति से संबद्ध रही है।

१९वीं शताब्दी के मध्य से अंग्रेज़ी शासनकाल में हमारी आयुर्वेदिक चिकित्साप्रणाली को गहरा धक्का लगा। अंग्रेज़ों ने केवल आयुर्वेदिक चिकित्साप्रणाली ही नहीं समस्त भारतीय शिक्षा पद्धति को हेय समझकर अंग्रेज़ी शिक्षा को ही महत्व दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि धीरे धीरे हमारी शिक्षापद्धतियां विलुप्त या महत्वहीन होती गईं। चिकित्साशास्त्र का ज्ञान देने के लिए बंगाल में पहला मेडिकल कालेज १८३५ ई० में खोला गया। आयुर्वेदिक चिकित्सा की अवनति मुगल शासन काल में ही प्रारम्भ हो गई थी। लेकिन अंग्रेज़ों के शासनकाल में उसका विशेष ह्रास हुआ। कुछ हमारा भी दोष था। १८वीं शताब्दी आते आते यह विद्या पूर्णतः क्षीण हो गई और वैद्यों का स्थान हकीमों और डाक्टरों ने ले लिया।

आयुर्वेद के इस लम्बे इतिहास को आपके सामने रखने का मेरा उद्देश्य केवल इतना था कि हमारी यह विद्या जो आज जन-समाज के बीच प्रतिष्ठित नहीं है उसे पुनः कैसे प्रतिष्ठित किया जा सकता है। आप लोग इस पर विचार करें, क्योंकि कोई भी चिकित्साप्रणाली तब तक सफल नहीं कही जा सकती जब तक जनसाधारण का विश्वास उस प्रणाली में न हो और यह विश्वास तभी उत्पन्न हो सकता है जब हम आधुनिक तरीके पर चिकित्सा करके लोगों के बीच उपचार करें और

उनमें इस प्रणाली के प्रति विश्वास उत्पन्न करें।

आज़ादी के बाद सरकार ने आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली को पुनः स्थापित करने के सम्बन्ध में बहुत से प्रयत्न किये। लेकिन जैसा मैंने पहले कहा था कि किसी भी चिकित्साप्रणाली को सरकारी सहायता या अध्यादेश के द्वारा जनता में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। हम जनता के बीच में आपको पुनः ला सकते हैं। लेकिन जनता का विश्वास प्राप्त करना आपका काम है।

सात-आठ वर्ष पूर्व उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा आयुर्वेद एवं यूनानी सेवा निदेशालय की स्थापना की गई थी, और तब से यह निदेशालय इस बात का प्रयत्न कर रहा है कि आयुर्वेदिक सेवाओं का प्रसार प्रदेश में किया जा सके। शहरी क्षेत्रों से अधिक आयुर्वेदिक चिकित्सालय गांव में लोकप्रिय होते हैं। इस वर्ष भी १३ नये आयुर्वेदिक एवं यूनानी चिकित्सालयों की स्थापना प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में की गई है। प्रदेश में इस समय कुल ७३५ राजकीय आयुर्वेदिक एवं यूनानी चिकित्सालय जनता को चिकित्सा सुविधा उपलब्ध करा रहे हैं। इस ७३५ में से ६४२ आयुर्वेदिक चिकित्सालय हैं। शहरों में भी आयुर्वेदिक चिकित्सालय खोलने की योजना चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में शामिल की गई है। इस वर्ष अयोध्या, फ़ैज़ाबाद में एक आयुर्वेदिक चिकित्सालय खोला जायेगा। सरकार ने यह भी प्रयत्न किया है कि निजी वैद्यों तथा वैद्यक संस्थाओं को अनुदान दिये जायें ताकि इस प्रकार की सेवा करने वाले व्यक्तियों को प्रोत्साहन मिले। गत वर्ष प्रदेश में लगभग १.५० करोड़ से अधिक रोगियों को इस चिकित्सापद्धति के द्वारा चिकित्सा सुविधा प्रदान की गई। भारतीय चिकित्सापरिषद्, उत्तरप्रदेश, से प्रदेश की आठ संस्थायें संबद्ध हैं। इसके अतिरिक्त राजकीय आयुर्वेदिक एवं यूनानी चिकित्सालयों में निःशुल्क वितरण करने के लिए प्रामाणिक औषधियां जनता को उपलब्ध कराई जाती हैं। इसके लिए राजकीय आयुर्वेदिक एवं यूनानी औषधिनिर्माणशाला पिछले लगभग २० वर्षों से सफलता पूर्वक कार्य कर रही है। आयुर्वेदिक एवं यूनानी तिब्बती पुस्तकों के संकलन एवं प्रकाशन के लिए आयुर्वेदिक एवं यूनानी तिब्बी एकाडमी, उत्तर प्रदेश, की स्थापना १९५० में की गई थी। यह एकाडमी पुस्तकों पर प्रतिवर्ष पुरस्कार प्रदान करती है।

इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से प्रयत्न किये जा रहे हैं, जिनके द्वारा इस चिकित्साप्रणाली का प्रसार उत्तरप्रदेश में हो। मेरा विश्वास है कि सरकार के इन प्रयत्नों और आपके सहयोग से, उत्तरप्रदेश में आयुर्वेदिक चिकित्साप्रणाली का विकास होगा। मैं गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के इस आयुर्वेद सम्मेलन की सफलता की कामना करता हूं।

।। जयहिन्द ।।

# आयुर्वेद का त्रैदोषिक दृष्टिकोण

आयुर्वेदमहोपाध्याय, आयुर्वेदाचार्य श्री वैद्य धर्मदत्त, विद्यालंकार, सिद्धान्तालंकार

आधुनिक चिकित्साविज्ञान का दृष्टिकोण Biochemic है। इसके अनुसार प्राणि शरीर में द्रव्यों का प्रयोग करके देखाजाता है कि उनका शरीर के Enzymes या 'रसों' पर क्या प्रभाव पड़ता है, फिर उन रसों के कारण शरीरके अंगों पर क्या प्रभाव होता है। इस परीक्षणात्मक दृष्टि-कोण को वैज्ञानिक दृष्टिकोण कहा जाता है।

आयुर्वेद का दृष्टिकोण कल्पनात्मक है, वह एक कल्पना, Concept या Postulotion पर आश्रित है। यह कल्पना चिरदर्शन से या Observation से की गई है। दूसरे शब्दों में आयुर्वेद के संस्थापकों ने अपने चिरकालिक तथा व्यापक दर्शन के आधार पर शरीर को बनाने वाले तीन धातुओं की कल्पना की, और इस त्रिधातुवाद पर चिकित्साशास्त्र की रचना की। आयुर्वेद जब उत्पन्न हुआ तब वह युग विज्ञान का नहीं था। तब लोग दर्शन से काम लेते थे। आयुर्वेद, सत्व रज तम जैसे मूलद्रव्यों के समान वायु पित्त कफ इन शरीर के मूल तत्वों को अव्यक्त मानता है। इनके कर्म तो व्यक्त हैं पर ये स्वयं अव्यक्त हैं। ये दिखाए नहीं जासकते। ये व्यक्त प्राणि शरीर के बाद के द्रव्य हैं, इस लिए, आधुनिक मत के अनुसार त्रिधातु सिद्धान्त को वैज्ञानिक नहीं कह सकते। परन्तु यह सिद्धान्त विचार करने पर पूर्णतः विज्ञानानुमत प्रतीत होता है। विज्ञान विपरीत यह नहीं है। इतना ही नहीं आधुनिक चिकित्साविज्ञान के मूलसिद्धान्तों की अपेक्षा यह अधिक गहरा या मौलिक है, और उसके सिद्धान्तों की अपेक्षा यह अधिक व्यापक है। अर्थात् अधिक समस्याओं का समाधान करता है।

**कफ धातु**—त्रिधातु सिद्धान्त के अनुसार शरीर के प्रत्येक अवयवत्र या प्रत्येक सेल में वृद्धि का गुण स्पष्ट प्रतीत होता है। गर्भावस्था में तो यह प्रबल रूप में दृष्टिगत होता है। उस के बाद बाल्यावस्था तथा युवावस्था में २५, ३० वर्ष की आयुतक भी यह गुण स्पष्ट प्रतीत होता है। उसके बाद यद्यपि शरीर में वृद्धि नहीं होती, तथापि अपने अन्दर हुई क्षति को तुरन्त पूर्ण कर लेने, बाहर से आए हानिकारक जीवाणु आदि द्रव्यों से अपनी रक्षा कर लेने, अपने को बचालेने तथा उन जीवाणुओं को नष्ट कर देने, अपने सदृश दूसरे अवयव को उत्पन्न कर लेने अर्थात् Reproduction करने का गुण शरीर में बना रहता है।

शरीर के सभी सेलों तथा द्रवों में बाह्या-भ्यन्तर विषों, विजातीय द्रव्यों, जीवाणुओं आदि को नष्ट कर के अपनी रक्षा कर लेने का एक अद्भुत गुण है। रक्त के सीरम में Complement तथा Properdin आदि द्रव्य हैं, जो शरीर-विरोधी द्रव्यों को नष्ट करने का काम करते हैं। त्वचा के स्वेद, नेत्रों के जल, श्लेष्म कलाओं (Mucous membranes) के स्राव में Lysozyme नामक एक द्रव्य है जो विजातीय द्रव्यों को नष्ट करता है। शरीर के अवयवों में यह जो स्वाभाविक वृद्धि करने, क्षतिपूर्ति कर लेने, विजा-तीय द्रव्यों से अपनी रक्षा कर लेने तथा अपने सदृश दूसरे अवयव को उत्पन्न करलेने का जो सहज गुण है इन के कारणभूत मूल तत्व को आयुर्वेद ने कफ (अर्थात् जल से फलित या उत्पन्न होने वाला तत्व) कहा है। इसे सोमतत्व या Water of life, Growth factor, Anobolic factor कह सकते हैं। इस तत्व को सम रखने के लिए शरीर को उचित आहार, विश्राम तथा निद्रा का मिलना आवश्यक है।

**पित्त धातु**--वृद्धिगुण के अतिरिक्त शरीर के प्रत्येक अवयव, प्रत्येक सेल में एक दूसरा गुण भी दृष्टिगत होता है। अर्थात् वे बाहर से आए द्रव्य को रासायनिक तौर से तोड़कर उनसे अपने अन्दर खपने योग्य प्रोटीन्स, फैट्स तथा ग्लूकोज बना लेते हैं, तथा इन से बनी धातुओं के मलों को तोड़ कर उन्हें मलमूत्र श्वास स्वेद आदिद्वारा बाहर निकलने योग्य बनादेते हैं। इस प्रकार शरीर के सेल अन्नपाक, धातुपाक तथा मलपाक का काम भी करते हैं। देह के इस पाचक तत्व को पित्त या पक्ति तत्व कहते हैं। इस पक्ति कर्म से ताप की उत्पत्ति होती है। इसलिये इस द्रव्य को 'तप' सन्तापे धातु से बनाकर 'पित्त' ऐसा नाम देदिया गया। इसे हम देहाग्नि Fire of lifeया Combustive factor कह सकते हैं। शरीर के मूल में इस तत्व की विद्यमानता से शरीर के सेलों में सैकड़ों Enzymes उत्पन्न होते हैं जो शरीर में नाना द्रव्यों का पाचन करते हैं। इस पाचन कर्म के कारण शरीर में गर्मी रहती है, और वह जीवित रहता है। इस तत्व को ठीक रखने के लिए शरीर में आक्सिजन आनी चाहिए, अर्थात् शरीर के लिए श्रम या व्यायाम करना आवश्यक होता है।

यह पित्त तत्व शरीर का एक प्रधान मूल तत्व है। यह वृद्धि तत्व या कफतत्व की अपेक्षा भी अधिक प्रमुख तत्व है क्योंकि वह इसी पर निर्भर है। यदि शरीर में पाचक तत्व न हो तो वृद्धितत्व कुछ भी नहीं कर सकता। देह में अग्नि क्या है मानो स्वयं भगवान् है। इसी लिए कहा है **अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।** यह तत्व आहार के प्रोटीन्स से धातुओं के प्रोटीन्स को बनाता है एवं कफतत्व की सहायता करता है।

यह पित्त तत्व निर्बल हो जाए, इस में ह्रास उत्पन्न हो जाए तो आहारपाक, धातुपाक, मलपाक आदि ठीक नहीं होता जिस से शरीर में कुछ आम विष (abnormal metabolites) उत्पन्न हो जाते हैं। इन के कारण जो रोग होते हैं उन्हें कफ रोग (Diseases due to Want of combustive factor) कहते हैं।

यदि पित्ततत्व प्रबल हो जाता है तो स्वभावतः शरीर में वृद्धिकर्म कम हो जाता है। पित्त तत्व यदि किसी स्थान विशेष पर अधिक बढ़ जाय या सारे शरीर में बढ़ जाए तो भी कुछ 'पाक जनित द्रव्य' या Catabolites शरीर में बढ़ जाते हैं। इस अवस्था में जो रोग होते हैं उन्हें पित्त रोग (Diseases dueto excessive combustion) कहते हैं। किसी अंग में आघात लगने से जो भाग मृत हो जाता है उसके पाक के लिए वहां पित्त बढ़ता है। सारे शरीर में किसी जीवाणु बिष के कारण जव कोई सेल मरते हैं तो उनके पाक के लिए पित्त प्रकोप होता है। इस प्रकार आघात पित्त रोग का कारण होता है।

वस्तुतः पित्त तत्व के घटने तथा बढ़ने से ही सर्व रोग होते हैं। इस के मन्द पड़ जाने से कफ रोग होते हैं तथा इस के शरीर के एक स्थान पर या सारे शरीर में सक्रिय या प्रबल हो जाने से स्थानिक या शरीरव्यापी पित्त रोग होते हैं। अतः कफ रोगों या पित्ताग्नि की मन्दता की चिकित्सा यही है कि लंघन के साथ शरीर की पित्ताग्नि को सम अवस्था में लाया जाए। और यदि पित्ताग्नि की प्रबलता से रोग होंतो बृंहण के साथ पित्त शामक शीतल चिकित्सा होनी चाहिए।

**कफ,** शरीर की आय या Intake है तथा पित्त शरीर में होने बाला व्यय Expenditure या

Out put है। इन दोनों के सन्तुलन पर मनुष्य का स्वस्थ अथवा अस्वस्थ होना निर्भर है। यह सन्तुलन अधिकतर पित्त पर निर्भर है। आहार या आय की मात्रा बढ़ भी जाए परन्तु यदि उसी परिमाण में शरीर में होने वाला व्यय भी बढ़ जाए तो उस से शरीर को कोई हानि नहीं होती। इन में से एक भी बढ़ जाए तो दूसरे को बढ़ाने का यत्न करना चाहिए। आहार की अधिकता के साथ आक्सिजन की मिलने वाली मात्रा भी बढ़ानी चाहिए।

साधारणतः, एक औसतन भार या डेढ़ मन वज़न का एक आदमी दिनभर में निम्न लिखित परिमाण में केलोरीज़ लेता है। उदाहरणतः वह रोटी ६ अदद लेता है। (एक रोटी १७५ कैलोरी) तो उसे इस भोजन से १००० कैलोरीज के लगभग प्राप्त होती हैं। यदि वह रोटी के वदले १०–१२ टोस्ट दैनिक लेता है तो उन से भी इतनी ही कैलोरीज मिलती हैं। इन के अतिरिक्त यदि वह एक छटांक या दो औन्स चावल भी लेता है तो उन से २०० कैलोरीज़ प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त दाल १ पाव से १००, आलू एक छंटाक से ५०, और किसी सब्जी दो छटाक से ५० कैलोरीज़ उसे मिलती हैं। इनमें प्रयुक्त घी १० चम्मच से उसे ३०० कैलोरीज़ (एक चम्मच घी ३० कैलोरीज़ देता है) मिलजाती हैं। इस भोजन के अतिरिक्त चाय आदि में दूध जो आधालिटर लिया जाता है उस से ३०० तथा खाण्ड १० चम्मच मात्रा में लिया जाए तो उससे ४०० कैलोरीज़ मिलती हैं। (खाण्ड १ चम्मच ४० कैलोरीज़ देता है)। इस भोजन के अतिरिक्त कोई साधारण फल भी लिया जा सकता है। इस प्रकार इस भोजन से एक मनुष्य को २४०० कैलोरीज़ मिलती हैं।

ऐसे मनुष्य को यह यत्न करना चाहिए कि उसके शरीर में होने वाला व्यय भी लगभग इतनी ही कैलोरीज़ का हो। उदाहरणतः यदि यह डेढ़मन का व्यक्ति दिन में १ घण्टा तेजी से भ्रमण करे तो इस में लगभग २०० कैलोरीज़ खर्च होती हैं। (भ्रमण के द्वारा प्रति घण्टा प्रति किलोभार के पीछे २–४ कैलोरीज़ खर्च होती हैं) भ्रमण के अतिरिक्त वह प्रातःकाल एक या पौना घण्टा व्यायाम करे या दौड़े भी तो ६०० कैलोरीज़ खर्च होती हैं। (५ मिनट दौड़ने या प्रबल व्यायाम करने से १०० कैलोरीज़ के लगभग व्यय होती हैं) ८ घण्टे अपने दैनिक कार्य में जैसे बोलने, पढ़ने, लिखने आदि में भी ६०० कैलोरीज़ खर्च हो जाती हैं (साधारण कार्य में १.४३ कैलोरीज प्रतिकिलो प्रति घण्टा खर्च होती हैं) ८ घण्टा सोने में लगभग ४५० कैलोरीज़ खर्च होती हैं (सोते समय प्रति घण्टा प्रति किलो एक कैलोरी खर्च हुआ करती है) शेष ६ घण्टा साधारण आराम तथा भोजन आदि करने में ५०० के लगभग कैलोरीज़ खर्च होती हैं (साधारण उठने वैठने में डेढ़ कैलोरी प्रति किलो प्रति घन्टा खर्च होती है)। इस प्रकार की दिनचर्या से २४०० के लगभग कैलोरीज का ही शरीर में खर्च भी हो जाता है।

इस प्रकार शरीर में होने वाली कफ और पित्त की प्रक्रियाओं को सन्तुलित न रखा जाए इन में से किसी को दूसरी से अधिक बढ़ने दिया जाए तो शरीर में रोग होने की प्रवृत्ति या रोगानुशयिकता बढ़ जाती है। अतः इन दोनों तत्वों को शरीर में समावस्था में रखने का यत्न करना चाहिए। इसी लिए कहा जाता है कि—

"रोगस्तु दोषवैषम्यं दोष साम्य मरोगता"

परन्तु वर्तमान समय में पूर्व समयों की अपेक्षा शारीरिक श्रम की मात्रा कम हो गई है। इसका कारण आवागमन के साधनों का सुलभ होजाना है। अतः धनी लोगों के शरीर में आय की अपेक्षा व्यय की प्रक्रिया मन्द हो गई है। इसी से वर्तमान काल में कफ रोगों या कफवातजन्य रोगों की संख्या बढ़ गई है। आय की अपेक्षा व्यय कम हो जाने से उत्पन्न होने वाले रोगों की जैसे मेदोवृद्धि, धमनीस्रोतोरोध ( Atheroma ), रक्तभार वृद्धि याब्लडप्रेशर, हृदयरोग Coronary Ischaemia मधुमेह, पित्ताश्मरी, वृक्काश्मरी, आमवात, संधि-रोग ( osteoarthritis ) आदि की वृद्ध हो गई है।

स्पष्ट है ऐसे रोगों के लिए लंघन चिकित्सा ( Dieting ) या लघुव्यायाम चिकित्सा उपयोगी हैं। अर्थात् अधिक कैलोरीज़ देने वाले घृत-खाण्ड-मक्खन-अन्न आदि की मात्रा कम कर के इन रोगियों को कम कैलोरीज़ देने वाले भोजनों पर जैसे सब्जी, फल, विना चिकनाई के दूध तक्र पनीर पर रखना चाहिए तथा यथाशक्ति कुछ शारीरिक व्यायाम भी कराना चाहिए। इस के विपरीत अर्थात् शरीर में आय वढ़ने के विपरीत जब शरीर में व्यय की प्रक्रिया तीव्र हो जाती है, और आय की प्रक्रिया मन्द पड़ जाती है जैसे कि जीर्ण ज्वर, क्षय, जीवाणु-जनित ज्वर, तथा तनाव या Tension के कारण उत्पन्न मानस रोगों में होता है तब ऐसे रोगियों में भूख तो मर जाती है परन्तु उनके शरीर में व्यय की प्रक्रिया बढ़ी होती है। ऐसे रोगियों की बृंहण Tonic, Nutritive चिकित्सा होनी चाहिए। उनको अधिक कैलोरीज़ तथा अधिक विश्राम और निद्रा मिलनी चाहिए।

**वायुतत्व**—उपर्युक्त कफ और पित्त तत्वों के अतिरिक्त शरीर के अवयवों या सेलों में एक जीवनी शक्ति या स्वयंचेष्टाशक्ति दृष्टिगत होती है। हृदय श्वास, महास्रोतस् रक्त वाहिनियों आदि में यह शक्ति स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती है। संज्ञा को ग्रहण करने तथा तदनुसार चेष्टा करने की शक्ति शरीर में है। शारीरिक बल, मनोवल, बुद्धिवल और आत्मबल ये सब वल भी शरीर की इस जीवनी शक्ति के ऊपर आश्रित हैं। शरीर की इस सहज शक्ति को आयुर्वेद में वात, या वायु कहा है। इसे शरीर का प्राण भी कहा है। हम इसे Vitalism, Dynamism, Biodynamic factor कह सकते हैं। साधारण शब्दों में इसे हम Electricity of life या Electrical potential कह सकते हैं।

जितनाही शरीर का पोषण अच्छा होता है अर्थात् उसमें कफतत्व सम अवस्था में रहता है, जितना ही उसे आक्सिजन ठीक २ मिलती है अर्थात् उसमें पित्त कर्म ठीक होता है उतना ही उसमें वायुतत्व भी सम अवस्था में रहता है। अर्थात् शरीर की जीवनी शक्ति या जीवनीय तत्व को ठीक रखने के लिये उसे आहार विश्राम, निद्रा तथा आक्सिजन ठीक २ मिलने चाहिए। दूसरी ओर क्योंकि वायुतत्व, कफ और पित्त दोनों तत्वों का संचालक है नियामक है जितना ही वह सम अवस्था में रहता है उतना ही शरीर में वृद्धि कर्म और पक्ति कर्म ठीक २ चलते हैं। अर्थात् ये तीनों सम अवस्था में रहें तथा एक दूसरे का सहयोग करें तो शरीर स्वस्थ रहता है।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि साधारणतया ३०-४० वर्ष की आयुतक ही शरीर में वृद्धि कर्म या क्षति पूर्ति कर्म या भग्न अंग के रोहण करने

का कर्म रहता है, इसके बाद ये गुण क्यों कम हो जाते हैं। शरीर की Enzymes में धातुओं के प्रोटीन्स को बनाने का जो गुण है वह क्यों मन्द पड़ जाता है। अर्थात् कफ और पित्त तत्व निर्बल क्यों पड़ जाते हैं। यदि ४० वर्ष की आयु के बाद कफ और पित्त ठीक-ठीक काम करते रहें तो वृद्धावस्था को पीछे ढकेला जा सकता है और ६०-७० वर्ष की आयु तक भी एक व्यक्ति युवा और तरुण रह सकता है। क्या कारण है कि वृद्धावस्था कभी किसी में ४० वर्ष की आयु में किसी में ५० वर्ष की आयु में और किसी में ६० वर्ष की आयु में प्रारंभ होतीं है।

इस विषय में आयुर्वेद का मत प्रतीत होता है कि कफ और पित्त तत्वों के मन्द पड़ जाने और वृद्धावस्था के लक्षणों के शुरु होने का कारण शरीर के जीवनीय तत्व या प्राण तत्व का निर्बल हो जाना है। जबतक यह वायु तत्व सम अवस्था में रहता है, कफ और पित्त तत्व भी सम अवस्था में रहते हैं। यदि वायु तत्व ६०-७० वर्ष की आयु तक भी सम अवस्था में रहे तो वृद्धावस्था के लक्षण उससे पहले नहीं होते। शरीर का वायु तत्व जब निर्बल होता है तब कफ और पित्त तत्व भी मन्द पड़ जाते हैं, धातुओं के प्रोटीन्स का पोषण कम हो जाता है। उनका पोषण कम हो जाने से शरीर के मांस अस्थि आदि धातु मृदु के स्थान पर कठोर, श्लक्ष्ण के स्थान पर खर, स्निग्ध के स्थान पर रूक्ष और लचीले होने के स्थान पर शुष्क चर्मवत् होने लगते हैं। इस प्राण तत्व की निर्बलता के कारण ही कफ और पित्त तत्व शरीर के पोषण, रोहण पूरण, रक्षण आदि के कार्य को भली प्रकार नहीं कर पाते।

शरीर की जीवनी शक्ति या प्राण शक्ति या वायु तत्व की निर्बलता से उत्पन्न होने वाले लघुता, रूक्षता, खरता, शुष्कता आदि लक्षणों को आयुर्वेद वायुवृद्धि के लक्षण कहता है। अर्थात् जितना ही शरीर के पोषण तथा पचन कर्म मन्द होते जाते हैं उतना ही उसमें वायु बढ़ती जाती है ऐसा कहा जाता है।

जब किसी अंगकी प्राण शक्ति कम होती है तो जितने अंश में वह कम होती है उतने अंश में उस में चलता का लक्षण उत्पन्न हो जाता है। स्वस्थ अंग में स्थिरता का गुण होता है अर्थात् वह स्वल्पविक्षोभ से चलित नहीं होता। परन्तु जब किसी अंग की प्राण शक्ति घट जाती है तो उसमें स्वल्प विक्षोभक कारण से भी विक्षोभ शीलता या चलता या Excitability का लक्षण उत्पन्न हो जाता है। इस चलता के लक्षण को शरीर के किसी अंग में या मन में देख कर कह दिया जाता है कि उस अंग में या शरीर में वायु बढ़ा हुआ है। वायु वृद्धि का मतलब यही है कि उस अंग की प्राण शक्ति घट गई है जिससे उसकी क्षमता या सहन शक्ति मन्द पड़ गई है और वह चल हो गया है।

इस प्रकार शरीर की धातुओं में रूक्षता, खरता, कठोरता लघुता, शुष्कता आदि लक्षणों को तथा मांसपेशियों में या मन में चलता या अस्थिरता के लक्षण को देख कर समझ लेना चाहिए कि शरीर में प्राण तत्व मन्द पड़ गया है, जिस से शरीर की धातुओं में कफ पित्त दोनों कर्म मन्द पड़ गए हैं।

स्पष्ट है कि यदि उपाय करके या युक्ति द्वारा प्राणतत्व को सम अवस्था में रखा जा सके तो वृद्धावस्था को पीछे धकेला जा सकता है।

शरीर का प्राण तत्व क्यों निर्बल होता है इस विषय में आयुर्वेद का मत है कि एक तो

शरीर में उत्पन्न विषैले द्रव्यों Abnormal Metabolites के दुष्प्रभाव से, दूसरे बाहर से आने वाले विषैले द्रव्यों के दुष्प्रभाव से और तीसरे मानसिक आवेशों या मानसिक आघातों से जैसे शोक, चिन्ता, भय क्रोध आदि द्वारा चित्त पर चोट लगने से या मन में किसी प्रकार के तनाव tension के चिरकाल बने रहने से शरीर का प्राण तत्व निर्बल हो जाता है। शरीर पर कहीं आघात लगे तो वहां हिस्टामीन उत्पन्न हो जाने से भी शरीर की प्राणशक्ति मन्द हो जाती है। मन पर आघात लगने से या क्रोध चिन्ता आदि से भी 'एड्रिनेलीन' आदि की अधिक उत्पत्ति होती है और उसके विषैले प्रभाव से शरीर की प्राण शक्ति क्षीण हो जाती है। मनपर धक्का ( Shock ) लगने से भी हृदय या रक्तवाहिनियों आदि का प्राण तत्व निर्बल हो जाता है। अभिप्राय यह है कि शारीरिक मानसिक अभिघात तथा विष-द्रव्य शरीर के प्राण-तत्व को निर्बल करनेवाले प्रधान कारण हैं।

वातशामकचिकित्सा——शरीर के इस सहज प्राणतत्व का ह्रास न होने पाए एवं शरीर या मन में कोई वायुरोग न हो, इस के लिए आवश्यक है कि अति मात्रा में भोजन, अति भाषण, अतिश्रम, अति अध्ययन अतिचिन्तन आदि से वचते हुए शरीर पर अति कार्य भार न डाला जाये, शारीरिक क्लेशों तथा मानसिक चिन्ताओं को शान्तिपूर्वक सहा जाए, शोक में तथा भय में धैर्य को न छोड़ा जाए। धन, जनकी हानि होने पर अपने को विचलित होने से बचाया जाए, दूसरों के द्वारा अपमान या अवहेलना होने पर भी शान्त रहा जाए, क्रोध न किया जाए। दूसरों के किए छोटे २ आक्षेपों को हंसी में उड़ा दिया जाए, अपनी तबीयत को परिहास शील बनाया जाए, जब कभी दूसरों के साथ वातचीत में हंसी का मौका मिले खुल कर हंस लिया जाए, यदि किसी दिन ऐसा भी मौका नहीं मिले तो एकान्त में जाकर खुलकर हंस-लिया जाए, हरहालत में प्रसन्न और हंसमुख रहने का यत्न किया जाए, केवल खास-खास मौकों पर ही गम्भीरता की मुद्रा धारण की जाए। किसी प्रकार के चिन्ताजनक कार्य के वाद फिर अपने को हलका कर लिया जाए, किसी भारी दिमागी कार्य करने से पहले तथा बाद में थोड़ी देर निश्चिन्त हो कर लेट लिया जाए, इसी प्रकार खाने या जलपान करने के पहले और बाद में ५-१० मिनट शान्त भाव से लेट लिया जाए, अपने भाषण में और लेख में कभी आवेश या तीव्रता को न आने दिया जाए, किसी प्रकार के वाद विवाद में कभी न पड़ा जाए, किसी आन्दोलन में क्रियाशील भाग न लिया जाए अपना कोई काम भी जल्दबाजी या व्याकुलता या हड़बड़ाहट में न किया जाए, सब काम शान्त भाव से किये जाएं, प्रातः सायं आध-आध घन्टे के लिए शान्त एकाग्र हो कर बैठा जाए, तथा इन वातों के अतिरिक्त प्रतिदिन ४ मील का भ्रमण किया जाए या प्रातः सायं आधा-अधा घन्टा मृदु व्यायाम किया जाए, विटामिन 'ए' तथा 'डी' के लिए प्रातः थोड़ा माखन लिया जाए, विटामिन 'बी' के लिए विना पोलिश किया चावल तथा अनछना आटा लिया जाए तथा विटामिन 'सी' के लिए कोई फल प्रति दिन लिया जाए, बाजार का दूषित बासी भोजन न ले कर अपने हाथ का या घर का बना ताजा भोजन ही लिया जाए, अतिशीत अतिउष्ण पेयों का त्याग किया जाए, तमाखू मद्य आदि मादक पदार्थों का प्रयोग कभी न किया जाए, शरीर में उत्पन्न होने

वाले विषों का कभी कभी बस्ति कर्म या मृदु विरेचन के द्वारा निर्हरण कर लिया जाए। किसी मनः शामकपेय का जैसे बादाम चारों मगज के साथ ब्राह्मी शंखपुष्पी आदि से बने स्निग्धोष्ण या शीत पेय का ऋतु के अनुसार सेवन किया जाए या औषधियों में से चरकोक्त जीवनीय घृत (चि० अ० २९) का दो चम्मच की मात्रा में नित्य सेवन किया जाए तो मनुष्य अपने को वायुरोगों से बचा सकता है तथा अपनी आयु को कुछ दीर्घ कर सकता है।

इस प्रकार, देह की धातुओं अर्थात् उनके प्रोटीन्स और फैट्स का निर्माण कफतत्व या Anabolic factor द्वारा होता है, तथा आहार का और धातुओं के प्रोटीन्स फेट्स और ग्लाइकोजन का पाक पित्त तत्व या Catabolic factor के द्वारा होता है, तथा शरीर में होने वाली सर्व चेष्टाओं का सञ्चालन वायुतत्व या Dynamic-factor के द्वारा होता है अर्थात् ये तीनों शरीर के सम्पूर्ण भौतिक और रासायनिक परिवर्तनों अर्थात् Metabolism का संचालन करते हैं ऐसा आयुर्वेद का जो दृष्टिकोण है उसे त्रिधातु या त्रैदोषिक दृष्टिकोण कहते हैं। इस दृष्टिकोण से शरीरक्रियाविज्ञान या चिकित्सा विज्ञान के अध्ययन करने को आयुर्वेद कहते हैं।

★ ★ ★

# आहार महिमा

**प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च।**

**स षट्सु रसेष्वायत्तः, रसाः पुनर्द्रव्याश्रयाः, द्रव्याणि पुनरोषधयः॥**

(सु० सू० अ १-२८)

प्राणियों और उनके बल, वर्ण, ओज का मूल आहार है। वह आहार छह रसों के आधीन है। रसों का आश्रय द्रव्य ओषधियां हैं।

**एकरसाहारः कर्शनीयानाम्। सर्वरसाभ्यवहारो बलकराणाम्॥**

केवल एक रस का आहार शरीर को कृश करता है। सर्व रस का आहार बलकारकों में सर्वश्रेष्ठ है।

**वर्णः प्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभा सुखम्। तुष्टिः पुष्टिः बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्॥**

(च० सू० अ० २७-३४९)

श्री वैद्य धर्मदत्त जी आयु ७६ वर्ष में
(सन् १९७०)

श्री वैद्य धर्मदत्त जी आयु ६६ वर्ष में
(सन् १९६०)

# श्वित्र-रोग

डाक्टर श्री नरेन्द्रपाल वर्मा, एम० ए०, ए० एम० बी० एस०, आयुर्वेदालंकार

## सामान्य परिचय--

शिवत्र एक असंक्रामक रोग है। इस रोग का प्रसार धीरे धीरे होता है। पहले शरीर पर यह कुछ धब्बों के रूप में प्रकट होता है। इसके उपरान्त शरीर का अधिक भाग इससे आक्रान्त होता जाता है। कभी कभी यह रोग सारे शरीर पर भी फैल जाता है। शरीर पर कहीं कहीं काले धब्बे ही शेष रह जाते हैं। इस रोग से रोगी को शरीर की अपेक्षा मानसिक कष्ट अधिक होता है। क्योंकि शिवत्र-रोगी से समाज घृणा करता है, तथा उसके सम्पर्क से बचना चाहता है। सामान्य जन इसे सफेद कोढ़ कहकर पुकारते हैं। यद्यपि कुष्ठ के १८ भेदों में शिवत्र का परिगणन नहीं किया गया है। परन्तु इसे भी कुष्ठ के समान ही कहा है। कारणों की दृष्टि से भी यह कुष्ठ से समानता रखता है। परन्तु इसे सफेद कोढ़ न कहकर सफेद दाग कहना ही अधिक उचित है। शिवत्र रोगी के सम्पर्क से घृणा करने की कोई आवश्यकता नहीं है--क्योंकि रोगी के सम्पर्क से रोग पैदा होने की कोई संभावना नहीं होती है।

## पर्याय—

शिवत्र, किलास, वारुण, दारुण, चारुण, सफेद दाग, सफेद-कोढ़, फुलबहरी, (Leucoderma, Leukopathia, Vetiligo.)

## निदान—

आचार्य चरक के मत से--असत्यभाषण, कृतघ्न-भाव, देवनिन्दा, गुरुजनों का अपमान, पापकर्मों में रत रहना, पूर्वजन्म-कृत दुष्कर्म तथा विरोधी अन्न, यह सब शिवत्र के कारण हैं।

आचार्य सुश्रुत, किलास को भी कुष्ठ का ही एक भेद कहते हैं। अतः इसके निदान भी कुष्ठ के निदान ही हैं। मिथ्या आहार तथा मिथ्या आचार इसके दो बड़े कारण हैं। मिथ्या आहार के अन्तर्गत गुरुभोजन का सेवन, विरुद्ध आहार का सेवन, असात्म्य आहार, अजीर्णाशन, अहिताशन आदि कारण हैं। मिथ्या आचार में स्नेहपान तथा वमन के उपरान्त व्यायाम या मैथुन करना, अत्यन्त तप्त होने पर भी स्नान करना, वमन के वेग को रोकना, धर्म का पालन न करना, आदि कारणों का समावेश किया जा सकता है।

पंचकर्म में कुपथ्य सेवन, नवीन अन्न, दधि, मछली, अत्यन्त अम्ल, लवण पदार्थों का अधिक सेवन। तिल, दुग्ध, दही, पिष्ठी पदार्थों का एक साथ सेवन। शीत तथा उष्ण का सहसा परिवर्तन। सन्तर्पण वा अपतर्पण में सहसा परिवर्तन। भोज्य पदार्थों का सहसा क्रम के बिना परिवर्तन--यह सब कुष्ठ के कारण हैं।

आधुनिक दृष्टिकोण से कारण अज्ञात है। प्रायः शिवत्र अर्जित रोग होता है। पर कभी कभी जन्मज भी होता है।

## लक्षण—

शिवत्र या कुष्ठ यद्यपि एक ही वर्ग के रोग हैं। परन्तु दोनों में भिन्नतायें निम्न प्रकार हैं--

(१) कुष्ठ त्रिदोषज होता है। शिवत्र एक-दोषज होता है।

(२) कुष्ठ में रोग का आश्रय रक्त, मांस आदि सप्त धातुएं होती हैं। शिवत्र में रोग का आश्रय त्वचा होता है।

(३) कुष्ठ संसर्गज विकार है। शिवत्र संसर्गज नहीं होता।

(४) कुष्ठ कृमि से पैदा होता है। शिवत्र का कृमि से कोई सम्बन्ध नहीं होता है।

(५) कुष्ठ में धातुओं का विनाश होता है। शिवत्र में धातुओं का विनाश नहीं होता है।

मिथ्या आहार विहार के सेवन से वात, पित्त कफ दोष प्रकुपित हो कर तिर्यग्गामी शिराओं में पहुंच जाते हैं। फिर रक्त, मांस मेद को दूषित करके त्वचा को विवर्ण करके शिवत्र की उत्पत्ति करते हैं। शिवत्र में रोग का स्थानसंश्रय त्वचा में होता है तथा विकृति भी त्वचा में ही पैदा होती है। शिवत्र के भेदों का वर्णन करते समय रक्त, मांस और मेद धातुओं को शिवत्र का आश्रय कहा है, उसका अभिप्राय यही है कि दोष इस दशा में इन धातुओं में तो अवस्थित होता है पर इन धातुओं में कोई विकृति नहीं पैदा होती। विकृति का प्रकटीकरण त्वचा में ही होता है। त्वचा की विवर्णता उत्पन्न होती है। जिसे शिवत्र के नाम से पुकारा जाता है, परन्तु कुष्ठ की दशा में दोषों का संश्रय रक्त आदि जिन धातुओं में होता है वहां भी रोग लक्षण पैदा होते हैं तथा साथ-साथ त्वचा भी आक्रान्त होती है।

शिवत्र स्राव रहित होता है। यह किलास आचार्य चरक के मत से दारुण, चारुण, शिवत्र भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। दारुण की दशा में रोग का आश्रय रक्तधातु है, तथा इसमें त्वचा पर रक्तवर्ण का धब्बा पैदा होता है। चारुण की दशा में रोग का आश्रय मांस धातु है, तथा इस दशा में त्वचा पर ताम्र वर्ण के धब्बे पड़ते हैं। शिवत्र की दशा में दोष का आश्रय मेद धातु है तथा इसमें त्वचा पर श्वेत वर्ण के धब्बे पड़ते हैं।

भोज के मत से शिवत्र दो प्रकार का है, व्रणज और दोषज। अग्निदग्ध से उत्पन्न शिवत्र को व्रणज कहा जा सकता है। तथा दोषज पुनः परज और आत्मज भेद से दो प्रकार का है। संस्पर्श और संस्कार से होने वाला परज कहलाता है। अपने शरीर के दोषों से पैदा होने वाला आत्मज कहलाता है। इस प्रकार भोज संस्पर्श को भी शिवत्र का कारण मानता है।

वाग्भट्ट ने शिवत्र का वर्णन दोष के अनुसार किया है। वात दोष से उत्पन्न शिवत्र अरुण वर्ण तथा रूक्ष, पित्त दोष से उत्पन्न शिवत्र कमल पत्र के समान अरुण वर्ण वाला, दाह युक्त तथा रोगों को नष्ट करने वाला होता है। कफ दोष से उत्पन्न शिवत्र श्वेत वर्ण का, गुरु, घन तथा खुजली से युक्त होता है।

आधुनिक दृष्टिकोण से ल्यूकोडर्मा को अर्जित जन्मज तथा फिरंगज तीन प्रकार का मानते हैं। इस दशा में त्वचा का रंग ( Melanin ), त्वचा के किसी स्थान से नष्ट हो जाता है, अतः इस रंग के अभाव में त्वचा का वर्ण श्वेत हो जाता है। इस शिवत्र स्थान के चारों ओर की त्वचा का वर्ण सामान्य होता है। इस प्रकार इस रोग में त्वचा में रंग द्रव्य की अनुपस्थिति के अलावा कोई भी विकृति नहीं होती। इस दशा में त्वचा तथा रक्त दोनों में ताम्र की अल्पता पाई जाती है। कई बार शिवत्र का सम्बन्ध आन्त्रगत उपसर्ग से होता है अतः उसके सम्बन्ध में ध्यान देना आवश्यक है।

साध्यासाध्यता—

वातजन्य रक्ताश्रित शिवत्र कष्टसाध्य हैं। पित्तजन्य मांसाश्रित कष्टतर साध्य है। कफजन्य मेदाश्रित कष्टतम साध्य है। जिस शिवत्र में रोम श्वेत न हुए हों जो नवीन हो, घना हो, अन्तःस्थानों (ओष्ठ, हथेली, तलुआ, तथा गुह्य प्रदेश) पर उत्पन्न न हो, तथा अग्निदग्ध से पैदा न हो वह शिवत्र साध्य है। इसके विपरीत सभी शिवत्र असाध्य हैं। गुह्य स्थान, हाथ, पैर के तलुवे में उत्पन्न नवीन शिवत्र भी असाध्य है।

चिकित्सा—

इसकी आयुर्वेदिक चिकित्सा को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है ––

(१) पंचकर्म का प्रयोग।

(२) स्फोट उत्पन्न करना।

(३) अन्तः प्रयोग की औषधियां।

(४) बाह्य प्रयोग की औषधियां।

पञ्चकर्म का प्रयोग––

श्वित्र में स्नेहपान, वमन, विरेचन तथा रक्तमोक्षण प्रशस्त है। शरीर की शुद्धि किये बिना श्वित्र का ठीक होना असम्भव है। श्वित्र अत्यन्त कष्ट साध्य रोग है। अतः इसके सम्बन्ध में चरक संहिता में कहा गया है कि किसी ऐसे व्यक्ति का श्वित्र, जिसका पाप नष्ट हो गया है, संशोधन, विरूक्षण तथा सत्तू के सेवन से शांत होता है!

आचार्य वाग्भट्ट का कथन है कि श्वित्र कुष्ठ से भी अधिक निन्दनीय है। अतः इसकी चिकित्सा का शीघ्र ही उसी प्रकार प्रबन्ध करना चाहिए जिस प्रकार कि जलते हुए घर को बुझाने का प्रयत्न किया जाता है। उनके द्वारा श्वित्र की निम्न प्रकार से चिकित्सा का निर्देश दिया गया है––

(१) सर्वप्रथम श्वित्र रोगी को महानीलादि घृत (अ.स.) से स्नेहन करायें।

(२) स्नेहपान के बाद मलयू-रस को गुड़ के साथ विरेचनार्थ दें। इसको पीकर धूप में बैठ जायें तथा शरीर पर सरसों के तैल की मालिश करें। इस प्रकार तीन विरेचन लें। प्यास लगने पर पानी न पियें, केवल पेया का ही सेवन करें! इस प्रकार करने के तीन दिन बाद श्वित्र के स्थानों पर छाले पैदा हो जाते हैं। इन छालों को कांटों से फोड़ दें। छालों के निकल आने के बाद प्रतिदिन प्रातःकाल मलय, असन प्रियंगु, सौंफ–इन सबका क्वाथ पियें। अथवा पलाश क्षार को गुड़ के साथ अग्नि के अनुसार सेवन करें। इस प्रकार १५ दिन करने से श्वित्र समूल नष्ट हो जाता है।

वच, अडूसा, परवलमूल, नीम तथा प्रियंगु की छाल––इनका क्वाथ बनाकर सैन्धव चूर्ण व मधु मिलाकर वमनार्थ दें। (भै. रत्नावली)

त्रिफला क्वाथ में निशोथ व दन्ती का चूर्ण मिलाकर विरेचनार्थ दें।

स्फोट उत्पन्न करना—

यह श्वित्र की विशिष्ट चिकित्सा है। इसके एक योग का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। शेष योग निम्न प्रकार हैं :––

(१) बड़ी कठूमर और छोटी कठूमर (अंजीर) – इन दोनों के मूल १ पल लेकर १६ पल पानी में पकाकर क्वाथ बनायें। चतुर्थांश अवशिष्ट रहने पर उतार लें। इस क्वाथ को गरम-गरम पीकर धूप में बैठें तथा सर्षप तैल का अभ्यंग करें। इस प्रकार करने से श्वित्र में छाले पैदा होते हैं।

चीते या हाथी की खाल को जलाकर राख बना लें। आवर्त-मूल से सिद्ध तैल में यह राख मिला कर रख लें। छालों के फूटने पर यह लेप लगायें। (सु. संहिता)

(२) बावची के छिलकों को उतारकर चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को गोमूत्र से अनेक भावना दें। इस चूर्ण को करंज, मदनफल, फल्गु, बहेड़ा–इसके क्वाथ में डालकर पियें। इस क्वाथ को पीकर धूप में बैठें और तिल तैल का अभ्यंग करें। औषध जीर्ण हो जाने पर तक्र में कोदो चावल भिगोकर खायें। इस प्रकार तीन दिन करें। तीन दिन के बाद शरीर में छाले पैदा होते हैं।

इन छालों को कांटों से विदीर्ण करें तथा इन छालों पर शुक्ति-वर्ति को बकरी के दुग्ध में घिसकर लेप करें। यदि लेप से वेदना का अनुभव होता हो तो शंखनाभि को जल से घिसकर लेप करें।

शुक्ति-वर्ति--त्रिकटु, सरसों, हल्दी, घर का धुंआसा, यवक्षार, सैन्धव, चित्रकमूल समभाग, इनका आधा मीठा तेलिया लें। इन सबको बकरी के मूत्र में पीसकर गोलियां बना लें। यह वर्तियां श्वित्र नाश में श्रेष्ठ हैं। (अ ·सं ·)

अन्तः प्रयोग की औषधियां—

(१) घृत से चिकने घड़े में गोमूत्र, चित्रक, त्रिकटु और मधु मिलाकर १५ दिन रखा रहने दें। इसके बाद श्वित्र रोगी इसे मात्रानुसार खायें तथा कुष्ठ रोग में वर्णित पथ्य पालन करें (सु ·स ·)।

(२) लौह के पात्र में भांगरे को तैल से भून लें। इस औषध सेवन के बाद विजयसार से पकाया दुग्ध पीवें। (अ ·स ·)

(३) श्वेत जयन्ती के मूल को गोदुग्ध के साथ पीसकर रविवार के दिन पीना चाहिये। तथा इसे ही लेप रूप में प्रयोग करना चाहिये। ऐसा करने से श्वित्र समूल नष्ट होता है ऐसी वैद्यनाथ नामक सिद्धि की आज्ञा है। (भै ·र ·)

(४) आंवला तथा खदिर की छाल का क्वाथ सिद्ध कर लें। शहद का प्रक्षेप देकर यह क्वाथ प्रति दिन पियें। (भै ·र ·)

(५) आंवले तथा खदिर की छाल का क्वाथ बना लें। इसमें १ माशा भर वाकुची चूर्ण मिलाकर प्रतिदिन सेवन करें। (भै ·र ·)

(६) विभीतकादि क्वाथ---बहेड़े की छाल तथा कठगूलर की मूल दोनों का क्वाथ बना लें। इस क्वाथ में २ माशा वाकुची चूर्ण व गुड़ मिलाकर प्रतिदिन लेने से असाध्य श्वित्र भी ठीक हो जाता है। (भा · प्र ·)।

(७) श्वेतारि रस–घृत व मधु से १–२ रत्ती प्रातः सायं लें। (भै ·र ·)

(८) सोमयाजि घृत–६ मा· से १ तो· प्रातः सायं लें (भै ·र ·)

बाह्य प्रयोग की औषधियां--

(१) मनः शिलादि लेप---मैनसिल, वायविडंग, कासीस, गोरोचन, कनकपुष्पी मूल वा बीज, सैन्धव-इन सबको पीसकर श्वित्र की शांति के लिए लेप करें। (च ·स ·, अ ·स ·, · शा· सं)।

(२) गदहे की हड्डी को जलाकर उसको कदली क्षार तथा गोरक्त में मिला कर लेप करें। (च ·स ·)

(३) मालती की कलियों के क्षार को हाथी के मद में मिलाकर १-२ दिन के लिए रख दें। इसका लेप करें। (च ·स · अ ·सं ·)

(४) नीलोत्पल, कुष्ठ, सैन्धव---इन सबको हस्ति-मूत्र में मिलाकर लेप करें। (च ·स ·; अ ·सं ·)

(५) मूली बीज तथा वाकुची को गोमूत्र में पीसकर लेप करें। (च.)

(६) कठूमर, वासा, वाकुची, चित्रक---इनको गोमूत्र में पीसकर लेप करें। (च ·स ·)

(७) मनःशिला को मोर के पित्त के साथ पीसकर लेप करें। (च ·स ·)

(८) करंज अर्क, अमलतास, स्नुही, व चमेली के नवपल्लव–इन सबको गोमूत्र में मिलाकर लेप करें। (च ·स ·)

(९) चीते या हाथी की त्वचा को जलाकर तैल में मिलायें। इसे श्वित्र पर लेप करें।

(१०) पूति कीट को अमलतास के क्षार में मिलाकर लगाने से श्वित्र निश्चयपूर्वक नष्ट हो जाता है।

(११) भिलावों को कूट कर रात में गोमूत्र में भिगो दें। तथा दिन में इन्हें छाया में सुखा लें। इस प्रकार ३ भावना दें। और बारीक चूर्ण कर लें। श्वित्र नाशार्थ इसे स्नुही क्षीर में मिलाकर लगायें। अ ·स ·।

(१२) कृष्ण सर्प को जलाकर राख कर लें। इस राख को मोर के पित्त या वहेड़े के तैल में मिलाकर लगायें। (अ.स., सु.)

(१३) श्वेत रंग के मुर्गे को तीन काल भूखा रख कर मधुयष्ठि, कुष्ठ व पनवड़ के बीजों का चूर्ण घी में मिला कर खिलायें। इस मुर्गे की बींट का श्वित्र में लेप करें। श्वित्र पर लेप करने से पूर्व लेखन कर लें। (अ.स.,सु.)

(१४) मूत्रिका रस क्रिया–सर्षप, लघु तथा बृहद् कण्टकारी, करंज, कटुतुम्बी के फल, गुंजा, शुकनासा, इन्द्रायण, सत्यानाशी, दन्ती, कलिहारी, कनेर, तिल्वक, भिलावा, अश्वमूत्री, मुस्ता, सेंड, हिंस्रा, मूली के बीज, त्रिकटु, पीलु, वायविडंग, कर्णिकार नीमपत्र, चमेली के पत्ते, बावची, नीलाथोथा कष्ठ, कुटकी मनःशिला, त्रिफला—इन सब को गोमूत्र से पीस कर कल्क बनालें। फिर हाथी, घोड़ा व गधे का मूत्र तीन आढ़क, स्नुही व अर्कदुग्ध २ कुड़ व, सर्षप तैल १ पल मिलाकर पाक करें। रसक्रिया सिद्ध होने पर उतार लें। यह रस क्रिया तीन लेप द्वारा ही श्वित्र का नाश करने में समर्थ है। (अ.स.)

(१५) बाबची बीज—एक कुड़व, तथा हड़ताल १ पल मिलाकर गोमूत्र से पीसकर लेप करें। इससे श्वित्र में त्वचा के समान वर्ण आ जाता है। (अ.स., भै.र.)

(१६) हाथी के मल को जला कर बनाये क्षार को हस्तिमूत्र में २१ वार निथारें। इस मूत्र का एक द्रोण लेकर क्षार से दसगुना बाबची के बीजों का चूर्ण मिश्रित कर लें तथा पकाकर मरहम के समान बना लें। श्वित्र को रगड़कर इसका लेप करना चाहिए। (अ.स., सु.स., भै र.)

(१७) भिलावा, चित्रकमूल, स्नुहीमूल, अर्कमूल, गुंजा के फल, त्रिकटु, शंख चूर्ण, तुत्थ, कुष्ठ, पांचों नमक, सर्जक्षार, यवक्षार, कलिहारी—इनको स्नुही और अर्कदुग्ध में मिलाकर लेप करें। यह लेप श्वित्र, कुष्ठ, मशक आदि को नाश करने में श्रेष्ठ है। (अ.स.)।

(१८) काले सांप की मसी का डेढ़ गुना पानी लेकर इसे क्षारोदक विधि से सात वार निथार लें। तैल से चार गुना यह उदक लेकर तैल सिद्ध कर लें। यह तैल शीघ्र ही श्वित्र का नाश करता है।

(१९) आम और हरड़ की छाल का क्वाथ बना लें। इस क्वाथ में रूई की बत्ती भिगोकर सुखा लें। तथा कटु तैल से तर करें व ताम्र के दीपक में रखकर जलायें। इस प्रकार जो मसि प्राप्त हो उसे सर्षप तैल में मिलाकर रखलें। श्वित्र में पाछने लगाकर इस तैल का लेप करें। (सु.स.)

(२०) बावची के बीज, स्वर्णमाक्षिक, कठगूलर, लाख, लौह चूर्ण, पिप्पली, रसौत समभाग, इनके सभी के बराबर काले तिल लेकर गाय के पित्त से पीसकर गोली बना लें। इसका श्वित्र पर लेप करें। (सु.स., शा.सं.)

(२१) तुत्थ, हरताल, कुटकी, त्रिकटु, अडूसा, अर्क, करवीर, कुष्ठ, बाबची, भिलावा, दुधी, सरसों और थोहर—इन सबका लेप श्वित्र नाशक है।

(२२) तिल्वक, नीम, पीलु, अमलतास के पत्ते, बायबिडंग, कनेर के बीज, हल्दी, दारुहल्दी, कटेरी, बड़ी कटेरी—इन का लेप श्वित्र नाश में श्रेष्ठ है। (सु.स.)।

(२३) मकोय, चकवड़ के बीज, कुष्ठ, पिप्पली, १-१ तोला लेकर चूर्ण करलें। तथा बकरे के मूत्र से पीसकर गुटिका बना लें। इस गुटिका को पानी में घिसकर श्वित्र पर लेप करें। (भै.र.,शा.सं.)

(२४) हाथी, चीता और शेर की खालों को एकत्र जलाकर भस्म बना लें। इस भस्म को सरसों के तैल में मिला कर लेप करें। (भै.र.)

(२५) पूतिकीट को सरसों के तैल में मिलाकर लेप कर। (भै·र·)

(२६) गुंजाफल और चित्रक की छाल को–गोमूत्र में पीसकर लेप करें। (भै·र·)

(२७) ओष्ठ श्वित्र नाशक लेप––मुख व ओष्ठ पर स्थित श्वित्र की दशा में गन्धक, रक्त-चित्रकमूल, काशीश, हड़ताल, हरड़, वहेड़ा, आंवला,–इन्हें चूर्ण करलें तथा जल से पीसकर लेप करें।

(२८) पंचानन तैल (भै·र·)––श्वित्र स्थान को तांबे के पैसे से घिसकर इस पंचानन तैल का लेप करें। यह तैल सभी प्रकार के कुष्ठों को जीत लेता है।

(२९) आरग्वधाद्य तैल (भै·र·)।

(३०) मरिचाद्य तैल (भै·र·)।

(३१) विष तैल (भै र·)।

(३२) कन्दर्प सार तैल (भै·र·)।

आधुनिक चिकित्सा–––

यदि आन्त्रिक उपसर्ग हो तो उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

स्थानिक प्रयोगार्थ (Babchi Oil I Part and Olive oil 10 Part) मिलाकर श्वित्र स्थान पर लगायें तथा धीरे धीरे बावची तैल की मात्रा बढ़ाते जायें।

श्वित्र स्थानों पर बावची तैल की कुछ बूंदें (Intraderma linj) के रूप में समय समय पर प्रविष्ट करें।

(Meladinine) को मुखमार्ग द्वारा देना चाहिए तथा इसका स्थानिक प्रयोग भी करना चाहिए।

त्वचा पर (Ultraviolet Rays) का प्रयोग भी करें। (Liver extract) के सूचीवेध भी लाभ पहुंचाते हैं। (Copper Salt) भी मुख या सूचीवेध द्वारा देने पर स्थिति में कुछ सुधार अवश्य होता है।

श्वित्र में अपथ्य–––

अम्ल, लवण, कटु रस प्रधान अन्नपान का सेवन न करें। दही, दुग्ध, गुड़, आनूप मांस, तिल, उर्द की दाल, गरिष्ठ तथा कफजनक आहार, मद्य, मूली, नवीन अन्न, इक्षुविकार, न खायें। पाप कर्म में रत रहना, कृतघ्नता, गुरुनिन्दा, विरुद्ध भोजन, दिवा-शयन, विषम भोजन सभी अवश्य हैं।

श्वित्र में पथ्य–––

गेहूं, पुराना जौ, शालि धान्य, अरहर, मधु, लशुन, पथ्य हैं। घृतपान तथा आवश्यकतानुसार वमन, विरेचन तथा रक्तमोक्षण पथ्य है। चकवड़-पत्र, भिलावा, खदिर, त्रिफला, जायफल, नागकेशर, केशर कटुतुम्बी, निम्बतैल आदि दोषानुसार पथ्य हैं।

o o o

# चिकित्सक के कर्त्तव्य

आचार्य श्री वैद्य धर्मदत्त, विद्यालंकार, सिद्धान्तालंकार, आयुर्वेदभूषण

चिकित्सक के लिए परमावश्यक है कि उसके हृदय में रोगियों के लिए सहानुभूति का भाव हो। बहुधा रोगियों के साथ व्यवहार करते करते या धनोपार्जन की भावना बढ़ने से चिकित्सकों, उनके सहायकों, तथा नर्सों में रोगियों के प्रति उदासीनता या कठोरता की भावना उत्पन्न हो जाती है। चिकित्सक कितना भी पुराना हो जाए उसके हृदय में रोगियों के लिए करुणा और दया का भाव बना रहना चाहिए।

भारत की संस्कृति के अनुसार चिकित्सा-वृत्ति को ब्राह्मणवृत्ति कहा है, वैश्य वृत्ति नहीं। आज भी संसार के बड़े लोग इस वृत्ति को एक उत्कृष्टतम वृत्ति मानते हैं। इस चिकित्सा वृत्ति का तकाज़ा है कि कोई व्यक्ति दुःखतप्त जनता के दुःख को दूर करने की भावना से चिकित्सा-वृत्ति में प्रवृत्त हो, न कि उदरपूर्ति या अर्थसंग्रह की भावना से। कम से कम, दुःख दूर करने की भावना मुख्य और धन कमाने की भावना गौण रहनी चाहिए। चिकित्सक में सेवा की भावना रहनी चाहिए, जिससे वह रोगी के स्वार्थ में अपने स्वार्थ को, उसके आराम में अपने आराम को, उसके स्वास्थ्य लाभ में अपने अर्थ लाभ को भूल जाए। प्रत्येक चिकित्सक को यह याद रखना चाहिए कि परमेश्वर ने उसे लोगों को शफा पहुंचाने के लिए नियुक्त किया है न कि अपना नफा कमाने के लिए। यह तो नियम ही है कि कर्तव्य करने वाले को अधिकार स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। चिकित्सा वृत्ति में यह नियम विशेषतः चरितार्थ होता है। जो चिकित्सक अपने रोगियों को लाभ पहुंचाने में अपनी ओर से कुछ उठा नहीं रखता उसे अर्थ लाभ हो ही जाता है अर्थ के पीछे भागने वाले को अर्थ नहीं मिलता, कर्तव्य करने वाले को अर्थ मिलता है।

दूसरी बात चिकित्सक के लिए आवश्यक है कि उसे चिकित्सा वृत्ति में कितना भी व्यस्त रहना पड़े उसे अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखना चाहिए। अपने खान-पान, भ्रमण व्यायाम, आराम, निद्रा, मनोरंजन, स्वाध्याय में नियमित रहना चाहिए। प्रत्येक पेशे वाले के लिए आवश्यक है कि चाहे उस पर कितना भी कार्यभार आ पड़े उसे अपने शरीर की रक्षा में जागरूक रहना चाहिए। शरीर अपने आप ठीक नहीं रहता युक्ति से ठीक रहता है।

शरीर को स्वस्थ रखने के साथ-साथ चिकित्सक को सदा प्रसन्नवदन और भाषण में मधुर रहना चाहिए। औषध की कीमत या फीस के विषय में किसी रोगी के साथ अड़ना नहीं चाहिए। कोई बालक या बड़ा रोगी कहना न माने चिकित्सक का तिरस्कार भी करे तो भी चिकित्सक को हंसते रहना चाहिए, और उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए उसे रोगियों के प्रति दया की भावना रखनी चाहिए। स्त्री रोगियों के प्रति उसे मां, बहिन का सा प्रेम और पुरुष रोगियों के प्रति भाइयों का सा प्रेम प्रदर्शित करना चाहिए। क्रोधी और विग्रहशील चिकित्सक, चिकित्सा वृत्ति में सफल नहीं हो सकता।

चिकित्सक का प्रधान कर्तव्य रोग का ठीक-ठीक निदान करना है। परन्तु रोग तो शरीर में छिपा हुआ और शल्य भी शरीर में अज्ञात रूप में पड़ा होता है। इनको पहिचानना सुगम नहीं होता। अंधेरे में या परदे के पीछे खड़े आदमी को वही पहचानता है जो उसे जानता है। शरीर में छिपे रोग तथा अन्दर धंसे हुए शल्य को वही पहचानता है, जो उसे जानता है। अतः चिकित्सक को कम से कम प्रधान २ रोगों के लक्षणों का ज्ञान

होना चाहिए ।

पहले रोगी का सारा इतिवृत्त सुनना चाहिए । उसकी कही बातों को ध्यान से हृदय में अंकित करते जाना चाहिए । इतिवृत्त को सुनने तथा रोगी के चेहरे को देखने से उसके अन्दर विद्यमान रोग का कुछ आभास मिल जाता है । इतिवृत्त सुनने के बाद चिकित्सक को रोगी से प्रश्न करने चाहिएं । प्रश्नों का उद्देश्य आशंकित रोग का निश्चय करना होता है । इनसे उसे पता लग जाता है कि किस रोग के होने की संभावना अधिक है और किसकी कम है । प्रश्नों के बाद रोगी की शरीर परीक्षा करनी चाहिए । अर्थात् उसकी नाड़ी, तापमान, जिह्वा, पेट, रक्तभार, श्वास-प्रश्वास की दशा की परीक्षा करनी चाहिए । इस परीक्षा से रोग का पूरा पूरा आभास मिल जाता है । और अधिक निश्चय करने के लिए आवश्यक हो तो मल, मूत्र, थूक रक्त की प्रयोगशाला सम्बन्धी परीक्षा भी करा लेनी चाहिए । इस प्रकार श्रवण, प्रश्न, शरीर परीक्षा, तथा प्रयोगशाला परीक्षा से रोग का ठीक २ निदान हो जाता है । निदान ठीक हो तो तीन दिन औषध देने से रोगी को कष्ट में आराम प्रतीत होता है । तीन दिन में भी रोगी को आराम न लगे तो समझना चाहिए, निदान ठीक नहीं हुआ उसे फिर से दुहराना चाहिए ।

रोग निदान में कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है । कभी कभी रोगी कहता है कि उसे अमुक रोग है । उसके इस कथन को मान नहीं लेना चाहिये । उसका यह कथन बहुधा यथार्थ नहीं होता, क्योंकि वह लक्षण को रोग समझता है लक्षण की चिकित्सा न करके मूल रोग की चिकित्सा करनी चाहिए । दूसरे किन्हीं एक दो लक्षणों के आधार पर ही निदान नहीं कर लेना चाहिए । निदान ऐसा होना चाहिए जिससे रोगी के अन्दर विद्यमान सर्व लक्षणों और चिन्हों की व्याख्या हो सके । हर प्रकार की पूर्व धारणा से शून्य होकर निदान करना चाहिए । कोई–कोई चिकित्सक सब रोगियों में एक दो रोगों को ही देखते हैं । ऐसे चिकित्सक ठीक निदान नहीं कर सकते । कभी कभी चिकित्सक को किसी एक रोग की आशंका हो जाती है जो रोग रोगी को नहीं होता है । वह उसी रोग की चिकित्सा करता है जिससे लाभ नहीं होता । अतः हर प्रकार की पूर्वधारणा से शून्य होकर निदान करना चाहिए । शीघ्रता में रोग निदान नहीं कर लेना चाहिए । बार-बार सोचना चाहिए । जब तक पूर्ण सन्तोष न हो जाए तब तक ठीक निदान हुआ है ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए । यदि एक दुर्लभ रोग और एक सुलभ रोग का सन्देह हो तो सुलभ रोग का ही निदान करना चाहिए, दुर्लभ रोग का नहीं । अति सुलभ रोग कौन २ से हैं, चिकित्सक को इसका पता होना चाहिए । उदाहरण के तौर पर पेट सम्बन्धी सुलभ रोग––

परिणाम शूल (Peptic ulcer, या Duodenal ulcer) अतिसार, प्रवाहिका आन्त्र-गुल्म (Appendicitis) तथा यकृत वृद्धि हैं । श्वासमार्ग के सुलभ रोग प्रतिश्याय, जीर्णकास, श्वास, उर–क्षय, फाइलेरिया से उत्पन्न होने वाली खांसी, तथा न्युमोनिया हैं । हृदय का सुलभ रोग हृदयशूल (Angina), या हृदय स्रोतोरोध (Coronarythrombosis) हैं । शिरःशूल प्रधानतया रक्तभार वृद्धि से या अर्धावभेदक के कारण पाया जाता है । मूत्र सम्बन्धी सुलभ रोग सिकता-मेह, वृक्काश्मरी तथा मधुमेह हैं । पाण्डुरोग प्रायः लोह की न्यूनता से या किसी भोजन सम्बन्धी पोषण न्यूनता से होता है । मूर्छा या तो हिष्टीरिया से या अपस्मार के कारण सुलभ है । वेदना या तो

आमवातिक होती है या किसी नाड़ी सम्बन्धी रोग ( Neuritis ) के कारण होती है। त्वग्रोगों में पामा (Eczema), शीतपित्त (Urticaria), मण्डल (Psoriasis), शतारुः ( Seborrhoea ) अति सुलभ हैं। मानसरोगों में विषाद रोग, हिस्टीरिया, चिन्तारोग, तथा उन्माद (Schizophrenia) सुलभ हैं। रोग निदान में सुलभ रोगों को अपने ध्यान में रखना चाहिए )।

रोग निदान के बाद रोग को या उसके कारण को निर्मूल करने के लिए जो-जो औषध, आहार विहार उपयोगी हों उन सबका विधान करना चाहिए, तथा रोग को शीघ्र से शीघ्र नष्ट करने का हर उपाय करना चाहिए। पहले तो रोग के तीव्र रूप का प्रतिकार करना आवश्यक है। तथा फिर से वह न उभरे इसके लिए उसके बाद की औषधि का भी विधान करना चाहिए। अर्थात् तात्कालिक आराम तथा स्थायी आराम दोनों के लिए उपाय करना चाहिए।

जिन रोगों की कोई निश्चित चिकित्सा है उनके लिए औषध विधान करने में कठिनता नहीं होती। पर कुछ रोगों की चिकित्सा कठिन है जैसे हृदयशूल, स्रोतोरोधजनित मूर्छा, (Thrombosis) बड़ी आयु में होने वाले संधिशूल (Osteoarthritis) गठिया अथवा वातरक्त, शिरोभ्रम, रक्तभार-वृद्धि, कर्णनाद, कम्पयुक्त स्तम्भ (Parkinson's disease) मधुमेह, वृक्काश्मरी, पित्ताश्मरी आदि आदि। इन रोगों के लिए लंघन या कर्षण चिकित्सा ( Dieting ) का विधान करना ठीक रहता है। रोगी को खुश्क रोटी, खुश्क सब्जी, चिकनाई रहित दूध, पनीर तथा खाण्ड के बदले में सेकरीन पर रहने को कहना चाहिए। अन्न को कम करके सब्जी और फल की मात्रा को बढ़ाने का आदेश करना चाहिए। औषधियों में से गुग्गुलु, शिलाजीत, त्रिफला, आमलकी लोह आदि से बने योगों का प्रयोग करना चाहिए। इस लंघन चिकित्सा को कुछ महीनों तक जारी रखने से लाभ होता है, जल्दी नहीं। इसके साथ साथ भ्रमण तथा लघुव्यायाम का विधान भी किया जाता है।

कुछ रोग ऐसे हैं जो शरीरस्थ किसी निर्बलता से होते हैं जैसे अलर्जी या अशक्ति से होने वाले रोग हैं। उदाहरणतः श्वास, शीतपित्त, पामा, अर्धावभेदक ( Migraine ) हैं, या मन की निर्बलता से होने वाले स्मृतिनैर्बल्य विषादरोग चिन्तारोग हैं। इनके लिए रोगानुसार बल्यबृंहण चिकित्सा करनी चाहिए। रोगी को बादाम, चारों मगज मिला कर थोड़े घृत या दूध के साथ देवें। अलर्जी के लिए त्रिफला-चूर्ण तथा पिप्पली को घृत या घृतमिश्रित दूध के साथ दें। मानस रोगों में विशेषतः बृंहण चिकित्सा से लाभ होता है। नाड़ियों ( Nerves ) की दुर्बलता से होने वाले रोगों में विटामिन 'ए' तथा 'बी' के आहारों स्वर्णमुक्ता-लोह आदि से बने बल्य योगों का प्रयोग करना चाहिए। मानसरोगों के लिए निद्रा विश्राम तथा मनःशामक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार रोगानुसार कर्षण तथा बल्य बृंहण चिकित्सा इन दोनों में से किसी एक को कुछ काल चालू रखने से कुछ एक दुःसाध्य रोगों को ठीक किया जा सकता है। स्त्री पुरुषों के कुछ ऐसे रोग हैं जो उनके 'हार्मोन्स' में कमी हो जाने से होते हैं। उनके लिए 'सेक्स हार्मोन्स' का प्रयोग भी आवश्यक होता है। जीवनीय औषधियों के प्रयोग से भी 'सेक्सहार्मोन्स' की निर्बलता दूर होती है। इस प्रकार जीवनीय तथा बलवर्धक औषधियों, विटामिन्स, शरीर में पाए जाने वाले 'हार्मोन्स' तथा मांसअस्थि आदि धातुओं में पाए जाने वाले तत्वों जैसे लोह, कैल्शियम, सिलिका आदि से बने योगों

का प्रयोग करने से बहुत से निर्बलता सूचक रोग ठीक किए जा सकते हैं।

जो रोग किसी विशेषज्ञ को दिखाने योग्य हो उसे उसी के पास जाने का आदेश देना चाहिए।

चिकित्सक को जिन कुछ एक गौण बातों का ध्यान रखना चाहिए उनका भी उल्लेख यहां किया जाता है। चिकित्सक को सर्वप्रथम इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि रोगी का मनोबल न गिरने पाए, उसका आशासूत्र न टूटे। जब तक उसका मनोबल कायम है और उसे अच्छा होने की आशा है तब तक वह रोगमुक्त हो सकता है। मनोबल गिर जाने और आशा टूट जाने पर फिर वह अच्छा नहीं हो सकता। अतः 'रोग भयंकर है, ठीक नहीं हो सकता' ऐसी बात रोगी के मुख पर किसी अवस्था में भी नहीं करनी चाहिए। मृत्यु अनिवार्य हो जाने पर भी जितने दिन शेष हैं, उन्हें सुखमय बनाने चाहिए। तब भी उसके सामने कोई निराशा की बात नहीं करनी चाहिए। रोगी जल्दी अच्छा हो जाएगा, अवश्य अच्छा हो जाएगा ऐसी आशा उसको बनाए रखनी चाहिए। रोगी का मनोबल उसके अच्छा होने में औषध और पथ्य से भी अधिक काम करता है। मृत्यु निकट भी हो, तो भी रोगी को इसका आभास नहीं होने देना चाहिए। सम्बन्धियों को इसकी सूचना दी जा सकती है।

रोगी के मनोबल को बनाए रखने के अतिरिक्त चिकित्सक को अपने मनोबल का भी प्रयोग करना चाहिए। जिन चिकित्सकों ने रोगियों की रोग निवृत्ति के लिए अपने मनोबल का प्रयोग किया है वे बताते हैं कि इसका उन्होंने अच्छा प्रभाव देखा है। महात्मा लोगों के मनोबल का प्रभाव रोगियों पर होता है ऐसा तो बहुत से लोग स्वीकार करते हैं। परन्तु चिकित्सक के मनोबल का प्रभाव भी रोगियों पर अवश्य पड़ता है। योग्य चिकित्सक को औषधि के साथ इसका प्रयोग भी करना चाहिए।

चिकित्सावृत्ति में सफलता के लिए आवश्यक है कि चिकित्सक प्रसन्न वदन और व्यवहार में मधुर हो। चिकित्सक ऐसा हो जिसके रोगीगृह में प्रवेश करते ही गृह में आनन्द और उल्लास का प्रवेश हो जाए। चिकित्सक वही सर्वप्रिय होता है जिसकी वाणी और व्यवहार में एक आकर्षण हो। रोगी के हृदय में करुणा हो, सहायता करने की भावना हो तभी उसमें यह आकर्षण आता है।

चिकित्सक को कोई ऐसा काम जो चिकित्सा वृत्ति को कलंकित और दूसरों की दृष्टि में गिराने वाला हो नहीं करना चाहिए। उदाहरणतः उसे फीस के प्रलोभन में झूठा सर्टिफिकेट नहीं बनाना चाहिए, तथा कितना भी धन मिलता हो कचहरी में जाकर झूठी गवाही नहीं देनी चाहिए। पुराने चिकित्सक बदल नहीं सकते। परन्तु नये चिकित्सकों को तो प्रण कर लेना चाहिए कि वे इस प्रकार के मिथ्या भाषण नहीं करेंगे तथा अपने पेशे का अनुचित लाभ उठा कर किसी को हानि नहीं पहुंचाएंगे।

फीस लेने में उचित अनुचित का विचार रखना चाहिए। अपनी औषध और अपने समय की कीमत लेने का अधिकार चिकित्सक को है परन्तु अनुचित फीस लेना तो रोगी के दुःख से अनुचित लाभ उठाना है। चिकित्सावृत्ति तथा दूसरे पेशों में भी अनुचित फीस लेने की जो प्रवृत्ति देखने में आती है वह न्यायानुमोदित नहीं है। चिकित्सक को निर्धन और असमर्थ व्यक्ति की चिकित्सा तो करनी चाहिए परन्तु उसके लिए उससे फीस लेना उचित नहीं है। इसी प्रकार मरणासन्न रोगी के लिए जब चिकित्सक कुछ कर

नहीं सकता तब उससे फीस लेना भी उचित नहीं है। चिकित्सक को रोगियों के सामने कभी किसी दूसरे चिकित्सक की निन्दा या कटुआलोचना नहीं करनी चाहिए, चिकित्सावृत्ति अपने गुणों से बढ़ती है, दूसरों के अवगुणों का वर्णन करने से नहीं।

चिकित्सक को अमृतपाणि बनने का यत्न करना चाहिए। उसके मन में यह भावना रहनी चाहिए कि उस में वह शक्ति है कि वह जिस रोगी पर हाथ रख देगा वह उसी समय से रोग-मुक्त होने लगेगा। रोगी की नाड़ी देखते समय उसमें यह भावना रहनी चाहिए कि वह रोगी को रोगमुक्त करके उसे स्वास्थ्य पहुंचा रहा है। चिकित्सक के कथन की अपेक्षा उसकी भावना प्रबल होती है। अतः नाड़ी को देखते हुए या उसके पेट पर हाथ रखते हुए उसमें यह भावना होनी चाहिए कि वह रोगी को आराम पहुंचा रहा है। रोगी के लिए प्रेम और करुणा की भावना चिकित्सक में हो तो रोगी को अच्छा करने में वह उसकी औषधि की अपेक्षा अधिक काम करती है।

+ + +

# वर्षा ऋतुचर्या

वर्षा ऋतु में शरीर क्लिन्न या आर्द्र रहता है। जिससे अग्नि मन्द हो जाती है। शरीर की अग्निमन्द हो जाने से वात आदि दोष प्रकुपित हो जाते हैं। अतः क्लिन्नता की शुद्धि के लिए और दोषसंहरण करने के लिए कषाय, तिक्त, कटु रसों से युक्त अक्लेदी खाद्य दें। न अति स्निग्ध, न अति रूक्ष, अपितु उष्ण, अग्निदीपक अन्न दें। वर्षाकाल में अन्तरिक्ष जल पीयें। उबाल कर ठण्डा किया हुआ जल मधु मिला कर पीयें। क्योंकि सारा दिन वायु तथा मेघों से और अत्यन्त शीतल वृष्टि जल से व्याप्त होता है, (अतः पूरी धूप न मिलने से ओषधियों का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाता) और ओषधियां तरुण होती हैं जिससे ओषधियों में अम्लता आ जाती है। वर्षा में पाक भी अम्ल हो जाता है। अग्निबल क्षीण हो जाता है। अतः वर्षा काल में दिवास्वप्न न करे। अजीर्ण नहीं होने दें। अधिक व्यायाम न करे। मैथुन न करे। धूप से बचाव करे। भूमिवाष्प से बचने के लिए छत पर सोये। शीत प्रतीत होने पर अग्नि से उष्ण तथा निवात गृह में ओढ़ना ओढ़कर रहे। प्रशस्त अगुरु का लेप शरीर पर करे। सवारी के लिए हथनियों का उपयोग करे। (सु० उ० अ० ६४, ६-१२)

# आयुर्वेदपद्धति के कायाकल्प की आवश्यकता

डाक्टर श्री अशोककुमार आयुर्वेदालंकार, एस०एम० एस०
प्रधान सम्पादक, नेशनल मेडीकल गजट

प्रागैतिहासिक काल में जब भारतवर्ष ज्ञान विज्ञान की चरम सीमा पर था, आयुर्वेद पद्धति की विजयवैजयन्ती भी सम्पूर्ण संसार में फहरा रही थी। जब सम्पूर्ण संसार चिकित्सा विज्ञान से बिल्कुल अनभिज्ञ था, भारत वर्ष के तत्ववेत्ता ऋषि महर्षि अपनी अगाधज्ञान साधना से आयुर्वेदिक प्रतिषेध से असाध्यतम आधि व्याधियों का प्रतिकार, प्रतिषेध व उपचार करने में सिद्धहस्त हो चुके थे। न केवल कायचिकित्सा में ही अपितु चिकित्सा-विज्ञान के अन्य अंगों, शल्यविज्ञान, कौमार भृत्य, विषविज्ञान, जीवनविज्ञान आदि में भी निस्संदेह उनकी उन्नति अत्यन्त स्तुत्य, अनुकरणीय एवं प्रशंसनीय थी। बड़े बड़े पाश्चात्य चिकित्साविज्ञान के विद्वान भी निस्संकोच मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशंसा करते हैं। संसार के इतरदेशों के चिकित्साप्रेमी भारतवर्ष के विद्यालयों में प्राचीन ऋषि महर्षियों के श्रीचरणों में प्रतिवर्ष आकर "एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मनः स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः' के अनुसार आयुर्वेदिक पद्धति के आठों अंगों का ज्ञान प्राप्त करते थे। यही विदेशी छात्र इस प्राचीनतम चिकित्सा पद्धति की ज्ञान ज्योति को अपने अपने देशों में ले गए और उससे अनन्त मानव समाज का कल्याण होता रहा।

विदेशी छात्रों द्वारा ले जाई गई यह ज्ञान की ज्योति तो प्रतिक्षण प्रतिदिन एवं प्रतिवर्ष प्रज्वलित, परिष्कृत एवं परिवर्धित होती गई। परन्तु इस ज्योति के आदि प्रवर्तक भारतवर्ष में उसकी ज्योति कालवशात दिन प्रतिदिन क्षीणतम होती चली गई। यद्यपि रामायण एवं महाभारत काल में इस पद्धति का ज्ञान परम उत्कर्ष पर था। परन्तु बाद में बौद्ध एवं जैन युग में राजाओं की "अहिंसानीति" के कारण शल्यविज्ञान को अत्यन्त उपेक्षा एवं तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाने लगा। परिणामतः बड़े २ दक्ष शल्यचिकित्सकों की मान मर्यादा कम हो गई और इस ज्ञान का प्रसार होने में महान रुकावट उत्पन्न हो गई। इस विषयक ग्रन्थ या तो उपेक्षा से फेंक दिए गए या उनका उपयोग न होने से वे नष्टप्राय हो गए। हमारे प्राचीन विद्वानों ने शल्यचिकित्सा में जो अगाध साधना से क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त किया था, हमारे देशवासी उससे वंचित हो गए। हम प्राचीन ग्रन्थों में प्लास्टिक-सर्जरी आदि का वर्णन तो अवश्य पढ़ते हैं और वर्तमान चिकित्सापद्धति द्वारा असाध्य घोषित किए जाने वाली व्याधियों के समुचित उपचार व शल्यवैद्य के बारे में, आयुर्वेद पद्धति प्राचीनकाल की सफलता के बारे में तो अवश्य सुनते हैं परन्तु उसका क्रियात्मक-ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हैं। क्योंकि भारतवर्ष प्रारम्भ से ही विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा पादाक्रान्त किया जाता रहा है, इससे भी इस चिकित्सापद्धति की प्रगति में व्याघात होता रहा है। मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा अन्धाधुन्ध भारतवर्ष के बड़े २ पुस्तकालयों को जला देने के कारण इस पद्धति के प्राचीनतम हस्तलिखित ग्रन्थ भस्मसात हो गए। प्राचीन काल में मुद्रणालय न होने से उनकी प्रतिलिपियां उपलब्ध न थीं। बाद में मुगल शासन में यवनानी चिकित्सा पद्धति के उपचार पर जोर दिया जाने लगा। यवनानी पद्धति को राज्याश्रय प्राप्त होने से इसके विकास में और भी रुकावट हुई। बाद में गोरांग प्रभुओं ने तो अपने शासनकाल में हर प्रकार से इस पद्धति को अवैज्ञानिक,

मृतप्राय आदि आदि संज्ञायें देकर और पाश्चात्य पद्धति को राज्याश्रय देकर इसको समाप्त करने की पूर्ण कोशिश की। इन सब परिस्थितियों को देखते हुए यह स्पष्ट है कि हमारी यह प्राचीन पद्धति प्रतिदिन क्षीणतम होती गई। इसके अंगों का नाश होता चला गया। आज जो कुछ वर्तमानकाल में हमें उपलब्ध है वह काय चिकित्सा मात्र है और वह भी अपने अपूर्ण रूप में, जिसका सदियों से न कोई परिष्कार हुआ है, न अन्वेषण, न परिवर्धन। इस प्रकार अगर अत्युक्ति न समझी जाए तो चिकित्सा शास्त्र के नियमानुसार हमारी इस प्राचीन पद्धति को "आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति" को क्षय रोग हो गया है। विज्ञान का सिद्धान्त है कि जिसके कलेवर में प्रतिदिन वृद्धि एवं परिवर्तन नहीं होता, जो देश, काल के अनुसार अपना परिष्कार नहीं करता तो वह स्थायी नहीं रह सकता। क्या हम अपनी इस प्रिय पद्धति को मृतप्राय बनाना चाहते हैं या इस क्षयरोगी "आयुर्वेद पद्धति" का समुचित उपचार करना चाहते हैं। यह प्रश्न आज सम्पूर्ण आयुर्वेद प्रेमी जनता तथा आयुर्वेदिक चिकित्सक बन्धुओं के समक्ष है।

आयुर्वेद के इस क्षय रोग का उपचार करने के लिए हमें अपनी ज्ञानचक्षु खोलकर, हृदय की सम्पूर्ण हठधर्मिता और अन्धविश्वास को भुलाकर आचार्य चरक के "कृत्स्नोहि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम्" के अनुसार संसार के जिस कोने से, जिस जाति से, जिस देश से, जिस वर्ग से भी, ज्ञानराशि मिले हमें प्राप्त करनी चाहिए। आयुर्वेद एक विस्तृत विषय है जिस में आयुष्य के, जीवन के समरस निर्माण तथा स्वास्थ्य का विज्ञान समाविष्ट है। "बालादपि गृहीतव्यं युक्तमुक्तम् मनीषिभिः" के अनुसार इस आयुष्य के विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान को हमें संसार के कोने कोने से प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसमें कोई शक नहीं कि पिछले वर्षों में पाश्चात्य चिकित्सापद्धति ने आश्चर्यजनक उन्नति की है। न केवल चिकित्साशास्त्र में अपितु शल्यचिकित्सा प्रसूतिका चिकित्सा आदि में उसकी उन्नति वस्तुतः प्रशंसनीय है। पाश्चात्य विद्वान न केवल अपनी पद्धति का विकास कर रहे हैं परन्तु हमारी प्राचीन पद्धति को भी आत्मसात् करने का प्रयत्न कर रहे हैं। प्रतिदिन हमारी औषधियों का रासायनिक विश्लेषण करके वे उसकी मानवीय उपयोगिता को अनुभव करते हुए अपने द्रव्यगुणशास्त्र में उनका समावेश करते जाते हैं। इससे उन औषधियों का गुण, रस, वीर्य, विपाक बढ़ जाता है। इस प्रकार की कितनी औषधियां प्रायः प्रत्येक चिकित्सक जानता है। जैसे–फासफो मकर (सिद्धमकरध्वज + फास्फेट्स) लिबरजन तथा सर्पिरूटीनसी आदि हैं। प्रश्न यह है कि क्या हम अपनी चिकित्सापद्धति के मूलभूत सिद्धान्तों, त्रिदोष एवं पंचमहाभूत सिद्धान्तों तथा महर्षियों के "यस्य देशस्य यो जन्तुः तज्जं तस्यौषधं हितम्" के आदेश का पालन करते हुए इस देश की ऋतु, काल तथा अवस्था के अनुसार ऐलोपैथिक औषधियों का अन्वेषण करके उनको आत्मसात नहीं कर सकते। मेरा विचार है कि अगर इस ओर प्रयत्न किया गया तो आयुर्वेद के वृद्ध शरीर में नव जीवन का संचार होगा।

आयुर्वेद की अवनति तथा ह्रास का यह भी एक कारण रहा है कि हमारे अनुभवी एवं वयोवृद्ध वैद्य अपने अनुभव दान में अत्यन्त कृपण एवं अनुदार रहे हैं। उनके जीवन के जिन अनुभवों से नवयुवक वैद्य समाज का पथ प्रदर्शन तथा ज्ञान विकास हो पाता, उनकी अनुदारता ने वहां उनकी

उन्नति में अवरोध उत्पन्न किया तथा भारतीय चिकित्सा पद्धति के अत्यन्त अचूक अमोघ योग तथा उपचारों का भी प्रतिदिन विलोप होता चला गया। अत्यन्त आशुलाभकारी, कम मूल्य वाले, शीघ्र उपलब्ध होने वाले योगों तथा विविध विधानों का हम अपने प्राचीन पुरुषों से वर्णन तो अवश्य सुनते हैं, सिद्धहस्त चिकित्सकों की आश्चर्य-जनक चिकित्सा सम्बन्धी घटनायें तो अवश्य सुनी जाती हैं। परन्तु वह कैसे और किस तरह इन प्रश्नों का उत्तर हमें नहीं मिल पाता। पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति के विद्वानों में यह प्रवृत्ति है कि जब जब भी जिस जिस औषधि का ज्ञान प्राप्त होता है, किसी योग विशेष से किसी व्याधि विशेष में आश्चर्यजनक सफलता दिखाई देती है तब तब वे लोग उस उपचार या औषधि को सम्पूर्ण मानव समाज के कल्याण के लिए शीघ्रातिशीघ्र सम्पूर्ण संसार के कोने कोने में चिकित्सक जगत में पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं। इससे जहां मानव समाज का कल्याण होता है वहां उस पद्धति के कलेवर में भी वृद्धि होती है। आज भी हमारे अनुभवी वैद्य अगर मुक्तहस्त से अपने अनुभवों का प्रचार करें या हमारा अखिल भारतीय या प्रान्तीय वैद्य मण्डल संगठित तौर पर उन उन विद्वानों से अनुभवों का संग्रह करके वैद्य समाज में उसका प्रचार करें तो भी इस पद्धति के विकास में बड़ी सहायता मिल सकती है।

आयुर्वेद के विकास में अनाड़ी वैद्यों तथा सस्ती फार्मेसियों ने भी कुछ कम व्याघात उत्पन्न नहीं किया। राज्य की ओर से कोई प्रतिबन्ध न रहने से हर एक हरड़, बहेड़ा, आंवला जानने वाला व्यक्ति वैद्यक की दुकान ठाठवाट से खोल बैठता और व्याधि पीड़ित आतुर भोली जनता को धनजन से लूटने का लाभ उठाता। अगर कभी भारतवर्ष की मृत्यु संख्या का विश्लेषण किया जाय तो इस प्रकार के "स्वयम्भू" वैद्यों द्वारा मुक्ति प्राप्त मृत व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक होगी। आश्चर्य की बात है कि भारतीय जनता किस प्रकार इस भ्रष्टाचार को बर्दाश्त करती रही। पढ़े लिखे भारतीय जनों ने भी क्यों नहीं इनका विरोध किया, क्यों यह बीमारी बढ़ती चली गई। परन्तु इसका सबसे बड़ा यह नुकसान हुआ कि लोगों में, जनता में, आयुर्वेद के प्रति मान्यता कम होती चली गई। सौभाग्य का विषय है कि अब शासन ने इस ओर ध्यान दिया है और प्रत्येक प्रान्त में योग्य, अनुभवी एवं शिक्षित वैद्यों का "रजिस्ट्रीकरण (रजिस्ट्रेशन)" हो रहा है। हर एक वैद्य बन्धु का यह कर्तव्य है कि वह इस प्रकार के "छद्म वेशी" वैद्यों का परिचय शासन को दे ताकि इस पद्धति का अधिक अपकर्ष न हो सके।

भारतवर्ष में शासन द्वारा आयुर्वेदिक फार्मेसियों सम्बन्धी कोई विधान लागू न होने से प्रतिदिन नई नई फार्मेसियां खुल रही हैं और आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति के नाम पर जनता का सर्वनाश कर रहीं हैं। रस-हीन, वीर्य-हीन, गुण-हीन, पुरानी सड़ी गली बूटियों को लेकर जैसे भी जिस मात्रा में भी जिस विधि से कोई कैसा भी व्यक्ति चाहे औषधियों का निर्माण करके उपहारी योजनायें बना कर जनता के सीधेपन का लाभ उठा सकता है। इन औषधियों का समाचार पत्र तथा पत्रिकाओं में इतने लुभावने, आकर्षक ललित शब्दों में वर्णन किया जाता है कि अच्छे भले पढ़े लिखे व्यक्ति भी इस शब्द जाल में फंसकर अपना यौवन, स्वास्थ्य, धन तथा कभी कभी जीवन तक तो गंवाते ही हैं परन्तु वैद्यक शास्त्र को भी जी भर कर कोसने से भी नहीं अघाते। यह एक प्रकट सत्य है, कुछ गिनी चुनी विश्वस्त आयुर्वेदिक निर्माण शालाओं को छोड़कर अधिकांश

इसी श्रेणी की हैं। उनका उद्देश्य येनकेन प्रकारेण अपनी जेब भरना है। आयुर्वेद की मान प्रतिष्ठा, भारतीय जनता के स्वास्थ्य तथा जीवन का वे कुछ भी मूल्य नहीं आंकते। आज हमें पुरजोर शक्ति के साथ नकली दवा बनाने वाली फार्मेसियों का भी विरोध करना है। हमारा यह आन्दोलन तब तक चालू रहना चाहिए जब तक कि इनका असत्य व्यापार बिलकुल बन्द नहीं होता। यह एक राष्ट्रीय विषय है, जिस में व्यक्ति विशेष के स्वार्थ की कोई कीमत नहीं हैं। कितना ही अच्छा हो कि शासन इस विषय को अपने हाथ में ले लें। फार्मेसी का कार्य चलाने के लिए एक निश्चित योग्यता होनी चाहिए। फार्मेसी इन्सपैक्टर नियुक्त करने चाहिए। जो समय समय पर फार्मेसियों के कच्चे स्टाक, निर्माण विधि तथा औषधियों के सुरक्षीकरण की जांच पड़ताल करते रहें। प्रत्येक चूर्ण, तेल, घृत पर निर्माण तिथि तथा वीर्यहीन होने की तिथि होनी चाहिए जिससे उस तारीख के बाद उसका प्रयोग न किया जा सके। हर औषधि निर्माण के बाद बाजार में जाने से पहले परीक्षण शालाओं में जानी चाहिए ताकि उसके निर्माण द्रव्यों की पूरी तरह जांच हो सके। इन परीक्षण शालाओं से स्वीकृति प्राप्त औषधि को ही जनता के हाथों में देना चाहिए।

आयुर्वेदिक प्रयोगों का भी सुधार अपेक्षित है। बड़े खेद के साथ लिखना पड़ता है कि हजारों वर्ष पहिले हमारे आचार्यों ने जिस प्रकार, जिस अनुपात में रसों, चूर्णों, भस्मों, अवलेहादि का विधान निश्चित किया। आज भी उसी रूप में उसी अनुपात में उनका निर्माण हो रहा है। उदाहरणार्थ, चन्द्रप्रभावटी का जो नुसखा हजारों वर्ष पहले प्रयोग में आता था, आज भी उसी प्रकार उसे बनाया जाता है। यह कैसी बिडम्बना है। यद्यपि समय के परिवर्तन के साथ हमारे देश वासियों के बल वीर्य तथा जीवनीय शक्ति में कितना फर्क आ गया है। हमारे पूर्वजों में कितनी शक्ति थी, कितना रोग प्रतिरोधात्मक बल था, कितना संयम तथा वीर्य का संग्रह था। क्या आज की सन्तति में उतनी शक्ति तथा बल है? दूर जाने की आवश्यकता नहीं, हम अपनी तुलना अपने स्वर्गीय पूज्य पितामह या प्रपितामह से कर सकते हैं, कहना न होगा कि आने वाली सन्तति दिन प्रतिदिन क्षीणतम होती जा रही है। तब क्या जो प्रयोग एक शक्ति सम्पन्न व्यक्ति के लिए भी लाभकारी हो सकता है, उपयोगी होगा। संभवतः इसका उत्तर नकारात्मक होगा। जिस प्रकार विरासत में प्राप्त एक मकान को हम अपनी प्रकृति के अनुसार ठीक कराते हैं, उसमें वायु के आवागमन के लिए वातायन लगाते हैं, पाकशाला में धुंआ निकलने के लिए झरोखे बनवाते हैं। उसी प्रकार देश काल के अनुसार आशुलाभकारी चिकित्सा के लिए अपने पूर्वाचार्यों से विरासत में प्राप्त इन प्रयत्नों में आवश्यक परिवर्तन करके उन्हें अधिकतम प्रभावकारी बनाया जा सकता है। कुछ एक मान्य विद्वान इस ओर प्रयत्नशील भी हैं, परन्तु यह काम संगठित रूपेण करने का है। एक अखिल भारतीय संगठन ही समूचे शास्त्र में उपयुक्त परिवर्तन कर सकता है।

आयुर्वेदिकनिदान को भी पुनरुजीवित करने की आवश्यकता है। निस्संदेह प्राचीन नाड़ी वैद्य जिस प्रकार नाड़ी परीक्षा से रोगों का समुचित निदान कर सकते थे, आज के वैज्ञानिक एक्सरे, अनुवीक्षण यंत्र ( Microscope ) श्रवणयंत्र ( Stethoscope ) आदि से परीक्षा करने के बाद भी निदान के बारे में एकमत नहीं हो सकते, परन्तु वर्तमान काल में पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति के चकाचौंध में उस नाड़ी विद्यालय का

ज्ञान समाप्त प्राय होता जा रहा है। इस समय भारत वर्ष में सही माने में बहुत कम ही ऐसे वैद्य होंगे जिन्हें नाड़ी परीक्षा का पूर्ण ज्ञान, हो जिनका निज्ञान ठीक होता हो। वर्तमान आयुर्वेदिक कालेजों से जिन नये स्नातकों का निर्माण हो रहा है जिन्होंने आनेवाले युगका पथ प्रदर्शन करना है वे तो इस नाड़ी विज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। यदि ऐसी स्थिति रही तो शीघ्र ही आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति का यह महत्वपूर्ण अंग लुप्त प्राय हो जाएगा। इस पद्धति का यह संक्रमण काल है। आवश्यकता इस बात की है कि विद्वान नाड़ी वैद्य सारे देश में फैल जायें और नव्य चिकित्सकों को उन्मुक्त हाथों से नाड़ी परीक्षा का ज्ञान देकर इस का विनाश रोकें।

शल्य शास्त्र के बारे में तो अभी तक आयुर्वेद जगत सुख की नींद सो रहा है। यह सत्य है कि पाश्चात्य चिकित्सकों ने इस विषय में आश्चर्यजनक उन्नति एवं अनुसन्धान किए हैं। परन्तु अगर आचार्य सुश्रुत के शल्य शास्त्र का जीर्णोद्धार किया जाए अपनी पद्धति और मर्यादा के अनुसार उस में संशोधन तथा परिष्कार किया जाए तो वर्तमान काल में भी यह उपयोगी हो सकता है। आयुर्वेद में कितने ही कृमिनाशक पदार्थ हैं। उनके तरलसारों या चूर्णों से हम कृमिनाशक घोल तैयार कर सकते हैं। विभिन्न राजकीय चिकित्सालयों में हम परीक्षण कर सकते हैं और उसकी सूचना हम वैद्य समाज में प्रसारित कर सकते हैं जिससे वे अपने औषधालयों में भी निस्संकोच रूपेण उन २ विषयों से शल्यकर्म कर सकें।

आज का युग विज्ञापन का युग है। इस बहुश्रुत विज्ञान का समुचित प्रचार नहीं किया गया। सुदूर देशों को छोड़ दीजिए। अभी तक हमारे देश में, हमारे राष्ट्रीय नेतागण इसके प्रति अत्यन्त उदासीन हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हमारा केन्द्रीय संगठन देश विदेशों में जोर शोर से प्रचार करे। विभिन्न भाषाओं में इसके साहित्य का अनुवाद करके प्रसारित किया जाये। आज का मनुष्य बुद्धिवादी जीव है। अगर हम सर्व साधारण को इसकी उपयोगिता का कायल कर सकेंगे तो क्यों नहीं वे इसका उपयोग करेंगे और तब कौन इसका विस्तार और विकास रोकने में समर्थ हो सकेगा।

---o---

श्री वैद्य धर्मदत्त जी की छोटी बहिन
श्रीमती सुशीलादेवी जी पासी, शिमला ।

श्री वैद्य धर्मदत्त जी की माता
स्वर्गीया श्रीमती जमनादेई जी, लायलपुर ।
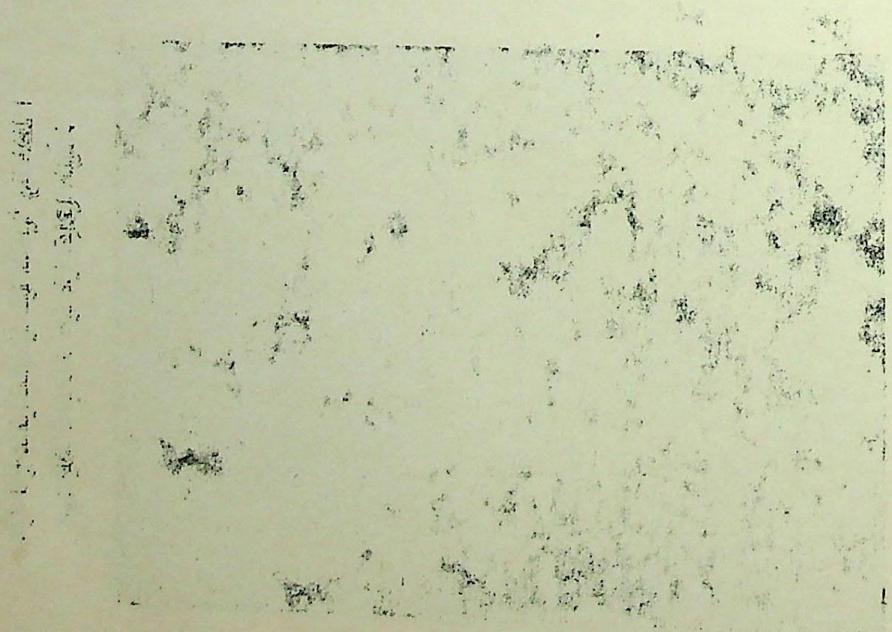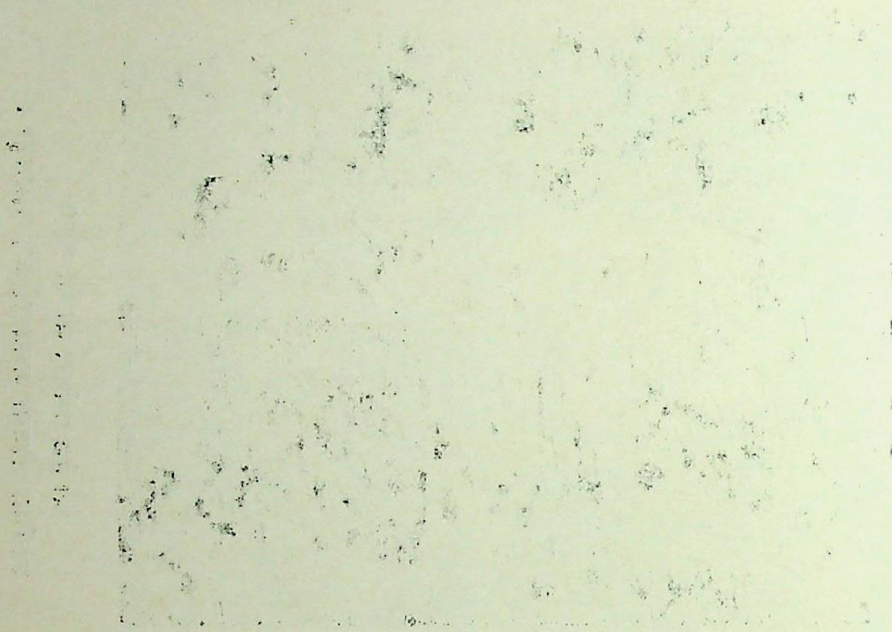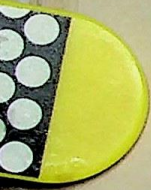
# आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति

श्री के० के० शाह
स्वास्थ्य, परिवार नियोजन, निर्माण-आवास, नगरीय विकास मन्त्री, भारत सरकार

आयुर्वेदिक चिकित्सापद्धति भारत में चिरकाल से बहुत प्रचलित है, और भारी संख्या में लोग आयुर्वेद चिकित्सा से स्वास्थ्यलाभ प्राप्त करते हैं। हाल के वर्षों में देश में सामान्य जन-स्वास्थ्य में जो सुधार दृष्टिगोचर हुआ है उसमें अन्य चिकित्सापद्धतियों के साथ-साथ निश्चित रूप से आयुर्वेदिक चिकित्सा का भी योग है।

स्वतन्त्राप्राप्ति के बाद से भारत सरकार देश की जनता को स्वस्थ एवं सबल बनाये रखने की दिशा में सतत रूप से प्रयत्नशील रही है। इस कार्य में हमें बहुत सफलता भी मिली है, जिसके कारण मृत्यु दर २७ प्रति हजार से घटकर १४ प्रति हजार रह गयी है। साथ ही औसत प्रत्याशित आयु भी लगभग ३२ वर्ष से बढ़कर ५२ वर्ष हो गयी है। इस प्रकार स्वास्थ्य सेवाओं और सुविधाओं के बढ़ने से जहां जन-स्वास्थ्य के सामान्य स्तर में बहुत सुधार हुआ है, वहां इसके कारण जनसंख्या में तीव्र वृद्धि की एक विकट समस्या भी उपस्थित हो गयी है। भारत में जन्म-दर असाधारण रूप से अधिक नहीं है, बल्कि तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होता है कि वार्षिक लगभग ३९ प्रति हजार की भारतीय जन्म-दर अन्य एशियाई देशों से कम ही है। किन्तु मृत्यु दर में कमी होने के साथ-साथ जन्म-दर में भी उतनी कमी न होना ही जनसंख्या में वृद्धि का कारण बन गया है। इस प्रकार आज हमारे सम्मुख एक कठिन प्रश्न यह उपस्थित हो गया है कि हम तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या को किस प्रकार नियन्त्रण में लायें। इसके लिए भारत सरकार परिवार नियोजन कार्यक्रम चला रही है और जन-जन तक यह सन्देश पहुंचाने का प्रयत्न कर रही है कि लोग अपने परिवारों को सीमित बनायें।

प्रायः इस प्रकार के समाचार मिलते रहे हैं कि आयुर्वेद में परिवार नियोजन के लिए उपयोगी कई प्रकार की औषधियां हैं। किन्तु जहां तक मुझे ज्ञात है अभी कोई ऐसी आयुर्वेदिक औषधि इतनी अधिक प्रचलित नहीं हुई कि सामान्य जनता उस के प्रयोग से अनिच्छित सन्तति की बाढ़ से बच सके। वैद्यवर्ग परिवार नियोजन के क्षेत्र में आयुर्वेद के योगों को और अधिक सक्रिय बनाने की दिशा में विचार करे और यदि आयुर्वेद चिकित्सकों की दृष्टि में सन्तति नियमन के लिए कोई उपयोगी और निरापद औषधि हो तो उसके सम्बन्ध में वैज्ञानिक ढंग से अनुसन्धान करने की व्यवस्था करे। मेरा विश्वास है कि यदि यह कार्य ठीक ढंग से सम्पादित किया जाये तो निश्चय ही देशवासियों के लिए आयुर्वेद अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा और इससे देश की आर्थिक उन्नति में भी सहायता मिलेगी।

# शांकर वेदान्त पर चरकानुमत शून्यवाद का प्रभाव

डाक्टर श्री रामराज वैद्य, एम० ए०, पी-एच० डी०, दर्शनाचार्य, नव्यव्याकरणाचार्य, आयुर्वेदाचार्य

शून्यवाद का ही नामान्तर करके शंकराचार्य जी ने अपनी गुरु परम्परा से प्राप्त उस सिद्धान्त को अद्वैत वेदान्त के नाम से ग्रथित करते हुए किन्हीं किन्हीं स्थलों पर गौड़पाद कारिका में उन के परम गुरु गौड़पादाचार्य और उस के भाष्य में शंकर भी यह स्पष्ट कहते दीखाई पड़ रहे हैं कि यह सिद्धान्त वैदिक है, कोई बौद्धों का न समझे, अतः जिन बौद्धों की ओर उन दोनों का संकेत है उस शून्यवाद दर्शन की रूपरेखा सर्वप्रथम मैंने प्रस्तुत की है।

शून्यवादी शून्य को अभाव या इस प्रकार का कोई तत्त्व नहीं मानते। वे शून्य को ही परमतत्त्व मानते हैं, जिसे भाव या अभाव कुछ नहीं कह सकते, तब भी उसे सस्वभाव मानते हैं। जो सस्वभाव पदार्थ होता है वही परमार्थतः सत् एवं नित्य होता है। शेष पदार्थ उन के मत में सभी संवृति मात्र निःस्वभाव हैं। अन्य बौद्धों के मत में सब पदार्थ सस्वभाव हैं। शून्यवादियों का कथन है कि पदार्थों को सस्वभाव मान लेने पर स्वभाव को दुरतिक्रमणीय होने से उसे कोई बदल नहीं सकता, अतः जिस का जैसा स्वभाव होगा वह वैसा ही रहेगा, रोटी का एक स्वभाव होगा उसे बनाने के लिए बनाने वाले तथा अन्य सामग्री की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी क्योंकि वह स्वभावतः है ही।

इस प्रकार बौद्धों का ४ आर्य सत्य, १२ धर्मचक्र और "प्रतीत्य समुत्पाद" नामक जो प्राणभूत सिद्धान्त है वह उच्छिन्न हो जायगा, अतः भावों का स्वभाव मानना उचित नहीं है। शून्यवादी सब प्रकार की उत्पत्ति के विरुद्ध हैं। परिवर्तन मात्र मानते हैं। जब किसी की उत्पत्ति नहीं तो विनाश भी नहीं। अतएव न कोई शाश्वत है न उच्छिन्न। न जन्मता है न मरता, न कोई वस्तु एक नाम की है न अनेक, इस प्रकार तत्व के विषय में उन के आठ विशेषण हैं। शून्यवादियों का "माध्यमिक दर्शन" यह नाम भी सहेतुक है। क्योंकि शून्यता का एक नाम मध्यमा प्रतिपत् भी है, यह सिद्धान्त बुद्ध द्वारा प्रतिपादित है कि किसी भी वस्तु के विषय में आग्रही नहीं होना चाहिए, न यही आग्रह हो कि आत्मा एक नित्य शाश्वत पदार्थ है, अथवा आत्मा नित्य शाश्वत है ही नहीं। दोनों के मध्य का मार्ग अपना कर साधक को आगे बढ़ना चाहिए इस मत को शून्यवादी दृढ़ता पूर्वक मानते हैं, अतः इन का नाम माध्यमिक पड़ा है।

## गौतमबुद्ध के समय भारत की भौगोलिक, सामाजिक परिस्थितियां

जिस समय बुद्ध का जन्म हुआ था उस समय भारत की भौगोलिक परिस्थिति इस प्रकार थी कि सारा भारतवर्ष सोलह बड़े जनपदों में विभक्त था। उनके नाम अंग, मगध, काशी, कौशल, वज्जी, वत्स, मल्ल, चेदि, कुरू, पांचाल, मत्स्य, सूरसेन, अस्सक, अवन्ति, गांधार तथा कम्बोज हैं। इन बड़े जनपदों के अतिरिक्त उत्तर भारत में कई छोटे छोटे गणतन्त्र राज्य भी थे। जैसे, शाक्यों के गणराज्य की राजधानी कपिलवस्तु में थी। कोलियों की रामग्राम, बुलियों की अलकप्प, मल्लों की कुशीनारा, पावा कलाम की, मग्गों की शुंशुमगिरी, विदेहों की मिथिला तथा मोरिया (मौर्य) की पिप्पलिवन और लिच्छिवियों की वैशाली राजधानी थी।

अंग—अंग के अन्दर बंगाल और उड़ीसा के अतिरिक्त बिहार का भागलपुर और मुंगेर जिला

की सीमा भी आती थी ।

मगध--इसकी सीमा आधुनिक पटना और गया जिले तक व्याप्त थी ।

काशी-- आधुनिक वाराणसी जिला और उसके आसपास का क्षेत्र ।

कौशल--अवध की सीमा का सारा क्षेत्र कौशल कहा जाता है । बुद्ध से पहिले इसकी राजधानी अयोध्या थी । किन्तु बुद्ध-काल में कौशल की राजधानी श्रावस्ती हो गयी ।

वज्जी--यह आठ गणराज्यों का एक संघ था। इसका क्षेत्र आधुनिक बिहार प्रान्त का उत्तरी भाग था ।

वत्स--वत्स राज्य गंगा के दक्षिण में प्रयाग से लगभग ३०मील दक्षिण तरफ था । इसकी राजधानी कोशाम्बी थी ।

मल्ल--यह दो गणराज्यों का एक संघ था । एक की राजधानी कुशीनगर और दूसरे की पावा थी। गोरखपुर जिले के उत्तरी भाग में विद्यमान आधुनिक कुशिया को कुशीनारा और फाजलपुर को पावा (पड़रौना) कहते हैं ।

चेदि--यह मध्यप्रदेश का बुन्देलखण्ड और उसके आसपास का क्षेत्र है । इसकी राजधानी माहिष्मती थी ।

कुरू--यह वर्तमान मेरठ जिला, दिल्ली प्रान्त और उसके आसपास का स्थान था । उसकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी ।

पांचाल--यह आधुनिक रुहेलखण्ड (बरेली डिविजन) और गंगा यमुना के मध्य क्षेत्र को कहते हैं ।

मत्स्य--समस्त राजस्थान जयपुर, अलवर, भरतपुर इस क्षेत्र में था ।

सूरसेन--यह राज्य कुरू राज्य के दक्षिण तथा चेदि के पश्चिमोत्तर प्रदेश में स्थित था । इसकी राजधानी मथुरा थी ।

अस्सक--यह राज्य अवन्ति राज्य के दक्षिण प्रदेश में दक्षिण भारत का समग्र क्षेत्र था । इसकी राजधानी पोटली थी ।

अवन्ति-यह मालवा में थी । इसकी राजधानी दो थी । एक उज्जैन, तथा दूसरी महिष्मती । विंध्य पर्वत के कारण अवन्ति के दो भाग हो गये थे । दक्षिण तथा उत्तर ।

गांधार--इसके अन्दर आधुनिक पश्चिमोत्तर प्रदेश काश्मीर "पेशावर" तक्षशिला का प्रदेश आता है।

कम्बोज--यह प्रदेश गांधार का प्रतिवेशी राज्य था। इसकी सीमा काश्मीर का पश्चिमोत्तरीय प्रदेश,गांधार का उत्तरीय प्रदेश, पामीर तथा बदस्ता प्रदेश सम्मिलित है, जो कि वर्तमान काल में पाकिस्तान के अन्तर्गत आते हैं ।

बुद्ध का जन्म कौशल के अन्दर शाक्य गणराज्य में जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी उसमें शुद्धोधन नामक राजा के यहां हुआ था । उस समय की सामाजिक परिस्थिति यह थी कि वैदिक-धर्म अस्त व्यस्त हो चुका था । उसके स्थान पर अनेक धर्म तथा दर्शन माने जाते थे, जिनके नेतागण प्रायः शरीर को कष्ट देकर जंगलों में निवास करते थे । जिनमें से कुछ के नाम निम्नलिखित हैं ।

१. पूरण कस्सप (पूर्ण कश्यप), यह यदृक्षावादी था । इसका सिद्धान्त था कि जगत की वस्तु अकारण ही उत्पन्न होती है तथा नष्ट होती है । उनके उत्पन्न होने तथा नष्ट होने का कोई हेतु नहीं है । इस सिद्धान्त को उस समय उच्छेदवाद कहा जाता था । इनके मत से सामाजिक जीवन बड़ा ही अस्त-व्यस्त होता जा रहा था । क्योंकि यदृक्षा-

वाद में ऋत-अनृत, धर्म अधर्म, दान, स्तेय, छल, कपट, दया, हिंसा जप, तप आदि कर्मों का न कोई फल है और इसे न करने से कोई हानि ही है। अतः जिसे जो मन भाये वह करे। क्योंकि उस कर्म का ऐहिक तथा पारलौकिक कोई फल नहीं है।

मक्खलिपुत्र गोशाल (मस्करीपुत्र गोशाल) ये बड़े तार्किक थे, और इन्होंने आजीवक नामक सम्प्रदाय की स्थापना की। इनका मत था कि मनुष्य अपनी शक्ति से कुछ नहीं कर सकता, अपितु नियति (दैव) वश शुभाशुभ कर्म करता है, तथा उसका फल सुख दुःख भोगता है।

अजितकेश कम्बल, ये कर्मवादी थे। इनका कथन था कि जो मनुष्य सुख-दुःख पाता है, वह पूर्वजन्मकृत कर्मों के अनुसार ही पाता है।

प्रबुद्ध कात्यायन, ये ईश्वरकारणवादी थे। इनका मत था कि प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति में मूल-भूत कारण ईश्वर है। सात वस्तुएं नित्य हैं। पृथिव्यादि चार भूत, सुख दुःख और जीवन। अतः किसी की कोई हत्या भी कर देता है, तो वह विनष्ट नहीं होता, इसलिए नैतिकता की दृष्टि से या अध्यात्म की दृष्टि से हत्या का कोई महत्व नहीं है।

निर्गन्थ नाथ पुत्र, इनका नाम वर्धमान महावीर था। ये स्याद्वाद सिद्धान्त के प्रतिष्ठिता थे। जिसका अर्थ है कि कोई भी वस्तु अपेक्षाकृत है। इसलिए किसी वस्तु के विषय में कोई भी निश्चित सिद्धान्त नहीं हो सकता।

इन सब मतों के कारण उस समय की सामाजिक परिस्थिति बड़ी अस्तव्यस्त हो गयी थी। वर्ण व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी। अनेक अनुलोम प्रतिलोम वैवाहिक सम्बन्धों से अनेक जातियां बन गयी थीं। उनके रहन-सहन, आचार-विचार, देवी-देवताओं की पूजा, सभी संकीर्ण हो गयी थी। कोई पद्धति व्यवस्थित नहीं थी। वर्णसंकरों की अधिक वृद्धि हो गयी थी। इससे नई-नई जातियों, तथा धर्मों का उदय हो रहा था। उस समय समाज में ब्राह्मणों का अधिक सम्मान था। अतः उनके लिए विशेष अधिकार और सुविधायें थीं। वे मृत्युदण्ड से मुक्त थे। वैदिक ग्रंथों और उसकी परम्परा के प्रवक्ता ब्राह्मण ही होते थे। यज्ञ की विधियों का सम्पादन करने वाले ब्राह्मण ही थे। पौरोहित्य उनका ही कार्य था। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त समस्त कर्मकाण्डों तथा धार्मिक अनुष्ठानों का सम्पादन ब्राह्मण ही करते थे। उपर्युक्त कारणों से ब्राह्मणों में अहंकार आधिपत्य और अपनी प्रमुखता का मान बढ़ गया था। वे घमण्डी हो गये। अतः इतर जातियां उनका विरोध करने लगीं। ब्राह्मण उस समय तन्त्र-मंत्र का सहारा लेकर वाममार्गी हो गये और उससे अनाचार की वृद्धि करने लगे। इतर जाति क्षत्रिय जाति को छोड़कर पददलित हो रही थीं। इस कारण लोग पुरातन सामाजिक कृत्यों से ऊब गये थे।

इसी समय भगवान बुद्ध का आविर्भाव हुआ। उन्हें भिन्न २ विषयों के योग्य विद्वानों से शिक्षा दिलाई गयी। जिनमें से सांख्य दर्शन का उन पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। तदनुसार बुद्ध ने दुःख त्रय के अभिघात की अनुभूति करके और सांख्यानुसार ही उसके अपघात के उपाय तत्वज्ञान को भी समझा। इसलिए उन्होंने चार आर्य सत्य (१) दुःख (२) दुःख समुदय (३) दुःख विनाश (४) दुःख–विनाशोपाय।" द्वादस धर्म चक्र "(१) अविद्या (२) संस्कार (३) विज्ञान (४) नामरूप (५) षडायतन (६) स्पर्श (७) वेदना (८) तृष्णा (९) उपादान (१०) भव (११) जाति (१२) जरामरण।" और अष्टांग मार्ग "(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् आजीव (३) सम्यक्

व्यायाम (४) सम्यक् स्मृति (५) सम्यक् वाक् (६) सम्यक् कर्मान्त (७) सम्यक् आजीव (८) सम्यक् समाधि ।" जिसका संक्षिप्त अर्थ है प्रतीत्य समुत्पाद । इस मुख्य सिद्धांत का प्रवर्तन किया, जिसका निष्कर्ष यह हुआ कि सब पदार्थ या जो पदार्थ कहा जा सकता है वह क्षणिक और अनात्म है। सांख्य का ही प्रभाव पड़ने से बुद्ध ने अनीश्वरवाद तथा अनात्मवाद तथा क्षणभंगवाद का उपदेश दिया ।

अनीश्वरवाद-- जिस प्रकार सांख्यशास्त्र पुरुष से अतिरिक्त ईश्वर (परमात्मा) की सत्ता को नहीं स्वीकार करता उसी तरह बुद्ध ने भी ईश्वर विषयक चर्चा करने से अनिच्छा प्रकट की । यद्यपि सांख्य ने तटस्थ उदासीन तथा प्रेक्षक रूप में आत्म-तत्व को स्वीकार किया है, और उस आत्मा को नैयायिकों की तरह सांख्य दर्शन में व्यापक माना गया है । अतएव आत्मा को सांख्य में स्पष्ट रूप से कर्मों के कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व का आश्रय तथा बन्ध-मोक्ष का आश्रय मानने से अस्वीकार कर दिया है, तो बुद्ध ने उससे प्रभावित होकर प्रयोजनाभावात् आत्मतत्व की चर्चा करना व्यर्थ समझा । इसीलिए बुद्धों में आत्मा है या नहीं है इस विषय पर विवाद ही नहीं उठाते ।

पदार्थों का क्षणिकत्व---पदार्थ प्रतीत्य समुत्पाद है--हेतु समुदय (कारण सामग्री) से उत्पन्न होते हैं, और उत्पद्यमान पदार्थ का कारण बनते हैं। अतः कार्य कारण के चक्र में पड़े पदार्थों का क्षणिक मानना अनिवार्य है । यदि द्वितीय क्षण स्थाई पदार्थ को मान लिया जाय तो कोई ऐसा हेतु नहीं है कि तृतीय क्षण में उसका विनाश हो । बिना उत्पाद विनाश के संसार में एक रूपता स्थित हो जायगी । फल यह होगा कि जो जिस रूप में विद्यमान है वह उसी रूप में अनिश्चित काल तक के लिए विद्यमान रहेगा । उससे सुख, दुःख, जरा, मृत्यु आदि जो समय २ पर प्राणियों को पीड़ित करती हैं उनका अभाव हो जायगा । तदर्थ दान, जप, तप, योग, समाधि, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, आदि जितने भी शुभ कर्म हैं उनका कोई महत्त्व नहीं रह जायगा । इसलिए उन्होंने सब पदार्थों को क्षणिक माना है । क्षणिक से तात्पर्य यह है कि जो तत्व जिस क्षण में उत्पन्न होता है वह उसी क्षण में विनष्ट होकर, विनष्ट हुए उपादान से उसी के सदृश अन्य तत्व उत्पन्न करता है । सामान्य दृष्टि से देखने पर इस उत्पाद तथा विनाश का अनुभव किसी को नहीं होता । किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सभी लोग समझ सकते हैं कि यदि भ्रूणावस्था से लेकर आजतक प्रतीत्य समुत्पाद (कार्य कारण या उत्पाद विनाशिता) की भंवर में न पड़ते तो इतने बड़े हो ही नहीं सकते । क्योंकि जो तत्व जिस अवस्था में होता, वह उसी अवस्था में पड़ा रहता । इसी भाव को व्यक्त करते हुए आचार्य आत्रेय पुनर्वसु ने लिखा है--

"न ते तत् सदृशास्त्वन्ये पारम्पर्यं समुत्थिताः
सारूप्याद्ये त एवेति निर्दिश्यन्ते नवा नवाः
भावास्तेषां समुदयः निरीशः सत्व संज्ञकः
कर्ता भोक्ता न स पुमान् इति केचिद्व्य-
वस्थिताः ॥
केचित्--बौद्धाः इति चक्रपाणिः ।

बुद्ध निर्वाण के पश्चात् उनके शिष्यों में से अनेक शिष्य उनके मन्तव्यों को अक्षुण्ण रखने के लिए समय-समय पर बुद्ध के मन्तव्यों को जानने वाले शिष्यों प्रशिष्यों का आह्वान कर संगायन कराया । जिससे बौद्ध साहित्य का क्रमशः विस्तार होता गया ।

प्रथम संगीति--यह संगीति राजगृह में बुद्ध-निर्वाण के छः मास के अन्दर ही महाकाश्यप की अध्यक्षता में हुई । इसमें सुप्रसिद्ध चुने हुए पांच सौ

अर्हत बौद्ध भिक्षुओं ने भाग लिया। इसमें हुए विचारों पर आनन्द (जो कि बुद्ध के पास छाया की भांति रहते थे) की मुहर लग जाने से वहां कहे गये बुद्ध के मन्तव्य प्रमाणित व संग्रहीत हुए।

दूसरी संगीति––वैशाली में सात सौ भिक्षुओं की संगीति आचार्य सर्वकामी की अध्यक्षता में हुई। उसमें सूत्रपिटक, विनयपिटक और अभिधर्मपिटक इन तीन त्रिपिटक का निर्माण हुआ। इसी संगीति में बौद्धों के परस्पर मतभेद के कारण दो सम्प्रदाय हीनयान तथा महायान हो गया। इस संगीति का समय बुद्ध निर्वाण के एक सौ वर्ष बाद है, जो कि अजातशत्रु के वंशज कालाशोक का समय है।

तृतीय संगीति––यह संगीति कलिंगविजय के पश्चात् अशोक का हृदय जब युद्ध की निर्दयता से विदीर्ण हो गया और आचार्य तिष्य मोगलि पुत्र के शरण में जा कर बौद्ध-धर्म में दीक्षित हुए, तब इनका हृदय शान्त हुआ। इन्होंने अपने आचार्य की अध्यक्षता में त्रिपिटक को अन्तिम रूप देने के लिए बौद्ध-धर्म व दर्शन में पारंगत एक हजार भिक्षुओं को आमन्त्रित कर नव मास तक संगीति का आयोजन किया। इनके समय में महावंश में वर्णित कथा-वस्तु से १८ निकायों को पृथक् कर दिया।

चतुर्थ संगीति––यह संगीति तुरुष्क साम्राज्य के संस्थापक महाराजा कनिष्क के निर्देशन में एक सौ ईसवी में काश्मीर के कुण्डल वनान्तर्गत हुई। इस परिषद् के अध्यक्ष आचार्य पार्श्व थे, जिन्होंने पांच सौ भिक्षुओं को आमन्त्रित किया था। उस परिषद् में पिटकों पर भाष्य लिखाया गया तथा इसी परिषद् में ज्ञान प्रस्थान पर संस्कृत में वसुमित्र ने महाविभाषा-शास्त्र नामक भाष्य लिखा। इसके पश्चात् बौद्ध धर्म व दर्शन संस्कृत भाषा में भी लिखा जाने लगा।

सम्प्रदाय––सौत्रान्त्रिक और वैभाषिक या सर्वास्तिवादी ये दो सम्प्रदाय हीनयान के मुख्यरूप से हैं। सर्वास्तिवादी "महाविभाषा" को प्रमाण नहीं मानते। इनके केवल प्रामाणिक ग्रन्थ "ज्ञान प्रस्थान" और इसके अंग छः ग्रन्थ– "प्रकरण, विज्ञानकायं, "धर्मस्कंध", "प्रज्ञप्तिशास्त्र", "धातु-काय" और "संगीति पर्याय" हैं। विभाषा को मानने वाले वैभाषिक कहे जाते हैं। ज्ञान प्रस्थान का कर्ता आर्य कात्यायनी पुत्र हैं। वैभाषिक को ही सर्वास्तिवादी भी कहते हैं। सूत्र मात्र को मानने वाले सौत्रान्तिक कहे जाते हैं।

महायान सम्प्रदाय माध्यमिक या शून्यवादियों योगाचार या विज्ञानवादियों का है। माध्यमिक सम्प्रदाय का प्रतिष्ठाता आचार्य नागार्जुन ई० की द्वितीय शताब्दि के उत्तरार्द्ध के हैं। इन्होंने शून्य-वाद की स्थापना कर एक आश्चर्यजनक कार्य दार्शनिक इतिहास में उत्पन्न कर दिया। इनके विरोध में चौथी से पांचवी शताब्दि में योगाचार या विज्ञानवाद का उदय हुआ।

इस प्रकार साहित्य निर्माण के पश्चात् विभक्त अनेक बौद्ध सम्प्रदायों में मुख्य रूप से चार ही सम्प्रदाय प्रसिद्धि को प्राप्त हुए जिन के नाम क्रमशः सर्वास्तिवाद या वैभाषिक, सौत्रान्तिक या वाह्या-नुमैयवादी, माध्यमिक या शून्यवादी, योगाचार या विज्ञानवाद है। इन में से प्रथम के दो सम्प्रदाय हीनयान और अन्तिम के महायान हैं।

सर्वास्तिवादी नय–सर्वास्तिवादी बाह्य या आभ्यन्तर सभी वस्तु को सत् क्षणिक और सस्वभाव मानता है। इन में से एक का मत "भावान्यथिक" है अर्थात् धर्म (तत्व) नहीं बदलते, जब धर्म एक अध्व से दूसरे अध्व में जाता है तो भाव बदलते हैं, धर्म नहीं। जैसे सुवर्ण (धर्म) का जब कुंडल और कुंडल से केयूर बनता है तब सुवर्ण (धर्म) नहीं बदलता उस का कुंडलादि (भाव) बदलता है।

दूसरा सर्वास्तिवादी कहता है कि भाव नहीं

बदलता, उस के लक्षण बदलते हैं, अतः इन्हें लक्षणान्यथिक कहा जाता है।

तीसरे का मत अवस्थान्यथिक है कि धर्म (धातु) जब एक अध्व से दूसरे अध्व में जाता है तब उसकी अवस्था बदलती है, लक्षण या भाव नहीं बदलते।

चतुर्थ का मत है "अन्योन्यथात्व" अर्थात् अध्व अपेक्षा वश व्यवस्थित है, जब धर्म अध्व में प्रवर्तमान हो तो अपेक्षावश संज्ञान्तर ग्रहण करता है, क्योंकि काल अखंड है। अतः अतीत, अनागत और वर्तमान केवल सापेक्षिक है, वास्तविक नहीं। अतः इन का मत सापेक्षवाद या अन्योन्यथात्व है।

तत्वों के विषय में वैभाषिकों की मान्यता इस प्रकार है--धर्म (तत्व) दो प्रकार के हैं--संस्कृत एवम् असंस्कृत। जाति, जरा, स्थिति एवं अनित्यता से युक्त तत्व संस्कृत और इन से वियुक्त धर्म असंस्कृत हैं। संस्कृत धर्म पांच स्कंध से युक्त है। पांच स्कन्धों के नाम हैं--रूपस्कंध, वेदनास्कंध, संज्ञा स्कंध, संस्कार-स्कंध और विज्ञानस्कंध। स्कंध राशि का नाम है, अतः रूप स्कंध में निम्न लिखित वस्तुओं का समावेश है--पृथिवी, जल, तेज एवम् वायु। (जिन में वर्ण और संस्थान (आकृति) हो वह रूप हैं) पंच ज्ञानेन्द्रियां इन के पांच विषय, पांच अविज्ञप्ति (वे शारीरिक एवं मानसिक कर्म जिन के परिणाम प्राप्त न हो चुके हों) रूपस्कंध के अन्दर हैं। विज्ञानस्कंध से मन या चित्त का ग्रहण होता है और इसी के अन्दर चित्त एवं चैतसिक कर्म भी आते हैं। चित्त की उत्पत्ति विषयों और इन्द्रियों के घात प्रतिघात से होती है। यही समस्त संस्कारों का अभिवहन करने वाला क्षणिक परिवर्तनशील एवम् परलोकगामी है। संज्ञास्कंध उसे कहते हैं कि जब किसी वस्तु का ज्ञान हमें नील पीतादि दीर्घ ह्रस्वादि, पुरुष, स्त्री, शत्रु, मित्र शात और अशात के रूप में हो, तो हम उसे, उस प्रकार की संज्ञा देते हैं। वेदना अनुभूति या उपभोग को कहते हैं। संस्कार स्कंध उपर्युक्त चारों स्कंधों से भिन्न है। इसके तीन भेद हैं, अविज्ञप्ति, असंस्कृत और धर्मायतन धातु। अविज्ञप्ति ५ हैं, असंस्कृत ३ है, आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध (ज्ञान के द्वारा तत्वों का निरोध प्रति-संख्यानिरोध है और समाधि के द्वारा तत्वों का निरोध अप्रतिसंख्यानिरोध है) धर्मायतन धातु १८ हैं। पांच इन्द्रियां और मन उन के ६ विषय और इन्द्रिय तथा विषय से उत्पन्न ६ विज्ञान। उपर्युक्त तत्वों के मानने के लिए वैभाषिक दो प्रमाण मानते हैं–प्रत्यक्ष और अनुमान। इनका प्रत्यक्ष कल्पना रहित (अपोह) होने से निर्विकल्प है। सौत्रान्तिक से वैभाषिक का मतभेद यह है कि सौत्रान्तिक केवल सूत्रको मानते हैं, शास्त्र को नहीं। रूप स्कन्ध में ये वर्ण मात्र को रूप मानते हैं संस्थान को नहीं। इसी तरह असंस्कृत धर्मों में आकाश प्रतिसंख्यानिरोध एवं अप्रतिसंख्यानिरोध को वस्तु सत् नहीं मानते। आकाश तो स्पर्श का अभाव मात्र है और प्रतिसंख्यानिरोध तथा अप्रतिसंख्या निरोध निर्वाण है। सौत्रान्तिक प्रत्यक्ष को तो मानते हैं किन्तु आभ्यन्तर (मानस)। बाह्य तो अनुमेय है। शेष विचार पूर्ववत् है।

इस के पश्चात् प्रज्ञापारमिताओं का दिग्दर्शन कराते हुए हीनयान, वैभाषिक और सौत्रान्तिक नय में ही श्रमणों के परस्पर सम्वाद द्वारा माध्यमिक दर्शन का बीजारोपण इस प्रकार दिखाया गया।

सत् धर्म पुण्डरीक, जो कि वैपुल्यवादियों का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है, इसका सर्वप्रथम अनुवाद चीनी भाषा में २१३ ई० में हुआ था। चीनी भाषा में इसके छह अनुवाद पाये जाते हैं, उसमें लिखा है कि

भगवान् शारिपुत्र सुभूति, महाकाश्यप तथा महामौद्गलायन को उपदेश देते हैं कि यान एक ही है दूसरा नहीं, वह महायान ही है। बुद्धों का ज्ञान तथा सम्यक् बुद्धों का ज्ञान श्रावक तथा प्रत्येक बुद्धों के लिए दुर्विज्ञेय है। महायान का स्वरूप शून्यता है। अन्य यानों में उपाय कौशल्यों के द्वारा श्रावक तथा प्रत्येक बुद्धों को सम्यक् बुद्ध उपदेश देते हैं। (प्रज्ञा मध्य व्यवस्थानात् प्रत्येक जिन उच्यते, शून्य ज्ञान विहीन त्वात् श्रावकः सम्प्रभाषते। सर्वधर्माविबोधात्तु सम्यक् सम्बोध उच्यते)। 'अतः मैं उपाय कौशल्य से धर्मदेशना करता हूं। जो सत्व अल्प कुशल मूल से युक्त हैं, उन्हें मैं कहता हूं कि मैं दहर (संन्यासी) हूं। अभी ही मैंने सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति की है। किन्तु तथागत ने सत्य का दर्शन किया है जो कि यह त्रैधातुक न भूत है, न अभूत, न सत् है, न असत्, न संसार है, न निर्वाण। वस्तुतः भगवान् चिरकाल से अभिसम्बुद्ध हैं। अपरिमित आयु में स्थित हैं।

इसी तरह अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता में आयुष्मान शारिपुत्र का स्थविर सुभूति से परस्पर कुछ प्रश्नोत्तर होने का विवरण मिलने से शून्यवाद स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होता है, सुभूति ने भगवान शारिपुत्र से पूछा कि भगवन् जो महायान, कहते हैं, वह महायान क्या है। मैं मानता हूं कि आकाशसम अति महान होने से वह महायान कहा जाता है। इसका न आगम देखा जाता है, न निर्गम। इन का पूर्वान्त अपरान्त या मध्यान्त भी अनुपलब्ध है। इसलिए यह महायान है। इसी तरह भगवन् बोधिसत्व यह भी एक नामधेय है। इसका रूप न प्राप्त होता है, न विनष्ट होता है। यही बात अन्य स्कंधों के विषय में भी है।

सुभूति के इस प्रकार कहने पर शारिपुत्र ने कहा कि 'हे सुभूति आप का कहना सत्य है, बोधिसत्व अनुत्पाद है। केवल बोधिसत्व ही नहीं, बोधिसत्व धर्मभी सर्वज्ञता और सर्वज्ञता धर्मभी पृथक्जन और पृथक् जन धर्म सभी अनुत्पाद हैं। अतएव अनीश्वर हैं। इस सम्वाद से शून्यवाद का उदय होता है।

**चरकानुमत शून्यवाद की मान्यता**– शून्यवादी किसी भी धर्म की उत्पत्ति व विनाश दोनों नहीं मानते। हीनयानी बौद्ध स्वभाववादी है। अर्थात् सब धर्म अपना स्वभाव रखते हैं। यह उनकी मान्यता है। किन्तु शून्यवादी सब पदार्थों को निःस्वभाव मानता है। जैसा कि चरक में स्वभाववाद के विषय में यह कहा है कि धातुओं की सम या विषम उत्पत्ति कारण से होती है। किन्तु विनाश स्वभाव से होता है। ऐसा कह कर स्वभावोपरमवाद एक सिद्धान्त की स्थापना करते हुए उत्पत्ति के विषय में स्वभाववाद को न मानकर और विनाश के लिए स्वभाववाद को मानकर क्रमशः महायान और हीनयान दोनों मतों का समन्वय किया है। यह अर्धजरतीय न्याय है जो कि किसी मन्तव्य के विषय में अनुचित है। उत्पत्ति के विषय में स्वभाववाद का खण्डन करते हुए चरक ने लिखा है कि स्वभाव से यदि छह धातुओं का संयोग माना जाय तो स्वभाव दुष्प्रतिक्रिय होने से उनका वियोग नहीं हो सकता। इसी तरह यदि वियोग माना जाय तो संयोग नहीं हो सकता। अतएव धातुओं के परस्पर संयोग और वियोग में उनका स्वभाव हेतु न होकर जीवकृत कर्म ही कारण है। क्योंकि – "न संभवः स्वभावस्य, युक्तःप्रत्ययहेतुभिः। स्वभावः कृतको नाम भविष्यति पुनः कथम्। मा. का. पृ०६७। यथावा चरके–विद्यात्स्वाभाविकं षण्णां धातूनां यत्स्वलक्षणम्। संयोगे च वियोगे च तेषां कर्मैवकारणम्–(च. सू. अ. १०श्लो०१२)

विनाश के विषय में उन्होंने कहा है कि शरीर की धातुएं हेतु के वैषम्य होने से विषम होती हैं,

और हेतुओं के साम्य होने से सम होती हैं। और विनाश तो स्वभाव से होता ही है, उसके लिए किसी हेतु की आवश्यकता नहीं होती। यदि कारण मानना भी हो तो विनाश का हेतु उत्पादक हेतु का अभाव मान लिया जाय। (जायन्ते हेतु वैषम्यात् विषमाः देह धातवः। हेतु साम्यात् समास्तेषां स्वभावोपरमः सदा। प्रवृत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम्। केचित्तत्रापि मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्तनम्।। (च०सू०अ०१६श्लो० २७-२८)।

नागार्जुन भावों को निःस्वभाव मानते हुए उत्पत्ति और विनाश दोनों का प्रत्याख्यान भावों को सस्वभाव माननें वालों के मत से ही किया है। जैसे रोटी एक सस्वभाव वस्तु है। स्वभाव का अन्यथा तो कभी नहीं हो सकता इसलिए रोटी की न उत्पत्ति हो सकती है और न विनाश।

शून्यवादी सभी प्रकार के उत्पत्ति और विनाश दोनों का ही निषेध करते हुए शून्यता एक तत्व मनाते हैं। शून्यता का अर्थ है प्रतीत्य समुत्पाद अर्थात् कारण सामग्री से कार्य की उत्पत्ति। यदि पदार्थों को सस्वभाव मान लिया जाय तो बौद्ध धर्म का प्रतीत्य समुत्पाद यह सिद्धान्त ही नष्ट हो जाता है। क्योंकि भाव सस्वभाव होने से अविनाश्य तथा अनुत्पाद्य होंगे।

उत्पत्ति का निषेध करते हुए शून्यवादियों ने कहा है कि भावों की उत्पत्ति न स्वतः होती है, न परतः, न उभयतः, न अकारणतः और न अभावतः। यदि स्वतः उत्पत्ति मानें तो उत्पत्ति के पहिले जिस भाव की उत्पत्ति होनी है उस भाव की स्वता पहिले ही विद्यमान होनी चाहिए। इस प्रकार उत्पाद की उत्पत्ति निरर्थक होगी और यदि परतः मानें तो किसी से भी किसी की उत्पत्ति हो सकती है। हेतु वैषम्य से धातु साम्य की उत्पत्ति और हेतु साम्य से धातु वैषम्य की उत्पत्ति हो सकती है।

परन्तु यह बातें व्यवहार में कभी नहीं आतीं। इस प्रकार जब स्वतः परतः दोनों से पृथक् पृथक् उत्पत्ति नहीं हो सकती तो दोनों मिलकर भी किसी को उत्पन्न नहीं कर सकते। इसी तरह अकारण, अभाव, ईश्वर, देशकाल, परमाणु, स्वभाव, प्रकृति, यदृच्छा आदि से उत्पत्ति भी अप्रामाणिक है।

इसलिए शून्यता का अर्थ प्रतीत्यसमुत्पाद जो कि मध्यमा प्रतिपत् उपादाय प्रज्ञप्ति तथा परिवर्तनशीलता है। संक्षेप में शून्यता का अर्थ परिवर्तन शीलता है।

मध्यमा प्रतिपत्–प्रत्येक व्यवहार के चार योग होते हैं अति-योग, अयोग, मिथ्या-योग, और सम्यक् योग। उदाहरणार्थ, किसी वस्तु को अति-ध्यान से देखना अति-योग, बिल्कुल न देखना अयोग, और कुदृष्टि से देखना मिथ्या-योग है। सम्यक् योग–किसी वस्तु को यथार्थ उचित मात्रा में देखना है। यही मध्यमा प्रतिपत् (व्यवहार) है। यही बुद्ध का मुख्य उपदेश है। इसी को माध्यमिक लोग मानते हैं। इसी को चरक में "कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च" ।।

द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतु संग्रहः।। शरीरं सत्व सज्ञं च व्याधीना माश्रयोमतः। तथा सुखानां, योगस्तु सुखानां कारणं समः।। अर्थात् सम्यक्-योग सुख का और हीन मिथ्यातियोग दुःख के कारण हैं।

शून्यता का अर्थ उपादाय प्रज्ञप्ति है। जिसका यह अर्थ होता है कि कोई भी प्रज्ञप्ति (व्यवहार) उपादाय (कई चीजों से मिलकर) है। जैसे, रथ एक यह व्यवहार है। वह आरा, धुरा, बांस, रस्सी आदि कई चीजों से मिलकर बना है। यही शून्यता या प्रतीत्यसमुत्पाद है। जैसे आयुर्वेद में कहा है कि "पुरुष यह व्यवहार २४ तत्वों या छह धातुओं का संयोग है"।

शून्यता का अर्थ परिवर्तनशीलता है। जिसका

अर्थ यह है कि कोई भी तत्व आदि अन्त से रहित है। जैसे—बीज और अंकुर को देखिए बीज अंकुर रूप में जब हो जाता है तो उसे हम विनष्ट या अन्तवान् नहीं कह सकते, क्योंकि वह अंकुर रूप में विद्यमान है। इसी तरह हम उसे अविनश्वर भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसका स्वरूप अपने रूप में अविद्यमान है। इस प्रकार हम उसे शाश्वत या उच्छिन्न इन दो अवस्थाओं में से किसी एक अवस्था से युक्त बीज को नहीं कह सकते, तो यही मानना पड़ेगा कि तत्व सदा परिवर्तनशील होते रहते हैं। न उनका विनाश होता है, न उत्पत्ति। इसी सिद्धान्त को शून्यता कहते हैं।

इस सिद्धान्त को मानने से चरक में जो स्वभावोपरमवाद को मानकर चिकित्सा विषय में यह संदेह उठाया है कि जब स्वभावोपरम है तो चिकित्सा प्राभृत की क्या आवश्यकता है "स्वभावोपरमेकर्मचिकित्सा प्राभृतस्य किम्।" अर्थात् रोग स्वभावतः नष्ट हो जायगा ही। चिकित्सा सामग्री की क्या आवश्यकता। उसका समाधान स्वतः हो जाता है कि न कोई नष्ट होता है न कोई उत्पन्न, अपितु धातुएं सदा परिवर्तित होती रहती हैं। अतः किसी परिवर्तन से रोग तथा किसी परिवर्तन से नीरोग होता रहता है। विवश होकर चरक को यही समाधान देना पड़ा है "याभिःक्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः सा चिकित्सा विकार।णाम् कर्मतत् भिषजां स्मृतम्। कथं शरीरे धातूनाम् वैषम्यम् न भवेदिति समानां चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया। त्यागात् विषम हेतूनाम् समानां चोपसेवनात् विषमानानुबन्धन्ति जायन्ते धातवः समाः" (च०सू०१६)।

इस प्रकार शून्यवादी शून्यता की परिवर्तन शीलता मध्यमाप्रतिपत् तथा उपादायप्रज्ञप्ति बताकर समस्त जगत व्यवहारों को सरल करके उसका अध्यात्म विषयक भी एक महत्वपूर्ण अर्थ करते हैं। जिसका नाम है निरपेक्ष सत्ता का अभाव। इसका अर्थ यह है कि सभी पदार्थ सापेक्ष सत् हैं, निरपेक्ष नहीं। जैसे पिता पुत्र की अपेक्षा करके ही पिता है। इसी प्रकार पुत्र पिता की अपेक्षा करके ही पुत्र है, निरपेक्ष नहीं। कोई भी तत्व नित्य इसीलिए नहीं है कि वह सापेक्ष है। व्यवहार में जो सापेक्ष है वही सत् है। जो निरपेक्ष है वह व्यवहार में असत् है। इसप्रकार सापेक्षसत् धर्मों को बताते हुए और निरपेक्ष सत्ता का अभाव भी बताते हुए यही कहा है कि यह सब सम्वृत मात्र सत् है, परमार्थतः नहीं। परमार्थतस्तु कुछ कहने योग्य है ही नहीं, वह शून्य है क्योंकि वह निरपेक्ष है। शून्य अशून्य की अपेक्षा करता है, किन्तु शून्यवादी किसी तत्व को अशून्य मानता ही नहीं है। उसे तो सर्वत्र शून्यता ही की अनुभूति होती है। अतः जगत् अशून्य न होने से शून्य किसकी अपेक्षा करे। अतः निरपेक्ष होने से शून्यमात्र परमार्थतः सत्य है। यही इनका अद्वैत सिद्धान्त है। जिसका विवरण चरक के शारीर स्थान के द्वितीय अध्याय में इस प्रकार से है।

चरक में एक प्रश्न यह उठाया है कि शारीरिक और मानसिक विकार शान्त होने पर कौन सा ऐसा उपाय है जिसे पुनः न हों। "शरीर सत्व प्रभवा विकाराः कथं न शान्ता पुनरापतेयुः।" जिसका उत्तर तत्काल ही यह दिया है कि शरीर और मन से उत्पन्न होने वाले रोग शरीर और मन के सन्तानोच्छेद होने से पुनः नहीं होते। इस उत्तर पर पुनः आपत्ति उठती है कि जिसकी निवृत्ति होती है उसकी आदिमत्ता भी होती है, ऐसी व्याप्ति है। इस व्याप्ति के आधार पर शरीर और मन की संतति की आदि क्या है?। इसके उत्तर में चरक का यह कहना है कि शरीर और सत्व की

सन्तति की जो आदिमत्ता है वह कहीं नहीं कही गयी है। इस उत्तर पर पुनः आक्षेप उठता है कि यदि शरीर सत्व की आदिमत्ता है तो क्यों नहीं कही गयी है, तो इसका उत्तर देते हैं कि शरीर और मन की संतति की आदिमत्ता या उन दोनों की सत्ता कुछ है ही नहीं। पुनः प्रश्न होता है कि जो वस्तु है ही नहीं उसकी निवृत्ति को रोग निवृत्ति का जो उपाय बताया गया है, वह किस प्रकार हो सकता है। इसका उत्तर पुनः चरक में दिया गया है कि अति उत्कृष्ट धृति स्मृति और बुद्धि के द्वारा शरीर और मन के संतति की निवृत्ति होती है। उस चरम संन्यास में सम्पूर्ण वेदनाएं उनके कारण बुद्धि आदि सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञान सभी पूर्ण रूप से निवृत्त हो जाते हैं। अर्थात् कुछ शेष नहीं रह जाता। "शरीर सत्वप्रभवास्तु रोगाः तयोरवृत्या न भवन्ति भूयः। तयोरवृत्तिः क्रियतेपराभ्यां धृति स्मृतिभ्याम् परमाधिया च। तस्मिंश्चरमसन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः। स संज्ञाज्ञान विज्ञाना विर्वृत्ति यान्त्यशेषतः। अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते। निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिन्हम् यस्य न विद्यते"। (च.शा.अ.१-२)।

इससे बढ़कर शून्यवाद का और अन्यत्र स्पष्ट रूप चरक से अतिरिक्त कहां मिल सकता है। यही माध्यमिक या शून्यवादी का उपरिलिखित सिद्धान्त है

विज्ञानवादियों की मान्यता है कि विज्ञान मात्र ही एक तत्व है, अन्य प्रतीयमान वस्तु स्वप्नवत् मृगमरीचिकावत् मायोपम है। विज्ञान ही बाह्य जगत् में स्फुरित होता है। संसार में दो ही वस्तु प्रतीयमान होते हैं ज्ञान और ज्ञेय। इन में से ज्ञान मात्र एक सत्य है और ज्ञेय अनादि वासनावासित चित्त का एक स्फुरण मात्र है। विज्ञान को व्यवहार के लिए ३ श्रेणियों में बांट रखा है—आलयविज्ञान, मनोविज्ञान एवम् प्रवृत्तिविज्ञान। आलय विज्ञान अन्य दो विज्ञानों का बीज है और कारणरूप से सभी धर्मों का आश्रय। उस के सन्तान से प्रवृत्त विज्ञानान्तर (नित्यात्म दृष्टि) जो मान मोह और राग द्वेष आदि क्लेशों से युक्त है वही बन्ध का हेतु है वही मनोविज्ञान है जिसे मन कहते हैं। सम्पूर्ण मानसिक भावनाओं की जिनकी शब्द, स्पर्श,रूप, रस, गन्ध और धर्म के रूप में प्रतीति होती है, यही प्रवृत्ति विज्ञान है।

विज्ञानवादी अपने ऊपर आये हुए इन आक्षेपों का कि ' जब बाह्य वस्तु मिथ्या है तो वह सब को जिस स्थान और जिस समय में रूप होता है उसी स्थान पर और उसी समय प्रतीत होता है अन्यथा नहीं, तथा जल आदि वस्तुओं द्वारा अभ्यवहार्यादि क्रिया से लोग तृप्ति का अनुभव करते हैं तो मिथ्या कैसे है?" उत्तर देते हैं कि स्वप्न में जिस प्रकार लोग मिथ्या जल से स्नानादि क्रिया करते हैं और अविद्यमान वस्तु के रूप से त्रस्त या प्रसन्न होते हैं वही स्थिति बाह्य वस्तु के विषय में भी है। बाह्य वस्तु स्वप्नवत् ही मिथ्या है सत् नहीं है। बाह्य पदार्थ विज्ञप्ति मात्र है।

इस प्रकार विज्ञप्ति मात्रता से स्वभावानुमान का उदय होता है जिस के दो पक्ष हैं, विज्ञान का अस्तित्व और विज्ञेय (बाह्य पदार्थ) का नास्तित्व। इन में से प्रथम पक्ष की स्थापना शून्यवाद के विरोध में और द्वितीय पक्ष की स्थापना वैभाषिक (सर्वा-(सर्वास्तिवादी) के विरोध में है। सर्वास्तिवादी कहते हैं कि विज्ञान के लिए बाह्य पदार्थ का अवलम्बन आवश्यक है, किन्तु इसका उत्तर विज्ञानवादी देते हैं कि स्वप्न में निरवलम्ब ज्ञान जिस प्रकार होता है वैसे ही जागृतदशा में भी होता है। विज्ञान इसलिए भी निरवलम्ब है कि बाह्य वस्तु आप के मत में क्षणिक है जो कि प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकते।

विज्ञानवाद में प्रत्यक्ष का लक्षण "अपरोक्षता,

अविकल्पता तथा अप्रान्तता किया है तथा वैभाषिकों ने "ततोऽर्थात् विज्ञानम् प्रत्यक्षम् ।" वैभाषिक वसुबन्धु के शिष्यों में स्थिरमति और दिंगनाग बड़े तार्किक हुए । स्थिरमति ने वसुबन्धु की 'त्रिशतिका' पर भाष्य लिखकर और "मध्यन्तविभंग" सूत्र पर टीका लिखकर न्यायशास्त्र की पूर्ण रूप से रूपरेखा तैयार की । आचार्य दिंगनाग तो तर्कविद्या के सूर्यही माने जाते हैं। इन्होंने प्रमाणसमुच्चय और न्यायप्रवेश इन दो ग्रन्थों को संस्कृत में रच कर न्यायजगत् का बहुत बड़ा उपकार किया है । इस के पश्चात् न्यायशास्त्र पर बौद्धों और बौद्धेत्तर विद्वानों द्वारा अनेक ग्रन्थ रचे गये ।

इसके बाद महर्षि अक्षपाद गौतम द्वारा प्रणीत न्यायसूत्र और कणाद द्वारा प्रणीत वैशेषिक सूत्र उनके मन्तव्यों का ज्वलन्त उदाहरण के रूप में प्रदर्शित किया गया है । इन दोनों का जन्म ई०पू० तृतीय शताब्दि और स्थान पूर्वोत्तरीय भारत है । अक्षपाद गौतम ने प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्तावयव, निर्णय,वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थानानाम् तत्वज्ञानात् निश्रेयसाधिगमः इस प्रकार सूत्रकी रचना कर यद्यपि न्यायशास्त्र का प्रयोजन तत्वज्ञान और उससे जायमान मोक्ष के लिए ही बताया है । किन्तु बाद से लेकर निग्रहस्थानान्त की रचना से यही प्रतीत होता है कि तत्कालीन प्रचलित बौद्ध धर्म के प्रवाह का अवरोध करना ही एकमात्र उद्देश्य था । इसी तरह वैशेषिकों ने भी सामान्य और विशेष पदार्थ पर जोर देकर सत्ता नामक पदार्थ को स्वीकार किया है, जिसे नित्य अपरिवर्तनीय और द्रव्यगुणकर्मानुवर्तिनी माना है । उसके मानने का एकमात्र यही उद्देश्य था कि किसी एक अपरिवर्तनीय तत्त्व को सिद्धान्ततः स्वीकार किया जाय, क्योंकि इसके पूर्व बौद्धों ने तथा जैन धर्मावलम्बियों ने किसी पदार्थ को सत्तावान नहीं माना था । जैनियों ने तो इसका उपहास करते कहा है "सत्तामपिस्यात् क्वचिदेव सत्ता" अर्थात् सत् में कहीं ही सत्ता रहती है, सर्वत्र नहीं । यह कैसी विडम्बना है। बौद्धों ने तो सब को क्षणिक मानकर सविकल्पक प्रत्यक्ष मानने से सर्वथा इन्कार ही कर दिया है। अतः उसे सत्ता या जाति मानने का कोई प्रयोजन ही नहीं है, क्योंकि जाति का प्रयोजन और लक्षण होने के कारण विकल्प (नामरूप) काल्पनिक है । इन्हीं के विरोध में कणाद मुनि ने जाति की सत्ता स्वीकार की । पश्चात् न्याय और वैशेषिक दोनों ने मिलकर समन्वयात्मक पद्धति से संगठित हो कर बौद्धों के मतों का निराकरण करने के लिए अवयवी की कल्पना जातिवाद परमाणुवाद सविकल्पक प्रत्यक्ष आदि कई मन्तव्यों की स्थापना की ।

इतने से भी बौद्ध धर्म को परास्त होते हुए न देख कर कतिपय उच्च कोटि के विद्वानों ने जैसे उद्योतकर ने न्यायसूत्र पर न्यायवार्तिक नाम की टीका और वाचस्पतिमिश्र ने न्यायवार्तिक की तात्पर्य नामक टीका लिखी । जयन्तभट्ट ने न्यायमंजरी नामक न्यायसूत्र पर टीका लिख कर चार्वाक, बौद्ध, मीमान्सा और वेदान्त का खण्डन किया है । उदयनाचार्य ने तात्पर्य टीका की तात्पर्य परिशुद्धि नामक सुन्दर व्याख्या के अतिरिक्त आत्म-तत्वविवेक (बौद्ध धिक्कार) एवं न्याय कुसुमाञ्जलि नामक मौलिक ग्रन्थों की रचना की है। आत्मतत्वविवेक में क्षणभंगवाद एवं शून्यवाद का खण्डन करके न्यायसम्मत आत्मतत्व का यथार्थ निरूपण किया गया है। न्यायकुसुमाञ्जलि में तो सांख्यादि एवं बौद्धादि द्वारा ईश्वर सत्ता के न मानने का निषेध प्रमाणों द्वारा बड़ा ही मार्मिक विवेचना से किया है ।

इन सब विद्वानों के अतिरिक्त १२वीं शताब्दि में गंगेश नामक उद्भट नैयायिक रत्न का आविर्भाव हुआ । इन्होंने ही परिष्कार का आविर्भाव किया है ।

इनका ग्रंथ तत्वचिन्तामणिनिष्कर्ष के रूप में माना जाता है।

किन्तु प्रमाणशास्त्र का (अवच्छेदकावछिन्न रूप में) इतना प्रचार हुआ कि उस समय लोग वेद शास्त्रादि सच्छात्र जो कि मनुष्य जीवन के लक्ष्य हैं, उनका परित्याग कर नव्य न्याय के अध्ययन में संलग्न हो गये। वेदशास्त्रादि से विमुख होने के कारण अनेक कुरीतियों का जैसे तान्त्रिक पद्धति (वाममार्ग) का आविर्भाव हुआ। जिससे बौद्धों की भांति इनसे भी लोग घृणा करने लगे। इसी पद्धति के कारण और नैयायिकों द्वारा आविष्कृत नवीन परिष्कृत शैली के द्वारा बौद्धों का धीरे २ भारत में हतप्रभ होना प्रारम्भ हो गया था। जिसका बचाखुचा अवशेष कुमारिलभट्ट, गौड़पाद, गोविन्दपाद, शंकराचार्य एवं उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य आदि विद्वानों ने नष्ट कर दिया।

जैसे वेद ज्ञान को कहते हैं। उसका अन्त (चरम सीमा) अर्थात् ज्ञान की पराकाष्ठा को वेदान्त कहते हैं। अथवा वेद से वैदिक साहित्य लिया जाता है। उसका अन्त उपनिषद् है, अतः उपनिषद् को ही वेदान्त कहते हैं। इस बात की पुष्टि शंकराचार्य जी ने भी अपने ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में की है। "वेदान्तोनाम उपनिषद् प्रमाणम्"। अर्थात् जो वाद उपनिषद् से प्रमाणित हो वह वेदान्त है।

यह सभी जानते हैं कि वेद अति प्राचीन है और तदनुसार उपनिषद् भी। वेद का अध्ययन सदा से विद्वानों ने किया है। बुद्ध या इनके शिष्योपशिष्य जितने उच्च कोटि के विद्वान् थे वे सब वेद के परम मर्मज्ञ थे। केवल सामाजिक परिस्थितियों को सुधारने के लिए वेद के नाम पर मिथ्या प्रवाहित अनर्गल प्रवृत्तियों को नष्ट करने के लिए कारण विशेष से उन लोगों ने वेद का नाम लेकर किसी प्रामाणिक बात का उद्धरण नहीं करते थे। किन्तु जो कुछ भी वे कहते थे, मन्तव्य अवैदिक नहीं होते थे, अतएव ब्रह्मसूत्र वादरायणकृत एवं मीमांसा सूत्र जैमिनीकृत ग्रंथों में शून्यवाद आदि नामों का उल्लेख पूर्व पक्ष में कर के निराकरण किया गया है उससे यह भ्रान्ति सर्वथा दूर हो जाती है कि ब्रह्मसूत्र की रचना ई० चतुर्थ शताब्दि के बाद की है। इन लोगों का समय ई० पू० चतुर्थ शताब्दि है। इन लोगों ने बुद्ध द्वारा माने हुए सिद्धान्तों का ही निराकरण किया है। तत्कालीन प्रचलित अन्य आचार्यों के मतों का भी। न कि नागार्जुन प्रभृति द्वारा संस्थापित मतों का। यही सब बातें इस प्रकरण में दिखाई गयी हैं।

शंकराचार्य जी अद्वैत वेदान्त का प्रवर्तन करते हुए अन्य भक्तिवाद के मानने वाले सम्प्रदायों से साठगांठ करके भारत के कोने २ में भक्तिवाद का नगाड़ा बजाया। जोशीमठ, शृङ्गेरीमठ, शारदा मठ, कांचीमठ एवं जगन्नाथपुरी में मठ की स्थापना करके शिव की पूजा का विशेष प्रचार किया। जिससे शिवभक्ति के साथ२ ज्ञान वैराग को जीवित रखने के लिए दार्शनिक सिद्धान्तों से परिपूर्ण शिवपुराण, देवीपुराण, विष्णुपुराण, पद्मपुराण, स्कंध पुराण, आदि अनेक पुराणों की रचनायें हुईं। भक्तिमार्ग को खूब फैलाया जिससे समाज में अत्यन्त अकर्मण्यता फैलती जा रही है। उन्होंने भक्तिमार्ग का प्रसार, अपने ऊपर आए हुए इस आक्षेप का कि अद्वैतमत प्रच्छन्न बौद्ध है निराकरण करने के लिए, किया। अन्यथा अद्वैतवाद शून्यवाद से अभिन्न होने के कारण इनकी भी गणना बौद्धभिक्षुओं में हो जाती।

शून्यवादियों की मान्यता संसार के तत्वों को अनेक वार और अनेक प्रकार से परीक्षण करने के

पश्चात् यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से संसार की सत्ता का अनभव साधारण या पृथकजनों को जो होता है वह, परमार्थतः नहीं है। अपितु अविद्या (अज्ञान) जन्य संस्कारमूलक ही है। परमार्थतः विचार करने पर सब शून्य शान्त निर्विकल्प अवर्णनीय अद्वैत तत्व है, वही निर्वाण है। शून्य अभाव नहीं है। शून्यता प्रतीत्य समुत्पाद है जो कि शून्य का स्वभाव है। जगत प्रतीत्य समुत्पाद से व्यावहारिक बना है। ज्ञान से अविद्या (अज्ञान) का विनाश हो जानृ पर समस्त व्यवहार शून्य में पर्यवसित हो जाते हैं।

अद्वैन्त वेदान्त की मान्यता यह है कि जगत् माया का प्रपञ्च है। परमार्थतः एक ब्रह्म सत् है जो कि अद्वैत नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला है। इस प्रकार व्यावहारिक सत् जगत् तथा परमार्थिक सत् ब्रह्म है। जगत ब्रह्म का विवर्त है। विवर्त अतात्विक प्रतीति का नाम है। जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति।

शंकराचार्य ने भी नागार्जुन की भांति सांख्य द्वारा कथित प्रकृतिवाद (या विकारवाद) तात्विक प्रतीति (जैसे दुग्ध का परिणाम दधि) परमाणुवाद (वैशेषिक मत) ईश्वर वाद (जगत् का कर्ता ईश्वर है यह नैयायिक मत) स्वभाववाद (सौत्रान्तिक और वैभाषिक बौद्ध मत) एवं असत् वाद (असत कारण वादी नैयायिक मत) का व्यतिरेक पद्धति से खण्डन किया है, एवं उत्पत्ति से पूर्व ही वस्तुओं की सत्ता मानकर गीता के इस मत की (न जायते म्रियते वा कदाचित् नाऽयं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः। न हन्यते हन्यमाने शरीरे) पुष्टि की है। इतना ही नहीं अपितुअर्जुन से यह भी कहा है कि क्या आप समझते हैं कि तुम और ये राजवर्ग पूर्व में नहीं थे और भविष्य में नहीं होंगे। अपितु पूर्व में थे, हैं और होंगे, इस बात की पुष्टि करते हुए शंकराचार्य जी ने प्रकारान्त से सारे तत्वों को अनुत्पन्न और अविनाशी माना है। यही कारण है कि शंकर के परवर्ती विशिष्टाद्वैतवादी प्रभृति सभी आचार्यों ने स्वयं तो शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा ही और पुराण ग्रन्थों द्वारा भी कहलवाया कि शंकराचार्य जी शिव का अवतार रूप में मायावाद नामक असत् शास्त्र का निर्माण जगत् के नाश के लिए किया है। "मायावादमसच्छास्त्रम् प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते मयैव कथितं देवि जगतां नाश कारणम्"

(पद्म पुराण भा० ५ पृष्ठ ८१६)।

केवल शंकराचार्य ही नहीं अपितु इनके परम गुरु गौडपाद को भी ओंकार की तुरीय मात्रा को परमतत्त्व मानने के कारण प्रच्छन्न बौद्ध कहा जाय तो कोई हानि नहीं, क्योंकि ओंकार में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत इन्ही तीन मात्राओं के प्रतीक अ उ म ये तीन वर्ण हैं। इसके अतिरिक्त यदि वे तुरीय मात्रा अव्यवहार्य अनिर्देश्य, अव्यपदेश्य आदि नामों से किसी तत्व का प्रतिपादन करते हैं तो शून्यवाद से उनका पार्थक्य कथमपि नहीं।

जनता का व्यवहार साम्य भी बताता है कि शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध थे। जिस प्रकार माध्यमिक के परमार्थ तत्व अत्यन्त दुरवगाह और दुखबोध होने के कारण उउकी प्रतिक्रियास्वरूप विज्ञानवाद का उदय हुआ कि एक क्षणिक मात्र सत् है और अन्य सब मिथ्या तो लोगों को कुछ समझाने का आधार मिला, उसी तरह शंकराचार्य ने अक्षणिक विज्ञानमात्र को सत् माना तो फिर लोगों की समझ में तत्व दुरवगाह हो गया तो मायावाद के द्वारा जगत की व्याख्या करने का प्रयत्न शंकराचार्य जी ने किया।

इसी तरह जिस प्रकार महायानी बौद्ध माध्यमिक लोग बुद्ध को लोकोत्तर मानकर प्रज्ञा पारमिता द्वारा उनकी प्रतिमा के सामने आत्मसमर्पण करते हैं उसी तरह वैदिक मतानुयायी विद्वद्वर्ग शंकराचार्य जी को भगवान् शंकर का अवतार मानकर शंकरपूजा का अद्भुत फल बताता है।

इस प्रकार दोनों का अनेकधा साम्य होने से अब तक लोग शंकराचार्य द्वारा प्रणीत अद्वैत वेदान्त को योगाचार या विज्ञानवाद से साम्य और वैषम्य बताकर तुलना करते आए हैं और कहते थे कि यदि क्षणिक विज्ञानवाद से क्षणिक शब्द निकाल दिया जाय तो अद्वैत वेदान्त और विज्ञानवाद में कुछ अन्तर नहीं रह जाता। किन्तु मेरा नवीन अन्वेषण यह है कि शंकराचार्य जी ने शून्य स्थानीय ब्रह्म और शून्यता स्थानीय माया को मान कर माध्यमिकों की ही भांति व्याख्या के लिए सम्वृत सत्य तथा परमार्थ सत्य इन दो सत्यों को अपनाया है। सम्वृत सत्य में भी यथार्थ सम्वृति एवं मिथ्या सम्वृति शून्यवादियों की तरह ही इन्होंने भी व्यवहार कोटि में प्रदर्शित किया है। जिस प्रकार शून्यवादी निर्वाण को अनुत्पाद्य अव्यवहार्य और शून्य की ही भांति सत् शाश्वत मानते हैं उसी तरह शंकराचार्य जी ने भी ब्रह्म-ज्ञान को ही मोक्ष अनुत्पाद्य ब्रह्म की भांति नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव एवं अक्रियाज माना है। नागार्जुन ने जिस प्रकार निर्वाण प्राप्त होने पर कुछ कहना सुनना बन्द कर दिया है "निवृत्तमभिधातव्यम् निवृत्तेचित्तगोचरे" (माध्यमिक कारिका) उसी तरह शंकर ने भी ब्रह्म एवं मोक्ष को अवाङमनोगोचर बताया है। जिस प्रकार नागार्जुन की शून्यता सत् असत् सदसत् न सत् न असत् इन चार कोटियों से भिन्न अनिर्वचनीय है उसी तरह शंकराचार्य जी ने भी अपनी माया को बताया है। इन बातों के साम्य होने से हम शंकराचार्य जी को माध्यमिक बौद्ध मानने को पूर्ण विवश हैं। यही इस प्रबन्ध की नई खोज है।
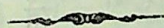
# शरीर पर अग्निदग्ध का प्रभाव

श्री मंगलाप्रसाद बरनवाल

तप्त ठोस पदार्थ या अग्निज्वाला से जले को बर्न कहते हैं। यह रूक्ष दग्ध है। संतप्त जल, या संतप्त तैल आदि द्रव पदार्थों या उष्ण वाष्प से जलने को स्कैल्ड या द्रवदग्ध या स्नेहदग्ध कहते हैं।

इसके अतिरिक्त केमिकल्स, अल्ट्रावायलेट किरण, एक्सकिरण आदि से भी दग्धव्रण होता है। जलने का प्रभाव न केवल शरीर के पूरे बाहरी भाग पर ही पड़ता है, अपितु आन्तरिक अंगों जैसे श्वासप्रणाली आदि में भी दग्धव्रण हो सकता है।

आयुर्वेद में दग्ध (बर्न) का वर्णन विशेष विस्तार से नहीं किया गया है। सुश्रुत सूत्र स्थान बारहवें अध्याय में जहां अग्निकर्म द्वारा चिकित्सा का वर्णन है, वहीं अग्निकर्म के उपद्रव स्वरूप होने वाले शरीर धातुओं पर इसके प्रभावों का वर्णन करते हुए उसकी उचित चिकित्सा का भी वर्णन किया गया है। सुश्रुत ने बर्न को प्रमाददग्ध या इतरथादग्ध संज्ञा दी है।

"तत्र, प्लुष्टं दुर्दग्धं सम्यग्दग्धमतिदग्धञ्चेति चतुर्विधमग्निदग्धम्।
तत्र यद्विवर्णं प्लुष्यतेऽतिमात्रं तत् प्लुष्टम्।
यत्रोत्तिष्ठन्ति स्फोटास्तीव्राश्चोष दाह राग-पाकवेदनाश्चिराच्चोप शाम्यन्ति तद् दुर्दग्धम्।
सम्यग्दग्धमनवगाढं ताल फलवर्णं सुसंस्थितं पूर्वलक्षणमुक्तश्च।
अति दग्धे मांसावलम्बनं गात्र विश्लेषसिरा स्नायु सन्ध्यस्थिव्यापादनमति मात्रं ज्वर दाह पिपासा मूर्च्छाश्चोपद्रवा भवन्ति।"

(सु. सू. अ. १२-१६)

पाश्चात्य विद्वान् इसको छह अवस्थाओं में बांटते हैं।

प्रथमावस्था——अल्प तप्त पिण्ड का स्पर्श या क्वथनांक से अल्प तप्त द्रव का स्पर्श जब क्षण भर के लिए शरीर से होता है तब यह अवस्था पैदा होती है। इस अवस्था में रक्ताधिक्य हो कर त्वचा लाल, विवर्ण तथा अल्प शोफयुक्त हो जाती है, किन्तु पूरी तरह जलती नहीं है। ये लक्षण कुछ ही घंटे में स्वतः समाप्त भी हो जाते हैं।

लक्षणों के आधार पर आयुर्वेद मत से इस अवस्था को प्लुष्ट कह सकते हैं।

द्वितीयावस्था——त्वचा तथा ऊपरीपर्त (क्यूटिकल) में लसिका संचित हो जाने से त्वचा पर स्फोट बन जाते हैं, तब यह अवस्था होती है। दग्ध क्षेत्र के रोम जल जाते हैं। त्वचा काली पड़ जाती है। आयुर्वेद मत से इस अवस्था को दुर्दग्ध माना जा सकता है।

तृतीयावस्था——इस अवस्था में त्वचा, ऊपरी पर्त (क्यूटिकल) तथा त्वचा का स्वल्प भाग नष्ट हो जाता है। किन्तु स्पर्शांकुर (पैपिल्ली), स्वेद ग्रन्थियां, रोमकूप, तैलग्रन्थियां आदि नष्ट होने से बचे रहते हैं। व्यक्ति को तीव्र वेदना होती है।

चतुर्थावस्था——इस अवस्था में सम्पूर्ण त्वचा तथा उपत्वचा का भी कुछ भाग नष्ट हो जाता है।

पंचमावस्था——इस अवस्था में त्वचा, उपत्वचा तथा पेशियों तक के भाग जल जाते हैं।

षष्ठ अवस्था——इस अवस्था में अग्निदग्ध, शरीर की त्वचा, उपत्वचा, पेशी, सिरा, संधि तथा अस्थियों तक पहुंच जाता है। यह अवस्था घातक होती है।

आयुर्वेद मत से अन्तिम तीन अवस्थाओं को अतिदग्ध कह सकते हैं।

इन सभी अवस्थाओं के रोगियों को लक्षणों के

मध्य में खड़े हुए प्रथम प्रिन्सिपल स्वर्गीय डाक्टर राधाकृष्ण एम० बी० बी० एस० अपने परिवार के साथ

आधार पर चिकित्सक तीन भागों म विभक्त करते हैं—

१–दाहावस्था––यह अवस्था दग्ध का विस्तार तथा गहराई अधिक होने की है। दग्ध की गहराई की अपेक्षा विस्तृत क्षेत्रफल दग्ध होना अधिक भयानक होता है। क्योंकि इसमें (Shock) मूर्च्छा तथा हृदयगति अवरोध हो जाता है।

२–शोथावस्था––इस अवस्था में व्यक्ति की त्वचा, मांस, रक्त आदि धातुयें जल जाती हैं। ज्वर, दाह और तृषा ये विशेष लक्षण होते हैं। यदि जलन मर्मस्थानों में हो तो मस्तिष्कावरण शोथ, फुफ्फुसावरण शोथ, न्यूमोनिया आदि उपद्रव हो जाते हैं। दग्धव्रण में जीवाणुओं के उपसर्ग का भी भय रहता है।

३–रोपणावस्था––यदि शरीर में जीवाणुओं का उपसर्ग न हो तो यह अवस्था होती है, अन्यथा विसर्प, धनुस्तम्भ आदि उपद्रव होते हैं।

चिकित्सा के उद्देश्य से अग्निदग्ध के रोगियों को Artz (आर्ज) तथा Soroff (सोरफ) ने तीन भागों में विभक्त किया है।

(अ) वे रोगी जो कि अत्यन्त घातक रूप से जल गये हैं, और इसलिए जिनको अनुभवी चिकित्सक के पास तथा सम्पूर्ण साधनों से युक्त बड़े अस्पताल में भेजना आवश्यक होता है। इस विभाग में नीचे लिखे रोगी आते हैं—

(१) जिनकी श्वासप्रणाली भी प्रभावित हो

(२) ३० प्रतिशत से अधिक शरीर का भाग आंशिक गहराई तक जल गया हो

(३) चेहरा, हाथ, पैर, जननेन्द्रिय अथवा १० प्रतिशत से अधिक भाग पूरी गहराई तक जल गये हों।

(४) ऐसे अग्निदग्ध जिनमें कि उपद्रव स्वरूप अस्थिभग्न भी हो।

(५) विद्युतधारा से घातक रूप से प्रभावित व्यक्ति।

(ब) ऐसे रोगी जिनकी स्थिति कम घातक हो, तथा जिनकी चिकित्सा सामान्य चिकित्सालयों में की जा सके। इनमें निम्न लिखित रोगी आते हैं।

(१) आंशिक गहराई तक प्रभावित, १५ से ३० प्रतिशत भाग तक जले हुए रोगी।

(२) १० प्रतिशत से कम भाग पूर्ण गहराई तक जल गये हों, किन्तु हाथ, पैर, मुख, जननांग ये सुरक्षित हों।

(स) वे रोगी जो कि सामान्य रूप से जले हों, तथा जिनकी चिकित्सा बहिरंग चिकित्सालय के दैनिक रोगियों की तरह की जा सके। इसमें वे व्यक्ति आते हैं जिनके १५ प्रतिशत से कम भाग आंशिक गहराई तक जल गये हों।

दग्ध व्यक्तियों की घातकता दो बातों पर निर्भर करती है।

१–अग्निदग्ध से कितनी गहराई तक के टिशू प्रभावित हैं।

२–शरीर का कितना विस्तृत भाग जल गया है।

दग्ध स्थान के विस्तार की गणना करने के लिए एक सिद्धान्त बनाया गया है, जिसे 'नौ का नियम' (Rule of Nine) कहते हैं। इस नियम के अनुसार शरीर पूर्ण रूप से जल जाने पर १०० माना गया है। अब शरीर को कई भागों में बांट कर यह नियत किया गया है कि इस भाग के जल जाने पर उसे शरीर का प्रतिशत में कौन सा भाग अर्थात् कितने प्रतिशत भाग जला हुआ मानेंगे। शरीर के विभिन्न अंगों को जितना प्रतिशत भाग माना है वह निम्न प्रकार से है। यथा––

शिर को शरीर का ९ प्रतिशत भाग मानते हैं। इसी प्रकार एक हाथ पूरा जल जाने पर ९ प्रतिशत

और दूसरे हाथ का भी ६ प्रतिशत माना गया है। एक पैर के सामने का पूरा पृष्ठ ६ प्रतिशत तथा पीछे का पूरा भाग भी ६ प्रतिशत अर्थात् दोनों पैरों को १८-१८ प्रतिशत भाग माना गया है। जननांग को एक प्रतिशत तथा शेष धड़ का सामने का भाग १८ प्रतिशत और पीछे का भाग भी १८ प्रतिशत माना गया है।

उपरोक्त नियम की सहायता से दग्ध अंग का प्रतिशत निकाल कर रोगी की घातक अवस्था का अनुमान लगाते हैं।

## अग्निदग्ध से पीड़ित व्यक्ति की चिकित्सा

दग्ध व्यक्तियों की चिकित्सा करते समय कुछ बातों को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। जैसे—
Haematologic, Renal, Endocrine, Cardiodynamic, Toxic, Septic or Vitamins factors.

सर्व प्रथम जब जला हुआ व्यक्ति आये तो उसमें Shock की अवस्था देखनी चाहिए। इस अवस्था में रोगी की त्वचा ठंडी, नाड़ी दुर्बल क्षीण तथा तीव्र गतियुक्त, तापक्रम सामान्य से भी कम, तथा श्वास प्रश्वास अनियमित होता है। Shock की सही-सही प्रक्रिया तो अभी तक अज्ञात है। परन्तु ऐसा देखा गया है कि अधिक दर्द तथा भय से यह अवस्था उत्पन्न होती जाती है। प्रायः यह अवस्था कुछ क्षणों के लिए ही होती है।

ऐसी दशा में सबसे पहले रोगी को बिस्तरे पर आराम से लिटा देना चाहिए, और उसका सिर की तरफ का भाग कुछ नीचे झुका देना चाहिए। उसे स्पिरिट अमोनिया सुंघाना चाहिए।

**Haematologic Factors**—दग्ध व्रण के रोगी में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन उसके रक्त में होता है। यह परिवर्तन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में हो सकता है। अग्निदग्ध क्षेत्र तथा उसके आसपास की टिशू से प्लाज्मा का क्षय होने के कारण रक्त की घनता बढ़ जाती है। और रक्ताल्पता हो कर Haematogenic Shock हो जाता है। जब तक मनुष्य शरीर में से कुल प्लाज्मा (लगभग ३५०० मिली लीटर) का ३० प्रतिशत क्षय नहीं हो जाता तब तक क्षय का लक्षण दृष्टिगत नहीं होता। सामान्यतः गम्भीर रूप से दग्ध शरीर में से ५० प्रतिशत तक प्लाज्मा का क्षय थोड़े ही समय में हो जाता है। इसमें प्लाज्मा प्रोटीन की कमी, टिशू का टूटना, रक्तगत अम्लीयता बढ़ना आदि परिवर्तन होते हैं। ज्यों-ज्यों रक्त का क्षय होता है, रक्तचाप गिरता जाता है। रक्तगत प्रोटीन का सामञ्जस्य बिगड़ कर प्रोटीन की कमी होती जाती है। इससे दग्धस्थान के रोपण तथा त्वचासंधान में बाधा होती है। अतः प्रोटीन का सामान्य रक्तगत स्तर बनाये रखना बहुत आवश्यक होता है। दर्द को दूर करने के लिए कोई पीड़ा शामक औषधि 'मार्फिया' आदि देनी चाहिए।

रक्ताल्पता तथा रक्तगत प्लाज्मा प्रोटीन की कमी को दूर करने के लिए प्रायः सम्पूर्ण रक्त न देकर प्लाज्मा को दिया जाता है। इसके निम्नलिखित कारण हैं।

(१) प्लाज्मा हर समय प्रत्येक अस्पताल में तैयार उपलब्ध रहती है।

(२) एक ही व्यक्ति का रक्त सभी को नहीं दिया जा सकता। इसके लिए प्रत्येक मनुष्य का रक्त अलग-अलग तरह का होता है। किसी व्यक्ति को रक्त देने के लिए उसका रक्त तथा रक्त देने वाले व्यक्ति का रक्त इन दोनों का आपस में सामञ्जस्य होना अति आवश्यक होता है। किन्तु प्लाज्मा को

देने में इस तरह की किसी भी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता।

(३) जले मनुष्य में रक्तकणों की कमी होने की अपेक्षा प्रायः जलीयांश की ही कमी होती है।

परन्तु कभी-कभी अधिक रक्ताल्पता की अवस्था में सम्पूर्ण रक्त देना अधिक समीचीन तथा लाभकर होता है।

रक्त अथवा प्लाज्मा को देने में सबसे बड़ी कठिनाई उसकी अधिकतम आवश्यकता की अपेक्षा न्यूनतम आवश्यक मात्रा के निर्धारण में होती है। इसके लिए कई विधियां अपनाई जाती हैं—

(१) प्राथमिक चिकित्सा सूत्र—शरीर के प्रति १० प्रतिशत दग्ध भागों में ५०० मि०लीटर प्लाज्मा देनी चाहिए।

(२) शरीर के प्रति एक प्रतिशत भाग के जलने पर एक मिलीलीटर प्लाज्मा प्रति किलोग्राम रक्त के हिसाब से दे, किन्तु कुल मात्रा ४००० मिलीलीटर से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(३) मिलीलीटर में रक्त की मात्रा—

$$\frac{\text{कुल प्रतिशत दग्ध भाग} \times \text{भार}}{२}$$

इन विधियों से जो मात्रा प्राप्त होती है, वह चौबीस घन्टे की आवश्यकता को बताती है। इस तरह से प्राप्त मात्रा को छह बार में देनी चाहिए। तीन मात्रा पहले बारह घंटे में, दो मात्रा दूसरे बारह घंटे में, तथा अन्तिम छठी मात्रा तीसरे बारह घंटे में देनी चाहिए। यदि प्रोटीन की विशेष कमी हो तो छह ग्राम प्रति सौ मि०ली० के स्तर से कम प्रत्येक ग्राम सीरम प्रोटीन पर पच्चीस प्रतिशत प्लाज्मा और बढ़ा देना चाहिए।

सामान्य रूप से जो 'सम्पूर्ण रक्त' दिया जाता है उसकी मात्रा निम्नलिखित प्रकार देते हैं—

(क) १० से २५ प्रतिशत के दग्ध रोगी में बारह घंटे में तीन मात्रा प्लाज्मा की देने के बाद दूसरे बारह घंटे में एक मात्रा रक्त तथा एक मात्रा प्लाज्मा और तीसरे बारह घंटे में एक मात्रा प्लाज्मा दे।

(ख) २५ से ५० प्रतिशत दग्ध व्यक्ति को दूसरी और छठीं मात्रा रक्त की देनी चाहिए।

नवीनतम खोजों के अनुसार Shock की अवस्था में मानव एल्ब्यूमिन अधिक लाभप्रद पायी गयी है। इसे एथिल अल्कोहल में प्लाज्माप्रोटीन के कुछ भागों को अवक्षिप्त कर के प्राप्त करते हैं।

**Renal factors**—दग्ध के रक्त में एरीथ्रोसाइट के टूटने से तथा वृक्क की क्रिया बिगड़ जाने से उसके मूत्र में हीमोग्लोबीन आने लगती है। मूत्र की मात्रा भी वृक्क द्वारा कम विस्रावण होने से अल्प हो जाती है। अतः रक्त और प्लाज्मा के अतिरिक्त दग्धावस्था में मुख से भी द्रव देना चाहिए। एक लीटर द्रव में तीन ग्राम सोडियम क्लोराइड तथा १.५ ग्राम सोडियम बाईकार्बोनेट मिलाकर देने से रोगी की जलीयांश की आवश्यकता भी पूरी होगी और मेटाबोलिक अम्लीयता भी ठीक रहेगी। यदि रोगी इस घोल को पीने में असमर्थ हो तो इसे या सोडियम लक्टेट घोल को बूंद-बूंद करके स्टोमक ट्यूब से देना चाहिए। आवश्यकता होने पर सोडियम लक्टेट को सिरा द्वारा भी दिया जा सकता है। यदि प्रति घंटे मूत्र ३० मि०ली० से कम आ रहा हो तो उसे और द्रव देना चाहिए।

**Endocrine factor**—पहले विश्वास था कि अग्निदग्ध की चिकित्सा में ए. सी. टी. एच. महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। परन्तु देखा गया है कि कार्टिसोन के प्रयोग से रोगी की संक्रमण प्रतिरोधक शारीरिक शक्ति क्षीण हो

जाती है। अतः जब तक एड्रीनल की क्रियाहीनता न मालूम हो, इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

Cardio ynamic factors—गम्भीर दग्ध में जलीयांश की कमी होने तथा रक्ताल्पता होने से रक्तचाप गिर जाता है। नाड़ी दुर्बल तथा तीव्र गति से चलने लगती है। किन्तु जब तक अन्य लक्षण न हों मूर्च्छा की अवस्था नहीं होती।

Toxic factors—दग्ध रोगी में जो विषाक्त परिवर्तन होते हैं उसके बारे में मतभेद है। अधिकांश का मत है कि यह परिवर्तन किसी बैक्टीरिया के संक्रमण से होता है। जब चिकित्सा के लिए टैनिक अम्ल का प्रयोग करते हैं, तो उससे प्रोटीन अवक्षिप्त होती है तथा त्वचा और उसके नीचे स्थित अन्य टिशू नष्ट होने लगते हैं। यकृत में विकार हो जाता है। बोरिक मलहर को जले स्थानों पर लगाने से केन्द्रीय नाड़ी संस्थान में विकृत परिवर्तन हो सकते हैं। अभिप्राय यह है कि सिर्फ जलने मात्र का ही शरीर पर कोई भी विषाक्त प्रभाव नहीं मिलता।

Infection — दग्ध स्थान पर जीवाणु संक्रमण का बहुत अधिक भय रहता है। गम्भीर रूप से दग्ध में यदि जीवाणुओं का संक्रमण हो जाय तो फिर उसको बचाना अत्यन्त ही कठिन होता है। अतः रोगी को जीवाणुनाशक औषधियां देनी चाहियें। इसके लिए पेन्सिलीन या ब्राडस्पेक्ट्रम एण्टीबायोटिक औषधियां, जैसे, टेट्रासाइक्लीन आदि का प्रयोग शीघ्रातिशीघ्र शुरू कर देना चाहिए।

Vitamines — गंभीर रूप से जल गये व्यक्ति के नाइट्रोजन मेटाबोलिज्म तथा कुछ विटामीन के मेटाबोलिज्म में परिवर्तन हो जाता है। जिस अनुपात से नाइट्रोजन मेटाबोलिज्म बिगड़ता है, उसी अनुपात से एस्कोर्बिक एसिड, थायामीन, रिबोफ्लेविन तथा निकोटिनामाइड के मेटाबोलिज्म में भी अंतर पड़ जाता है। अतः इन सभी विटामीन को भी प्रचुर मात्रा में देना चाहिए।

### स्थानीय चिकित्सा

प्रथम डिग्री बर्न—यह अवस्था मुख्यतः तीव्र सूर्य की किरणों, अल्ट्रावायलेट किरणों, अथवा अधिक गर्म द्रव्य के स्पर्श से पैदा होती है। इस में टिशू विनाश कम होता है। परन्तु एरिथीमा के कारण कैपिलरी फैल जाती हैं, जिससे कुछ शोथ हो जाता है। इस अवस्था में मुख्य रूप से दर्द की ही चिकित्सा की जाती है। स्थानीय प्रयोग के लिए एथिलएमीनोबेन्जोएट या इस तरह की किसी भी सुदिंग मलहर का प्रयोग करने से लाभ मिलता है। यदि दग्ध कुछ अधिक हो तो दर्द, हृल्लास, उत्क्लेश, वमन, ज्वर, शिरःशूल, कंपकंपी आदि लक्षण हो सकते हैं। किन्तु ये सभी कुछ ही देर के लिए होते हैं। किसी भी ज्वरनाशक तथा दर्दनाशक औषधि को देने से ये सभी लक्षण समाप्त हो जाते हैं।

द्वितीय डिग्री बर्न—इस अवस्था में त्वचा आदि जल जाती हैं। उचित ढंग से चिकित्सा करने पर त्वचासंधान कर्म की आवश्यकता नहीं होती, और जितनी गहराई तक त्वचा जली है उसके नीचे स्थित रोमकूपों के सेल, स्वेद ग्रन्थियों से इपीथीलियल स्तर बनने लगती है।

जले स्थान को Zephiram या Cetramide Chlorhexydine या सेलाइन के घोल से धीरे-धीरे साफ करके वहां की नष्ट हो गयी त्वचा, मृतटिशू तथा अन्य अनावश्यक पदार्थों कोहटादेना चाहिए। क्योंकि इनसे जीवाणुसंक्रमण की संभावना बढ़ जाती है। किन्तु दग्धस्थान को कभी भी रगड़ना नहीं चाहिए।

कुछ डाक्टर फफोलों को भी फोड़कर साफ कर देने की सलाह देते हैं। जले स्थानों के साफ हो

जाने के पश्चात् उसकी चिकित्सा दो विभिन्न पद्धतियों से करते हैं। इनका प्रयोग जले स्थान के विस्तार तथा घातकता को देख कर करते हैं।

विधियां—(१) Exposure method

(२) Occlusive dressing

अन्तर

**Occlusive dresing**

(१) किसी भी स्थान के जलने पर इसका प्रयोग कर सकते हैं।

(२) हाथ, पैर अथवा किसी अंग के दोनों तरफ से जल जाने पर इसे प्रयोग करते हैं।

(३) साफ्ट टिशू व्रण की अवस्था में इसका प्रयोग करते हैं।

(४) जीवाणु संक्रमण जल्दी नहीं होता।

(५) इसमें जले अंग को एक ही स्थिति में स्थिर कर देते हैं, जिससे हिल डुल न सके।

(६) इस ड्रेसिंग के बाद रोगी बहुत ही आराम अनुभव करता है।

(७) अधिक जल गये रोगी की पट्टी बदलने के लिए डाक्टर की ही आवश्यकता होती है।

(८) पट्टी बदलने के लिए संज्ञाहरण की भी आवश्यकता पड़ सकती है।

**Exposure method**

(१) कुछ विशेष स्थानों के जलने पर वहां इसका प्रयोग करना कठिन होता है।

(२) चेहरा, पेरीनियम तथा शरीर के किसी भाग के सिर्फ एक तरफ जलने पर इसका प्रयोग करते हैं।

(३) साफ्ट टिशू व्रण की अवस्था में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(४) अपेक्षाकृत जल्दी जीवाणुसंक्रमण हो सकता है

(५) इस विधि में अंगों को हिलने डुलने से रोका नहीं जा सकता।

(६) इस विधि के प्रयोग करने के पहले दो एक दिन दर्द तथा हल्की सी चुनचुनाहट होती है।

(७) सामान्य नर्सिंग सहायता से काम चल जाता है।

(८) इस विधि में प्रायः संज्ञाहरण नहीं करना पड़ता।

उपरोक्त बातों को ध्यान में रखते हुए जो भी विधि उचित हो उसका प्रयोग करना चाहिए।

**Exposure Method** — सर्वप्रथम जले स्थानों को सावधानीपूर्वक साफ करके रोगी को किसी आरामदायक बिस्तर पर उसके दग्ध स्थान को ऊपर, खुला, रखते हुए लिटा दें। उसके फफोलों को फोड़ कर अवांछित स्राव तथा नष्ट त्वचा आदि को हटा कर किसी सेलाइन घोल या घृतकुमारी के गूदे को पीसकर उससे अथवा जात्यादि तैल की ड्रेसिंग कर देनी चाहिए।

**Occlusive Dressing** — दग्धस्थान को साफ करने के बाद पट्टी बांधते हैं, जो तीन पर्तों की होती है। सामान्यतः किसी स्थानीय लेप आदि का प्रयोग नहीं करते। किन्तु अधिक दग्ध की अवस्था में Petrolatum, Bacitrocine, Chlorhexydine or Paraffin को गाज में लगा कर पट्टी के प्रथम स्तर के रूप में दग्ध स्थानों पर लगा देते हैं। इसके उपर दूसरी पर्त के रूप में सामान्य काटनगाज लगाते हैं। तीसरे पर्त के रूप में इसके ऊपर से अवशोषक विसंक्रमित ऊन आदि की पट्टी लगा कर बांध देते हैं। इस पट्टी को सामान्य रूप से तीसरे और दसवें दिन बदलना चाहिए। किन्तु यदि दग्ध स्थान से पूयमिश्रित स्राव होने लगे, अथवा ज्वर आदि हो

जाय तो पट्टी को बीच में ही बदल सकते हैं। पट्टी बदलने के लिए जहां तक हो सके पूर्ण संज्ञा हरण की अपेक्षा दर्दनाशक या निद्राकारक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। पट्टी बांधते समय हाथ तथा पैर को बिल्कुल सीधा फैला हुआ रखे।

तृतीय डिग्री बर्न—इस अवस्था में इपीथीलियम, रोमकूप, स्वेदग्रन्थियां आदि सभी नष्ट हो जाते हैं। जिससे कि इसमें रोपण कार्य धीरे-धीरे विलम्ब से होता है। इस अवस्था का कोई बर्न यदि कुछ ही सेन्टीमीटर क्षेत्र तक सीमित हो तथा जले हुए कुल छः से दस घंटे ही हुए हों तो उसकी चिकित्सा एक सामान्य व्रण की तरह करनी चाहिए। दग्ध स्थान को अधिक से अधिक विश्राम देने का प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही एण्टीबायोटिक भी दें। इससे व्रण 'रोपण की प्रथम पद्धति' (Healing by first Intention) से भर जाता है।

इसमें यदि अधिक भाग जल गया हो तो दूसरे स्थान से त्वचा लेकर वहां पर संधान कर्म करना आवश्यक होता है। अतः इस अवस्था का द्वितीय डिग्री बर्न से भेद करना आवश्यक होता है। इसके लिए क्लीनिकल टेस्ट करते हैं।

क्लीनिकल टेस्ट—२० प्रतिशत सोडियम फ्लूरेसीन का दस मि०लि० घोल लेकर दग्ध व्यक्ति की सिरा में देकर, जले स्थान को अल्ट्रावायलेट प्रकाश में देखें।

फ्लूरेसीन तेजी से फैलता है,जिससे प्रथम डिग्री बर्न का क्षेत्र पीला हो जाता है। दूसरे डिग्री के बर्न में दग्ध स्थान कुछ कालापन लिए हुए पीला हो जाता है। तृतीय डिग्री बर्न में औषधि न पहुंच पाने के कारण दग्ध स्थान काला पड़ जाता है।

नष्ट हो गये टिशू को शेष टिशू से अलग करने के लिए पाइरुविक अम्ल ( pH १.६) को दग्ध स्थान पर कुछ दिन लगाना चाहिए। इससे शीघ्र ही मृतप्राय टिशू अलग हो जाते हैं। जिससे त्वचा-संधान कर्म जल्दी किया जा सकता है।

दग्ध स्थान पर संधान कर्म के लिए उन सभी जगहों से त्वचा ले सकते हैं, जहां से मिल सकते हों। किन्तु यदि व्यक्ति का अधिक भाग, विशेषकर, वे स्थान भी जहां से त्वचा लेते हैं, जल गये हों तो दूसरे व्यक्ति की त्वचा लेनी चाहिए। संधान कर्म के लिए त्वचा मृत व्यक्ति से भी ले सकते हैं। किसी स्वस्थ व्यक्ति के मरने पर छह घंटे बाद तक उसकी त्वचा विसंक्रमित करके ली जा सकती है। यदि इसे ४ सेंटीग्रेट ताप पर सुरक्षित रखें तो यह नौ दिन तक प्रयोग में लाई जा सकती है।

जल चिकित्सा—

दग्ध व्यक्ति की चिकित्सा कुछ लोग सिर्फ जल द्वारा ही करते हैं। इन चिकित्सकों का दावा है कि इस विधि से किसी भी अवस्था के दग्ध व्यक्ति को बिना किसी तरह की हानि पहुंचाये अपेक्षाकृत शीघ्र अच्छा किया जा सकता है।

परीक्षणों से देखा भी गया है कि जलने के तुरन्त बाद जो अंग पानी में डुबो दिये गये और उसी में रखे गये, उनमें बड़ी ही शीघ्रता से दर्द, स्राव आदि हट गये और रोपण भी हो गया।

आयुर्वेदीय चिकित्सा—

जैसा कि पहले ही बताया गया है शरीर धातुओं पर अग्निदग्ध कर्म से होने वाले अवांछित प्रभावों को चार भागों में बांट कर आचार्य सुश्रुत ने सभी की पृथक-पृथक चिकित्सा लिखी है।

प्लुष्ट की अवस्था में जले हुए स्थान की सेकाई करनी चाहिए। और बाह्य लेप के रूप में तथा आभ्यन्तरिक पान के लिए भी उष्ण गुण की औषधियों का ही प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि प्लुष्ट अवस्था में रक्त गाढ़ा हो जाता है। शीतल क्रिया से रक्त का स्कन्दन अधिक

बढ़ेगा ही। अतः शीतल जल या शीतल पदार्थों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

अष्टाङ्गसंग्रहकार ने भी उष्ण उपचार का ही निर्देश किया है।

दुर्दग्ध की अवस्था में शीत तथा उष्ण दोनों ही चिकित्सा करने को कहा गया है। किन्तु घृत, आलेप और सेक इनका उपयोग शीतल रूप में ही करने को कहा है। अतिशय दाह हो तो शीतल क्रिया करें, यदि अधिक दाह नहीं हो तो उष्ण क्रिया करें।

सम्यग्दग्ध की अवस्था में जब दाह अधिक होता है, तब पित्तविद्रधि की तरह उसकी चिकित्सा करनी चाहिए। सामान्यतया वंशलोचन, पिलखन, लालचन्दन, गेरू, गिलोय—इनको घृत में मिलाकर सम्यग्दग्ध व्रण में आलेप करें।

अतिदग्ध की अवस्था में दग्ध मांस आदि को निकाल कर पहले शीतल उपचार करना चाहिए। फिर उस पर लेप कर देना चाहिए। फिर व्रण को गिलोयपत्र या कमलपत्र से ढक दें।

सभी प्रकार के अग्निदग्ध में निम्नलिखित प्रयोग लाभप्रद पाये गये हैं।

सुश्रुत में वर्णित घृत—मोम, मुलेठी, लोध्र, राल, मजीठ, रक्त चन्दन और मूर्वा इन सभी को जल में पीस कर कल्क बना लें। फिर इसका चार गुना घृत और सोलह गुना जल मिला कर घृतावशेष पाक कर के रख लें। फिर प्रयोग करें।

अथवा केवल घृतकुमारी का गूदा निकालकर उसे छोटे-छोटे टुकड़ों में काट कर जरा सा घोट दें। ये दोनों सभी प्रकार के अग्निदग्ध में उत्तम रोपण कर्म करते हैं।

अथवा जात्यादि तैल, पानी में नमक का घोल, या सर्जिकक्षार (सोडाबाई कार्ब) को पानी में घोल कर भी स्थानीय प्रयोग में ला सकते हैं।

# जीवन-सूत्र

श्री जितेन्द्रकुमार "अनुभवी" द्वारा संकलित

१ किसी महान विचार की स्वस्थ भूख ही जीवन का सौन्दर्य है।

२. सबसे बड़ा गुलाम वह है, जो अपनी उत्तेजनाओं की गुलामी करता है।

३. अगर तुमसे कुछ लोग डरते हैं तो तुम्हें भी कुछ लोगों से सावधान रहना होगा।

४. असली सहायता वह है जो जरूरतमन्द को बिना मांगे ही दी जाये।

५. कला में नश्वर शरीर का नहीं, उसके शाश्वत सौन्दर्य का अंकन रहता है।

६. जीवन, प्रश्न है। और मृत्यु उसका उत्तर।

७. हमारा सबसे बड़ा आश्चर्य है कि लोग जीवन को बढ़ाना तो चाहते हैं, सुधारना नहीं चाहते हैं।

८. हर समस्या का समाधान, समस्या के उद्‌गम में ही होता है।

९. चीत्कार और रक्त के बगैर जन्म होता ही नहीं है।

१०. एक घन्टे का परिश्रम, एक महीने के रोने-झीखने से अधिक कारगार होता है।

११. उस जैसा दुःखी कोई नहीं, जो सब कुछ है, और करता कुछ भी नहीं।

१२. मनुष्य के श्रम का पुरस्कार उससे प्राप्त धन नहीं, बल्कि यह है कि वह मनुष्य उस श्रम से क्या बन सकता है।

आचार्य धर्मदत्त वैद्य और उनके पिता श्री महाशय खुशाबीराम जी मध्य में खड़े हुए हैं, और मध्य में बैठे हुए श्री माधोराम कपूर उनके श्वसुर हैं
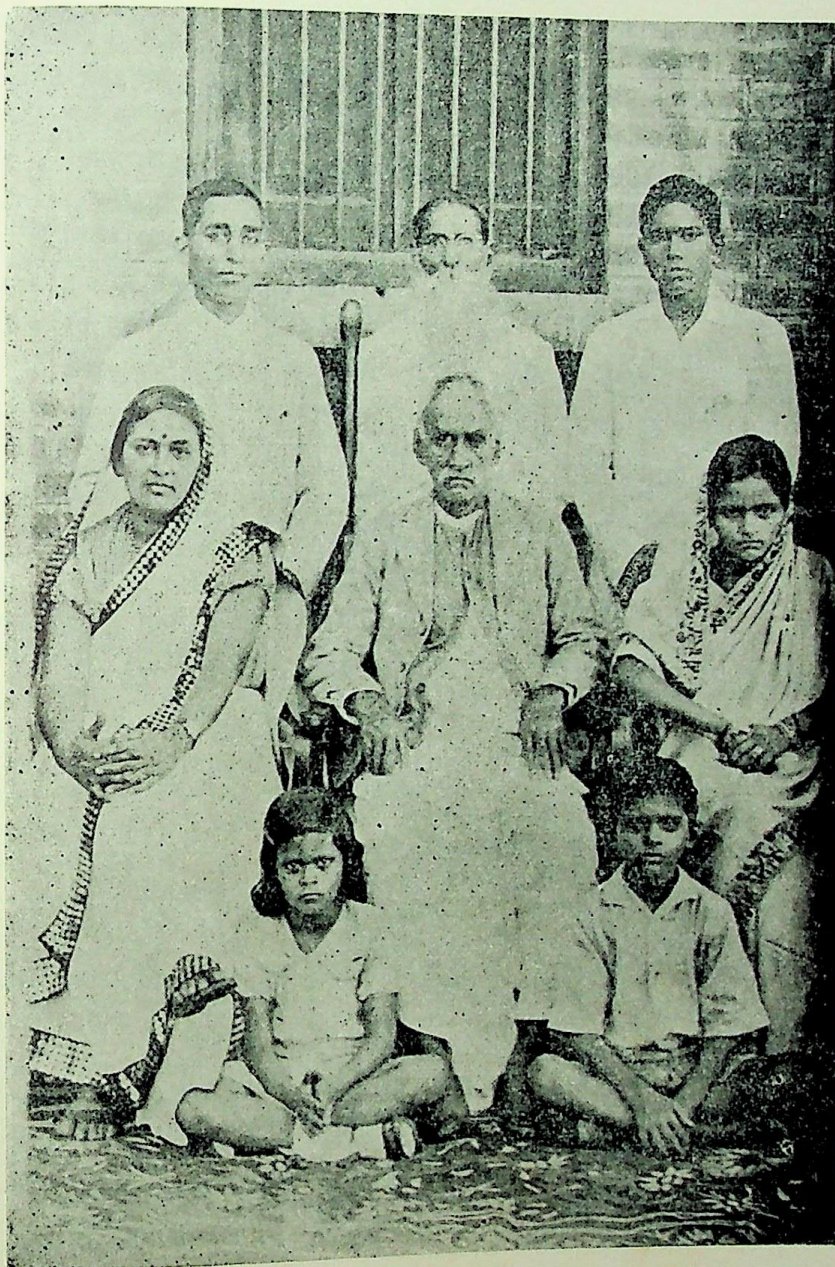
कुर्सी पर (१) श्रीमती सावित्रीदेवी, (२) श्री माधोराम कपूर
(३) श्रीमती सरलादेवी ।
खड़े हुए (१) आचार्य धर्मदत्त जी वैद्य (२) महाशय खुशाबीराम जी,
(३) श्री अर्जुनदेव आयुर्वेदालंकार (सन् १९३९)

# MEDICINE IN ANCIENT INDIA

Dr. C. Dwarkanath

The early origins of Medicine in India is shrouded in the mist of great antiquity. However, available evidence points to the fact that by about the fifth century B.C., a well developed and highly sytematised art and applied medical science, comprising eight distinct and well defined specialities—the **Ashtangass 1** viz.,

(i) Internal Medicine (**Kayachikitsa**).
(ii) Paediatrics (**Balachikitsa/Kaumarabhritya**).
(iii) Psychological Medicine (**Grahachikitsa**).
(iv) Otto-Rhino-Laryngeology & Opthalmalogy (**Urdwangachikitsa**✧/**Shalakhyatantra**).
(v) Surgery-both general and special (**Shalyachikitsa/Tantra**).
(vi) Toxicology (**Damshtrachikitsa/Agadatantra**).
(vii) Geriatrics (**Jarachikitsa/Rasayanatantra**).
(viii) Sexology (**Vrishyachikitsa/Vajikaranatantra**).
was already well estabilished.

By this period, the practice of Medicine, as an applied science, is seen to have been based on a number of disciplines of pure/fundamental sciences viz., the physical, including chemical and psychological, based on the **Sankhya** and **Nyaya-Vaisheshika** schools of Natural Philosophy and, botanical and zoological sciences, based on **Vruksha, Ashva, Hasti, Pakshi** and **Sarpa Ayurvedas.** Even so, a firmly set methodology of science, known as the **Pramanas,** are seen to have become the basis of all enquiries and investigations. This methodology comprised observation (**Pratyaksha/Drashta**)[1],inference (**Anumana**)[2],in its three aspects viz., the inference of effects from causes (**Purvavat**), the inference of cause from effects (**Seshavat**), repeated common place or general observations (**Samanyatodrashtam**)[3] and, reasoning with a view to rationalisation (**Yukti**).[4] **Yukti** is seen to have involved the isolation of various factors/causes—invariables and variables—that contribute to the manifestation of a phenomenon (**Bahukaranayogajam**)[5] and their statistical evaluation, with a view to the elimination of fallacies (**asat**) and the determination of the truth (**sat**), so that correct conclusions may be drawn.[6] These conclusions are seen to have been subjected to crucial tests of many kinds (**Bahuvidhapariksha**).[7] And, lastly, the authority of experts (**Aptavacahana/Aptopedesha/Shrutipramana**).[8]

Besides the eight specialities mentioned above, other applied basic subjects such as anatomy and physiology (**Shariravrikti**), aetio-pathogenesis (**Hetu-vyadhi**), therapeutics (**Karma**), objectives (**Karya**), climatology (**Kala**), the physicians (**Kartru**), materia-medica and pharmaco-dynamics (**Karana**), procedures (**Vidhi**), general principles (**Shloka**), pathogenesis & diagnosis (**Nidana**), specific determination (**Vimana**), human embodiment (**Sharira**), sensorial prognosis (**Indriya**), therapeutics (**Chikitsa**), pharmaceutics (**Kalpa**) and measures for ensuring success (**Siddhi**) were well developed and they had formed the different sections of works on medicine.[9]

The period from the fifth century B. C. to the fifth/sixth century A. D* or to be more precise, the second/third century A. D. corresponding to the Sunga-Kushan period saw the gradual decline of the progress of Medicine in India. The period of actual arrest of further progress and decline may be stated to have set in by about this time.

The period anterior to the fifth/sixth century A. D. extending beyond the third millennium B. C., if not earlier, is seen to cover the era of progressive evolution of Medicine in India. This conclusion is based largely on literary or internal evidence and, to some extent, on Indological and archaeological grounds.

✧ *The* **Urdhwangachikitsa** *is the branch of medicine which deals with the treatment of diseases of the parts of the body located above the neck i. e., mouth, throat, nose, ears, eyes and, the head, in general. The therapies involved in this branch are both medical and surgical.*

* *The fifth/sixth century A. D. corresponds to the time of Acharya Vagbhata, the last of the classical medical authors of India who recomplied the extant medical literature in two of his well known works viz., the Ashtangasamgraha and the Ashtangahridaya.*

## THE LITERARY OR INTERNAL EVIDENCE

Though references to medicine that occur in **Vedas, Brahmanas, Smritis, Shrutis, Dharmashastras, Grihyasutras, Itihasas** and **Puranas,** among others, are often relied upon in attempts at the reconstruction of the story of the evolution of Medicine in India, the relatively more reliable and authentic information relating to the early origins and subsequent development of Medicine in ancient or protohistoric India, available in the extant ancient Ayurvedic medical classics, specially the encyclopaedic **Agniveshasmhita*** (known popularly as the **Charakasamhita** after one of its important redactors) which are wholly secular works, have not so far caught the eye of historians in general and, medical historians, in particular. Some of these classics, particularly, the **Angivesha** and the **Sushrutasamhitas**, the originals of which belong to a period anterior to the third millennium B.C. have furnished a vivid account of the early origin, growth and development of medical science and envisaged the same as direct outcome of the evolution of the Indian society or a product of social changes.

Thess **samhitas** have, no doubt, traced the decent of Medicine from and through divine agencies viz., **Brahma Prajapati, Ashwins** and **Indra.** This was in keeping with the age-old Indian tradition which traces the source of all knowledge to divine agencies. Medical historians—both Indian and Western—have invariably exploited these references while they completely bypassed the description of the origin and development of Medicine in India, in keeping with the needs of a changing society, available in three major sections of **Angiveshasamhita** (the Charakasamhita).

Even so, these **samhitas** have also claimed for **Ayurveda** a status similar to that enjoyed by the **Vedas** and described it as an **Upaveda.**[10] Scholars have sought to trace the early origins of **Ayurveda** to the **Vedas,** specially the **Atharvan,** obviously to emphasise its divine origin, eternal nature, sanctity and authority. A critical study of the available literature, however, shows that the **Atharvaveda** and **Ayurveda** were often linked together not because the latter was derived from the former, but because of their common objectives viz., the promotion and maintenance of life. This becomes evident from the observations of **Bhagawan Punaryasu Atreva** quoted in the **Agniveshasamhita.** "The physician should declare his allegiance to the **Atharvaveda** from among the four **Vedas,** because, this **Veda** stands for medical treatment and advocates propitiatory rites, oblations, sacrifices, fasts etc., and treatment, of course, is laid down for the benefit of life"[11]. It is of importance, in this connection, to note that, while such terms as **Bhishak, Shalyavaidya, Shalyahara, Rogahara, Bhishagatharvan, Vishahara, Oshadi, Atharvan, Angiras** and **Ashvins** find frequent mention in the **Vedas,** the term **Ayurveda** is not seen to occur in them. This omission lends support to the view that, **Ayurveda** or the Science of Life, as an organised body of medical knowledge and discipline, was a later development and it had no direct connection with the earlier **Vedic** medicine.

## SOCIETY IN ADIKALA OR PRIMAL AGE

The Agniveshasamhita refers to a long vista of time the **adikala** or primal age—which is stated to have preceded the period of the development of townships, city-states, urban culture and civilization. The community in the adikala, according to this **samhita,** lived in rural settlements in forests, on river banks, in valleys, hills and mountains. Their main vocation was agriculture and the rearing of cattle. The community life of the people in this period was marked by simple living and high thinking and was governed by high moral and ethical codes. Their expectancy of life was incredibly long and they lived in harmony with nature and close to the divine. Nature too is stated to have been kind and bountiful and ill-health and disease appear to have been rare and uncommon in this society

* *The Agniveshasamhita is stated to have been redacted by a Charaka who is stated to have lived some time between the second century B.C. and second century A. D.*

## CHANGING SOCIETY—THE SAMHITA VERSION

After a time, according to this **samhita,** there was a gradual shift from the **adikala** life and culture to life in townships, city-states, and under urban culture and civilisation, which is seen to have set the peace for all-round and rapid deterioration in the moral and ethical values, leading pari pasu to political, economical, and emotional imbalances and the occurrence of numerous difficult and often fatal diseases unknown in the previous era, and corresponding fall in the expectancy of life.

The **Agniveshasamhita** version of the changes that affected the early Indian society,referred to elsewhere (which may be of considerable interest not only to historians but also to social psychologists and anthropologists) can be summed up thus; As the change from **adikala**[1] life gradually yielded to the developing urban culture and civilization, those who were better circumstanced became heavy of body, bred lassitude; lassitude gave rise to indolence; indolence, in its turn, created the need for the accumulation of goods; this led to acquisition and acquisition engendered greed.... The bodies of the people failing to receive sustenance as before from the progressively deteriorating quality of food, inadequacy, if not the total lack of physical exercise, afflicted by heat and wind, soon succumbed to attacks of fevers and other diseases. This was soon overtaken by a progressive decline in the life-span enjoyed by successive generations. In the periods that followed, greed brought malice in its wake; malice led to falsehood; falsehood let loose lust, anger, vanity, hatred, cruelty, aggression, fear, affliction, grief, anxiety, distress and the like. In the course of the periods that succeeded, further deterioration set in which ultimately resulted in the lowering of the fertility of the soil and th e production of poor quality of **oshadhi** (this includes food crops also)[2]. These changes are seen to have affected even the **Rishis**—both the clositered and peripatetic—who took to urbanised dietary and drugs and became addicted to luxurious and leisurely habits and, were for the most part, deficient in health.13

## THE INTRODUCTION & EVOLUTION OF RATIONAL MEDICINE — THE AYURVEDA

It is seen from the **Agniveshasamhita** that the deteriorating situation soon reached a stage and attained a magnitude when a solution to theproblems of the rapidly raising curve of premature senility, increase in the incidence of difficult diseases and the mounting mortality rate could not be found with the resources of the medical knowledge then available i. e., the **Vedic** medicine. This is seen to have led to the convening of a conference of great **Rishis** viz., **Bhrigu, Angiras, Atri, Vasishta, Kashyapa, Agastya, Pulastya, Vamadeva, Ashita, Gautama, Vishvamitra, Kaushika,** and **Bharadwaja,** among others, on the slopes of the Himalayas to consider and devise measures to deal with the problems that had arisen.14 The conference is seen to have noted that "Health is the supreme foundation of **Dharma, Artha, Kama** and **Moksha.** Diseases are the destroyer of health and good life itself. Now, great impediments to the progress of humanity have arisen in the form of diseases" and posed the question "What shall be the measures to remedy the situation? 15

After considerable discussion, the **Rishis** decided to approach **Indra,** who ruled in the Himalayas, to obtain the knowledge of measures to meet the challenge of diseases tihat had cropped up. According to the **Angiveshasamhita** version, the **Rishis** approached **Indra** twace, once by the sage **Bharadwaja,** in an one-man commission and, on another occassion, by a tem of their representatives. (In this paper the two deputations have been clubbed together.) The sages are stated to have met **Indra** in this realms in the Himalayas and addressed him thus "Diseases have arisen which are the terror of human beings. What o Lord of the immortals are the appropriate means to remedy them?" **Indra** is then stated to have summed up the causes that were responsible for decay and diseases that had overtaken the humanity thus: ...."I see that you are afflicted with lack-lusture and have suffered impairment of voice and complexion. These are

1 **Adikala** *refers to primal period.*
2 *The term* **'oshadhi'** *refers, in general to "herbs and plants." In a comprehensive sense, it refers to 'annual plants' which die after ripening and includes cereals and pulses.*

the evils resulting from life in towns and its unhappy consequences. Town dwelling is indeed the source of all evils.."16. He is then seen to have taught the **Rishis** "the science of causes (aetiology), symptomatology and therapy".17 On his return to the plains, the sage **Bharadwaj** is seen to have imparted the knowledge of **Ayurveda** (science of Life) acquired from **Indra** to other **Rishis** for whom he deputised at **Indrq's** court. Thereafter, one of the **Rishis, Bhaghawan Punarvasu Aterya,** is seen to have taught the science and art of **Ayurveda** to **Angivesha, Bhela, Ksharapani, Harita, Jatukarna,** and **Parashara** who, in their turn, compiled seperate treatises of their own.18

It is also seen from the **samhitas** of **Sushruta** and **Kashyapa** that, the latter and the **Kashiraja Divedasa (Dhanvantary)** too obtained their knowledge of paediatrics (**Kaumarabhritya/Balachikitsa**) and surgery-general and special-including the treatment of diseases of the mouth, throat, nose, eyes, ears and head in particular, respectively, from **Indra**. These two authorities, in their turn, imparted their knowledge to their pupils who, for their part, wrote specialised works on different specialities viz., surgery-general and special, on diseases of mouth, throat, nose, eyes, ears and head, obstetrics, gynaecology, paediatrics etc.

## THE PROBLEM OF DATING

The **Ayurvedasamhitas,** though strictly secular in their content and outlook, have like other ancient Indian non-secular literature, described the origin and evolution of medicine,spread over long periods of time—the **yugas** viz., **Krita** (17.28,000 years), **Treta** (12,96,000 years) and **Dwapara** (8,64,000 years), and, in all a toata of 38,88,000 years. Thus the **adikala** or Primal age is stated to have gradually yielded to the phase of urbanisation in the Indo-Gangetic plains sometime during the latter half of the **Kritayuga.** The introduction of rational medicine, in this area, from a more advanced mid/trans Himalayan culture and civilization is stated to have taken place after the formation of townships, city- states and when the evolution of urban culture and civilization became a **fait accompli,** somewhere about the concluding phases of this **yuga.** The progressive evolution of medicine, thereafter, in the Indo-Gangetic plains, would appear to have gone on uninterrptedly throughout the **Dwaparayuga.** keeping pace with the demands made by the increasing stresses and strains of fast-developing urban culture and civilization. It is also seen from **Ayurvedasamhitas** as well as the Buddhist traditions that, the traffic between the Indo-Gangetic plains and the mid/trans Himalayan culture and civilization was maintained throughout this period uptill the fifth century B. C.

Having regard to the foregoing, atleast three distinct phases of the history of medicine in ancient India could be made out. They are: (I) the phase corresponding to the period described as the **adikala** which is seen, not only to have preceded but also extended through the first half or so, of the **Kritayuga.** It pertains to the **Agniveshasamhita** version of an ideal Indian community that consisted of 'Man like Gods' who, probably, inhabited forests, river banks, hills and mountains. Their main vocation was agriculture and cattle rearing. This was obviously not a primitive society of nomadic clans and tribes. Medicine, as an organised science and discipline, was obviously unknown in this phase. The origin of the so-called **Vedic** - medicine may perhaps be traced to this phase. (II) A phase commencing from about the middle of **Kritayuga** and extending to the concluding periods of the **Dwaparayuga** when medicine, as a well developed and organised discipline, had evolved and became systematised. And (III) the phase extending from the commencement of **Kaliyuga** and ending with the late third century A. D. corresponding to the Sunga-Kushana period which may be stated to mark the beginnings of the phase of arrest, stagnation and decline of rational medicine that preceded the onset of the dark period of Indian medicine.

Attempts at fixing the probable periods that may correspond to the **yugas,** mentioned above, may prove to be an exercise in futility, as the **yugas** refer to aeons and not to any lesser periods. The least that can be done, in the circumstances, is to treat the **yuga** as standing for an epoch or era. On the other hand, to dismiss the source material available in the strictly secular **Ayurvedasamhitas,** will be deliberately throwing away valuable information of considerable anthropological and sociological significance and historical importance and which, when assessed against known and dependable parameters, may prove to be extremely valuable in envisaging the evolu-

tion of medicine in the ancient or proto-historic India. Two such parameters, the author has in his mind, are: (i) Indological contributions and (ii) recent contributions of Indian archaeology.

## THE INDOLOGICAL CONTRIBUTIONS

The indological contributions relevant to the present context refer, firstly, to the probable time of the advent of the **Kali** era and secondly, the likely periods to which **Kashiraja Divodasa Dhanvantrri** and **Punarvasu Atreya** (and his pupil **Sushruta**) may have belonged. As regards the probable time of the advent of the **Kali** era, epigraphical evidence provided by the Aihole inscriptions of Pulikeshin II (VII century A. D.) show that the Mahabharata war took place in 3102B.C. (as per the astronomical traditions of Arya Bhatta) and this was the starting point of the **Kali** era[19] According to Monier Williams, the **Kali** era began in the midnight of 18th February, 3102 B. C.[20] The probable periods to which **Bhagawan Punarvasu Atreya** ( the preceptor of **Agnivesha**) and **Kashiraja Divodasa** (the preceptor of **Sushruta**) and the sage **Bharadwaja** from whom the two authorities, referred to above, learnt **Ayurveda**, belonged, is sought to be fixed paying due regard to the period in which **Raja Dasharatha** and his son **Shri Ramachandra** may have flourished. For it has been stated both in the **Puranas** viz., the **Bhaghavata** and the **Harivamsha** and the two Epics (**Ramayana** and **Mahabharata**) that the **Kashiraja** and his son **Pratardana** were close friends of **Rajha Dasharatha** and **Shri Ramachandra,** respectively.21 The **Sage Bharadwaja** who is stated to have been the purohit of three generations of the faimly of **Kashirajas** was also a contemporary of **Shri Ramachandra.**22 According to **Sushruta's** own account, he was the son of sage **Vishvamitra,** who was also a contemporary of **Rajha Dasharatha** and his son.23 Indologists of the eminence of Pargiter, Loyanbee and Pusalker and historians of the eminence of Srinivasa Iyengar and astronomers of the eminence of Swamikannu Pillai proposed various dates, ranging from 2040B.C. to 2909 B. C. or in round figures 3000 B.C. for the time of **Shri Ramachandra.** The author has, after taking into consideration various other dates suggested by different authorities, proposed in his key-paper on 'Some Significant Aspects of the Origin and Development of Medicine in Ancient India'1 that it may be safe to assume that **Shri Ramachandra** and his contemporaries, under reference, could not have belonged to a period later than 3000B.C.The **adikala** described the **Agniveshasamhita** can, therefore, be taken to refer to a period considerably anterior to the fourth millennium B. C. By the same token, the probable period when Medicine, as a rational systematised science was introduced in the Indo-Gangetic plains may have been between the fourth and the third millennium B. C. coinciding with the burgeoning of urban culture in this region. Even so, all subsequent medical developments must have taken place in a time-bracket with the lower limit of about 3500 B. C. and upper limit of about the third Century A. D.

## ARCHAEOLOGICAL CONTRIBUTIONS

More recent archaeological developments in the Indo-Pakistan sub-continent have provided a time-bracket for the highly urbanised Indus Valley civilization and Harappan culture covering a period between c. 2500 B. C. to c. 1750 B. C.[24] The mature phase of this urban culture has been ascribed to **c.** 2300 - **c** 1750 B. C.[25] The lower limit of this time-bracket, namely **c.** 2500 **B.** C. does not, however, take into account about 24 feet of "water-logged occupation layers" at Mohenjo-daro which could not be explored. According to the American archaeologist Dales, this submerged area "contains the record of the city's earliest development" and its exploration "will help to illuminate the question of Harappan origin."26 Having regard to the above and other available evidence,Pusalker has opined that the Indus civilization may well reach beyond 3500B.C. 27. This agrees more or less with lower limit of the time—braket c. 3500 B.C. for the introduction of **Ayurveda** to the urbanised Indian community, suggested by the author on the strength of internal evidence. It may be noted here that the urban culture of the Indus valley was not confined to

1 *This paper was presented by the author at the Symposium on History of Sciences of India, held at the National Institute of Sciences of India, New Delhi, Oct.* 17-20, 1968 *under the auspicies of the National Commission for the compilation of History of Sciences ofIndia*

that valley alone but was spread extensively as far East as Alamgirpur in the Ganga-Yamuna basin in the Uttar-Pradesh, as far North as Rupur in the Punjab and as far South as Bhagatrav on the the Kim.28

As regards the Ganga-Yamuna basin, the progress of archaeological exploration and excavation of sites of considerable antiquity, historical and cultural importance, in this region, have been rather slow and not comparable to the progress of similar operations in the Indus valley and other Harappan sites elsewhere. Of the numerous sites of cultural and historical importance in this area, Kampilya and Kashi (Varanasi) were closely associated with medical and surgical developements, respectively, in ancient India. **Ayurveda** was a product of the culture of the Ganga-Yamuna basin. In its spread, it had extended to and embraced not only the Indus valley but also influenced the development of medicine in the peninsular India. Baring the well develped system of drainage, houses constructed with attached bath-rooms and well-laid-out water-supply system, all of which attest to the remarkable skill of Harappans in town-planning and sanitation and highly developed civic life, there is hardly any evidence to show that the Indus valley culture influenced the development of medicine in the Ganga-Yamuna basin and elsewhere in the sub-continent. The discovery of pieces of a coal-black substance indentified as **Shilajit** and horns of deer and antilopes, coral, cuttle-fish bones and nim leaves (Azadirachta **indica**) in Mohenjo-daro, represent the only evidence of medicine in this area.29 These items, specially, **Shilajit**, deer and antilope horn, represent some of the important substances of medicinal value highly spoken of in **Ayurveda.** Even today, they are employed by Vaidyas all over India for therapeutic purposes. **Shilajit** is a natural product which is not native to the Indus-valley. It occurs in the lower Himalayas, Vindhayas and other mountaionus tracts. Nepal has been, from very ancient times, the main source of supply of this substance. This solitary piece of evidence can be justifiably construed to point to the influence the medicine of the Ganga-Yanuma basin on that of the Indus valley civilization during its mature phase.

The above apart, recent archaeological finds of early and late 'Harappan type' in a number of sites in the Ganga-Yamuna basin, for example at Alagirpur and Bargoan, (about 2000 B. C.)30 show the total absence of town planning for which the Harappans were justifiably reputed. This evidence may lead support to the view that, while civic life may have originated in the Ganga-Yamuna basin and slowly spread to the Indus valley, its development in the latter region may have been rapid due largely to the close maritime and overland contacts it had with Sumer and other Persian gulf cultures.

As regards the position of archaeology in respect of the evolution of civic life and urban culture in the Ganga-Yamuna basin, the slow progress of exploration and excavation in this area notwithstanding, some interesting authoritative views have been reported. Basing his views on the evidence so far made available by Indian archaeology, observes Sir Mortimer Wheeler."... Civic life in recognizable form begins only....in the earlier half of the first millennium B. C.31 The date of this culture with its mixed farming seems to have been about 1000 to 800 B. C. Its earlier roots have not yet been recognized....Since that time, it has been continuous here."32 He adds"....there arose in the same region." (the Ganga-Yamuna doab)" with seeming suddenness an evolved and widespread urban culture almost worthy of the name civilization. Its origins, historical or archaeological, are unknown, though it clearly deserves a respectable parentage.... Year after year, fresh evidence points to a great burgeoning of civic life on the northern plains by the second quarter of the first millennium B. C."33 He considers that the sudden burgeoning of civic life in this area vis-a-vis the discovery of copper hoards cannot be ascribed to Harappan influence and "they connot be traced to any source outside India." He considers the theory of Indo-Aryan migration as "equally difficult to sustain"34

As pointed out by Sir Mortimer Wheeler "The exploration of the two river country, or doab, of the Ganga-Jumna (Yamuna) basin is still in rudimentary stage."35 However, recent excavations at Rajghat (Varahasi) has pushed back the antiquity of this place to about 800 B. C. The modern town of Varanasi which is situated on the vestiges of earlier habitation, if excavated, is likely to throw more light on the culture of the doab and the earlier periods of its development.36 Likewise, the excavation of Mathura, Achichchatra, Kaushambi and Barnava, among sites which

were closely associated with the Mahabharata story, carried out by Lal and associates, has shown that these places had a fairly well developed civic life as late as **c.** 1100-800 B. C. corresponding to the period when Hastinapura was washed away by floods in Ganga. Available archaeological evidence seem to show that Hastinapura was finally abandoned, due to flooding, at the time of Nichakshu, a direct descendent of Pandavas, who migrated to and set up his capital at Kaushambi by about **c.** 1100 B. C. According to Sharma, who carried out the excavation of Kaushambi, this place "had a close link with Navodatoli," a predominantly Harappan site for which radio-carbon dating is seen to furnish a period roughly between **c.** 1500 B. C. to **c.** 1100 B.C. Even so he opines that " the very idea of town-life was unknown in the Gangetic valley, possibly prior to 1500 B.C.37

It will be seen, from the foregoing, that available archaeological evidence show that (a) the Harappan culture, which was essentially and pronouncedly urban in nature, came to an end by about **c.** 1750 B. C. (b) Civic life in a recognisable from began to appear in the Ganga-Yamuna basin after 1500 B. C. (c) The urban culture of the Ganga-Yamuna basin was marked by the absence of town-planning for which the Harappan culture was well known and this eliminates any possible influence of the latter on the former. (d) and according to authorities of the eminence of Sir Mortimer Wheeler, the emergence with "seeming suddenness" in this region of" an evolved and widespread urban culture, almost worthy of the name civilization" by about 1000 to 800 B. C. "The origins—historical or archaeological of which "are unknown"and which "deserves a respectable parentage....cannot be traced to any source outside India." It is of significance to note that Sir Mortimer considers "the theory of Indo-Aryan migration as equally difficult to sustain."38

It will now be seen that Indological research and archaeological evidence point to two different periods, separated by a gap of over 2000 years, for the emergence and evolution of civic life, urban culture and civilization in the Ganga-Yamuna basin. According to the former, between the fourth and third millennium B. C. and according to the latter, betwween 1500 B. C. and 800 B. C. Both the estimates are conservative and cautious. The gap, referred to above, has to be accounted for and it may be expected that future exploration and excavation of sites, of great antiquity, historical and cultural importance in the doab, may supply evidence either to confirm or reject the Indological evidence. However, a point of agreement between the two—the Indological and archaeological—is that, both consider that the evolution of civic life,urban culture and civilization in the Ganga-Yamuna basin, was preceded by long periods of occupation of the doab. Available archaeological evidence is inadequate to hypothesize the nature of the culture of this period. The Ayurvedasamhita version of the culture of the period, under reference, in the absence of any better account, may, for the present purpose, be relied upon. This is important, as the evolution of medicine in India, as elsewhere in the world, was an immediate outcome of changes in the living conditions of the community. The evolution of medicine from what it was in the **adikala** (or may we say, the **pre-vedic** and **vedic** times, for want of any better term) to the time when it reached its apogee, the periods of its stagnation, arrest of further growth, dogmatisation and decline, may be envisaged to have taken place roughly between the middle of the fourth millennium B. C. and the third/fifth century A. D. In the absence of chromological data relating to the different stages of its evolution, only some of the major and more significant developments of medicine in India that can be made out from the available editions of the **Agnivesha (Charaka)** and **Sushruta samhitas** are referred below.

## MEDICINE IN PRE-AYURVEDIC (OR THE VEDIC) PERIOD

An idea of the stage of the development of medicine prior to the introduction of **Ayurveda,** in the Indo-Gangetic plains, from a more advanced Himalayan culture, sometime between 4000 B.C. and 3500B.C. can be had from references available in the **Agnivesha(Charaka)samhita.** These references relate, among others, to surgical feats said to have been performed by **Ashvins** viz., the restoration of the head of **Yajna** (a son of **Ruchi**) which was severed by **Rudra**; the restoration of the head of **Dadhyanchi,** the substitution of it with the head of the horse and the restoration later of the original head; the giving of a new denture to **Posha** in the place of the tooth that became loosened; the removal of the diseased eye of **Bhaga** and its replacement with a new eye and the

removal of arrows from the body and the healing of injuries caused by them. **Ashvins** are also stated to have cured Indra of the paralysis of his hand, Soma of consumption and restoration of youth to **Chavavan** who was aging. **Rigveda** refers to the surgeons of the time who are stated to have replaced the broken leg of **Vispala** with an iron leg. It is a matter of considerable interest to note that the medical and surgical achievements referred to by the **Agniveshasambita** were of **Ashvins** who were attached to **Indra's** retinue and, **Indra,** as was noted earlier, belonged to the Himalayan culture. It is seen from the **Atharvaveda,** which is said to belong to the terminal phases of the **Vedic** age that the priest-physicians of the time, believed in the efficacy of and employed elaborate sacrificial rituals, charms, incantations, spells, magic and herbs in the treatment of diseases. From available evidence, it is seen that medidine as a rational science and systematised art was not known in this era. The **Atharvaveda** has devoted 114 hymns for medicine and they refer to fevers, consumption, wounds of different kinds (like vidradhi, **anachi** etc.,), skin diseases, dropsy, headache, poisons, rheumatism, insantity and epilepsy. These diseases appear to have been more common in this period.

## MEDICINE IN THE POST-VEDIC PERIODS

It was noted elsewhere that the term **Ayurveda** does not occur in the **Vedas.** There is sufficient evidence to support the view that this term came into vogue at a much later period-possibly between 3500 B. C. and 3000 B. C. The definition of this term and discription of its aims, objects and scope furnished by the early **samhitas** are significant in more than one respect in that, they also reflect the nature, outlook and goals of the society which gave birth to it.

The term **Ayurveda** is composed of two words viz., **'Ayuh'** and **'Veda'** meaning 'life and knowledge', respectively, Etymologicaly speaking, the term Biology, which is also composed of two words viz., 'Bios' and **'Logos'**, meaning 'Life' and 'knowledge of', respectively, carry the the same idea as the terms **Ayuh** and **Veda** do. It is seen from the **Sushrutasamhita** that **Kashirajha Divodasa Dhanvantari** described **Ayurveda** "as a science in which the knolwedge life exists or which helps man to enjoy longevity."39 This term has been amplified further by both **Kashirajha Divodasa Dhanvantri** and **Bhagwan Punarvasu Atreya** which highlights its aims, objects and scope. According to the former, "The utility of **Ayurveda** can be classified under two heads viz., the cure of the disease in the afflicted and the preservation of health in the healthy and according to the latter" the maintenance of health in the healthy and the cure (relief) of disease in the ailing."41 In modern parlance, the aims, objects and scope of **Ayurveda** were both preventive and curative.

A careful study of **Ayurvedasamhitas** shows that the preventive aspect of medicine received priority of consideration and daily regimen-physical, mental, social, moral and ethical (**Dinacharya**), as well as the regimen for different seasons—physical, dietitic etc., (**Ritucharya**) have been menticulously described, the latter with a view, possibly, to promote a smooth biological adaptation to the stresses and strains of seasonal changes. These regimen are, in fact, seen to have become a way of life of the then community. Even so, in modern times too, many of these regimen are seen to be observed, in most parts of India as formal observances, often mixed up with religious rituals. The **samhitas** have repeatedly emphasized the importance of prevention as compared to the cure of diseases. In the case of the latter, they have stressed the importance of early diagnosis and treatment.

## SOCIAL GOALS vis a vis MEDICINE IN ANCIENT INDIA

The **raison d' etre** for the maintenance of health, promotion of longevity and freedom from disease, on the one hand and, integrated and properly balanced social endeavours which, by the way, reflect the overall outlook of the community of the time, on the other, highlighted by the **Agniveshasamhita,** can be summed up thus;"Health is the supreme foundation for the performance of one's duty (**Dharma**), acquisition of wealth (Artha), gratification of (legitimate) pleasure of life (**Kama**) and the achievement of salvation (**Moksha**). Diseases are the destroyers of health, good life and even life itself"42 As regards the mode of life and social goals, this **samhita** has, in the

order of priority, attached importance to the preservation (promotion) of life. It notes: "The giving up of life will mean the giving up of everything. The preservation (promotion) of life is to be achieved by the observance of the rules of health (**swasthavritta**) by the healthy and the diligent alleviation of abnormal states of health in the ailing. The assiduous practice of these principles will enable the practice of **Dharma**"43 **Dharma** refers to the performance of one's duty to oneself, to one's dependents, to the community to which one belongs, to the state, to the nation and to the humanity as a whole.

The second objective and goal relates to the acquisition of wealth and, therefore, refers to economics. Observes the **samhita**: "Thereafter, the pursuit of wealth should be taken up. For, after life, wealth is to be sought. Surely there can be no misery more miserable than that of a man blessed with long life but lacks the means to make his life worth living. Efforts should, therefore, be made to acquire the required means to live. The legitimate means of acquisition of wealth are, agriculture, the rearing of cattle, trade (commerce) and the service of the king (state.) In additions, a person may take to such vocations as are apt to ones knowledge not disapproved by the righteous and which provide both livelihood and opulance. In this way, a man can live long and with diginity."44 The **samhita** then proceeds to a discourse on the theory of re-birth and the preparation for the hereafter by recourse to ethical, morl and spiritual pursuits.

## SCIENTIFIC METHODOLOGY GENERALISATION & SPECIALISATION

The evidence available in the two main **Ayurvedasamhitas** show that, by the time of **Kashiraja Divodasa Dhanvantari** and **Bhagawan Punarvasu Atreya**, a broad-based methodology, known as the **pramanas** (referred to elsewhere), became the basis of all enquiries and investigations. That the ancient Indian medical authorities attached considerable importance to logical reasoning based on observation, can be seen from an observation attributed to **Bhagawan Punarvasu Atreya** found in the **Agniveshasamhita** (the **Charakasamhita**). The **Bhagawan** is seen to have told **Agnivesha** and other disciples that "the visible is limited while there exists (beyond the visible) a vast universe of which we become aware of on the basis of authority (of experts **agama**) inference (**anumana**) and reasoning (yukti).... Hence it is an unfounded statement to make that only the visible exists and nothing else."45 It may be noted here that the well known Baconian methodology of Science (vide **Novum Organum**-1561-1626 A. D.) which has formed the basis of modern scientific developments, bears a striking resemblance to the ancient Indian methodology, referred to above and elsewhere.

An outcome of the application of the methodology of investigation—essentially analytical—by the time of **Kashiraja Divodasa Dhanvantari** and **Bhagawan Punaryasu Atreya** was, the accumulation of vast amount of details. These are seen to have led to the development of specialisation—both at the level of the fundamental as well as applied aspects of medicine, such as the anatomy and physiology (**Shariravrikti**) pathogenesis and diagnosis (**Nidana**), pharmaco-dynamics (**Dravyadivignana**) and therapeutics (**Chikitsa**).

The phase of development mentioned above is seen to have been followed by a stage when the theory and practice of medicine (including surgery) became crystalised, leading to broad-based generalisations and the postulation of concepts, principles and axioms. Since printing was then unknown, the concepts, principles and axioms were sought to be presented in the form of terse aphorisms (**sutras, shlokas** and **gadyas**) which could be easily committed to memory and communicated from mouth to mouth, from generation to generation. Dridabala, a much later redactor of the **Agniveshasamhita** (the **Charakasamhita**) refers to an age-old tradition, according to which, the redactor has to expand the knowledge presented in terse aphorisims and reduce to terse aphorisms the knowledge described in extenso. In doing so he has to renew the old knowledge and bring it up to date.*

* *The process of redaction is seen to involve the correlation of and supplimentation by related facts and statements found in other treatises that have a bearing on the subject.*

Among the several outcomes of crystalisation and generalisation, the following are historically significant—

(1) The emergence of two broad-based but inter-related concepts viz., (a) promotive, preservative and preventive medicine—the **Swasthavritta**—and (b) curative medicine.
(2) The development of eight specialities of medicine viz., the **ashtangas**, described elsewhere.
(3) The emergence of the Schools of Medicine and Surgery, the former known as the Atreya school and the latter, the Dhavantariya school.

The last mentioned outcome, marks a distinct stage of development in the history of medicine in India. It is seen from available internal evidence that, the two schools were supplimentary and complementary to one another and the relationship of the two was marked by mutual respect, esteem and cordiality as could be seen from frequent references in the **Agniveshasmhita** to **Dhanvantari** and **Dhanvantariyas.** Thus, while discussing the different varieties of abdominal tumours (**gulma**), their diagnosis and treatment, **Bhagawan Punarvasu Atreya** is seen to have observed that, "cases of suppurating abscess belongs to the domains of **Dhanvantariyas.** The treatment of this condition is in the competence of surgeons who have experience in the arts of aspiration, elimination and healing".45 Referring to the treatment the conditions, mentioned above, with thermo-cautery (**daha/agnikarma**), the **Bhagwan** is seen to have observed that "cauterisation too belongs to the domains of **Dhanvantariyas.** The procedure for the application of caustics (**ksharakarma**) is also a subject which has to be handled by experts in this therapy." Referring to the surgical treatment of intestinal obstruction(**badhodara**)and perforation (**chidrodara**),he is seen to have told his pupils that,"the requisite operative measures should be carried out by expert abdominal surgeons"47 Dealing with the surgical treatment of haemorrhoids (**arshas**) as well as with caustics and cautery, he is seen to have observed, "We may take it that all these measures will be carried out by skilled and experienced surgeons."48 Even so, he is seen to have stated that, as regards eye diseases, "their symptomatology and treatment have been described in works on **Shalyatantram.** It is not, therefore, attempted to expatiate on them here. They belong to the province of specialists."49 Adverting to the differing views, advanced by several authorities, on the question of the time-order of the development of the different parts of the embryo, the **Bhagwan** is seen to have approved the views of **Dhanvantari** that "all parts develop simultaneously."50 Dealing with the methods prevalent, in his time, for the removal of dead foetus from the womb, he is seen to have referred to its extraction "performed by experienced and competent surgeons,"51

The all-round advance made, in the period under reference, is also seen to include obstetrics. Commenting on the vivid description of the development of the human embryo, observes Prof. Keswani: "The various developmental stages of the human embryo from the time of its fertilisation until full term have been so well so described that one is amazed at the acuity of their observations. The only inference one can, therefore, draw is that they must have had some sort of aid of optical instruments to be able to describe even the microscopic appearance of the early zygote and must have studied embryology in experimental animals; or, dissect the abortus and the stillborn."52

Among the manipulative and instrumental manoeuvres in obsterical practice described in the two **samhitas**, the following are worth noting—

(i) The induction of abortion in cases where pregnancy may either endanger the health or the life of the mother.
(ii) Curetting in cases of incomplete abortion.
(iii) The induction of labour in cases of delayed delivery or uterine inertia.
(iv) Versions of different kinds in cases of malpresentations.
(v) The removal of the foetus in cases of difficult labour or defects in the maternal passage, by an abdominal section, reminiscent of the modern Caesarian section.
(vi) The extraction of dead foetus by craniotomy.
(vii) The delivery of retained plecenta by manual manipulation, specially massage, reminiscent of the Crede's method.

Some of the surgical achievements of the period which have attracted international attention, in the present, and which have formed the basis of modern developments are, among others, Rhinoplasty and Lithotomic operation for the removal of cystic stones. Commenting on these measures described in the **Ayurvedasamhitas**, observes Jurgen Thorwald, "They reflected an unusual degree of rational medical experience. In particular, it revealed a creative strain in surgery."53

## IMPORTANCE ATTACHED TO ANATOMY

The importance attached to anatomy in ancient India can be seen from observations attributed to **Kashiraja Divodasa Dhanvantary** and **Bhagawan Punarvasu Atreya** in the **Sushruta** and **Agniveshasamhitas**, respectively. According to the former, "Different parts of the body, including even the skin, cannot be properly described by anyone who wants to be a surgeon and who has not made a proper study of anatomy. Therefore anyone desirous of acquiring a thorough knowledge of anatomy should prepare a cadaver and carefully observe, after performing dissection on it examined the different parts. For, a thorough knowledge can be only obtained by comparing the description given in the **shastras** on the subject, by direct observation....He who has studied the internal structure of the human body and is well read in the works having a bearing on these subjects, and has thus, all his doubts cleared from his mind, is alone qualified in the science of Ayurveda has a rightful claim to practice the art of healing."54

Observes the latter, "The physician who knows the anatomical enumeration of the body, together with the description of its different members, is seldom a victim of confusion arising out of ignorance of the theory....Knowledge of the analysis of the body subserves the purpose of the maintenace of the health of the body. Knowledge of factors that contribute to the well being of the body will arise only as a direct consequence of the knowledge of the analysis of the body......A physician who understands the body in every respect and in its entirety knows **Ayurveda** in its fullness and he contributes to the happiness of the world."55 While, these observations point to the existence, in ancient India, of descriptive anatomy, the extant editions of the two **samhitas** do not deal with them. This is obviously because these works represent, more or less, records of high-level discussions in conferences symposia and seminars of experts drawn from different parts of the then civilized world that are seen to have taken place in ancient India from time to time and not text books. It would, therefore, not be correct to expect them to deal with such highly specialised subjects as anatomy, physiology and the like. If there were separate works on these subjects, they are not available now. That there were such works become evident from the mention made of them by later commentators.

## PHYSIOLOGICAL DOCTRINES

The physiological doctrines basic to medicine in ancient India are reflected in the concept of **Dosha, Dhatu** and **Malas.** The **Doshas** are seen to refer to generalisation of the functions of the human body under three broad-based systems viz., **Vata, Pitta** and **Kapha** systems. It is seen from the root-meanings and descriptions of these terms furnished by the **Agnivesha** and **Sushruta** that, (i) the term **Vata** is derived from the Sanskrit root **va-gati**-(meaning to move-motion) and **gandhavoh** (smell and other sensory stimuli viz., taste, vision, sound and touch) and defined as the factor of the body which transmits all these sensations to the mind;56 **Pitta,** from the sanskrit root **tapa** to heat and **daha**-to burn.57 The former is stated to pertain to the production of body-heat and, the latter, to the burning of the food ingested and, the term **Kapha** as **Kena Jalena Phalatiti,**58 meaning that it is a product of water or that which retains water and **shlisha-alingane,** to embrace or hold together. The term **Dhatu** is seen to be derived from the Sanskrit root **du-dhanj** meaning to support and nourish. This term refers, on the one hand, to the seven basic tissue-elements viz., **rasa** (the circulating fluid matrix), **rakta** (the elements of blood that impart red colour to the rasa), **mamsa** (muscle-tissue), **medas** (adipose tissue), **asthi** (bone-tissue), **mejia** (marrow-tissue) and **shukra** (reproductive tissue) and, seven kinds of nutrient homologues, specific to each one of the seven tissue elements, on the other, The term **mala** is seen to be derived from the Sanskrit root **mrujate - shodhayate,** meaning to clear out, to purity. **Malas** are stated to comprise

both food and tissue-wastes that are meant to be eliminated from the body. Without getting into details, it may be noted that the **Ayurvedasamhitas** consider that the equilibrium of these three factors constitute health and their imbalance, the disease. The **samhitas** have insisted that good grasp of the normal functioning of **Doshas, Dhatus** and **Malas in depth** is the **sine qua non** for proceeding with the study of pathogenesis and treatment.

## CONSTITUTION & TEMPERAMENT

Historically significant is the evolution, in the period under reference, of the concept of Human Constitution and Temperament (**Prakriti**), a good understanding of which is considered essential for understanding the susceptibility or otherwise of a given individual to disease-causing factors and for individualising his treatment. According to the **samhitas,** the Constitution and Temperament of an individual are determined by the state of **Doshas** of the parents at the time of the sex-act and formed at the time of the fertilisation of the **stribhija (arthava)** by the **pumbija (shukara)**.59 Seven types of **Prakriti** viz., three, that arise due to the preponderance of one **Dosha** over the rest; three, again, due to the combination any two of the three and one in which all the three are in equal proporation These types signify physical characteristics and mental traits as determined by the concerned **Dosha** or the **Doshas,** as the case may be. Of them, the one in which all the three **Doshas** are equally proportined——known as the **Samaprakriti**—is considered to be the best and the types which are dominated by any twos—known as **Dwandwaja-prakritis**—the undesirables.1

## RESISTANCE TO DISEASE DECAY & DEGENERATION

Of considerable historical importance is the development in ancient Indian medicine, of the concept of decay, disease and degeneration, described as **Vyadhikshamatawa**,61 and the correlation of this faculty to the formed biological substance described as **Shleshmika Ojas** which is considered to be an invariable constituent of the circulating fluid of the body—the **Rassadhatu**—referred to earlier. The two ancient **Ayurvedasamhitas** have attributed this faculty to '**Balam**' which is stated to function in two ways viz., (a) countering the virulence of the disease, described as **Vyadhibalavirodhitwam** and (b) by containing or inhibiting the causative factors of the disease. described as **Vyadhutpadakapratibhandakatwam.** The substance which is stated to be responsible for '**Balam**' is the **Shleshmika Ojas**—a substance which is said to be metabolically produced and its quantity strictly individualised. Inadequacy in its production, either due to mal-nutrition or metabolic errors, or its loss due to haemorrhage or leakage in the circulatory channels or defects at the level of capilliary **(shrotas)** exchange are, among others, stated to lower the capacity of the body to resist disease, decay and degeneration. All therapies evolved by medicine in ancient India, specially the **Rasayana** therapy, aim at the promotion and maintenance of the **Shleshmika Ojas** at the optimum level.62

## DISEASE—AN EVOLUTIONARY PROCESS

No less important was the development of the concept that describes the natural history of disease as an evolutionary process (**Vyadhi-parinama**), comprehended by the concept of **Dosha**

1 *It is of considerable significance to note that Sheldon has recently classified the human constitution, on embryological grounds, as of three main types viz., Endomorphs, Mesomorphs and Ectomorphs and as seven, due to the combination and permutation of any two of the three types and, the balanced mixture of all the three in one. His classification and description of the different types virtually overlap the earlier classification and description of Indian medicine. He also considers most people's body as mixtures of Endomorphy, Mesomorphy and Ectomorphy. Their temperaments are mixtures of viscerotonia, somotonia and cerebrotonia. Mixtures in which all the three types of the body are well balanced are the best. Extremes are considered by him to be undersiable.*

(Vyadhi) **Kriyakala** elaborated in the **Sushrutasamhita.** According to this concept, diseases, regardless of whether they are idiopathic (**Nija**) or traumopathic (**Agantuja**), represent a process which is said to move in six consecutive steps. This process envisages a scheme which can be aptly described as host-agent-environment reaction in which the impact of the aetiological agent, under appropriate environmental conditions— these may be intrinisic stresses (**Adhyatmika**), somatic (**Sharirika**) or psychic (**Manasika**) or both, or extrinisic (**Adibhautika**)—is stated to initiate the process of disease which proceeds in six consecutive steps of which the first three are preparatory and are characterised by vague symptomatology. The fourth step is stated to be singified by prodromal symptoms of the on-coming disease. The disease as a distinct and recognisable entity is stated to manifest in the fifth step. In the sixth step, the disease may either terminate, leading to convelescence followed by recovery or death, or become complicated or chronic or serve as the cause of other diseases. According to this concept, the process of the disease can be averted or interrupted in the course of the first three stages by early diagnosis and the adoption of measures for the radical elimination (**Samshodana**) of the morbific factors (**Doshas**). These steps therefore, correspond to levels of prevention. A deep understanding of the sequences of subsequent steps is said to enable proper management of the patient (with **Samshamana** measures), with a view to enable him to recover completely and rehabilitae himself or the prevention of complications and the limitation of disability. Observes **Kashiraja Divodasa Dhanvantari:** "The physician who fully knows about the six **Kriyakalas** alone is entitled to be called a physician. The deranged **Doshas** when checked and subdued in the first step will not develop further. But, if left unremedied the morbific factors will gain in strength and intensity in the course of their further evolutive phases."63

The therapy for disease and their prevention as well as for the promotion and maintenance of health—both radical (**Samshodana**) and palliative (**Samshamana**) developed by medicine in ancient India, by about the third millennium B. C., are seen to be based on the concept of disease as an evolutionary process.

## MEDICAL EDUCATION

The evidence available in the ancient **Ayurveda-samhitas** show that, by about the third millennium B. C., there were at least two main centres of medical learning viz., Kampilya and Kashi. The former is seen to have been the seat of the School of Physicians and the latter that of Surgeons. Admission to these centres would appear to have been very rigid, highly selective and discerning—the period of training extending to over five years (?)

These centres are seen to have been built around well known and eminent authorities. There is also evidence to show that these centres attracted students from all parts of the then civilized world. From the strong emphasis laid on the need for the preparation and dissection of human cadevers, it can be Presumed that medical education must have been institutionalised. Even so, it can be presumed, on the basis of the elaborate description of the way a hospital—**Athuralaya**—should be constructed, organised and run, available specially in the Agniveshasamhita, that there must have been fecilities for imparting clinical training. There is also evidence in the literature to show that, in addition to didactic methods, teaching was also imparted through discussions in seminars and symposia.

It could also be discerned from references in the two **samhitas** that after the successful completion of their training and before embarking on practice; the students had to go through a convocation and they were administered an oath, relevant portions of which run as follows—

"Day and night, however though mayest be engaged, thou shalt endeavour for the relief of patients with all thy heart and soul. Thou shalt not desert or injure thy patient even for the sake of thy life or thy living. Thou shalt not commit adultery even in thought. Even so, thou shalt not covet other's possessions. Thou shalt be modest in thy attire and appearance. Thou shouldst not be a drunkard or a sinful man nor shouldst thou associate with the abbettors of crimes. Thou shouldst speak words that are gentle. pure and righteous, pleassing, worthy, true, wholesome and moderate. Thy behavour must be in

consideration of time and place and heedful of past experience. Thou shalt act always with a view to the acquisition of knowledge and the fullness of equipment.

"No persons, who are hated of the king or who are haters of the king or who are hated of the public or who are haters of the public, shall receive treatment. Similarly those that are of very unnatural, wicked and miserable character and conduct, those who have not vindicated their honour and those that ate on the point of death and similarly women who are unattended by their husbands or guardians shall not receive treatment.

"No offering of meantby a woman without the behest of her husband or guardian or guardian shall be accepted by thee. While entering the patient's house, thou shalt be accompanied by a man who is known to the patient and who has his permission to enter, and thou shalt be well-clad and bent of head, self-possessed, and conduct thyself after repeated consideration. Thou shalt thus properly make thy entry. Having entered thy speech, mind, intellect and senses shall be entirely devoted to no other thought than that of being helpful to the patient and of things concering him only. The peculiar customs of the patient's household shall not be made public. Even knowing that the patient's span of life has come to its close, it shall not be mentioned by thee there where if so done it would cause shock to the patient or to others.

"Though possessed of knowledge one should not boast very much of one's knowledge. Most people are offended by the boastfulness of even those who are otherwise good and authoritative.

"There is no limit at all to the "Science of Life." So, thou shouldst apply thyself to it with diligence. This is how thou shouldst act. Again thou shouldst learn the skill of practice from another without carping. The entire world is the teacher to the intelligent and foe to the unintelligent. Hence, knowing this well, thou shouldst listen and act according to the words of instruction of even an unfriendly person, when they are worthy and capable of giving you strength and prosperity."64

It is also seen from the **Sushrutasamhita** that qualified physicians and surgeons had to obtain the permission of the king to enable them to practice their profession.

Well known centres of medical education as those of Takshashila and Nalanda must have developed at a much later period, probably nearer to the historical period. At any rate, the two ancient **Ayurvedasamhitas** which have been relied on in this paper, have not made any mention of them. Takshashila from where Jivaka is stated to have graduated is seen to have flourished and survived through the Buddhist period and was destroyed by the Huns. Nalanda, which flourished in the Buddhist period and continued to function thereafter, is seen to have been destroyed by Bakthiar Khilji in the tenth century A. D. Medical education as an institutionalised discipline, came to an end with the destruction of Nalanda.

## REFERENCES

1. Sushrutasamhita, Sutra I., 3 & Ashtangahridaya, Sutra 1., 5.
2. Charakasamhita, Vimana **4**., 5.
3. Karika V and Gaudapada on it.
4. Charakasamhita, Sutra **11**., 23-24.
5. Ibid, 25.
6. Ibid, 17.
7. Op cit., Vimana **8**., 36.
8. Karika V., and Gaudapada on it and Charakasamhita. Sutra **11**., 18, 19 & 27.
9. Op cit, Sutra **30**., 32-33.
10. Sushrutasamhita, Sutra **1**., 3.
11. Charakasamhita, Sutra **30**., 21.
12. Op cit, Vimana 3., 24.
13. Ibid.
14. Op cit, Sutra 1., 6-14 & Chikitsa **1**., Pada **IV**., 3.

15. Op cit, Chikitsa **1.**, Pada **IV.**, 4.
16. Op cit, Sutra **1.**, 24.
17. Ashtangahridaya, Sutra **1.**, 24.
18. Epigraphica Indica, VI., pp 11-12, See also The Vedic-Age (Bharatiya Bhavan Publication)., p 268.
19. Moiner Williams, Sanskrit-English Dictionary p 854.
20. Valmiki Ramayana, Balakanda, **13.**, 33 & Uttarakanda **38**, 15-16.
21. Preface to the Charakasamhita, Vol I., (Jamnagar Edition), pp 34-35.
22. Sushrutasamhita, Chikitsa **2.**, 2 & Uttara **66.**, 11.
23. Wheeler, Sir Mortimer., The Civilization of Indus-Valley and Beyond., (Thomas & Hudson, London-1966)., p 64.
24. Dikshit K. V., Harappan Culture and its Aftermath., Archeocivilization., Antiquities et Internationales., No., 3-4., Dec. 1967.
25. Dalos., George F., The Decline of the Harappans., The American Review., Oct 1966., p 21.
26. Pusalkar A. D., Indus Valley Civilization., The Vedic-Age., (Bharatiya Bhavan Publication)., p 192.
27. Lal B. B., Expeditions and Excavations since Independence-Hundred Years of Indian Archaeology., The Cultural Forum., December 1961., p 22.
28. Marshal, Sir John., Mohenjo-daro and Indus Civilization Vol II., pp 29, 587-588 & 689-90 and Mackay E. I. H., Further Excavation of Mohenjo-daro (1938)., p 423.
29. Indian Archaeology-A Review., 1963-64., pp 56-57.
30. Wheeler, Sir Mortimer., Civilization of Indus Valley and Beyod., p 99.
31. Op cit, pp 93-102.
32. Op cit,
33. Op cit, p 96.
34. Op cit, p 93.
35. Op cit, p 102.
36. Sharma G. R., The Excavations at Kausambi..... p 6.
37. Op cit. p 96.
38. Sushrutasamhita., Sutra **1.**, 13.
39. Charakasamhita., Sutra 30., 26.
40. Sushrutasamhita., Sutra **I.**, 14.
41. Charakasamhita., Sutra **I.**, 15.
42. Ibid, **11.**, 4.
43. Ibid. 5.
44. Ibid. 7.
45. Op cit. Chikitsa **5.**, 44.
46. Ibid. 63.
47. Op cit. 13., 185-188.
48. Op cit, **14.** 34.
49. Op cit, **26.**, 131.
50. Op cit. Sharira **6.**, 21.
51. Op cit. **8**, 31.
52. Keswani N. H. Bulletin of National Institute of Sciences of India., No., 1926.
53. Jurgen Thorwald., Science and Secrets of Early Medicine-Egypt, Mesapotamia, India, China, Mexico. and Peru., Thames & Hudson, London publication., (1962.)
54. Sushrutasamhita., Sharira **5.**, 49-57.,
55. Charakasamhita., Sharira **6.**, 3 & 10
56. Sushrutasamhita., Sutra **21.**, 5.
57. Ibid.
58. Shabdhasthomamahanidhi.
59. Sushrutasamhita., Sutra **21.**, 5.
60. Charakasamhita., Vimana **8.**, 95-100 and Ashtangahridaya Sutra 1., 9-10 and Sharira **3.**, 80-104.
61. Charakasamhita., Sutra 28., 7 and Chakrapanidatta on it.

62. Refer for details in The Introduction to Kayachikitsa by the author pp 251-270.
63. Op cit. 89-109.
64. Charakasamhita., Vimana 8., 13.

---

# प्रावृट् ऋतुचर्या

ग्रीष्म ऋतु बीत जाने पर प्रावृट् काल में नित्य तीन गुरु रसों—मधुर, अम्ल, लवण का सेवन करे। दुग्ध, कोष्ण मांसरस, तैल, घृत का सेवन करे। बृंहण द्रव्यों तथा अभिष्यन्दि द्रव्यों का का सेवन करे। जौ, गेहूं, पुराना साठी चावल तथा शालि का सेवन करे। हर्म्यमध्य में निवात स्थान में मृदु शय्या पर सोवे। प्रावृट् ऋतु में चटनी आदि खाकर युक्तिपूर्वक पुराना अरिष्ट, आसव, मैरेय को पीये। परन्तु रात्रि में इनको नहीं पीये। निरूह से, अनुवासन बस्ति से, तथा अन्य वातनाशक विधियों से वायु को शान्त करना चाहिए क्योंकि संचित वायु प्रकुपित हो सकती है।

प्रावृट् ऋतु में नदी-जल, रूक्ष-द्रव्य, उष्ण-द्रव्य, सत्तू का घोल, आतप, व्यायाम, दिवास्वप्न, मैथुन को छोड़ दे। नवान्न, रूक्ष-अन्न, शीतल अन्न, शीतल जल, सक्तु को छोड़ दे। इस काल में सविषप्राणियों की विष्ठा, लाला, मूत्र, निष्ठीवन से मिश्रित होने के कारण भूपतित वर्षा जल विष समान होता है। प्रावृट् में विषदुष्ट वायु से अन्तरिक्ष जल भी दूषित हो जाता है। अतः प्रावृट् में अन्तरिक्ष जल का प्रयोग छोड़ देना चाहिए। (सु.उ. अ. ६४।४६ से ५४)।

श्री वैद्य धर्मदत्त जी के छोटे भाई
श्री विद्याधर जी (जन्म १८९६)

श्री वैद्य धर्मदत्त जी के सबसे बड़े भाई
श्री विश्वकर्मा जी जन्म १८९०
(मृत्यु १९६९)

# फ्लू
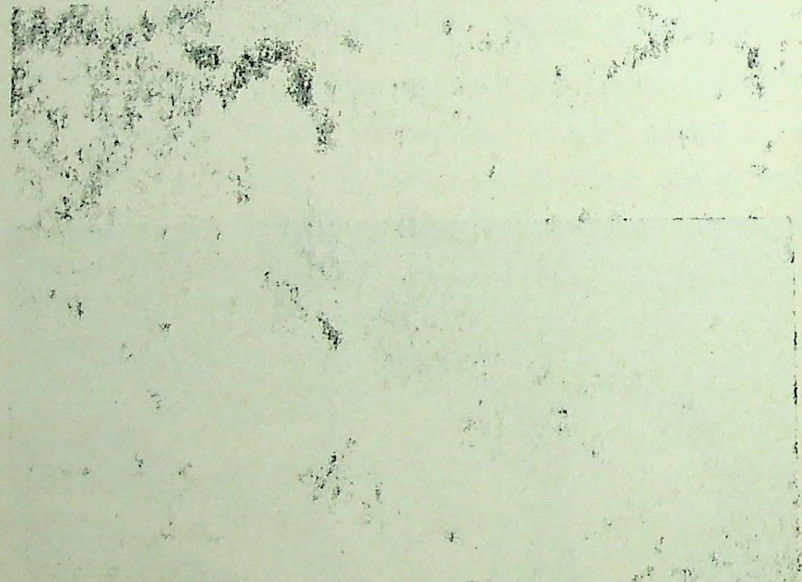
श्री वेदप्रकाश श्रीवास्तव

लगभग सम्पूर्ण यूरोप, उत्तरी अमेरिका तथा कई देशों में इस व्याधि ने अपना ताण्डव नृत्य दिखाया था ! भारत में भी कुछ स्थानों पर इस रोग से सैकड़ों व्यक्ति पीड़ित हुए। इस प्रकार इसका आक्रमण हो चुका है।

यह रोग एकपदिक, स्थानपदिक, जानपदिक,जागतिक रूप भी धारण कर सकता है। सम्पूर्ण संसार में यह रोग १८८६, १९१८ और १९५७ में फैला था ! १८८९ के मरक में बालक, वृद्ध तथा १९१८ के मरक में युवा स्वस्थ पुरुष अत्यधिक आक्रान्त हुए थे।

इस रोग को आधुनिक चिकित्साशास्त्री इनफ्लुएंजा नाम देते हैं। आयुर्वेद में इसके लिए वातश्लेष्मज्वर नाम दिया गया है।

सम्प्राप्ति हेतु—आधुनिक खोजों के अनुसार प्रधान रूप से दो प्रकार के वाइरस इस रोग को पैदा करने के लिए उत्तरदायी माने जाते हैं। Virus A तथा Virus B ! परन्तु एक चिकित्सा शास्त्री डाक्टर बोमान्ट के अनुसार कभी-कभी दोनों में से किसी का भी पता नहीं लगता है। Virus A को १९३३ में खोजा गया था। Virus B को १९४० में खोजा गया था। बीमारियों में वाइरस ए प्रधान रूप से कारण है। वाइरस बी के संक्रमण से उत्पन्न व्याधि में न्यूमोनियाजन्य उपद्रव कम होते हैं। स्ट्रैप्टोकोकाई, न्यूमोकोकाई तथा स्टैफिलोकोकाई जीवाणु प्रायः सहायक कारण माने जाते हैं। इनमें से किसी को स्पष्ट रूप से प्रधान कारण नहीं कह सकते हैं।

मनुष्यों की आयु, परिस्थिति, स्वास्थ्य, लिंग, जाति आदि का इस पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है। प्रायः ऋतुपरिवर्तन के समय स्थान-पदिक रूप में होता है। परन्तु संसारव्यापी होने के लिए कोई समय स्थिर नहीं है। जलवायु के साथ भी इसके उपसर्ग का कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रतिश्याय के समान इस रोग का भी एक निश्चित कारण नहीं ज्ञात हो सका है।

विकृतिविज्ञान—संक्रमण प्रायः पश्चिम नासागुहा से प्रारम्भ हुआ करता है। शीत के कारण जो प्रथम क्षत बनता है वह Ciliated epithelium में बनता है। और वहां परिगलन हो जाता है। वहां से यह नीचे श्वासनालिका तथा उसकी शाखाओं में पहुंचता है। कई रोगियों में स्वरयन्त्र का भी शोथ पाया जाता है। परिगलन वाली जगह तेजी से जलशोथ में बदल जाती है। अधिक घातक आक्रमण से श्वासनलिकाशोथ और घातक श्वसनकज्वर भी उत्पन्न हो सकते हैं।

सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से देखने पर श्वासनलिका के एपिथिलियम नष्ट हुए मिलते हैं। श्वासनलिका में Nacrotic Exudate मिलता है। ब्रौंकिओल्स आकृति में विस्फारित हो जाते हैं। उनकी दीवार में रक्ताधिक्य तथा शोथ हो जाता है। आकृति में Alveoli भी शोथ तथा रक्तस्राव सहित विस्फारित हो जाते हैं।

मृत्यूत्तर शव की परीक्षा करने पर सेप्टीसीमिआ की अवस्था मिलती है ! परन्तु प्लीहा की वृद्धि नहीं होती। ऐसा कुछ विद्वान मानते हैं। रक्तस्राव फुफ्फुसावरण,उदरच्छदाकला तथा हृदयावरण के रिक्त स्थानों पर देखा जा सकता है। श्वासनलिका में श्लेष्मायुक्त पूय मिलता है। Pleural sac में से पीला या रक्तरंजित द्रव्य प्राप्त हो सकता है। Bronchial gland की वृद्धि मिलती है तथा उनसे रक्तस्राव भी सम्भव है। वृक्क थोड़े बढ़े हुए तथा संकुचित होते हैं।

लक्षण—संचयकाल १ से ३ दिन तक है।

तीव्र प्रतिश्याय, असह्य शिरः शूल, सर्वाङ्ग वेदना, क्षुधानाश, अत्याधिक अवसाद, इन लक्षणों के साथ शीतपूर्वक ज्वर के आक्रमण से फ्लू का अनुमान किया जाता है। कुछ ही घण्टों में १०२° फारेनहाइट से १०४° फा० तक ज्वर बढ़ जाता है। आंख और सिर में दर्द, सारे बदन में दर्द तथा खांसी रहती है। आंखों से पानी बहता है तथा आंखों में लाली रहती है। गले में खराश रहती है। नाक बहती है। श्वेतकण रक्त में कम हो जाते हैं। छींकें बहुत आती हैं। जिह्वा मलावृत होती है। मुख का स्वाद फीका और चिपचिपा रहता है। नाड़ी भरी, परन्तु तापक्रम के अनुपात में मन्द होती है। अत्यधिक बेचैनी तथा अवसाद रहते हैं। मूत्र में अल्बुमिन नहीं मिलता है। तापक्रम तीसरे दिन या पांचवें दिन उतर जाता है।

इन लक्षणों के अतिरिक्त कुछ लक्षण संस्थान गत संक्रमण से होते हैं।

श्वासप्रणाली का संक्रमण होने पर तीव्र विषमयता, प्रलाप, तीव्र कास, और फुफ्फुसपाक में जैसा होता है वैसा पार्श्वशूल, रक्तनिष्ठीवन लक्षण होते हैं। खांसने पर थूक प्रायः नहीं निकलता है, थूक निकलने पर गुलाबी चमकीला तथा अत्याधिक फेन युक्त होता है। शीघ्र ही फुफ्फुसपाक तथा श्वसनी-फुफ्फुसपाक आदि उपद्रव हो जाते हैं; जिससे श्वास का ग्रहण करने में कठिनाई होती है। चेहरा जामुन की तरह नीला पड़ जाता है। तापक्रम १०४° फारेनहाइट से ऊपर हो जाता है। ये लक्षण रोग की घातकता की ओर संकेत करते हैं।

इनके अतिरिक्त रक्त में लाल रक्तकणों की संख्या ८,०००,००० प्रति घन सेन्टीमीटर तक पहुंच जाती है जबकि श्वेत कण ३ से ४ हजार प्रतिघन सेन्टीमीटर ही रह जाते हैं। महामारी का यह सबसे सामान्य रूप है। रोगी कुछ घण्टों में या १-२ दिन में हृदयगति बन्द होने से प्राणत्याग कर देता है।

आन्त्रप्रणाली का संक्रमण होने पर ज्वर का अकस्मात आक्रमण, वमन के घातक आक्रमण, उदरशूल, अतिसार, अरोचक आदि लक्षण होते हैं। आंव तथा रक्त भी आता है। कुछ रोगियों में जीर्णज्वर आनाह आदि के भी लक्षण मिलते हैं। रक्ताल्पता भी हो जाती है। इसका मुख्य भेद आंत्रिक ज्वर से करें।

वातिक नाड़ीसंस्थान का संक्रमण होने पर शिरः शूल, भ्रम, प्रलाप, सर्वाङ्ग में पीड़ा तथा मूर्च्छा की अवस्था सम्भव है, जो कि मैनिनजाइटिस की तरफ संकेत करती है। प्रायः ऐनसेफलाइटिस भी हो जाता है, जो कि एक या दो सप्ताह बाद होता है।

इन संस्थानों के अतिरिक्त डा० मजूमदार ने एक प्रकार का Influenza और माना है।

हृदय में संक्रमण होने पर हृदय की दुर्बलता, मृदु तथा तीव्र नाड़ीगति, हृदयद्रव, जो कि संभवतः विषजन्य मायोकारडाइटिस के कारण होती है। श्वासकष्ट तथा हृदयप्रदेश में पीड़ा हो सकती है, और हृदयविस्फार भी सम्भव है।

निदान—तीव्र प्रतिश्याय, फुफ्फुसपाक, घातक विषम ज्वर, आंत्रिक ज्वर से करें! मुख्य रूप से ज्वरजन्य दाहशोथ से करें।

प्राग्ज्ञान—सामान्यतः १ प्रतिशत रोगी मरते हैं। परन्तु इसका घातक रूप घातक है।

चिकित्सा—कोई भी विशिष्ट चिकित्सा अब तक ज्ञात नहीं हो पाई है। उपद्रव न होने पावें, इसके लिए प्रारम्भ से ही ४ लाख पेनिसिलीन तथा १ ग्राम स्ट्रैप्टोमाइसिन प्रतिदिन चार-पांच दिनों तक दे सकते हैं।

इसकी मुख्य चिकित्सा लाक्षणिक ही है।

जिस प्रकार के लक्षण हों उसी प्रकार की चिकित्सा करें ! ज्वर शान्ति के लिए सैलिसिलेट वर्ग का प्रयोग किया जा सकता है। नोवाल्जीन,कोडोपाइरीन, डेकाप्राइरीन, कोसाविल, कैप्रामीन आदि की गोलियां वेदना तथा ज्वर की शांति के लिए दी जा सकती है।

अनिद्रा हो तो नींद लाने के लिए Luminol, Gardinol, Soneryl आदि दे सकते हैं।

आयुर्वेद के अनुसार लक्षणों की निम्नलिखित चिकित्सा करें––

ज्वर पाचन, वात श्लेष्मिक दोष संशमन तथा स्रोतस संशोधन के लिए औषधियां देनी चाहिएं। त्रिभुवनकीर्ति रस के साथ सुदर्शन चूर्ण दे सकते हैं। दशमूल क्वाथ, गुडच्यादि क्वाथ, मधुयष्ठ्यादि क्वाथ इनमें से किसी का प्रयोग कर सकते हैं। शुष्क कास की अवस्था में तालीशादि चूर्ण दे सकते हैं। तुलसी तथा अदरक की चाय गरम गरम पिलानी चाहिए। व्योषादि वटी की गोलियां चूसने से कास को शान्ति मिलती है। पूर्णतया आराम करना चाहिए। ठण्डी चीजों से तथा ठण्ड से बचना चाहिए। ठंडी हवा से सिर को बचाना चाहिए। उष्ण जल पीना चाहिए। उर प्रदेश का उष्ण सेक करना चाहिए। ऊनी वस्त्र पहन कर रहना चाहिए। व्योषादि चूर्ण, लवंगादि चूर्ण, त्रिकटु चूर्ण का प्रयोग करें।

साइनोसि के लक्षण होने पर आक्सीजन दें। रक्त की कमी होने पर रक्त बढ़ानेवाली औषध दें। हृदय सम्बन्धी रोग में अवसाद आदि होने पर कोरामिन आदि हृदय उत्तेजक औषधि दें। मृतसंजीवनी सुरा का प्रयोग करें। सिद्धमकरध्वज या चन्द्रोदयमकरध्वज का प्रयोग मधु, अद्रक, तुलसी स्वरस से करें।

श्वसन संस्थान में उपद्रव न होने पावें इसके लिए टेरामाइसन दें।

संक्षेप में कहना हो तो यही पर्याप्त है कि लाक्षणिक चिकित्सा करें।

उपद्रव––फुफ्फुसपाक,श्वसनीफुफ्फुसपाक, फुफ्फुसावरण शोथ, राजयक्ष्मा, मस्तिष्कावरण शोथ,पक्षाघात, मध्यकर्णशोथ, संधिशोथ, हृदपेशीशोथ, शीघ्र हृदयता, हृच्छूल, जीर्ण प्रतिश्याय, अस्थिविवर शोथ, ऊरुस्तम्भ, भ्रम, उन्माद, गलग्रंथिशोथ आदि उपद्रव हो सकते हैं।

# आयुर्वेदिक द्रव्यगुणविज्ञान की विधि

आयुर्वेदाचार्य वैद्य श्री धर्मदत्त, विद्यालंकार

## द्रव्यगुणविज्ञान का प्रयोजन –

आयुर्वेद के अनुसार शरीर की सर्व क्रियाएं शरीर के तीन मूलतत्त्वों वात, पित्त और कफ के द्वारा संपादित होती हैं। इनके समावस्था में रहने से शरीर स्वस्थ रहता है, इनके विषम हो जाने से शरीर अस्वस्थ होता है। इन्हें समावस्था में रखने तथा विषम हो जाने पर पुनः समावस्था में लाने के लिए द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। अतः किसी द्रव्य का गुण त्रिधातुओं पर बंधा है। यह जानना कि कौनसा द्रव्य किस दोष का वर्धक है और किन दोष का शामक है, आयुर्वेदिक द्रव्यगुण विज्ञान का प्रयोजन है।

## वात, पित्त, कफ की वृद्धि तथा क्षय –

'वायुर्वाय्वात्मा' वात धातु वायव्य है। 'पित्त-माग्नेयम्' पित्त धातु आग्नेय है। "श्लेष्मा सौम्यः" कफ धातु आप्य है (सु.सू. ४२) तथा वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः (वाग्भट सूत्र १) समान गुण द्रव्यों से इनकी वृद्धि होती है तथा विपरीत गुण द्रव्यों से शान्ति होती है। इस नियमके अनुसार वायु,आकाश प्रधान द्रव्यों से शरीर में वायु की वृद्धि होती है। इसके विपरीत पृथ्वी अप् और अग्नि प्रधान द्रव्यों के सेवन से शरीर का तर्पण पोषण बढ़ता है जिससे उसमें वायु की शान्ति हो जाती है।

अग्नि प्रधान द्रव्यों से शरीर में पित्त धातु की वृद्धि होती है। इसके विपरीत पृथ्वी अप् वायु और आकाश प्रधान द्रव्यों से पित्ताग्नि शान्त होती है।

तथा पृथ्वी और अप् तत्व प्रधान द्रव्यों के सेवन से शरीर में कफ धातु की वृद्धि होती है। इस के विपरीत अग्निवायु और आकाश प्रधान द्रव्यों के सेवन से शरीर का पोषण घटता है और उसमें कफ कर्म मन्द हो जाता है।

## द्रव्य में किस भूत की प्रधानता है इस। ज्ञान प्रयोग से लगता है –

प्राणियों या मनुष्यों में द्रव्यों का प्रयोग करके उससे उत्पन्न होने वाले लक्षणों को देखकर जाना जा सकता है कि किस द्रव्य में किस भूत की प्रधानता है।

'संघातवतीपृथ्वी' संघात (Solidity) के लक्षण को पृथ्वीतत्व कहते हैं। अर्थात् जो द्रव्य प्रयोग करने से शरीर में संघात, घनता, सान्द्रता, के लक्षणको उत्पन्न करता है, साथ ही गुरुता, स्थूलता, मन्दता, स्थिरता, कठिनता के लक्षणों को उत्पन्न करता है उसे पार्थिव द्रव्य कहते हैं। पार्थिव या पृथ्वीतत्व प्रधान द्रव्य कफ धातु का वर्धक तथा पित्त और वायु का शामक होता है।

"द्रवत्वम् आप्यतवम्" द्रवता (Liquidity, fluidity) को अप्तत्व कहते हैं। जो द्रव्य शरीर की धातुओं में द्रवता, क्लिन्नता, स्निग्धता, मृदुता, पिच्छिलता आदि पोषण तथा सन्तर्पण के सौम्य लक्षणों को उत्पन्न करता है तथा दहन, पचन, रक्त संचरण की अधिकता के लक्षणों को शान्त करके शीतता के लक्षण को उत्पन्न करता है उसे अप्तत्व प्रधान द्रव्य कहते हैं। ऐसा द्रव्य शरीर में कफकर्म (Constructiveactivity) का वर्धक तथा पित्त और वायु कर्मों का शामक होता है।

'तेजोवत्वम् अग्नितत्वम्' अर्थात् जो द्रव्य सेवन करने पर शरीर की सहज दहन पचन की प्रक्रिया (Combustive, oxigenative activity) को तीव्र करता है आग्नेय कहाता है। रासायनिक प्रक्रिया को तीव्र करने से उसे तीक्ष्ण गुण तथा रक्त संचरण को बढ़ाने से उसे उष्ण गुण कहते हैं। ऐसा द्रव्य पित्तकर्म का वर्धक होता है तथा कफ और

वायु कर्मों का शामक होता है।

'गतिमत्वम् वायुत्वम्' गतिमत्व को वायु कहते हैं। जिन द्रव्यों में पृथ्वी और अप्तत्वों तथा अग्नितत्व की भी न्यूनता होती है उनमें इस तत्व की अधिकता होती है। ऐसे द्रव्यों के प्रयोग से शरीर का पोषण तर्पण घटता है जिससे स्थिरता के स्थान पर चलता ( Excitability ), गुरुता के स्थान पर लघुता ( Atrophy ), पिच्छिलता के स्थान पर विशदता, स्निग्धता के स्थान पर रूक्षता, उष्णता के स्थान पर शीतता का लक्षण उत्पन्न हो जाता है। ऐसा द्रव्य शरीर में वायु कर्म का वर्धक तथा कफ-पित्तकर्म का शामक होता है।

'अवकाशवत्वम् आकाशत्वम्' के अनुसार जिस द्रव्य के प्रयोग से अवयवों में विविक्तता, विवरता, सुषिरता, सच्छिद्रता ( Porosity ) का लक्षण उत्पन्न हो जाता है, साथ ही लघुता का लक्षण भी बढ़ता है उसे आकाश तत्व प्रधान द्रव्य कहते हैं। ऐसे द्रव्य के सेवन से वायु कर्म की वृद्धि होती है तथा कफपित्त कर्म की शान्ति होती है।

**द्रव्य में क्या गुण है इसका ज्ञान भी प्रयोग से लगता है –**

(१) गुरुगुण--उस द्रव्य को कहते हैं जो पृथ्वी अप् तत्व प्रधान होने के कारण कफकर्म को बढ़ाता है, धातुओं का सन्तर्पक पोषक (Nutrient, Trophic ) होता है। शरीर में गुरुता, स्थूलता, मन्दता, प्रसन्नता को उत्पन्न करता है। शरीर की निर्बलता को दूर करने के कारण उसके वायुविकार को शान्त करता है। अति प्रयोग से गुरुगुण, कफरोगों का कारण बनता है।

(२) लघुगुण--उस पदार्थ या भाव को कहते हैं जो अग्नि वायु तत्व प्रधान होने से धातुओं के लिए अपतर्पक होता है, शरीर के भार को कम करता है, उसमें लघुता उत्पन्न करके उसकी कार्य क्षमता श्रमशीलता को बढ़ाता है। लघु गुण का अति प्रयोग करने से वह वायुजनित विकारों का कारण हो जाता है।

(३) स्निग्धगुण--उस पदार्थ या भाव को कहते हैं जो अप्तत्व प्रधान होने से शरीर में स्नेहन ( Fatty tissue ) को बढ़ाता है। शरीर में स्निग्धता-मृदुता, मन्दता को उत्पन्न करता है। कफकर्म का वर्धक तथा वायुकर्म का शामक होता है।

अति प्रयोग से यह गुण जहां वसा नहीं होनी चाहिए वहां भी वसा को उत्पन्न करता है। अतिस्नेहन या Fatty degeneration का कारण हो जाता है।

(४) रूक्षगुण--वह पदार्थ या भाव है जो शरीर में स्नेहन, क्लेदन को कम करके उसमें रूक्षता ( Dryness ) को उत्पन्न करता है। ऐसा पदार्थ पृथ्वी वायु अग्नि तत्व प्रधान होता है। ऐसा पदार्थ कफकर्म का शामक तथा वायुकर्म का वर्धक होता है। अतिप्रयोग करने से यह वायु-विकारों का कारण होजाता है।

(५) उष्णगुण--ये अग्नितत्व प्रधान द्रव्य या भाव होते हैं जो शरीर में पित्तकर्म को तीव्र करके दाह (Heat) और पाक (Digestion, oxigenation) को बढ़ाते हैं। ये कफकर्म और वायुकर्म के शामक होते हैं।

(६) शीतगुण--वे पदार्थ या भाव हैं जो अप्तत्व प्रधान होने से शरीर में पित्त-कर्म ( Combustion ) को कम करते हैं। दाह तथा पाक के शामक ( Soothing-Cooling ) होते हैं। ये कफकर्म तथा वायुकर्म के वर्धक होते हैं।

(७) तीक्ष्णगुण--वे पदार्थ या भाव होते हैं जो आग्नेय होने के कारण शरीर की रासायनिक प्रक्रिया को उष्ण गुण के समान तीव्र करते हैं।

ये पित्तकर्म को तीव्र करते हैं और कफकर्म तथा वायुकर्म को मन्द करते हैं।

(८) मन्दगुण--वे पदार्थ या भाव हैं जो पृथ्वी अप्तत्व प्रधान होने से शरीर की रासायनिक प्रक्रिया को मन्द करते तथा कफकर्म (Constructive activity) को बढ़ाते हैं।

द्रव्यों के इन उपर्युक्त आठ गुणों को अन्य गुणों से प्रधानता दी जाती हैं। इन्हें द्रव्य का 'वीर्य' या बल भी कहा जाता है। कोई लोग इन आठ में से भी उष्ण और शीत इन दो गुणों को ही 'वीर्य' कहते हैं।

(९) स्थिरगुण--जो पदार्थ या भाव पृथ्वी अप्तत्वप्रधान होने से शरीर के तर्पण पोषण को बढ़ाकर मस्तिष्क तथा नाड़ी मण्डल ो बल प्रदान करते हैं। शरीर में स्थिरता, अविचलता, दृढ़ता, क्षमता, सहिष्णुता को बढ़ाते हैं, वे स्थिर गुण कहाते हैं। ये कफकर्म के वर्धक तथा वायुकर्म के शामक होते हैं।

(१०) चलगुण--वे पदार्थ या भाव हैं जो वायुतत्व प्रधान होने से पोषण को कम करके शरीर तथा उसके नाड़ीमण्डल को निर्बल करते हैं। चलता (Excitability) को उत्पन्न करते हैं। अर्थात् जो कफकर्म को मन्द करते हैं तथा वायु-कर्म को बढ़ाते हैं वे चलगुण कहाते हैं।

(११) मृदुगुण--वे पदार्थ या भाव होते हैं जो अप्तत्वप्रधान होने के कारण धातुओं में मृदुता, या कोमलता (Softness) को बनाए रखते हैं। मृदु गुणपदार्थ पित्त तथा वायुकर्म के शामक होते हैं।

(१२) कठिनगुण--वे पदार्थ या भाव हैं जो पृथ्वी वायुतत्व प्रधान होने से धातुओं की मृदुता को कम करके उनमें कठोरता को बढ़ाते हैं। अर्थात् जो पदार्थ अवयव के प्रधान सेलों (Parenchyma) को कम करके अवयव के गौण भाग स्नायुतन्तु (Fibroustissue) को बढ़ाते हैं, उसे बढ़ाकर Fibrosis करके उसे कठोर करते हैं। उदाहरणतया मृदुधमनियों की दीवार को कठोर कर देते हैं अर्थात् Sclerosis की प्रक्रिया को उत्पन्न करते हैं।

(१३) स्थूलगुण--वे पदार्थ या भाव जो पृथ्वी अप्तत्व प्रधान होने के कारण वसा तथा मेद की वृद्धि करते हैं, स्थूल गुण कहाते हैं।

अति प्रयोग करने से यह पदार्थ शरीर में जहां वसा न होनी चाहिए वहां भी वसा को उत्पन्न करते हैं। सूक्ष्म धमनियों की दीवार में वसा को बढ़ा कर धमनीस्त्रोतोरोध (Occlusion of artervies) को उत्पन्न करते हैं। रक्त में विद्यमान वसा (Cholesterol) की मात्रा को बढ़ाते हैं।

(१४) सूक्ष्मगुण--वायु आकाश प्रधान वे द्रव्य जो शरीर के पोषण को कम करने वाले हों, वसा मेद आदि को घटाने वाले हों, अस्थियों के पोषण को कम करके उनमें विवरण, अवकाश, या पोलेपन (Porosis या Osteoporosis) के उत्पन्न करने वाले हों, सूक्ष्मगुण कहाते हैं।

(१५) पिच्छिलगुण--जो पदार्थ अप्तत्व प्रधान होने से शरीर के स्त्रोतों में क्लिन्नता, उपलेप, श्लेष्मस्त्राव, को बढ़ाते हैं। कफवर्धक होते हैं उन्हें पिच्छिल (Lubricant, demulcent) कहते हैं।

(१६) विशदगुण--जो पदार्थ वायु तथा अग्नितत्व की अधिकता के कारण स्त्रोतों की श्लेष्म-कला के श्लेष्मस्त्राव को सुखाता हो, स्त्रोतों के अन्दर के उपलेप को कम करता हो, अर्थात् ग्राही (Astringent) हो उसे विशदगुण कहते हैं।

(१७) श्लक्ष्णगुण--जो पृथ्वीवायुतत्वप्रधान पदार्थ दांत, अस्थि कण्डरा स्नायु आदि कठोर अवयवों में चिकनेपन को कायम रखे उसे श्लक्ष्ण-गुण कहते हैं।

(१८) खरगुण---जो वायुतत्वप्रधान द्रव्य दांत अस्थि आदि में क्षीणता ( Necrosis या Caries ) उत्पन्न करते हैं और उन्हें कर्कश या खुर्दरा कर देते हैं वे खरगुण कहाते हैं।

(१९) सान्द्रगुण---जो द्रव्य पृथ्वीतत्वप्रधान होने से अवयवों में घनता संघात या सान्द्रता (Solidity) को बढ़ाता है। कफवर्धक होता है उसे सान्द्रगुण कहते हैं।

(२०) द्रवगुण---जो पदार्थ अवयवों में द्रवता ( Liquidity ) को बढ़ाता है ऐसे अप्तत्व प्रधान द्रव्य को द्रवगुण कहते हैं। अतियोग से यह द्रवता सूचक क्षीणता को उत्पन्न करता है (जैसे Cystformation या Colloiddgeneration हैं)।

## रस द्वारा द्रव्यगुण ज्ञान –

(१) मधुर रस---द्रव्य प्रायः अप्तत्व प्रधान होते हैं। गुरु, स्निग्ध, शीत, मृदु, पिच्छिल मन्द, स्थूल गुण वाले होते हैं। धातुओं के लिए तर्पण, बृंहण, बल्य एवं कफकर्म के वर्धक होते हैं। पोषण-गुण होने से वायुरोग में हितकर होते हैं। अतिसेवन से कफ विकारों का कारण होते हैं। पुराने धान्य, मूंग, यव, मधु, जांगल मांस आदि मधुर रस होने पर भी कफ रोगों में हितकर हैं।

(२) अम्लरस---द्रव्य प्रायः पृथ्वी तथा अग्नि-तत्व प्रधान होते हैं। उष्ण, तीक्ष्ण,गुरु, स्निग्ध गुण होते हैं। अतः कफ पित्त दोनों विरोधी कर्मों के वर्धक होते हैं, इसीलिए कफ पित्त रोगों में ये ठीक नहीं होते। वायु रोग में हितकर होते हैं।

(३) लवणरस---द्रव्य जल तथा अग्नितत्व प्रधान होते हैं। उष्णतीक्ष्ण, स्निग्ध, क्लेद गुण होते हैं। अतः कफ पित्त दोनों कर्मों के वर्धक होते हैं। बल्य होने से वातरोगों के शामक होते हैं। कफ-रोगों तथा पित्त रोगों में हितकर नहीं होते। सैंधवलवण में उष्ण गुणका दोष नहीं है। अतः वह पित्तवर्धक नहीं होता।

(४) कटुरस---द्रव्य प्रायः वायु और अग्नि-तत्व प्रधान होते हैं। इसीलिए वे रूक्ष,लघु,खर,विशद उष्ण, तीक्ष्ण गुण होते हैं। वायु तथा पित्तधातु के वर्धक होते हैं। इन दोनों के रोग में ये द्रव्य ठीक नहीं रहते। कफकर्म के शामक होने से कफरोगों में उपयुक्त रहते हैं। लशुन,पिप्पली,शुण्ठी आदि द्रव्य कटु होने पर भी बल्य हैं। वायु रोग में हितकर होते हैं।

(५) तिक्तरस---द्रव्य वायु आकाशतत्व प्रधान होते हैं। रूक्ष, शीत, लघु गुण होते हैं। कफ पित्तरोग शामक होते हैं अर्थात् वे क्लेद, मेदा वसा आदि की वृद्धि को रोकते हैं। रक्तशोधक होते हैं पूयभाव को रोकते हैं।

(६) कषायरस---द्रव्य पृथ्वी वायुतत्वप्रधान होते हैं। रुक्ष, लघु, शीत गुण होते हैं तथा कफपित्त दोनों के शामक होते हैं। क्लेद को सुखाते हैं। ग्राही होते हैं।

संक्षेपतः मधुर अम्ल लवण ये तीन रस रूक्ष लघु शीत गुण न हों तो कफवर्धक और वायु-शामक होते हैं।

मधुर तिक्त कषाय ये तीन रस यदि उष्ण गुण न हों तो पित्तशामक होते हैं।

कटुतिक्त कषाय ये तीन रस यदि स्निग्ध गुरु शीत गुण न हों तो कफ शामक होते हैं।

## द्रव्य प्रभाव –

मधुर आदि रसों तथा गुरु आदि गुणों का उल्लंघन करके,पञ्चभूतों के एक विचित्र मिश्रण के कारण द्रव्य का जो विशेष गुण शरीर पर होता है उसे उसका प्रभाव कहते हैं। जैसे हरीतकी का विरेचन, गोक्षुरु का मूत्रल, कुलत्थ का अश्मभेदक, सर्पगंधा का निद्रा तथा शान्तिजनक, ब्राह्मी शंख-पुष्पी आदि का मेध्य गुण होता है इसे प्रभाव कहते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य कुछ रस से कुछ गुण से कुछ अपने प्रभाव से शरीर में काम करता है।

## आयुर्वेद में, द्रव्यगुण की यथार्थता --

आयुर्वेद में द्रव्यों के जो गुण लिखे गये हैं, वे इतने यथार्थ हैं कि यह नहीं कह सकते कि वे परीक्षण के बिना केवल अटकल या फिलोसफी के आधार पर लिखे गये हैं। उदाहरणतया आयुर्वेद मधु को रूक्ष, लघु, शीतगुण, त्रिदोषहर मेदोनाशक कहता है और गुड़ को स्निग्ध, गुरु, उष्णगुण, कफपित्तमेदो वर्धक और वातहर कहाता है और खाण्ड को स्निग्ध, गुरु, शीतगुण, वात पित्तहर, कफवर्धक कहता है। इसी प्रकार आयुर्वेद माष को स्निग्ध, गुरु, उष्णगुण, कफ पित्त मेदोवर्धक तथा वातशामक कहता है; जबकि मूंग और मोठ को रूक्ष, लघु, शीतगुण, वातपित्त शामक, तथा कफवर्धक नहीं ऐसा तथा कुलत्थ को रूक्ष उष्ण गुण, कफवात शामक, पित्त-वर्धक कहता है। गेहूं को आयुर्वेद स्निग्ध, गुरु, शीतगुण कफ वर्धक, वातपित्तहर कहता है। जबकि यव को रूक्ष, गुरु, शीतगुण पित्तकफ मेदोहर कहता तथा चावल को स्निग्ध, लघु, शीत गुण, पित्तहर, किञ्चित्कफवात वर्धक कहता है। लशुन को स्निग्ध, गुरु उष्णगुण कफवात शामक, मेध्य, नेत्र्य हृद्य या हृदयरोगहर कहता है जब कि पलाण्डु को स्निग्ध, गुरु, उष्ण गुण, कफ पित्तवर्धक वातहर कहता है। सामुद्र आदि अन्य लवणों को स्निग्ध लघु, उष्ण, तीक्ष्ण गुण, पित्त कफवर्धक वातहर कहा है। परन्तु सैन्धलवण को स्निग्ध,लघु, शीतगुण त्रिदोषनाशक नेत्ररोगहर कहा है। अम्लफलों को उष्णगुण, पित्तवर्धक कहा है। परन्तु अनार और आंवले को शीतगुण पित्तशामक कहा है। इस प्रकार एक जैसे पदार्थों के विभिन्न गुण जो कहे हैं उस से पता चलता है कि आयुर्वेद ने केवल अटकल या तर्क के आधार पर द्रव्यगुणों का ज्ञान प्राप्त नहीं किया था प्रत्युत दृढ़ प्रमाणों के आधार पर। सुश्रुत ने कहा है कि (सूत्र स्थान, ४० अध्याय)

"नौषधीर्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कदाचन।
सहस्रेणापिहेतूनां नाम्बष्ठादिर्विरेचयेत् ॥"

अर्थात् केवल तर्क से, युक्तियों से द्रव्य गुण का निर्णय नहीं करना चाहिये। लगातार उनका प्रयोग करके उनके गुणों का निर्णय प्रत्यक्ष अनुमान शब्द प्रमाणों से तथा युक्तिसंग अर्थात् योजना ( Experiment ) के द्वारा करना चाहिए। अर्थात् मनुष्यों तथा क्षुद्र-प्राणियों में उनका चिरकाल प्रयोग करने के बाद उनके गुणों का ज्ञान होता है।

आयुर्वेद की परिभाषा में जो द्रव्य मुख द्वारा या इञ्जेक्शन द्वारा शरीर में प्रविष्ट किए जाने पर भिन्न २ अंगों के लिए पोषक तर्पक या (Nutrient) होता है उसे कफवर्धक तथा जो वृद्धि को कम करने वाला अपतर्पक होता है उसे कफशामक कहते हैं।

जो द्रव्य शरीर में प्रविष्ट किए जाने पर अंगों के दहन पचन की प्रक्रिया ( Oxidation, digestion ) को उत्तेजित करता है उसे पित्तवर्धक तथा जो इस प्रक्रिया को मन्द करता है उसे पित्त-शामक कहते हैं।

जो द्रव्य शरीर में प्रविष्ट किए जाने पर अंगों की निर्बलता ( Atony ) अस्थिरता चलता ( Irritability, Sensitivity ) को शान्त करता है और उनकी क्रियाशक्ति प्राणशक्ति ( Dynamic या Vitalenergy ) को दृढ़ एवं बल-वान् करता है उसे वायुशामक कहते हैं और जो उनकी अस्थिरता और चंचलता को बढ़ाकर उनकी क्रियाशक्ति ( Vitalenergy ) को निर्बल करता है उसे वायुवर्धक कहते हैं।

आयुर्वेद कालेज, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, की छात्रपरिषद् द्वारा आयोजित वार्षिकोत्सव पर आचार्य वैद्य धर्मदत्त विद्यालंकार ने अध्यक्ष पद ग्रहण किया ।
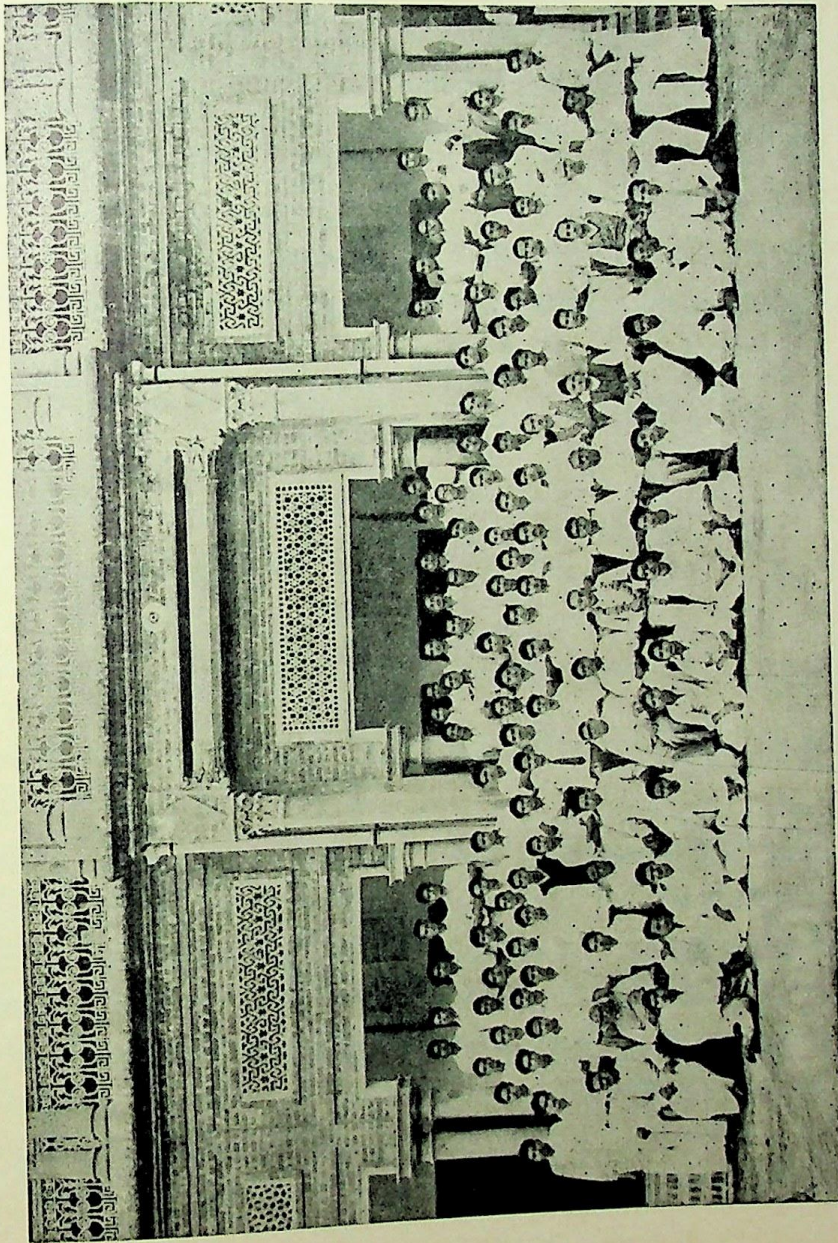
मध्य में माला पहने हुए आचार्य वैद्य धर्मदत्त जी विराजमान हैं । (१९५६–५७)

उपसंहार –

संक्षेपतः, आयुर्वेद में वृद्धि ( Growth ), पक्ति ( Combustion ), और गति ( Dynamism ) इन तीन की साम्यावस्था को स्वास्थ्य और इनकी विषमावस्था को रोग कहा है। इन के वैषम्य को दूर करने के लिए ही द्रव्यों का प्रयोग होता है। अतः द्रव्यों के विषय में यह जानना जरूरी है कि उन का वृद्धि ( Growth ), पक्ति ( Oxidation ), और गति ( Dynamism ) पर क्या प्रभाव है। जो द्रव्य बढ़ी हुई वृद्धि को कम करता है उसे आयुर्वेद कफशामक, जो बढ़ी हुई पक्ति को कम करता है उसे पित्तशामक और जो बढ़ी हुई गति को कम करता है। अर्थात् Vitalenergy को बढ़ाला है उसे वायुशामक कहता है। इसके विपरीत जो द्रव्य पोषण का कारण होने से अतिवृद्धि कर सकता है उसे आयुर्वेद कफवर्धक, तथा जो दहन पचन को बढ़ाकर अति-पक्ति का कारण हो सकता है उसे वह पित्तवर्धक, और जो द्रव्य निर्बलता को बढ़ा कर Vitalenergy को घटाकर अति चेष्टा या गति का कारण हो सकता है उसे वह वायुवर्धक कहता है।

---

# ग्रीष्मऋतुचर्या

ग्रीष्मऋतु में व्यायाम, धूप, परिश्रम, मैथुन, शरीरशोषक आहार, अग्निगुण की अधिकका वाले रसों ( कटु, अम्ल, लवण ) का त्याग करे।

ग्रीष्मऋतु में सरोवर, नदी, वापी, रुचिर वन, उत्कृष्ट चन्दन, कमल, उत्पल की मालाओं, तालपत्र के पंखों की वायु, शीतगृह, लघु वस्त्रों का सेवन करे। शर्करा या खांड से युक्त, सुगन्धित, शीतल पानकों-शर्बतों का सेवन करे। शर्करा मिश्रित मन्थों का पान करे। शीतल, घृतयुक्त, मधुर, द्रवप्राय भोजन हितकर है। रात्रि में शर्करामधुर शृतशीत दुग्ध से भोजन करे। रात्रि में चन्द्रमा की किरणों से शीतल छत पर खुली हवा में बिस्तर बिछा कर सोये, और ताजे तोड़े हुए सुगन्धित शीतल फूलों को बिस्तर पर बिछा देवे, और शरीर पर चन्दन का लेप करके शीतल वायु का सुख लेते हुये सोये। दिन में शीतगृह में निद्रा का आनन्द लेवे।

( सु. उ. अ. ६४- श्लो० ४०-४५ )

आयुर्वेद का मौलिक सिद्धान्त--

# त्रिदोष या त्रिधातु का रहस्य

वैद्य श्री सभाकान्त झा शास्त्री, कलकत्ता

प्रस्तुत लेख जिस उद्देश्य से लिखा जा रहा है, उसके सम्बन्ध में प्रारम्भ में थोड़ा-सा प्रकाश डाल देना इसलिए अच्छा होगा कि वाचकों के मन में मूल लेख का भाव स्पष्ट समझ में आ जाय। अतः प्रथम यहां त्रिधातु या त्रिदोष, जो आयुर्वेद का मूलभूत सिद्धान्त है, अष्टांग आयुर्वेद की किसी भी पुस्तक को उठाकर देखा जाये तो इस त्रिधातु या त्रिदोष की सर्वत्र चर्चा मिलेगी। रोग-विज्ञान, चिकित्सा-विज्ञान, द्रव्यगुण-विज्ञान, वनस्पति विज्ञान इत्यादि जहां देखें सर्वत्र इसके दर्शन होंगे। इस विषय पर अब तक अनेक विद्वानों ने पुस्तकरूप में या निबन्ध रूप में अपने विचार भी प्रकट किये हैं। फिर भी समय-समय पर शास्त्रीय या शास्त्रेतर प्रमाणों द्वारा त्रिधातु या त्रिदोष के विषय में शंकाएं उपस्थित होती रहती हैं। ये शंकाएं किस प्रकार की होती हैं, प्रथम मैं उसीका उल्लेख कर पुनः इन शंकाओं का यथामति निरसन करते हुए मूल विषय पर आऊंगा।

## त्रिधातु क्या है ?

बीसवीं शताब्दी में विज्ञानजन्य बौद्धिकता का ही बोलबाला है। इस युग में कोई परम्परागत या अप्रामाणिक बात लोगों के गले में उतार देना टेढ़ी खीर है। नये-नये साधनों और अनुसन्धानों के द्वारा शरीर के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग की रचना और उनका कार्य अच्छी तरह जान लिया गया है। शरीर के प्रत्येक रग-रेशे को देख लिया गया है। परन्तु मानव शरीर में व्याप्त वात-पित्त-कफ को सूक्ष्मदर्शकयन्त्र के द्वारा आज तक भी नहीं देखा जा सका। जिन कीटाणुओं का स्वरूप एक इञ्च से करोड़ों गुना कम है, वे भी सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के द्वारा देख लिए गये हैं। परन्तु आयुर्वेद के इस त्रिधातु को देखा नहीं जा सका। फिर इनकी सत्ता कैसे मान ली जाय ?

केवल यही नहीं कि पाश्चात्य विज्ञान के सभी साधनों से वात-पित्त-कफ अज्ञेय हैं। अपितु आयुर्वेदिक ग्रन्थों के अनुसार भी इनका कोई स्थान या स्वरूप निश्चित नहीं किया जा सकता है। आचार्य सुश्रुत का कथन है कि--

'वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भव हेतवः। तैरेव अव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यतेऽऽगारमिवस्थूणाभिस्तिसृभिरतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके'। (सु० सू० अ० २१)

अर्थात् वात-पित्त-कफ शरीर की उत्पत्ति और स्थिति के कारण हैं। ये तीनों शरीर के आधारस्तम्भ हैं। जैसे कोई घर तीन स्थूणाओं (थूनियों) पर अवलम्बित रहता है, उसी प्रकार शरीर इन तीनों के सहारे ही टिका हुआ है। इसीलिए शरीर को 'त्रिस्थूण' कहा जाता है। परन्तु इन स्थूणाओं के दर्शन शरीर के भीतर कहीं नहीं होते। इनके स्थानों का निर्देश करते हुए सुश्रुत ने फिर लिखा है--

वातः श्रोणिगुदसंश्रयः, तदुपर्यधोनाभेः पक्वाशयः, पक्वामाशयमध्यं पित्तस्य, आमाशयः श्लेष्मणः। ·· ·· अतः परं पञ्चधा विभज्यते। ··· पित्तस्य यकृत्प्लीहानौ हृदयं, दृष्टिस्त्वक् पूर्वोक्तं च। श्लेष्मणस्तु उरः, शिरः, कण्ठो, जिह्वामूलं सन्धय इति पूर्वोक्तं च। सु० सू० अ० २१।

अर्थात् आमाशय में कफ का उसके नीचे पित्त

का और श्रोणिगुद में वायु का स्थान है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य स्थानों के भी नाम लिए हैं।

चरक ने भी इसी प्रकार स्थानों का निर्देश किया है। परन्तु चरक का कथन सुश्रुत से विरुद्ध है। सुश्रुत ने आमाशय को कफ का स्थान माना है। परन्तु चरक ने आमाशय में पित्त का स्थान बतलाया है। यथा--

तेषां त्रयाणां दोषाणां शरीरे स्थान विभाग उपदेक्ष्यन्ते। तद्यथा बस्तिः पुरीषाधानम् कटिः सक्थिनी पादावस्थीनि च वातस्थानानि। अत्रापि पक्वाशयोविशेषेण वातस्थानम्। स्वेदो रसोलसीका रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि। अत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम्। (च० सू० अ० २०)

चरक ने अनेक स्थानों पर त्रिदोष या त्रिधातु को सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त भी बताया है। यथा--

शरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणो हि सर्वस्मिन् शरीरे कुपिताकुपिताः शुभाशुभानि कुर्वन्ति। च० सू० अ० २०।

वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वस्रोतांस्ययनभूतानि च। (च. वि. अ. ५)

इससे स्पष्ट है कि आयुर्वेद के ग्रन्थों में केवल परस्पर विरोध ही नहीं, प्रत्युत चरक और सुश्रुत के अपने वचनों में भी पूर्वापर विरोध है।

सुश्रुत का कथन है कि--

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा॥
(सु. सू. अ. २१)

अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा, सूर्य और वायु जगत् को धारण करते हैं, उसी प्रकार वात-पित्त-कफ शरीर को धारण करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि वात-पित्त-कफ शरीर में रहने वाली कोई वस्तु है। परन्तु चरक और सुश्रुत का द्रव्यगुण प्रकरण देखिए तो पृथ्वी पर विद्यमान प्रत्येक पदार्थ में वात-पित्त और कफ की सत्ता का वर्णन मिलेगा। अन्न, फल, मूल, शाक, दूध, मांस आदि सभी पदार्थों में इनकी स्थिति का उल्लेख मिलेगा। फिर यह त्रिधातु केवल शरीर में रहने वाली वस्तु कैसे हुई?

आयुर्वेद का यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि सजातीय वस्तु के मेल से प्रत्येक चीज़ बढ़ती है, अर्थात् जिस वस्तु के खाने से वायु बढ़ती है, उसमें वायु की सत्ता अवश्य माननी पड़ेगी। इसी प्रकार विरोधी गुणों से विरुद्ध गुण घटता है। सुश्रुत कहता है कि--

तत्र पैत्तिकानां व्याधीनामुपशमो हेमन्ते, श्लेष्मिकाणां निदाघे, वातकानां शरदि स्वभावत एव। (सु सू. अ ६)।

अर्थात् हेमन्त ऋतु में पित्त के रोग, ग्रीष्म में कफ के रोग, और शरद में वायु के रोग, ऋतु के स्वभाव से ही कम हो जाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि ऋतुओं में भी त्रिधातु की सत्ता है, अन्यथा इनके स्वभाव से किसी दोष या धातु का घटना-बढ़ना कैसे सम्भव हो सकता है? इस प्रकार पृथ्वी, वृक्ष, वनस्पति, कन्द, मूल, फल, आकाश, दिशा, काल और शरीर ये सब वात-पित्त-कफ से घिरे होते हैं। अब सोचिए इसका स्वरूप क्या हो सकता है? ऐसी कौन-सी वस्तु हो सकती है जो हमारे शरीर में भी हो और आकाश तथा काल में भी हो? ऐसी स्थिति में यदि आधुनिक चिकित्सक--(डाक्टर) इन्हें स्वीकार नहीं करते तो वे क्या बुरा करते हैं? जब आयुर्वेद के ग्रन्थ ही इनका कोई स्वरूप निश्चित नहीं कर पाते तो दूसरे लोग इन्हें कैसे मान लें?

त्रिधातु कौन से पदार्थ हैं। इसका वर्णन न तो

किसी आयुर्वेदिक ग्रन्थ में और न किसी दार्शनिक ग्रन्थ में मिलता है। आप न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और वेदान्त इन षड् दर्शनों को देख जाइये, परन्तु स्पष्ट रूप में इस का कहीं उल्लेख नहीं मिलेगा कि वात-पित्त-कफ का अन्तर्भाव किस पदार्थ में होता है? और इधर आयुर्वेद के समस्त ग्रन्थ देख जाइये, इन में भी इस बात की चर्चा नहीं मिलेगी कि त्रिधातु को किस पदार्थ के अन्तर्गत मानना चाहिए।

षड्दर्शनों में दो प्रकार के पदार्थ-विभाग प्रसिद्ध हैं। एक वैशेषिक के अनुसार और दूसरा सांख्य के अनुसार। न्याय दर्शन में यद्यपि नैयायिकों के १६ पदार्थ हैं। यथा--प्रमाण, प्रमेय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान। परन्तु ये प्राचीन न्याय में ही सीमित हैं। नवीन नैयायिकों ने सात पदार्थों--द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव में ही उक्त १६ पदार्थों का अन्तर्भाव कर लिया है। अतः नव्य न्याय में वैशेषिक के ही द्रव्य, गुण, कर्म, आदि प्रसिद्ध हैं। दूसरा विभाग सांख्य का है जिससे सत्व, रज, तम आदि २५ तत्त्व प्रसिद्ध हैं। यथा--

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतयः
सप्त षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः
पुरुषः। (सांख्यकारिका)

इनके अतिरिक्त और किसी दर्शनकार ने पदार्थ-विभाग नहीं किया। सब लोग इसी का व्यवहार करते हैं।

न्याय का सिद्धान्त है कि द्रव्य के आश्रित गुण, कर्म आदि रहते हैं। परन्तु द्रव्य इनमें से किसी के के आश्रित नहीं। वह सबका आश्रय है, आश्रित किसी का नहीं। द्रव्य द्रव्य के ही आश्रित रहता है, साथ ही गुणों में गुण नहीं रह सकते, न कर्म में ही रह सकते, न गुण में--ये सब द्रव्य में ही रह सकते हैं। 'गुणादिर्निर्गुणक्रियः' यह न्याय का सिद्धान्त है। परन्तु चरक ने--

तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति। तद्यथा-कटुतिक्त-कषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणा-स्त्वेनं शमयन्ति। कट्वम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति, मधुरतिक्तकषायास्त्वेन शमयन्ति, मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायस्त्वेनं शमयन्ति। (च वि अ. १)

मधुर आदि तीन रसों को कफ का, अम्ल आदि तीन को पित्त का और कटु, तिक्त, कषाय इन तीन रसों को वायु का जनक बताया गया है। 'वृद्धिः समानैः सर्वेषां" चरक के इस सिद्धान्तानुसार मानना पड़ेगा कि मधुर रस में कफ है, अन्यथा वह कफ को बढ़ा नहीं सकता। न्यायशास्त्र के अनुसार रसों की गणना गुणों में है, अतः गुणों में रहने वाला यह 'त्रिधातु' न द्रव्य हो सकता है, न गुण और न कर्म हो सकता है। अब बताइये कि यह है क्या बला?

द्रव्य, गुण आदि में तो त्रिधातु का अन्तर्भाव नहीं हो सका। अब सांख्यशास्त्रोक्त पदार्थों को देखिए।

सत्व, रज, तम की समावस्था का नाम 'प्रकृति' है। यह प्रलय की अवस्था है। जब तक सत्त्वादिकों में वैषम्य रहता है, उसी समय तक संसार भी कायम रहता है। जब इनमें साम्य आने लगता है, तभी प्रलय होने लगता है। वात-पित्त-कफ की दशा इससे एकदम विपरीत है। इनमें जब तक साम्य रहता है, तभी तक आरोग्य, सुख, अथवा सृष्टि कायम रहती है। इनमें विषमता आते ही रोग उत्पन्न होते हैं और विनाश का आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार 'त्रिधातु' और 'त्रिगुण' परस्पर विरोधी

वस्तु हैं। फिर इन में से किसी एक का दूसरे में कैसे अन्तर्भाव हो सकता है ?

सत्त्वगुण से कोई रोग या विकार उत्पन्न नहीं हो सकते। दर्शनों ने इसे ज्ञान, प्रकाश, शान्ति और सुखरूप माना है।

आयुर्वेद के आचार्यों ने भी रज और तम को ही विकारों का जनक बताया है। यथा--

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः। · · ·
सत्वं लघुप्रकाशकमिष्टम् ॥
(सांख्यकारिका)

प्रीतिः सुखम् प्रीत्यात्मकरणः।
(सां. त. कौमुदी)

रजस्तमश्चमानसौ दोषौ · · ·
वातपित्तश्लेष्माणस्तु खलु शारीर दोषाः।
(च वि. अ ६)

और सत्व गुण को मोक्ष का साधक माना है। यथा--

"मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्म संक्षयात्"॥
(च.शा.अ. १)

इधर वात-पित्त-कफ इन तीनों से रोग उत्पन्न होते हैं। फिर इन में से किसी का किसी में अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ?

इसके अतिरिक्त चरक ने रज, तम को मन का दोष और त्रिदोष को शरीर दोष मानकर इन दोनों की सीमा और स्वरूप को स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् कर दिया है। यथा--

वायुः पित्तं कफश्चेति शारीरोदोष संग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च।
च सू अ. १।

इस दशा में इनके अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता, अब बताइये कि यह त्रिधातु क्या पदार्थ है ?

कुछ लोगों का अनुमान है कि त्रिदोष या त्रिधातुवाद का सिद्धान्त भारत का अपना नहीं है। बल्कि यह विदेश से आया है। ईसा से ३२३ वर्ष पहले यूनानियों ने भारत पर आक्रमण किया था। तभी से इन दो जातियों में परस्पर ज्ञान विनिमय होना स्वाभाविक है। यूनानी चिकित्सा में आज भी सौदा, सफरा और बलगम तथा खून ये चार दोष माने जाते हैं। इन में से यदि खून को छोड़ दिया जाय तो उक्त तीनों वात-पित्त-कफ के नामान्तर मात्र रह जाते हैं। भारतीय चिकित्सकों ने यूनानियों के चार दोषों में से किसी कारणवश एक (खून) को छोड़ कर इन त्रिधातु की सृष्टि की है, ऐसा अनुमान होता है। इसी कारण चरकने त्रिधातु को केवल शरीर तक सीमित रखा है, क्योंकि विदेश से आया हुआ यह सिद्धान्त केवल शरीर से सम्बन्ध रखता था। सत्वादिक भारत की अपनी वस्तु थी, अत एव उसकी व्यवस्था चरक ने प्राचीन भारतीय प्रथा के अनुसार की है। और उन्हें मन का दोष लिखा है। इस प्रकार वात, पित्त-कफ पर निम्नलिखित चार आक्षेप प्रधानरूप से होते हैं --

१--आपरेशन करने पर शरीर में इसकी उपलब्धि नहीं होती।
२--आयुर्वेदिक ग्रन्थों के अनुसार इनका कोई स्वरूप और स्थान निश्चित नहीं होता।
३--दार्शनिक पदार्थों में इनका अन्तर्भाव नहीं हो सकता।
४--यह सिद्धान्त यहां यूनान से आया प्रतीत होता है।

### प्रश्नों का उत्तर

त्रिधातु या त्रिदोष आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त हैं, उन पर उपर्युक्त प्रश्न उठाये जाते हैं। यहां ऐसे प्रश्न चिकित्सकों के लिए लाभप्रद

ही होते हैं। क्योंकि इस आधार पर शास्त्र चिन्तन–(जिसके प्रति सम्प्रति आयुर्वेद के विद्वान् चिकित्सक भी उदासीन होते जा रहे हैं)—के लिए एक सुअवसर प्राप्त होता है। अस्तु, अब मैं इस लेख का जो मूल विषय "त्रिदोष या त्रिधातु" है उस पर आता हूं, साथ ही उपर्युक्त प्रश्नों का यथामति निराकरण करने का भी प्रयत्न करूंगा।

## त्रिधातु और सृष्टि रचना

यह बात सर्वसम्मत है कि ऋग्वेद से प्राचीन पुस्तक संसार में कोई नहीं है। इसके निर्माणकाल का अनुमान लगाना भी सम्भव नहीं है। इसी ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में एक ऋचा है, जिसमें इस त्रिधातु का स्पष्ट उल्लेख है। यथा––

त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः,
पार्थिवानि त्रिरुदत्तमद्भ्यः।
ओमानं शंयोर्ममकाय सूनवे,
त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती॥
(ऋ. १।७।३४।६)

श्री सायणाचार्य ने 'त्रिधातु' शब्द का भाष्य करते हुए लिखा है––

'त्रिधातु'–वातपित्तश्लेष्मधातु-
त्रयशमन विषयम्।

इससे सिद्ध होता है कि त्रिधातु की उत्पत्ति वेदों से हुई है। वेद और आयुर्वेद की यह अपनी मौलिक सम्पत्ति है।

तैत्तरीय उपनिषद् की दूसरी वल्ली (ब्रह्मानन्द वल्ली) के प्रथम अनुवाक में सृष्टिक्रम का निर्देश इस प्रकार किया गया है––

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूतः। आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्न रसमयः॥
(तै. उ २ वल्ली, अनु. १।)

आत्मा अर्थात् ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी का जन्म हुआ। पृथ्वी से ओषधियां और ओषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। इस प्रकार यह 'अन्नरसमय' अर्थात् इस पुरुष के बनने में अन्न का रस प्रचुर परिमाण में कारण होता है।

अब विचार करें कि यह 'पुरुष' कौन है? और वेदान्त में इसका क्या स्थान है? दार्शनिकों की भाषा में आत्मा को 'पुरुष' कहते हैं। वेदान्त दर्शन में 'पुरुष' को नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, असंसारी और 'अशनयापिपासाद्यतीत' (भूख-प्यास आदि से रहित) कहा है। भला इसके साथ अन्न के कीड़े (अन्न रसमय) का क्या मेल?

परन्तु विवेचनपूर्ण सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर आपको इस श्रुति में आयुर्वेद का मूलतत्त्व स्पष्ट-रूप से परिलक्षित होगा। आयुर्वेद में इस बात पर प्रधानतया विचार किया गया है कि चिकित्सा में किस प्रकार का पुरुष अपेक्षित है। वेदान्त निर्दिष्ट पुरुष को तो न किसी प्रकार की चिकित्सा अपेक्षित हो सकती है और न उसकी चिकित्सा करना ही किसी प्रकार सम्भव हो सकता है, नित्य- शुद्ध, बुद्ध, मुक्त को चिकित्सा की क्या आवयकता? फिर यहां कैसा पुरुष अपेक्षित है। यह आप चरक और सुश्रुत के वचनों में देखिये––

यतोऽभिहितं पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति, स एष कर्म पुरुषश्चिकित्साधिकृतः। (सु.शा.अ. १-१६)।

अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और आत्मा इन ६ तत्वों के संयोग से 'चिकित्सा पुरुष' बनता है। और इसी की चिकित्सा की जाती है, यही चिकित्साशास्त्र का कर्म पुरुष है। न तो आत्मा से रहित केवल शरीर (मुर्दे) की चिकित्सा होती है और न शरीर से रहित केवल आत्मा की चिकित्सा हो सकती है। अतः शरीर और आत्मा दोनों से संयुक्त पुरुष इस शास्त्र में इस लिए स्वीकार किया गया है कि स्वास्थ्य-संरक्षण और रोगनिवर्तन करने वाले विभिन्न उपचारों का प्रतिपादन इसी समुदाय के हित के लिए किया जाता है और ये उपचार भी इसी पर किये जाते हैं। आचार्य चरक कहते हैं--

षड्धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते तद्यथा पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमित्येत एव च षड्धातवः समुदिताः पुरुषः इति शब्दं लभन्ते।

(च शा. अ ५।५) तथा--

खादयश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।

(च शा अ. १।१४)

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां योयं पुरुष संज्ञकः।
राशिरस्यामयानां च प्रा त्पत्तिर्विनिश्चये।

(च सू अ २५)

हिताहारोपयोग एक एव पुरुष वृद्धिकरो-भवति। (च. सू. अ २५)

इस प्रकार चरक और सुश्रुत ने इसी प्रकार के पुरुष का उल्लेख किया है। चरक ने यह भी लिखा है कि अन्न के बने हुए रस के द्वारा 'चिकित्स्य पुरुष' बढ़ता है। यदि इस कथन के साथ आप पूर्वोक्त उपनिषद् के 'अन्न-रसमय' पुरुष का मिलान करें, तो आपको निश्चय से हो जायगा कि ये दोनों एक ही हैं।

अब इस श्रुति के अन्य अंशों पर ध्यान दीजिए। इसमें केवल एक ही आत्मा से समस्त जड़ (आकाशादि) और चेतन-(पुरुष)-जगत् की उत्पत्ति बताई है। वेदान्त-सिद्धान्त (अद्वैत) की यही विशेषता है कि वह ब्रह्म को ही जगत् का उत्पादन कारण और निमित्तकारण भी मानता है। 'अभिन्न-निमित्तोपादानता' ही इस सिद्धान्त का परम ध्येय है। वही श्रुति में भी स्पष्टरूप से प्रतिपादित हुआ है। इसी कारण प्रकृति श्रुति को वेदान्त वाक्यों में स्थान मिला है, परन्तु इसकी अन्य प्रक्रिया में आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त तथा सूत्रभूत बीज भी अन्तर्हित हैं।

यों तो आजकल का विज्ञान भी किसी एक ही वस्तु से सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति अब मानने लगा है। जिस समय आधुनिक विज्ञान का ज्ञान 'एटम्स'-तक ही सीमित था। उन दिनों सैकड़ों मूलतत्त्व माने जाते थे। परन्तु जबसे इसे इलेक्ट्रानिक का ज्ञान हुआ है, तब से पुराने सैकड़ों मूलतत्त्व धूल में मिल गये हैं। अभी यद्यपि विज्ञान किसी एक तत्त्व से ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति मानता है, परन्तु आत्मा की सत्ता पर उसे अब भी विश्वास नहीं है, होना भी न चाहिए। क्योंकि सूक्ष्मदर्शक आदि अनेक प्रकार के यन्त्रों की सहायता से किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करना और उसी के आधार पर अनुमान लगाना, बस ये ही दो साधन भौतिक विज्ञान के ब्रह्मास्त्र हैं। जो वस्तु इन दोनों साधनों की पकड़ से परे है, उसके ज्ञान की आशा भी हम इस विज्ञान से कैसे कर सकते हैं? आत्मा न तो ऐसी वस्तु है, जो विज्ञानशाला की किसी कांच नली में रखकर गरम की जा सके और न ऐसी वस्तु है, जिसे सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के द्वारा कीटाणुओं की तरह बिलबिलाता हुआ देखा जा सके। इस दशा में यदि विज्ञान, आत्मा पर विश्वास नहीं करता तो आश्चर्य ही क्या?

आजकल अत्यन्त शक्तिशाली दूरबीनों का आविष्कार करके विज्ञान ने अनेक तारापुंजों का

पता लगाया है, जो अब तक केवल गैस या वाष्परूप में हैं। हम जिसे आकाशगंगा या ऐरावत मार्ग कहते हैं जो रात्रि में एक चमकती हुई पगडण्डी-सी आकाश में प्रतीत होती है, वह इसी प्रकार के अनेक नक्षत्रों का पुंज है जो अभी तक वायु की दशा में है। विज्ञान को शायद इस बात का पता नहीं कि यह तारापुंज इस वायवीय दशा से पूर्व किस दशा में था। सम्भव है इसके जानने का कोई साधन भी उसके पास नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष या अनुमान से यह बात ज्ञात नहीं की जा सकती है। इन दो प्रमाणों के आगे साइन्स की गति भी नहीं है। योगजज्ञान—आर्षचक्षु अथवा आगम प्रमाण का साइन्स में कोई स्थान नहीं है। तथा अपने सामान्य सिद्धान्त के अनुसार इन वायवीय तारापुंजों का ईथर से मान लेने में साइन्स को कोई आपत्ति भी नहीं हो सकती। साइन्स जब सभी वस्तुओं का आदिमूल ईथर को मानती है तो गैस या वायु को भी उसी ईथर से उत्पन्न हुआ मानने में साइन्स को क्या आपत्ति हो सकती है? इस प्रकार आकाश से वायु की उत्पत्ति (आकाशाद्वायुः) जो वेद ने बताई है, उसका विरोध साइन्स नहीं कर सकता।

वर्तमान वायवीय दशा से घनीभूत होकर ये तारापुंज प्रज्वलित तेजोमण्डल के रूप में पहुंचेंगे। यह बात भी विज्ञान सम्मत है। हमारा वर्तमान सूर्य आज इसी दशा में विद्यमान है। इन बातों से—जिनका भौतिक विज्ञान को अब ज्ञान हुआ है—वे वेदोक्त सृष्टिप्रक्रिया का समर्थन करते हैं। आकाश से वायु और वायु से अग्नि की बात भी सिद्ध हो जाती है।

विज्ञान अब यह मानता है कि हम जिस पृथ्वी पर निवास करते हैं, इसका प्रारम्भिक दशा में यह रूप नहीं था। प्रारम्भ में यह पृथिवी सूर्य का ही एक अवयव थी। शुक्र, बृहस्पति आदि ग्रह-उपग्रह भी सब इसी में मिले थे। यह एक प्रदीप्त 'नेबुला' था जो बड़ी तेजी के साथ आकाश में घूम रहा था। इसका मध्य भाग अपेक्षाकृत सघन तथा तीव्रतर गति सम्पन्न था। वैदिक मतानुसार हम इस नेबुले को वायु का विशुद्धरूप नहीं मान सकते। इससे पूर्व की दशा वायु की थी और वर्तमान दशा में क्रिया वायु की है और उष्णता (यदि हो तो) अग्नि की। उपादानकारण की। स्थिति कार्य में अवश्य रहती है, अतः इस अग्निरूप परिणाम में भी वायु विद्यमान रहता है, फिर यह नेबुला घूमते-घूमते (करोड़ों वर्षों तक) कुछ अधिक सघन हुआ, उसी भ्रमण की दशा में अनेक अंश टूट-टूट कर इधर-उधर आकाश में फैले और समय पाकर कुछ ठण्डे हुए। मध्य भाग जो अधिक सघन था—सूर्य हुआ और अन्य छोटे-छोटे भाग बृहस्पति, शुक्र, चन्द्रमा और यह पृथिवी हुई।

ज्योतिष में शनि को सूर्य का पुत्र, मंगल को भौमिक या भूमि-पुत्र और बुध को चन्द्रमा का पुत्र कहा जाता है। इससे इन ग्रहों के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। मंगल पृथिवी से टूट कर पृथक हुआ है और शनि सूर्य से टूट कर बना है। इसका विशद वर्णन ज्योतिष शास्त्र में देखें।

नेबुले से छूटने पर यह पृथिवी अत्यन्त उष्ण तरल (द्रव) पदार्थों का एक समूह थी। जिस प्रकार ज्वालामुखी पर्वत के फटने पर कहीं-कहीं द्रव पदार्थ निकलते हैं, उससे कहीं अधिक उष्ण पदार्थों का समुद्र इस पृथिवी पर उस समय लहरें मार रहा था। उसके अतिरिक्त यहां कुछ नहीं था, यह मत वर्तमान साइन्स का है। इसके साथ वेद का 'अग्नेरापः' अर्थात् अग्नि के बाद जल की सृष्टि हुई, इस मत का मिलान करके देखें।

वैदिक मतानुसार, इस दशा को भी हम विशुद्ध जल की दशा नहीं कह सकते। इसके भीतर क्रिया शक्ति वायु की है और उष्णता अग्नि की है—जो

दोनों इसके कारण हैं। तरलता तथा सघनता (आपेक्षिक) इस जल के अपने गुण हैं।

धीरे-धीरे पूर्वोक्त जलीय सृष्टि की उष्णता कम हुई और दूध पर मलाई के समान एक ठोस पदार्थ की तह उस पदार्थ पर जमती गई। ज्यों-ज्यों गरमी कम हुई, त्यों-त्यों यह तह मोटी होती गई, परन्तु भीतर की अति तीव्र उष्णता और प्रचण्ड वेग के कारण स्थान-स्थान पर यह तह फटकर ज्वालामुखी का प्रादुर्भाव होता गया, उन्हीं से निकला हुआ 'लावा' ठण्डा होकर पर्वत के रूप में परिणत हुआ और अनेक जगह बड़े-बड़े गर्त भी बन गये। उष्णता की अधिकता के समय जो जल वाष्प या गैस रूप में था, वह उष्णता कम होने पर साधारण जल के रूप में आ गया और उससे समुद्रों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार यह सृष्टि जलीय दशा से पार्थिव दशा में परिणत हुई। इसी को वेद में 'अद्भ्यः पृथिवी' इस एक वाक्य में कहा है।

इस प्रकार आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। आधुनिक विज्ञान ने अनेक साधन, विपुल अर्थ व्यय और पचासों वर्ष के अथक परिश्रम के बाद इन बातों को ज्ञात किया है और ऋषियों ने योग ज्ञान, दिव्य दृष्टि अथवा आर्षचक्षु द्वारा इसका परिदर्शन किया था। आर्षचक्षु की गति प्रत्यक्ष और अनुमान की सीमा से परे तक होती है, अतएव वैदिक ऋषियों ने आकाश के भी मूलतत्त्व आत्मा के दर्शन किये। परन्तु वर्तमान विज्ञान वहां तक पहुंचने में अभी भी समर्थ नहीं हुआ है।

## त्रिधातु-त्रिदोष और आगम प्रमाण

प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के अतिरिक्त एक आगम प्रमाण भी है। दिव्य ज्ञान या आर्ष चक्षु के बल पर जो लोग अतीत, अनागत, तथा अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष करते हैं, उनके वचन इस आगम प्रमाण के अन्तर्गत होते हैं। वेद इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। अत एव कहा जाता है कि प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा जिन पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता उनका ज्ञान वेदों के द्वारा होता है। वेदों का यही वेदत्व है कि वे प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा अगम्य पदार्थों का ज्ञान कराते हैं यथा—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विन्दन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।

योगज ज्ञान या आर्षचक्षुज्ञान सबसे उत्तम प्रमाण माने गये हैं, अतः जहां कहीं प्रत्यक्ष या अनुमान के साथ आगम प्रमाण का विरोध पड़ता है, वहां वेद को ही स्वीकार करते हैं। प्रत्यक्ष या अनुमान से सिद्ध बातें आगे चलकर मिथ्या भी हो सकती हैं—जैसा कि आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों में अब भी बराबर हो रहा है—परन्तु आगमप्रमाण की सत्यता त्रिकालाबाध्य होती है। इसीलिए ऋषियों के सम्बन्ध में यह कहा गया है—

आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्नातिरिच्यते।।
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषा नानुमानेन बाध्यते।।

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इनकी यथाक्रम सृष्टि होने का समर्थन वैदिक विज्ञान और भौतिक विज्ञान दोनों के द्वारा होता है। इन में आकाश प्रथम तो एकदम अव्यक्त तत्त्व है, दूसरे वह तटस्थ है—किसी व्यक्त पदार्थों में साधक या बाधक नहीं होता, इसको छोड़ देने पर व्यक्त अथवा सृष्टि में चार तत्व बचते हैं। इन में वायु सब से सूक्ष्म और व्यक्ताव्यक्त है। अग्नि उससे भी स्थूल और जल उससे भी स्थूल है। पृथिवी सबसे स्थूल और सबका कार्यकारण है। इसमें इसके पूर्व के तीनों

तत्त्व कारणरूप से विद्यमान रहते हैं। जिस प्रकार सुवर्ण से बनी हुई चीज सुवर्ण को छोड़ कर एक क्षण भी नहीं रह सकती है। इसी प्रकार यह पृथ्वी भी वायु, अग्नि और जल इन तीनों उपादानों को छोड़ कर एक क्षण भी नहीं रह सकती है, क्योंकि कोई भी कार्यवस्तु अपने उपादानों को छोड़कर नहीं रह सकती है। अतः पृथ्वी की स्थिति बनाये रखने के लिए वायु, अग्नि और जल इन तीनों की नितान्त आवश्यकता है।

## वायु अग्नि और जल-ये भिन्न तत्त्व हैं

यहां एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि वायु, अग्नि और जल ये तीनों परस्पर विभिन्न तत्त्व हैं। आत्मा से लेकर जलपर्यन्त सभी कार्य पदार्थों में अपने कारण की अपेक्षा इतनी भिन्नता आ गई है कि उनको पृथक्-पृथक् तत्त्व मानना आवश्यक हो गया है। परन्तु पृथ्वी पर पहुंचकर यह बात नहीं रही। यद्यपि पृथ्वी से ओषधि, ओषधि से अन्न और अन्न से पुरुष की उत्पत्ति श्रुति ने कही है, परन्तु ये सब कार्य, अपने कारण (पृथ्वी) से भिन्न तत्त्व नहीं हो सके—सब के सब पार्थिव ही रहे, अतः व्यक्त जगत् में तत्त्वान्तर उत्पन्न करने का सामर्थ्य वायु, अग्नि और जल में ही समाप्त हो गया, इस प्रकार विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पृथ्वी तथा पार्थिव पदार्थों की अपेक्षा वायु, अग्नि और जल ये तीनों, कारण कोटि में हैं। समस्त पार्थिव पदार्थ इन्हीं तीन तत्त्वों के कार्य हैं।

यद्यपि यह मत न्यायशास्त्र के विरुद्ध है। परन्तु यहां वैदिक मतानुसार प्रतिपादन किया जा रहा है। सारांश यह है कि यहां उल्लिखित मत का समर्थक वेद, वेदान्त और विज्ञान होगा। अस्तु,

पहले यह कहा गया है कि वायु, अग्नि और जल के सहयोग के बिना पृथ्वी और पार्थिव स्थिर नहीं रह सकते। पृथ्वी में जो गति और क्रिया है, वह वायु का रूप है। परस्पर अवयवों का जो मेल है, वह जल का गुण है, क्योंकि जल अथवा स्नेह के बिना संघटन नहीं हो सकता। पृथ्वी में जो गरमी है, वह अग्नि का गुण है। इस प्रकार पृथ्वी में उसके तीनों कारण दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें से यदि एक को भी अलग कर दिया जाय तो पृथ्वी का स्वरूप ही नष्ट हो जायगा। जिस प्रकार पृथ्वी की स्थिति के लिए वायु, अग्नि और जल की उपस्थिति वांछनीय है, उसी प्रकार इन सब की समानता भी अपेक्षित है, इनके वैषम्य से भी पृथ्वी नष्ट हो जायगी। यदि पृथ्वी में गरमी की मात्रा अत्यधिक बढ़ जाय तो सैकड़ों ज्वालामुखी फूट निकलें और पृथ्वी पिघलकर जल के रूप में परिणत हो जाय। यदि यही गरमी न्यून हो जाय तो भी विनाशकारी हो। वायु की गति अत्यन्त बढ़ जाने या न्यून हो जाने पर भी यह घातक हो जाय। इसी प्रकार जलीय गुणों की न्यूनाधिकता भी घातक है। सारांश यह कि पृथ्वी को अपना स्वरूप बनाये रखने के लिए वायु, अग्नि और जल इन तीनों की उपस्थिति ही नहीं अपितु समानता भी अपेक्षित है। इनकी अनुपस्थिति और विषमता—दोनों घातक हैं।

## वृक्षादिकों पर वायु-अग्नि और जल का प्रभाव

जो दशा पृथ्वी की है, वही दशा वृक्ष, वनस्पतियों की है। वायु की क्रियाशक्ति, अग्नि की पाचनशक्ति और जल की सांघातिकशक्ति के बिना संसार का कोई वृक्ष एक क्षण भी नहीं टिक सकता। वृक्षों की जड़ों में बारीक शिराएं होती हैं उन्हीं के द्वारा ये पृथ्वी से रस खींचते हैं। इसी से इन्हें 'पादप' कहा जाता है (पादैः पिबतीति पादपः)। सभी वृक्ष पृथ्वी से रस खींचते हैं जो एक ही प्रकार का होता है, परन्तु इसके परिणाम में भारी अन्तर

होता है। यथा;—एक ही स्थान पर आम, नींबू और नीम बो दीजिए और एक ही कूएं का जल सबको दीजिए, परन्तु आम का फल मीठा, नींबू का खट्टा और नीम का तिक्त होगा। पृथ्वी से खींचे हुए इन सबके रस की प्रारम्भिक दशा में यदि परीक्षण किया जाये तो कुछ भेद नहीं मिलेगा। यह भेद तो इनके पाचक संस्थानों की विभिन्नता के कारण होते हैं।

वृक्षों की पाकस्थली पत्तों में होती है। पत्तों में एक गहरे हरे रंग का पदार्थ होता है, जिसे 'क्लोरोफिल' कहते हैं, यह वृक्षों की पाचनक्रिया में सहायक होता है। अनेक सड़ती हुई वस्तुओं में से 'कार्बनडाई आक्साइड' नामक वस्तु को वृक्ष अपने पत्तों के सूक्ष्म छिद्रों द्वारा शोषण करते हैं और क्लोरोफिल की सहायता से उसे पचाकर मनुष्यों की भोजन सामग्री तैयार करते हैं। इसी वृक्ष से 'आक्सीजन' नामक वायु बाहर निकलती है, जो जंगम प्राणियों के लिए प्राणप्रद है। जो रस वृक्षों में पृथ्वी से पहुंचता है, उसका भी पाचन होकर उससे वृक्षों के अंग पुष्ट होते हैं। इससे स्पष्ट है कि रस खींचने के लिए क्रिया, उसे पचाने के लिए गरमी या अग्नि की आवश्यकता वृक्षों को भी है। आक्सीजन छोड़ने के लिए भी क्रियाशक्ति या वायु की और अवयवों के संघटन तथा पोषण के लिए जल की भी आवश्यकता है। इस प्रकार वायु, अग्नि और जल की सत्ता तथा समानता वृक्षों के लिए भी आवश्यक है।

## शरीर में वायु-अग्नि और जल की क्रियाएं

हमारा शरीर पार्थिव है, अन्त में यह पृथ्वी में ही लीन होता है। परन्तु क्रियाशक्ति, पाचनशक्ति और सांघातिक शक्ति के बिना इसका रहना असम्भव है। मानव शरीर की रचना अत्यन्त जटिल है, इसमें सैकड़ों नहीं हजारों क्रियायें प्रतिक्षण होती रहती हैं। परन्तु इसका ज्ञान नहीं होता। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों और डाक्टरों ने जीवित शरीर की अनेक क्रियाओं का वर्णन किया है। परन्तु उनमें कितने हैं, जिन्होंने अपने शरीर के भीतर होने वाली क्रियाओं का साक्षात्कार किया है? सबों ने दूसरे के शरीर पर ही अनुभव किया है। हृदय की गति, मस्तिष्क का संचालन, आमाशय की अनेक क्रियायें, छोटी-बड़ी आंतों के भीतर होने वाली क्रिया, यकृत्, प्लीहा, वृक्क आदि के विलक्षण काम, उरः स्थल या फुफ्फुस में होने वाली रक्तशोधन की अद्भुत क्रियायें, यहां तक कि प्रत्येक स्नायु, सन्धि और पेशी इन क्रियाओं से व्याप्त हैं। ये सब क्रियायें वायु से होती हैं। अशक्त होने से वायु का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता, परन्तु इन क्रियाओं से उसका अनुमान होता है।

यह कोई तर्क नहीं कि जो वस्तु प्रत्यक्ष न हो, उसकी सत्ता ही न मानी जाय। शरीर के प्रत्येक अंगों को चीर डालने पर 'प्राण' नाम की किसी वस्तु के कहीं दर्शन न होंगे, तो क्या 'प्राण' कोई वस्तु ही नहीं है? यह सहज कल्पना की जा सकती है कि एक रोगी गृध्रसी रोग से व्याकुल है अथवा हृदय की व्यथा से बेचैन है, क्या आपरेशन करके उस दर्द को प्रत्यक्ष किया जा सकता है? और न मिलने पर उसकी सत्ता को अस्वीकार कर दिया जायगा?

पहले कहा जा चुका है कि वायु व्यक्ताव्यक्त होते हुए भी उसकी क्रियायें व्यक्त होती हैं। अग्नि इससे कुछ स्थूल है अतः इसकी क्रियाओं और गरमी का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। जिस प्रकार वृक्षों में गरमी के द्वारा पाचन होता है, उसी प्रकार हमारे शरीर में भी होता है। बाहर से पहुंचा हुआ भोजन इसी गरमी के द्वारा पचकर या पाचित होकर शरीर के अंग-प्रत्यंगों में तन्मय होता है। यदि यह क्रिया न हो तो, खाया हुआ भोजन ज्यों का त्यों रखा हुआ रहे। यह बात भौतिक विज्ञान

भी स्वीकार करता है कि हमारे शरीर में बाहर से पहुंची प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होता है। 'डाइजेशन' और 'आक्सीडेशन' के बिना कोई बाहरी वस्तु शरीर का अंग ही नहीं बन सकती। डाक्टर यह भी स्वीकार करते हैं कि शरीर के भीतर यह परिवर्तन गरमी के कारण होता है, किन्तु उन्हें एक संशय अभी भी बना हुआ है कि शरीर के भीतर जो अत्यन्त स्वल्प मात्रा में (९८-९९ फैरनहीट) गरमी विद्यमान है, वह इन खाद्य सामग्रियों को कैसे पचा देती है? यह विषय अभी यहां अप्रासंगिक जानकर छोड़ देता हूं। अभी तो मुझे यह दिखाना है कि शरीर में अग्नि के बिना पाचन असम्भव है और यह बात भौतिक विज्ञान भी स्वीकार करता है। फलतः यह सिद्ध है कि हमारे शरीर के लिए भी वायु और अग्नि की अत्यन्त आवश्यकता है।

## वात, पित्त और कफ

सारांश यह है कि दृश्य जगत् की समस्त वस्तुयें आकाश (ईथर) से उत्पन्न होकर वायु, अग्नि, और जल के रूप में परिवर्तित होने के बाद ठोस पार्थिव रूप में आई है। अतः पृथ्वी तथा प्रत्येक पार्थिव पदार्थ में, उसके कारण (वायु, अग्नि, जल) स्वरूप क्रियायें और गुण सदा वर्तमान रहते हैं। दृश्य जगत् का कोई भी पदार्थ न तो इसके बिना रह सकता है और न इसकी विषमता में ही रह सकता है। इनकी सत्ता और समता में ही प्रत्येक जड़, जंगम वस्तु का जीवन है। ये ही त्रिधातु या त्रिदोष, पिण्ड और ब्रह्माण्ड के धारक हैं। इनका आधिदैविक रूप सोम, सूर्य और अनिल है और आधिभौतिक रूप अग्नि, जल और वायु है। तथा आध्यात्मिक रूप वात, पित्त, कफ है। अवस्था और कार्यभेद के कारण केवल इनके नाम-रूप में भेद दीखता है, वास्तविकतत्त्व एक ही है।

## पित्त और अग्नि एक ही है

इन में वात का नाम तो वेद में और आयुर्वेद में एक ही है, किन्तु पित्त के सम्बन्ध में सुश्रुत ने यह प्रश्न उठाया है कि—'क्या शरीर में पित्त का ही नाम अग्नि है? या इसके अतिरिक्त और अग्नि है? इस पर निर्णय किया है कि पित्त का ही नाम अग्नि है, और कोई अन्य अग्नि नहीं है। क्योंकि अग्नि के सब गुण दहन (आक्सीडाइजेशन) और पचन (डाइजेशन) आदि इसमें विद्यमान हैं। जब ये गुण कम होते हैं तब अग्नि गुण प्रधान औषध देने से ठीक हो जाता है और जब पित्त बढ़ता है, तब शीतोपचार से दब जाता है। इन कारणों से और आगम प्रमाण से हम यह निश्चय करते हैं कि अग्नि और पित्त एक ही हैं। सुश्रुत का मूल वचन निम्नलिखित है—

अत्र जिज्ञास्यं किं पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निः? आहोस्वित पित्तमेवाग्निरिति? अत्रोच्यते—न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेयत्वात् पित्ते दहन-पचनादिष्वभिप्रवर्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तरग्निरिति, क्षीणे हि अग्निगुणो तत्समात् द्रव्योपयोगात्, अतिबृद्धे शीतक्रियोपयोगात्, आगामाच्च पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति। तु न सैद्धान्तिकः।

(सु. सू अ. २१)

## श्लेष्मा और उसका स्थान

यह शब्द श्लिष आलिंगने धातु से बना है, जिसका अर्थ है मिलना-मिलाना, चिपकना या इकट्ठा करना। जल का यह विशेष गुण है। शरीर के अंग प्रत्यंग इसी के कारण संश्लिष्ट रहते हैं। आमाशय इस का प्रधान स्थान है। यहां कई प्रकार

के द्रव भोजन में मिश्रित होते हैं। स्नेहन और संश्लेषण ये दोनों जल के गुण शरीर के जिस अंग में विशेष रूप से मिलें, वही कफ का स्थान है। आचार्य सुश्रुत का कहना है—

स च तत्र औदकर्गुणैराहारः प्रक्लिन्नो भिन्नसंघातः सुखजरश्च भवति। .... स तत्रस्थ एव स्व शक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य उदककर्मणा अनुग्रहं करोति। (सु. सू अ. २१)

उदककर्म या जल के कार्य से श्लेष्मा शरीर का उपकार करता है। इससे स्पष्ट है कि श्लेष्मा और जल एक ही वस्तु है।

सुश्रुत ने आमाशय को कफ का स्थान बताया है। पक्वाशय और आमाशय के बीच में—नाभि के ऊपर—पित्त का स्थान, श्रोणि और गुदा को वायु का स्थान माना है। इसी वायुस्थान के ऊपर और नाभि के नीचे पक्वाशय माना है। इन्हीं वात, पित्त, कफ के कारण सुश्रुत ने शरीर की उपमा ऐसे गृह से दी है, जिसमें तीन 'स्थूणा' अथवा आधारस्तम्भ लगे हों।

भोजन आमाशय में पहुंचकर जलीय द्रवों से प्रक्लिन्न (गीला) होता है और वहां उसके संघात (मिले हुए अवयव) भिन्न (पृथक्-पृथक्) होते हैं। आधुनिक विज्ञान भी यह मानता है कि आमाशय (स्टमक) की दीवारों में वर्तमान ग्रन्थियों में रस निकलकर खाये हुए भोजन में मिलता है। इसमें 'पेप्सीन' और 'हाईड्रोक्लोरिक एसिड' प्रधान होते हैं। इन रसों में अम्ल और लवण का होना डाक्टरों ने भी और चरक ने—"मधुराम्ल लवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति" अर्थात् अम्ल और लवण को कफ का आधार बताया है। अब विचार करें कि जल, अम्ल और लवण की जहां अधिकता हो, उसे यदि कफ का स्थान नहीं माना जाय तो और क्या माना जाय ?

## पित्त और उसका स्थान

आमाशय (स्टमक) का आकार थैले के समान है और पसलियों के नीचे उदर में कुछ बाईं ओर इसकी स्थिति है। इसकी दाहिनी ओर एक छिद्र है, जहां से जुड़ी हुई छोटी आंत (क्षुद्र अन्त्र) नीचे की ओर जाती है। इसका आरम्भिक भाग लगभग बारह अंगुल—जो ऊपर से नीचे की ओर कुछ वक्रता से प्रवृत्त है—'डियोडिनम' कहाता है, पाचन क्रिया इस में भी निष्पन्न होती है। सुश्रुत ने नाभि के ऊपर और पक्वाशय तथा आमाशय के बीच में पित्त का स्थान बतलाया है। उसमें इस डियोडिनम के साथ छोटी आंत का अन्य सम्पूर्ण अंश भी आ जाता है। पित्त के प्रधान कार्य पाचन (डाइजेशन) दहन (ओक्सीडाइजेशन), शोषण और भेदन आदि यहीं होते हैं। पित्तकोष का रस और अग्निधरा कला का क्षार इसी स्थान पर भोजन में मिश्रित होते हैं। क्षार को चरक और सुश्रुत ने आग्नेय कहा है और दहन, पचन, विलयन, शोधन, शोषण, भेदन आदि इसके कार्य बताये हैं। ये सब कार्य इसी छोटी आंत में सम्पन्न होते हैं और सम्पूर्ण शरीर का पालन-पोषण करने के लिए भोजन के रस को परिवर्तित करना इसी स्थान का प्रधान कार्य है। अब आप बतायें कि यदि पित्त (अग्नि) का प्रधान स्थान यह नहीं होगा तो और कौन-सा होगा ? शरीर पुष्टि के लिए अन्न रस के शोषण का सम्पूर्ण कार्य इसी स्थान पर होता है, फिर यह पित्त का प्रधान स्थान क्यों न हो ?

## वायु और उसका स्थान

इसी पित्ताशय के आगे पक्वाशय है, जिसे बड़ी आंत (लार्ज इण्टस्टाइन) कहते हैं। इसमें 'पक्व' वस्तु अर्थात् जिसपर पाक क्रिया

अथवा पित्त का कार्य हो चुका है वह आती है, इसके अन्तिम भाग का प्रायः १२ अंगुल अंश वायु का प्रधान स्थान है। अन्न-मल को बाहर फेंकना, इसका प्रधान कार्य है। डाक्टर लोग जिसे 'रैक्टम' कहते हैं और मल (पुरीष) को बाहर फेंकना जिसका प्रधान कार्य बताते हैं, वह भी यहीं है: सुश्रुत ने विक्षेप (फेंकना) को वायु का प्रधान कार्य कहा है। अब विचार करें कि 'मल-विक्षेप' की सबसे अधिक और सबसे प्रधान क्रिया जहां होती है, वह स्थान वायु के अतिरिक्त और किसका होता है? सुश्रुत के अनुसार विसर्ग (देना) कफ का, आदान (लेना) पित्त का, और विक्षेप (फेंकना) वायु का प्रधान कार्य है। आमाशय अपनी ओर से कई प्रकार के रस देता है, पित्ताशय उसमें से शरीर के उपयोगी अंश को लेकर शोषण करता है और बड़ी आंत, विशेष कर अन्तिम भाग मल का विक्षेप करती है। सुश्रुत का कथन है--

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा।।
(सु. सू. अ. २१।८)

अर्थात् विसर्ग, आदान और विक्षेप--इन तीन क्रियाओं द्वारा वात, पित्त और कफ शरीर का धारण करते हैं। अब सोचिये कि इन तीनों की क्रियाओं में से यदि कोई एक भी बन्द हो जाय तो क्या शरीर की स्थिति संभव है? कदापि नहीं, फिर शरीर के आधारभूत इन वात, पित्त और कफ को 'स्थूणा' या आधारस्तम्भ कहना क्या अनुचित है?

एक बात और भी है, आमाशय ऊपर तिरछा लेटा हुआ है, उसके दाहिनी ओर छोटी आंत का आरम्भिक भाग तथा बाईं ओर बड़ी आंत का अन्तिम भाग नीचे की ओर लटका हुआ है। इन तीनों की मिलित आकृति भी किसी गृह में लगी हुई तीन स्थूणाओं से मिलती है। आप किसी ऐसे घर की कल्पना कीजिए, जिसमें दो स्थूणाएं इधर-उधर खड़ी करके उनके ऊपर स्थूणा तिरछी करके रखी गई हो। इनकी आकृति से आपको कफाशय, पित्ताशय और वाताशय की आकृति बिल्कुल मिलती-जुलती दीखेगी।

यद्यपि चरक ने 'अत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्त स्थानम्' अर्थात् आमाशय ो पित्त का स्थान बताया है तथापि चरक ने जितने स्थान को आमाशय माना है, यथा--

नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः।
अशितं खादितं लीढं पीतञ्चात्र विपच्यते।।
(च. वि. अ. ३।२३)

उसमें सुश्रुतोक्त सम्पूर्ण पित्त स्थान-समाविष्ट हो जाता है, अतः इन दोनों में कोई विरोध नहीं है।

## त्रिदोष और रोग

चरक का कहना है कि--

सर्व एव विकारा निजा नान्यत्र वातपित्तकफेभ्यो निवर्तन्ते। यथा हि शकुनिः सर्वदिवसमपि परिपतन् स्वां छायां नातिवर्तते तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्ताः सर्वविकारा वातपित्तकफान्नातिवर्तन्ते।
(च. सू. अ. १६।१६)

अर्थात् शरीर में उत्पन्न होने वाला कोई भी रोग ऐसा नहीं हो सकता जो वात, पित्त और कफ के बिना उत्पन्न हो सके। जैसे आकाश में उड़ने वाला पक्षी चाहे जितने वेग से और चाहे जितनी दूर चला जाय, परन्तु वह अपनी छाया से कभी अलग नहीं हो सकता। इसी प्रकार सम्पूर्ण रोगों के पीछे कारण रूप से वात, पित्त और कफ अवश्य लगे रहते हैं। संसार में ऐसा कोई भी रोग नहीं

हो सकता, जो इन से रहित हो। इसी प्रकार सुश्रुत-सूत्र अ. २४ में भी कहा है--

सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं तल्लिंगत्वाद् दृष्टफलत्वादागमाच्च। यथा कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितं सत्वरजस्तमांसि न व्यतिरिच्यन्ते, एवमेव कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितमव्यतिरिच्य वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते।

अर्थात् वात, पित्त तथा कफ के तो स्थान, संस्थान (लक्षण) तथा कारण भेदों को देखकर वातादिदोषों से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण विकारों को बुद्धिमान पुरुष उन-उन नामों से ही सम्बोधित करते हैं। जैसे स्थान भेद से वातज आदि होते हुए भी उदर रोग, योनि रोग आदि कहा जाता है। लक्षणभेद से---पिड़का, गुल्म, मूत्राघात आदि नाम कहे जाते हैं। कारणभेद से--बद्धोदर, प्लीहोदर, रसज्वर, रक्तज्वर, शीतज्वर आदि अथवा हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि वात, पित्त, कफ–इनके ही रोगों में सर्वत्र कारण होने से एकरूप (दोषज) सम्पूर्ण विकारों को स्थान आदि के भेद से उदर रोग आदि कह देते हैं। चरक का कहना है कि–

स्वधातु वैषम्य निमित्तजा ये,
विकारसंघा बहवः शरीरे।
न ते पृथक् पित्तकफानिलेभ्यः,
आगन्तवस्त्वेव ततो विशिष्टाः॥

(च. सू. अ. १६।६)

अर्थात् अपनी धातु (वात-पित्त, कफ) की विषमता के कारण शरीर में जो बहुत विकार-समूह (निज) उत्पन्न होते हैं, वे पित्त, कफ तथा वायु से भिन्न नहीं होते हैं। केवल आगन्तु रोग ही उनसे भिन्न होते हैं। अर्थात् निज विकारों का कारण ही वात-पित्त-कफ की विषमता है, और ये विषमता विकार के साथ-साथ विद्यमान रहती हैं। परन्तु आगन्तु रोग व्रण आदि बाह्यकारणों से उत्पन्न होते हैं, किन्तु बाद में इनमें भी वात-पित्त-कफ की विषमता (अनुबन्धरूप से) होजाती है, यही दोनों में भिन्नता है। क्योंकि--

आगन्तुरन्वेति निजं विकारम्,
निजस्तथाऽऽगन्तुमपि प्रवृद्धः।
तत्रानुबन्धं प्रकृतिं च सम्यक्,
ज्ञात्वा ततः कर्म समारभेत॥

(च. सू. अ. १६)।

अर्थात् निज विकार का आगन्तु अनुगमन करता है, और प्रवृद्ध हुआ निज विकार आगन्तु का अनुगमन करता है। तात्पर्य यह है कि निज (त्रिदोषज) विकार में अनुबन्ध रूप से वात, पित्त, कफ की विषमता हो जाती है, और अनुबन्ध-रूप से आगन्तु यथा–भूत-कीटाणु आदि का संसर्ग हो जाता है। इस प्रकार के विकारों में अनुबन्ध (पश्चात्काल) और प्रकृति (मूलभूत रोग) को सम्यक् प्रकार से जानकर चिकित्सा करनी चाहिए। सम्यक् प्रकार से जानने का अभिप्राय यही है कि क्या मूल-व्याधि बलवान् है या पश्चात् काल में जो व्याधि उत्पन्न हुई है वह बलवान है--

सुश्रुत ने वात, पित्त और कफ के लक्षण और कार्य का उल्लेख करते हुए लिखा है--

तत्र प्रस्पन्दनोद्वहनपूरणविवेकलक्षणो वायुः पञ्चधा प्रविभक्तः शरीरं धारयति। रागपक्त्योजस्तेजोमेधोष्मकृत् पित्तं पंचधा प्रविभक्तमग्निकर्मणा अनुग्रहं करोति। सन्धिसंश्लेषण स्नेहनरोपणपूरणबलस्थैर्यकृत श्लेष्मापंचधा प्रविभक्त उदककर्मणा अनुग्रहं करोति। (सु. सू. अ. १५)

इतना ही नहीं, इससे उत्पन्न होने वाले रोगों को समझने के लिए अनेक विकारों की सूची भी दी है, और यह भी कहा है कि अब तक जितने विकार ज्ञात हुए हैं, उनमें से उत्पन्न प्रसिद्ध रोगों की यह सूची है। (देखो, च०सू०अ०१०)। और इसके आगे ऐसे अनेक लक्षणों का निर्देश किया है, जिनके द्वारा निःसन्देह रूप से भूत, भविष्य और वर्तमान सभी रोगों के कारण वात, पित्त, कफ को पहचाना जा सके।

त्रिदोष की विषमता इनमें से एक या अनेक की क्षीणता में भी हो सकती है, इन दोनों दशाओं में रोग होते हैं। सुश्रुत ने सूत्रस्थान के १४ वें अध्याय में क्षय और वृद्धि--त्रिदोष में होने वाले विकारों का पृथक्-पृथक् निर्देश किया है, जो चिकित्सा के मार्ग में अत्यन्त सहायक होता है।

पहले कहा जा चुका है कि पृथ्वी तथा पार्थिव पदार्थों की स्थिरता के लिए केवल वायु, अग्नि और जल की सत्ता ही अपेक्षित नहीं है, यदि इनमें विषमता आ जाय तो उसी क्षण पदार्थों का नाश हो जायगा। इसी प्रकार प्राणियों के शरीर की स्थिरता के लिए भी इनकी समानता नितान्त आवश्यक है। चरक के कथनानुसार--

विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च॥
(च. सू. अ. ९।४)

वात, पित्त, कफ के साम्य का ही नाम आरोग्य अथवा सुख है और इन की विषमता को ही रोग अथवा दुःख कहते हैं। इनकी समानता बनाये रखना और किसी कारण से उत्पन्न हुई विषमता को दूर करने का नाम ही चिकित्सा है। आयुर्वेद के चिकित्सकों का यही लक्ष्य होता है। इसी धातुसाम्य को चरक ने वैद्यों का कर्तव्य कहा है। यथा--

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म-
तद्भिषजां मतम्॥

अर्थात् जिन क्रियाओं द्वारा विषम हुए धातु सम हो जाते हैं, वही विकारों की चिकित्सा है। यही चिकित्सकों का कर्म है। अर्थात् इस युक्ति के अनुसार विषम हुए धातु स्वयं तो सम नहीं हो सकते, अतएव न्यून धातुओं का पूरण और बढ़ी हुई धातुओं में कमी करना चिकित्सक का कर्तव्य है।

### त्रिदोष सिद्धान्त और प्रोटोप्लाज्म

अब थोड़ा सा विचार इस पर भी कर लें कि यह त्रिदोष-सिद्धान्त, वैज्ञानिकों द्वारा स्वीकृत प्रोटोप्लाज्म के सिद्धान्त से कहां तक मिलता है। अंग्रेजी में वात को 'विण्ड' या 'गैस' कहा गया है। श्वासोच्छ्वास लेते समय अथवा मलद्वार से जो वायु का निःसरण होता है, वे सब क्रियायें स्थूल वायु के द्वारा होती हैं। किन्तु जो क्रियायें शारीरिक और मानसिक रूप में होती हैं, वे सब सूक्ष्म वायु की क्रियाएं हैं। वाग्भट का कथन है कि--'ते व्यापिनो ऽपि हृन्नाभ्योऽधो मध्योर्ध्व संस्थिता।' इस में त्रिदोष को व्यापक कहा गया है। व्यापक पदार्थ उसी को कह सकते हैं, जो शरीर में सूक्ष्म से सूक्ष्म अणु में विद्यमान रहता है। इसी प्रकार पित्त भी शरीर के प्रत्येक अणु में उष्णता का समानत्व बनाने वाला तत्त्व है। वमन के साथ जो कड़वा, खट्टा पदार्थ निकलता है तथा यकृत् में से जो पदार्थ खुराक के साथ मिलाकर उससे रक्त बनाता है, वह पित्त का स्थूल स्वरूप है। पित्त का स्वरूप पतला है। इसके विपरीत कफ का स्वरूप गाढ़ा है। पित्त कड़वा और खट्टा होता है। जब कि कफ मधुर और क्षार गुण वाला होता है। कफ शीत प्रधान है। पित्त उष्ण प्रधान है। इस प्रकार संक्षेप में विवेचन कर प्रोटोप्लेज्मिक थ्योरी में हमारे शरीर की

रचना के सम्बन्ध में जो वर्णन किया गया है, उनमें से कुछ उद्धरण यहां इसलिए दिया जा रहा है कि दोनों की तुलना हो सके। हमारे शरीर में प्रोटोप्लाज्म नामक पदार्थ है, जिसे 'वाइट कारपसल्स' भी कहते हैं। यह पदार्थ कैसा है ? उसका वर्णन निम्न लिखित है—

This white corpuscle is a structureless, transparent, colourless, semifluid substance consisting of minute spherical particles of very cinokes cgenucak cibstuty tuib and in continued spontaneous movement. This protoplasm does all the vital work of the organism It is protoplasm which is the formative agent for all the tissues. According to the situation it lies into nerve muscle, epithelium, areolar tissue. bone. It has the power of taking up fresh pabulum from the blood and converting it into its own substance. Thus the whole process of nutrition from the time that mechanical and chemical acts of digestion are over the chain of operation consisting of chylification and sanguification of the taking up of the blood plasma by the tissue and the formation from it of new material. All this is the work of protoplasm. No less is secretion performed by it. Everywhere active and every where present protoplasm is the agent in nutrition and secretion, so it is the vital function. It enables us to think and feel. It receives impression and conveys volition wherever we have living action i. e. action impossible to the same body when dead, then we have protoplasm at work. A portion of it is differentiated into a system previously unknown i. e, the nervous. This new organism while it lives its own life aud carries on its own operation of nutrition and function exerts a regulating influence over the vegetative process which were before and are beneath it. Though they be for their own affairs independent of it, yet they all acknowledge its sway by its control (through the muscular coats of the arteries) of the circulation it detremines the all important blood supply of the tissues.

अर्थात्—यह सफेद पदार्थ आकृति-विहीन महीन गोल अणुओं का बना होता है। जिसकी रासायनिक रचना बड़ी ही विचित्र, समझ में न आने वाली और हमेशा गतिमान रहती है। यह प्रोटोप्लाज्म हमारे शरीर के जीवन का सब कार्य चलाता है। शरीर की सब नाड़ियों का संचालन करता है और जहां वे शरीर के भाग की अनुकूल स्थिति में हों, वहां वे सिरा-स्नायु, धमनी, त्वचा, अस्थि आदि में बल देते हैं। अपने पोषण के लिए आवश्यक तत्व वे रुधिर में से ले सकते हैं और उन्हें अपने समान बनाते हैं। शरीर में भोजन प्रविष्ट होने के पश्चात् पोषण का कार्य करता है। अतः यही जीवनोपयोगी सब क्रियाओं का मूल स्थान है, हम लोग जो कुछ इच्छा या विचार कर सकते हैं, वह सब इसी की शक्ति के द्वारा ही है। इस प्रोटोप्लाज्म के एक भाग में से नर्वस सिस्टम बनता है। यह नर्वस सिस्टम अपना पोषण और अपनी क्रियायें चलाता है। इतना ही नहीं, उस पर अपना पूर्ण अधिकार भी रखता है। यहां तक कि उसकी सहायता के बिना उस स्थल का काम नहीं हो सकता है। रुधिर की गति पर भी उसकी सत्ता होती है, शरीर के सूक्ष्म अंगों को आवश्यक रुधिर देने की व्यवस्था उसके हाथ में है।'

## त्रिदोष सिद्धान्त से प्रोटोप्लाज्म की समानता

इस प्रोटोप्लाज्म के सिद्धान्त को त्रिदोष सिद्धान्त की तुलना करके देखें कि कितनी समानता है। प्रोटोप्लाज्म अति सूक्ष्म अणुरूप है। उसी प्रकार त्रिदोष वात, पित्त, कफ भी सर्वव्यापी—ते व्यापिनोऽपि—होने से अणु रूप और सूक्ष्म है। जैसे प्रोटोप्लाज्म सक्रिय है, उसी प्रकार त्रिदोष भी

अपनी क्रिया करता है। जैसे प्राटोप्लाज्म से रस, रक्त, स्नायु इत्यादि पूरा शरीर उत्पन्न होता है। उसी प्रकार त्रिदोष से भी सम्पूर्ण शरीर की उत्पत्ति मानी गई है। यथा, वात-पित्त श्लेष्माण एवं देहसम्भ हेतवः।" अर्थात् वात, पित्त, कफ यही इस शरीर की उत्पत्ति का मूल कारण है। "त एव व्यापन्ना: प्रलय हेतवः" अर्थात् जब वे बिगड़ते हैं, तब शरीर का नाश करते हैं। जिस प्रकार प्रोटोप्लाज्म से उत्पन्न नर्वस सिस्टम की क्रिया से हमें ज्ञान-भाव होता है, उसी प्रकार वायु से भी जो चरक मतानुसार इस शरीर को धारण करने वाला, प्राण, उदान, अपान, समान, व्यान उसके आत्मा रूप है, उच्च, नीच सर्व चेष्टाओं का प्रवर्तक है, मन को नियमन करने वाला और प्रसन्न रखने वाला है, सब इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाला, सब प्रकार के इन्द्रियार्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को वहन करने वाला, वाणी का प्रवर्तक, श्रवण और स्पर्श का मूल, हर्ष और उत्साह का कारण, अग्नि के दोष को संशोधन करने वाला, शरीर के मल को बाहर निकालने वाला, छोटे-मोटे स्रोत का विभेदक, गर्भ की आकृति को बनाने वाला, आयु की स्थिरता रखने वाला है। ये सब क्रियायें होती हैं।

जिस प्रकार शरीर की चेष्टा, चाल-चलन आदि पर नर्वस सिस्टम अपनी सत्ता रखता है, वैसे ही वायु भी सब क्रियाओं और चेष्टाओं में मुख्य भाग लेता है, यथा—

पित्तं पंगु कफः पंगुः पंगवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥

अर्थात् पित्त और कफ ये दोनों पंगु हैं, उन्हें बादल के समान वायु जहां चाहता है, ले जाता है। प्रोटोप्लेज्मिक सिद्धान्त में जिस वाइट कोरपसल्स का उल्लेख है वह अर्धद्रव है। अतः द्रवरूप अर्थात् पतले पदार्थ को हम पित्त मान लें, और घन पदार्थ को कफ मान लें, तो हमारा वात, पित्त और कफ का सिद्धान्त यथाशास्त्र सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार हमारे शास्त्रीय वात, पित्त, कफ सिद्धान्त का आधुनिक विज्ञान भी समर्थन करता है। फिर, यह कैसे अशास्त्रीय कहा जा सकता है? सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि जिसे हम वायु का रोग कहते हैं, उन सब रोगों का समावेश अंग्रेजी निदान शास्त्रज्ञ ने—Diseases of the nervous system and brain में किया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि यह नर्वस सिस्टम और उससे होने वाली सूक्ष्म क्रियायें सब वायु के ही स्वरूप हैं। आर्य वैद्यक में वात, पित्त और कफ का ८०, ४० और २० के क्रम से रोग लक्षण दिये गये हैं। यथा—

अशीतिर्वातजा रोगाः कथ्यन्ते मुनिभाषिताः
तथा अथ पित्तभवा रोगाश्चत्वारिंशदिहोदिता
तथा कफस्य विंशति प्रोक्ताः .... ॥

इस त्रिदोष सिद्धान्त के द्वारा आयुर्वेद शास्त्र यह उपदेश देता है कि वात रोग का उपचार गरम और स्निग्ध, कफ रोग का उपचार गरम और रूक्ष, तथा पित्त रोग का उपचार शीतल होना चाहिए। यह बात तो सभी की समझ में आ सकती है कि यदि किसी मनुष्य के हाथ-पैर बरफ के समान ठंडे हो गये हों तो, उस समय डाक्टर भी उसके लिए गरम उपचार ही करेंगे। इसी प्रकार यदि किसी रोगी के सम्पूर्ण शरीर में दाह हो तो, उसे सोंठ, राई जैसे गरम पदार्थ द्वारा उपचार न कर शीतल ही उपचार करेंगे। इस प्रकार यद्यपि वे त्रिदोष सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते फिर भी उपचार करते समय इसी सिद्धान्त के अनुसार उन्हें चलना पड़ता है।

कुनैन से ज्वर में एक रोगी को लाभ पहुंचता है,

किन्तु उसी कुनेन से दूसरे को लाभ नहीं होता, ऐसा क्यों ? यह आधुनिक साइन्स नहीं बता सकता, किन्तु आयुर्वेद में इसका स्पष्ट उत्तर है कि वात और कफ ज्वर को कुनेन दूर कर सकती है। किन्तु पित्त ज्वर में उसका विरुद्ध असर होता है। इससे सिद्ध होता है कि यह त्रिदोष सिद्धान्त बिल्कुल वैज्ञानिक स्तर पर रचा गया है। अतः यह सर्वमान्य होना चाहिए।

## उपसंहार

यह सुविदित है तथा इस लेख में पूर्व उल्लेख भी किया जा चुका है कि वेद और आयुर्वेद के रचयिता एक ही (ब्रह्मा) हैं। अतः वेद और आयुर्वेद एक ही श्रेणी के हैं। वेदों में अनेक वादों—जैसे-सदसद्वाद, द्वैतवाद आदि का उल्लेख सूत्र रूप से पाया जाता है। उसी प्रकार आयुर्वेद का यह त्रिदोष या त्रिधातु वाद भी है। जिस प्रकार वेदोक्त किसी एक वाद को दूसरे वाद के अन्तर्गत करने की चेष्टा आज तक किसी आचार्य ने नहीं की, उसी तरह इस 'त्रिदोष या त्रिधातुवाद' को भी किसी के अन्तर्गत करके दिखाने का प्रयत्न किसी ने नहीं किया। यही कारण है कि न तो किसी दर्शनकार ने वात-पित्त-कफ दार्शनिक पदार्थ के अन्तर्गत दिखाने की चेष्टा की और न किसी आयुर्वेद के आचार्यों ने ही किसी दार्शनिक पदार्थ में इनका अन्तर्भाव किया।

वेदों ने त्रिदोष या त्रिधातुवाद की सृष्टि केवल भौतिक जगत् के लिए ही किया है, क्योंकि आयुर्वेदमें पंचमहाभूत से आगे की बातों पर विचार करने का बहु त कम काम पड़ता है। इसी लिए सुश्रुत ने कहा है—

भूतेभ्यो हि परं यस्मात् नास्ति-
चिन्ता चिकित्सके।

अर्थात् चिकित्साशास्त्र में भूतों (पृथ्वी-जल आदि) से आगे विचार नहीं किया जाता है।

आयुर्वेद का लक्ष्य मूल प्रकृति की ओर रहता है। अतः इसने प्रकृति के आधारस्तम्भ उन मूल-तत्त्वों को पकड़ा है, जिनसे जगत् का छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा प्रत्येक पदार्थ व्याप्त है। संसार का कोई भी परमाणु इन तीन तत्त्वों से रहित नहीं मिल सकता। इनकी समानता ही जड़-जंगम पदार्थों की स्थिति का कारण है और इनकी विषमता से ही सब का नाश होता है। आयुर्वेद ने इन्हीं का स्वरूप, लक्षण, प्रकृति, विकृति और विषमता पहचानने के लिए एवं उसमें समानता लाने के लिए अत्यन्त सूक्ष्म सरल-बोधगम्य तथा सब देशों और सब समयों के अनुसार उपलब्ध होने वाले उपायों, साधनों का निर्देश किया है। अतः त्रिदोष या त्रिधातुवाद का रहस्य जान लेने के बाद एक प्रकार से प्रकृति के प्रत्येक अंग पर अधिकार प्राप्त होजाता है, और जिन ऋषि-महर्षियों ने इस रहस्य का उद्घाटन किया है, उनके प्रति श्रद्धा से सिर अवनत हो जाता है। इसी दिव्य या अप्रतिहत ज्ञान को 'ईश्वरीय ज्ञान' अथवा आर्ष-चक्षु' कहा जाता है और इसी का नाम 'आगम प्रमाण है। वेद और आयुर्वेद इसी कोटि के विज्ञान हैं।

यदि हमारे डाक्टर बन्धु आयुर्वेद के इस मौलिक सिद्धान्त के रहस्य का ध्यानपूर्वक अनुशीलन करें तो अचानक किसी रोग के आविर्भूत होने पर भी वे जनता का बहुत कुछ हित साधन कर सकते हैं। रोग सामान्य और चिकित्सा सामान्य का ज्ञान आयुर्वेद के अतिरिक्त अन्य किसी चिकित्सा-पद्धति के पास नहीं है।

—०—

# प्रमेह-विकार

आयुर्वेदाचार्य श्री रामरक्ष पाठक
भूतपूर्व डाइरेक्टर, आयुर्वेद अनुसन्धान संस्था, जामनगर

(प्रमेह यौगिक शब्द है जो प्र+मेह दो शब्दों से बना है। प्र उपसर्ग उत्कर्ष के अर्थ में आता है। मेह, मिह+घञ् से निष्पन्न होता है। मिह सेचने और परिस्राव के अर्थ में आता है। प्रमेह का अर्थ है अधिक (प्र. प्रकृष्ट) स्राव (मेह, परिस्राव) होना।

## परिचय

**सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूता ऽऽविलमूत्रता।**
**मूत्रवर्णादि भेदेन भेदो मेहेषु कल्प्यते॥**
(अष्टांग)

(प्रभूत अर्थात् अधिक राशि में प्रदुष्ट अर्थात् असाधारण पदार्थयुक्त होने के कारण आविल (साधारण वर्ण के विपरीत) मूत्रत्याग जिसमें मनुष्य करता हो वह रोग प्रमेह कहलाता है। मूत्र के वर्णादि भेद से मेह के भेदों की कल्पना की जाती है।)

'प्रमेह रोग' मूत्र विकार है, अतः मूत्र के सम्यक् ज्ञान के लिये मूत्र का प्रकृतरूप जानना परमावश्यक है। मूत्र स्वभाव से ही पतला, स्वच्छ, ईषत्पीत और लवणाम्ल रसयुक्त होता है। प्रतिदिन मनुष्य प्रायः १६ पल (१२८ तोला या ५० औंस के लगभग) मूत्र विसर्जन करता है। स्त्रियां इससे कम और बालक अवस्थानुसार न्यूनाधिक मूत्र विसर्जन करते हैं। मूत्र का द्रवत्व जल की अपेक्षा न्यून होता है। अर्वाचीन मतानुसार इसका घनत्व (Specific gravity) १००५ से १०२५ तक होता है।

## प्रमाण

**मूत्रं स्वभावात् तन्वच्छमापीतं लवणाम्लकम्।**
**प्रायश्च षोडष पलं पुंस्यं प्रत्यहमिष्यते॥**
**स्त्रीणां तु किञ्चिदूनं तद् बालानां च यथावयः॥**
(गणनाथः)

"The renal secretion is a clear yellowish fluid. whose specific gravity may not be different from that of Blood serum being 1020. In health it has a slightly acid reaction due to the presence of acid sodium phosphate. It is chiefly compound of water holding in solution (I) Organic substances, of which the chief is urea with a very much small ammount of uric acid. (II) In-organic salts, chiefly sodium chloride, sulphates and phosphates of sodium, potassium, calcium and magnesium. (III) Colouring matters, of which but little is known. (IV) Gases, chiefly carbonic acid with a very small ammount of nitrogen and still less oxygen. An everage healthy man excretes 1500 c. c. (50 ozs or $2\frac{1}{2}$ pint) of urine each day. The quantity and composition of urine vary greatly according to the time of day, the temperature and the moisture of the air; the fasting or relative condition of the alimentary canal, the nature of the food; and ammount of the fluid consumed."(*Lessons on Physiology. Thomas H. Huxley. L. L. D., F. R. S.:*)

उपलब्ध आयुर्वेदीय ग्रन्थों में मूत्र का वर्णन जिस प्रकार मिलता है वह इतना संक्षिप्त है कि उसे आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से देखने पर प्रायः प्रमाद हो जाया करता है। सुश्रुत निदान-स्थान अश्मरी-प्रकरण में मूत्रोत्पत्ति का वर्णन कतिपय पद्यों में किया गया है जो यहां उद्धृत किया जाता है।

**पक्वाशयगतास्तत्र नाड्यो मूत्रवहास्तु याः।**
**तर्पयन्ति सदा मूत्रं सरितः सागरं यथा॥२१॥**
**सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्रशः।**
**नाडीभिरुपनीतस्य मूत्रस्यामाशयान्तरात्॥२२॥**
**जाग्रतः स्वपतश्चैव स निःस्यन्देन पूर्यते।**
**आमुखात् सलिले न्यस्तः पार्श्वेभ्यः पूर्यते नवः॥**
**घटो यथा तथा विद्धि वस्तिर्मूत्रेण पूर्यते॥२३॥**

(अर्थात् जैसे समुद्र में नदियां सदा (जल) तर्पण करती हैं वैसे जो पक्वाशयस्थ मूत्रवह नाड़ियां हैं वे वस्ति में मूत्र सदा तर्पण करती रहती हैं। इन नाड़ियों के हजारों मुख सूक्ष्म होने के कारण विदित नहीं होते। आमाशय और पक्वाशय के भीतर से नाड़ियों द्वारा आये हुये मूत्र के निस्यन्द से वस्ति जागते सोते समय (दिन रात) भरता है। मुख तक पानी में रखा हुआ घड़ा जैसे चारों ओर के सूक्ष्म छेदों द्वारा जल भरने स भर जाता है, वैसे वस्ति चारों ओर के सूक्ष्म स्रोतसों द्वारा मूत्र से भर जाता है।)

मूत्रोत्पत्ति के स्थान से वस्ति में मूत्र किस प्रकार पहुंचता है इस का वर्णन इन श्लोकों में है। मूत्रोत्पत्ति कैसे होती है, इस को समझने के बाद इस श्लोक क भाव स्पष्ट हो जायेंगे। शरीर के उदर विभाग में पिछली दीवार से लगे हुए पृष्ठवंश की दाहिनीं और बाईं ओर सीम के बीज के समान दो अङ्ग दिखाई पड़ते हैं, उनको वृक्क, गुर्दा, मूत्रपिण्ड, वस्तिशिर (या Kidney) कहते हैं। ये अति सूक्ष्म नलियों से बने हुए हैं। उदर विभागस्थ बृहत् धमनी (Aorta) की दो शाखाओं द्वारा रक्त इन दोनों वृक्कों में पहुंचता है। भीतर पहुंच कर इन धमनियों की असंख्य सूक्ष्म शाखाओं का जाल वृक्कस्थ नलियों के आसपास फैलता है, और इन शाखाओं के रक्त में जो खाने पीने का निकम्मा भाग रहता है उनको ये नलियां अपनी विशेष शक्ति द्वारा पृथक् कर अपने में खींच लती हैं। इस प्रकार वृक्क की नलियों में रक्त से पृथक् किये हुये तरल भाग को मूत्र कहते हैं। वृक्कों में एकत्र हुआ मूत्र दो नालियों द्वारा शनैः २ वस्ति में पहुंचता है। उक्त दो नलियों को गवीनी (Ureter) कहते हैं। संक्षेप में मूत्र रक्त से वृक्क द्वारा पृथक् होकर दो मूत्र प्रणालियों से वृक्क में आता है। इसी से वस्ति में तीन द्वार होते हैं। आयुर्वेद के अनुसार मूत्र की उत्पत्ति खाद्य पेय पदार्थों के किट्ट भाग से मलधरा कला, पाचक पित्त और समान वायु से आमपक्वाशय में ही होता है—

१. **तत्राहारप्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्त्तते। किट्टात् स्वेदमूत्र पुरीषाः पुष्यन्ति॥** (चरक)

२. **किट्टमन्नस्य विण्मूत्रम्।**

३. **विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्रागिरितो रसः।** (सुश्रुत)

४. **तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वाशयमध्यस्थ पित्तं चतुर्विधमन्नं पचति विवेचयति च रसमूत्रपुरीषानि॥** (सुश्रुत)

अन्त्र में उत्पन्न हुआ मूत्र असंख्य स्रोतों द्वारा वस्ति में झरता है। इन स्रोतों के मुख अदृश्य होते हैं।

**मूत्राघाताः प्रमेहाश्च शुक्रदोषास्तथैव च।**
**मूत्रदोषाश्च ये केचिद् वस्तावेव भवन्ति हि॥**

इस प्रकार मूत्र की उत्पत्ति, संचय और निष्कासन के लिए शरीर के तीन अवयव प्रधानतः कार्य करते हैं (१) वृक्क (२) गवीनी और (३) वस्ति; अर्थात् ये तीनों जब प्रकृत रूप में रहते हैं तो मूत्र में किसी प्रकार की विकृति की सम्भावना नहीं रहती। परन्तु हमारा भोजन भी मूत्र की कमी वेशी में कारण होता है। अतः मूत्र विकार से हमें समझना चाहिए कि उक्त तीन अवयवों में किसी प्रकार का विकार है, अथवा हमारे भोजन में कोई विकार है। शरीर के अन्य विकार भी मूत्रवकृति के कारण हैं जिनके कारण मूत्र के वर्णादि में भेद या विकृति उत्पन्न हो जाती है जिनका वर्णन यथास्थान मिलेगा। मूत्रविकार कहने से मूत्रसम्बन्धी; मूत्रमार्गसम्बन्धी, मूत्राशय सम्बन्धी, मूत्रजननसंस्थान सम्बन्धी सभी

विकारों का ग्रहण हो जाता है। किन्तु प्रमेह मूत्र के केवल व विकार हैं जिनमें मूत्र का परिमाण प्रभूत हो और वर्णादि असाधारण हों। अर्वाचीन मत के अनुसार इसे हम Anomalies of urinary secretion कह सकते हैं।

**प्रभूतं वाऽविलं वापि क्वचिद्वोभयलक्षणम्।**
**प्रायशश्चेत्स्रवेन्मूत्रं तदा मेहं विनिर्दिशेत्॥**

प्रभूत और आविल ये दो प्रधान लक्षण प्रमेह के हैं। हमें यह देखना है कि मूत्र की ये दो असाधारण अवस्थाएं किन-किन कारणों से होती हैं उनका वर्णन किया जाता है।

**प्रभूत मूत्र के कारण--**

(१) अधिक जलपान या जलीयांश वाले पदार्थ का भक्षण।
(२) मधुमेह (Diabetes mellitus)
(३) जीर्ण केन्द्रस्थ वृक्कशोथ (Chronic interstitial nephritis)।
(४) रक्तभाराधिक्य (High blood pressure)।
(५) पिटचूटरी बॉडी के रोग (Diseases of pituitary body)।
(६) मूत्रल औषधों का सेवन।
(७) बहुमूत्र (Diabetes insipidus)।
(८) Waxy kidney.
(९) Hydronephrosis.
(१०) ज्वरान्ते मोह (Convalscence after fever)।
(११) मानसिक रोग (Hysteria, nervous excitement, chlorosis, alchoholism.)।
(१२) During the absorption of exudations-such as pleural effusion.

**आविलमूत्र के कारण--**

(१) मूत्र के आपेक्षिक घनत्व की वृद्धि या ह्रास।
(२) मूत्र में असाधारण पदार्थों का आगमन।
(३) मूत्र में साधारण रूप से आने वाले पदार्थों का विषम रूप से आना।
(४) मूत्र के परिमाण में न्यूनता।
(५) असाधारण भोजन।

अर्वाचीन ढंग से प्रमेह के सामान्य लक्षणों के कारणों का वर्गीकरण स्पष्ट किया गया है। प्राचीन वर्णन की शैली और ही है। इसका कारण उस समय के विचारकों की विभिन्न विचारधारा का होना है। उस विचारधारा में और आज की विचारधारा में मौलिक भेद हैं। आज की वैज्ञानिक विचारधारा स्थूल के विश्लेषण में सतर्क है। ऐसे पदार्थों की गवेषणा में, जिसे वह प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, प्रायः वे अग्रसर नहीं होते। आयुर्वेद में प्रमेह के कारणों के वर्णन में भी शरीर के वे ही मूलभूत उपादान वात, पित्त, कफ (त्रिदोष) उत्तरदायी माने गये हैं।

उदाहरणार्थ--**त्रिदोषप्रकोपनिमित्ताः विंशति प्रमेहाः भवन्ति। विकारांश्चापरेऽपरि संख्येयाः॥ यथा त्रिदोष प्रकोपः प्रमेहानभिनिर्वर्त्तयति तथानु व्याख्यास्यामः॥** [चरक निदा० ४]

**इह खलु निदान दोष दूष्य विशेषेभ्यो विकाराणां भावाभावप्रतिविशेषाः भवन्ति। यदा ह्येते त्रयो निदानादिविशेषाः परस्परं नानुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिर्भवति। चिराद्वाप्यभिनिर्वर्तयन्ते विकाराः। तनवो वा भवन्ति। अयथोक्त सर्व लिङ्गा वा॥ विपर्यये विपरीताः॥ इति सर्व विकारभावाभावप्रतिविशेषाभिनिर्वृत्तिहेतुर्भवत्युक्तः॥** (चरक नि० ४)

आयुर्वेद में प्रमेह का कारण निम्न रूप से वर्णित हैं--

**दिवास्वप्नाव्यायामालस्यप्रसक्तं शीतस्निग्ध-मधुरमेद्यद्रवान्नपान सेविनं पुरुषं जानीयात् प्रमेही भविष्यति इति॥** (सुश्रुत नि० ६)

अर्थात् दिन को सोने वाला, शारीरिक परिश्रम न करने वाला, आलसी, शीतल, स्निग्ध, मीठे पदार्थ और मेद्य तथा द्रवान्न पान सेवन करने वाला मनुष्य प्रमेह पीड़ित होगा ऐसा जान लेना चाहिए। चरक में कुछ और अधिक वर्णन मिलता है जो इस प्रकार है--

**यश्च कश्चिद्विधिरन्योऽपि श्लेष्ममेदोमूत्र संजननः सर्वः स निदान विशेष । बहुद्रवश्लेष्मा दोष विशेषः ।** (चरक निदान)

अर्थात् इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रकार जो श्लेष्मा, मेद्य और मूत्र को पैदा करने वाले हों वे सब प्रमेह के कारण हैं। और भी कहा है--

**आस्यासुखं स्वप्न सुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि । नवान्नपानं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम् ।।** (चरक चिकित्सा)

सम्प्राप्ति--उपरोक्त आहार विहार में प्रवृत्त मनुष्य के आम, वात, और कफ जल मेद के साथ मिलकर मूत्रवाही स्थानों में से नीचे की ओर गमन कर वस्तिमुख का आश्रय कर बाहर निकलने लगते हैं तब प्रमेह उत्पन्न करते हैं। प्रमेह में कुपित दोष वात, पित्त, कफ, ये मेद, मांस, शरीरज क्लेद, शुक्र, शोणित, वसा, मज्जा, लसीका, रस और ओज को दूषित करते हैं।

वक्तव्य--प्रमेह में प्रधानतः वृक्क विकृत होता है। इसका कार्य सदा रक्तवाहिनियों से दूषित जलीयांश को पृथक् करना है। यह पृथक् हुआ भाग गविनियों (Ureters) द्वारा वस्ति में, वहां से मूत्रनलिका (Urethra) द्वारा बाहर निकल जाता है। आयुर्वेद में वृक्क को वस्तिशिर भी कहते हैं।

अर्वाचीन विज्ञान के अनुसार वृक्क अपनी प्रकृत अवस्था में रक्त से जलीयांश को तथा दूषित पदार्थों को खींच लेता है। त्वचा और वृक्क का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। त्वचा द्वारा अधिक पसीना आने पर मूत्र की मात्रा कम हो जाती है। वृक्क में मूत्रनिर्माण के लिये तीन प्रधान अंग हैं--

(१) गुच्छ (Glomeruli)
(२) शोषक नलिका (Absorbing tubules)
(३) संचयन नलिकाएं (Collecting tubules)।

गुच्छों के द्वारा रक्त में से किट्ट भाग पृथक् होकर संचित होता है। इसमें से बहुत सा भाग जो उपयोगी होता है, पुनः शोषित हो जाता है। उपयोगी पदार्थों को पुनः संचय करने वाली इस शक्ति का नाम Renal threshold है। इस शक्ति की क्षीणता में पोषक पदार्थ शर्करा आदि मूत्र द्वारा फिर निकलने लगते हैं। इस क्षीणता का कारण अनुचित आहार विहार से उत्पन्न यकृदादि का विकार है। यकृत् जिस मल को रक्त में उत्पन्न करता है वृक्क उसे बाहर निकालता है। अतः यकृद्विकृति में प्रायः वृक्क भी विकृत हो जाता है।

पूर्वरूप--**तेषां तु पूर्वरूपाणि-हस्तपादतलदाहः स्निग्धपिच्छिलगुरुता गात्राणां मधुरशुक्ल मूत्रता तन्द्रा सादः पिपासा दुर्गन्धश्च श्वासस्तालुगलजिह्वा-दन्तेषु मलोत्पत्तिर्जटिलीभावः केशानां वृद्धिश्च नखानाम् ।।** (सुश्रुत निदान)

अर्थात् उनके पूर्वरूप में--हाथ और पैरों में जलन, अङ्गों में स्निग्धता और भारीपन, मूत्र में माधुर्य और श्वैत्य, तन्द्रा, थकावट, प्यास, (शरीर पर) दुर्गंध, हांफना, तालु, गला, जीभ और दांतों पर मैल की उत्पत्ति, केशों का परस्पर चिपट जाना और नखों की वृद्धि होती है।

वक्तव्य--कोई विकार (आगन्तुक को छोड़कर) अकस्मात् उत्पन्न नहीं होता। कोई भी विकार

व्यक्त होने के पहले शरीर के अन्दर नानाविध अप्राकृतिक (Abonormal) क्रियाएं होती हैं। रोग उत्पन्न होने के पहले शरीर के अन्दर रोगोत्पादक पदार्थों के सेवन से (मिथ्याहार विहार से) दोषों का संचय होता है। इसके बाद प्रतीकार के अभाव में इनका प्रसार होता है। प्रमेह भी प्रकुपित वात, पित्त, कफ मेदो धातु से मिलकर शरीर में फैलते हैं। इस रोग में त्रिदोष कुपित होने पर भी कफ प्रबल रहता है, और यह ही सबसे शीघ्र कुपित होता है। बाद में पित्त और वात भी प्रकुपित होते हैं। इस प्रकार प्रकुपित श्लेष्मा शरीर के शिथिल तथा मांस और मेद के अधिक रहने के कारण शरीर में फैलने लगता है।

चरक के अनुसार प्रमेह के पूर्वरूप निम्न हैं--

**स्वेदोऽङ्गगन्धः शिथिलाङ्गता तु**
**शय्यासनस्वप्नसुखं रतिश्च।**
**हृन्नेत्रजिह्वाश्रवणोपदेहा**
**घनाङ्गता केशनखाति वृद्धिः॥**
**शीतप्रियत्वं गलतालुशोषो**
**माधुर्यमास्ये करपाददाहः।**
**भविष्यतो मेह गदस्य रूपं**
**मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च॥**

कुछ विद्वान् प्रमेह का पूर्वरूप नहीं होता या अव्यक्त होता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं। यथा--

**प्राग्रूपं नास्ति मेहानामन्यत्र मधुमेहिनः।**
**दृश्यते चेत् क्वचित् किञ्चित् लिङ्गमव्यक्तमेव तत्॥**
(गणनाथः)

इसकी टीका में वे स्वयं लिखते हैं--

**मेहानां पूर्वरूपं प्रायो न दृश्यते इति स्वानुभवमाह॥**

सामान्य लक्षण--**तत्राविलप्रभूतलक्षणः**
**सर्वएवप्रमेहाः।** (सुश्रुत निदान)

आविल तथा प्रभूत मूत्र होने के कारण पहले कह आये हैं। किन्तु लक्षण से पूर्व प्रमेह के भेद देना अधिक आवश्यक है।

चरक, सुश्रुत और वाग्भट में वात, पित्त और कफ जन्य प्रमेहों की संख्या क्रमशः ४,६ और १० ही है। किन्तु इनके नामों में यत्रतत्र भिन्नता दीख पड़ती है।

## कफजन्य प्रमेह

कफज प्रमेह दश प्रकार के होते हैं। १. उदकमेह, २. इक्षुमेह, ३. सुरामेह या सान्द्रप्रसादमेह, ४. सिकतामेह, ५. शनैर्मेह, ६. लवणमेह, ७. सान्द्रमेह, ८ पिष्टमेह या शुक्लमेह ९ शुक्रमेह, १०. फेनमेह।

चरक तथा वाग्भट के भिन्न नाम वाले--
१. शीतमेह, २ आलालमेह या लाल मेह।

उक्त बारह या दश मेहों में कुछ ऐसे हैं, जिनमें बहुमूत्रता होती है, कुछ ऐसे हैं, जिनमें आविलमूत्रता होती है। कुछ ऐसे भी हैं जिनमें ये दोनों लक्षण होते हैं।

**उदकमेह**--इसे लौकिक भाषा में बहुमूत्र भी कहते हैं। जिसमें मूत्र वर्ण और गुरुता (Specific gravity) में जल के समान होता है। सुश्रुत तथा चरक में इसका लक्षण निम्न-प्रकार से वर्णित है।

**तत्र श्वेतमवेदनमुदकसदृशमुदकमेही मेहति।**
(सुश्रुत)

**अच्छं बहुसितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम्।**
**श्लेष्म कोपान्नरोमूत्रमुदमेही प्रमेहति॥**
(चरक)

यह स्थायी और अस्थाई भेद से दो प्रकार का होता है। अस्थाई उदकमेह, जल, चाय, कॉफी, कोको तथा अन्य पेय और मूत्रल पदार्थों के सेवन से तथा हृच्छूल, अर्धावभेद, अपस्मार इत्यादि रोगों के आवेग के पश्चात् भीति तथा मानसिक आघात या उत्तेजना से होता है। स्थायी उदकमेह पुराने वृक्कशोथ

(Chronic nephritis), धमनी दाढर्च ( Arteriosclerosis), अधिक रक्तभार (High blood pressure) तथा ग्रन्थिक वृक्क ( Cystic kidney) से और मस्तिष्कगत पिचुटरी ग्रन्थि (Pituitary gland) की विकृति से होता है। अर्वाचीन विज्ञानवेत्ता Pituitary की बिकृति से होने वाले प्रमेह को Diabetes Insipidus कहते हैं! इस बहुमूत्र का दूसरा नाम Polyurea भी है।

प्रधान लक्षण--(१) मूत्र की मात्रा १० से २० पाइन्ट तक एक दिन में ( ६ से १० सेर तक) वर्ण, ईषत्पाण्डु जलवत्। आपेक्षिक घनत्व १००२ से १००५ तक। (२) मृदु अवस्था में केवल प्यासमात्र लक्षण होते हैं, परन्तु बढ़ने पर मधुमेह के सारे लक्षण आ जाते हैं। यथा--त्वचा की रूक्षता, दौर्बल्य, बुभुक्षाधिक्य, कभी मलबन्धता और कभी विड्भेद, (३) अस्पष्ट वातविकार, मिज़ाज़ का चिड़चिड़ापन इसका सामान्य लक्षण है। अनिद्रा, कपाल के पिछले हिस्से में दर्द, स्नायुशूल, कटिशूल, प्रत्यावर्त्तन क्रिया की न्यूनता आदि लक्षण होते हैं।

भेदक लक्षण--इस विकार की पहली अवस्था में जीर्ण केन्द्रस्थ वृक्कशोथ (Chronic Interstitial nephritis) का भ्रम होने की विशेष सम्भावना रहती है। परन्तु रोग की अधिक अवस्था में, मूत्र में Albumen की उपस्थिति, हृदय-विकार (Cardio-vascular symptoms) तथा प्यास की कमी और बुभुक्षाधिक्य इस भ्रम को दूर करने में विशेष सहायक होते हैं--Amyloid kidney में Albumen आता है; Hydronephrosis और Cystic kidney में ग्रन्थि (Tumour) का स्पर्शोपलम्भ होता है। मधुमेह में शर्करा आती है।

साध्यासाध्य--आयुर्वेद में प्रमेह को कफज होने के कारण साध्य कहा गया है। परन्तु अर्वाचीन विज्ञान उसे याप्य मानता है।

चिकित्सा--पथ्य की सुव्यवस्था तथा निदान परिवर्जन इसकी प्रधान चिकित्सा है। अर्वाचीन चिकित्सक Pituitrin 1 c. c. का Injection देते हैं, जो (Antidiuresis) मूत्रानुत्पत्ति शक्ति को उत्पन्न करता है। यदि निदान में पता लगे कि Suppuration है तो तद्विरोध चिकित्सा करते हैं। सुश्रुत में इस विकार की शान्ति के लिए पारिजातकषाय पिलाने का उपदेश है।

**तत्रोदक मेहिनं पारिजातकषायं पाययेत्।**

बंग के विविध योग इस विकार में प्रसिद्ध औषध हैं। बंगभस्म, स्वर्णबंग, त्रिबंग, बृहत् बंगश्वर इत्यादि।

२. इक्षुमेह--इसमें मूत्र में शर्करा आती है। आयुर्वेद में इसके निम्न लक्षण मिलते हैं--

**इक्षुरसतुल्यमिक्षुमेही।** (सुश्रुत)

**अत्यर्थमधुरं शीतमीषत् पिच्छिलमाविलम्।**
**काण्डेक्षुरससंकाश श्लेष्मकोपात्प्रमेहति।** (चरक)

आयुर्वेद में शर्करायुक्त प्रमेह वात और कफ से पृथक् २ कहे गए हैं। कफजन्य संतर्पण से और वातजन्य धातुक्षय से उत्पन्न होता है। यथा--

**दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं मधूपमं स्याद्विविधो विचारः। क्षीणेषु दोषेष्वनिलात्मकः स्यात्संतर्पणाद्वा कफ सम्भवः स्यात्॥** (चरक चि०)

इस संतर्पणजन्य कफज मेह को इक्षुमेह कहते हैं। अर्वाचीन चिकित्सक इसे Alimentary glycosuria कहते हैं। संतर्पण के अतिरिक्त शारीरिक और मानसिक श्रम से तथा मस्तिष्काघात से वृक्क की शर्करा-बन्धन-मर्यादा (Renal threshold) कम हो जाती है। इससे भी इक्षुमेह हो जाता है। वृक्क विकार के कारण उत्पन्न हुव इक्षुमेह को अर्वाचीन चिकित्सक Renal glycosuria कहते हैं। चरक में इक्षुमेह के अतिरिक्त शीतमेह नामक दूसरा शर्करायुक्त प्रमेह वर्णित है, जिसके सम्बन्ध में आगे कहा जायेगा। Temporary

glycosuria—यह Alimentary glycosuria का ही दूसरा नाम या रूप है। यह शर्कराजन्य पदार्थों (Carbohydrates) के परिपाक (Metabolism) में गड़बड़ी होने से हुआ करता है। बहुधा इसका कोई उपद्रव नहीं होता। (१) कभी २ शरीर में शर्करासहिष्णुता कुछ मन्द हो जाती है, विशेषकर किसी संक्रमण के कारण। (२) जीर्ण मदात्यय से भी यह अवस्था उत्पन्न हो जाती है। (३) गर्भावस्था के कारण भी हो जाता है। (४) मानसिक विकार के कारण भी यह हो जाता है। (५) पथ्य की अव्यवस्था से, (६) गम्भीर आवेग रोष, प्रभृति, (७) विसूचिका की अन्तिम अवस्था में, (८) रक्तचापाधिक्य और Bright's disease में, (९) अग्न्याशय के (Pancreas) विकार में (१०) तीव्रज्वर के बाद, यथा—Influenza आदि (११) अपस्मार के वेग के बाद (Epileptic fits) (१२) Renal glycosuria, (१३) Lag glycosuria (रक्त के शर्करांश के बर्द्धन से)।

भेदक लक्षण—जब मूत्र में शर्करा की मात्रा अल्प हो और रक्तशर्करा प्राकृतरूप में हो तो समझो कि Renal glycosuria है। पथ्य में शर्कराजन्य पदार्थों की कमी होने पर भी जब मूत्र में शर्करा आना जाना जारी रहे तो समझो कि वृक्क की शर्करा बन्धन-मर्यादा मन्द पड़ गई है और यह Renal glycosuria है।

चिकित्सा—निदानपरिवर्जन और पथ्य से शर्कराजन्य पदार्थों को निकाल दे। सुश्रुत ने इसके लिए, "वैजयन्ती कषाय" सेवन करने को कहा है। इसमें कट्फलादि घृत, तारकेश्वर रस और हेमन्तकरस अच्छा कार्य करता है।

३—सुरामेह या सान्द्रप्रसादमेह—इसमें मूत्र ऊपर स्वच्छ और नीचे गाढ़ा होता है। इसका लक्षण ग्रन्थों में निम्नप्रकार वर्णित है—

**यस्य सहंयते मूत्रं किञ्चित् प्रसीदति।**
**सान्द्रप्रसादमेहीति तमाहुः श्लेष्मकोपतः॥**

(चरक)

यदि सुरा का विचार गन्ध की दृष्टि से किया जाय तो इसे Acetonuria कह सकते हैं। परन्तु चरक, सुश्रुत और वाग्भट में कहीं भी गन्ध का उल्लेख नहीं मिलता। सुश्रुत टीका में हाराणचन्द्र चक्रवर्ती लिखते हैं कि—

**सुरातुल्यमित्यावृत्या गन्धनश्चैव।**

मूत्र में Acetone मधुमेह में मिलता है। अतः इसे उपरोक्त लक्षण के अनुसार Phosphaturia ही कहना उचित है। मूत्र में Phosphates दो समूहों में आते हैं। (१) क्षारीय, (Alkaline phospaates, salts of potassium, sodium and ammonium; और (२) भौम, (Earthy phosphates, salts of calcium and magnesium.) प्रथम समूह बहुत घुलनशील होता है और दूसरा मूत्र की अम्लीयावस्था में नीचे तलछट के रूप में बैठ जाता है; खास कर जब मूत्र को गर्म किया जाय।

परीक्षा—क्षारीय या प्राकृत मूत्र में Earthy phosphates का धूसर (Cloudy) तलछट बैठ जाता है और गर्म करने पर वह और भी बढ़ता है। अम्ल (Acid) देने से तलछट नष्ट हो जाता है। यदि मूत्र क्षारीय है और उसमें पूय (Pus) का भ्रम दूर करना है तो उसमें Acetic acid देकर देखने से पता चल जावेगा कि पूय है या नहीं। प्रस्फुरित (Phosphates) Acetic acid के देने पर घुल जाते हैं। क्षारीय प्रस्फुरित कभी नीचे नहीं बैठता, केवल भौम प्रस्फुरित ही अम्लीय या उदासीन विलयन में अविलेय बन कर नीचे बैठ जाता है। स्वस्थावस्था में २ से ३ माशे तक प्रस्फुरित प्रतिदिन मूत्र में आते हैं। परन्तु भिन्न २ भोजनों से इनकी मात्रा में भिन्नता होती रहती है।

दूसरी विधि--परीक्षा नली में कुछ मूत्र लेकर इसमें अर्धभाग नत्रिकाम्ल मिलादो । फिर एक दो बून्द Ammonium molybdate की डालो इसमें दोनों प्रकार के प्रस्फुरित अविलेय होकर नीचे बैठ जायेंगे ।

कारण तथा लक्षण--इस में यह देखा गया कि मनुष्य के मूत्र में Phosphates आते रहने पर भी अन्य कोई तकलीफ़ नहीं दीख पड़ती। परन्तु बहुधा इस विकार वाले मनुष्य को अजीर्ण की पुरानी शिकायत रहती है। सान्द्रप्रसादमेह साधारणतः मस्तिष्क से अधिक कार्य करने वाले को होता है । पर अन्य क्षयजन्य विकार तथा चिन्ता आदि कारणों से भी यह होता है। अग्निमांद्य भी इसके कारणों में से एक है ।

साध्यासाध्य--यह सुखसाध्य है ।

चिकित्सा--इसकी निदानप्रत्यनीक चिकित्सा होती है । साधारणतः इसमें दीपन, पाचन औषधों का व्यवहार तथा मूत्र को अम्ल बनाए रखना ही चिकित्सा है। एतदर्थ नरसार, कुचला के योग तथा किसी अम्ल पौष्टिक के देने से विशेष लाभ होता है। यथा लवणाम्ल तथा प्रस्फुरिकाम्ल । मानसिक उद्वेग, चिन्ता आदि को कम करने की व्यवस्था परमावश्यक है। सुश्रुत इस विकार में "निम्ब कषाय" देने का उपदेश करते हैं--

**"सुरा मेहिनं निम्बकषायः"** ।

इस विकार में पाशुपत रस, अग्नितुण्डी वटी तथा चन्द्रप्रभा वटी अच्छा लाभ करती है ।

**४-सिकता मेह**--इसमें मूत्र त्यागते समय पथरी के छोटे २ कण निकलते हैं। अर्वाचीन चिकित्सक इसे Passing of gravels in Urine कहते हैं संहिताओं में इसके निम्न लक्षण मिलते हैं--

**मूर्तान्मूत्रगतान्दोषानणून्मेहति यो नरः ।**
**सिकतामेहिनं विद्यान्नरन्तं श्लेष्मकोपतः ॥**
(चरक)

**सरुजं सिकतानुविधं सिकतामेही ।**
(सुश्रुत)

**५-शनैर्मेह**--यह प्रमेह सिकता से मूत्रमार्ग अवरुद्ध होने के कारण होता है । यथा--

**मूत्रेण युक्तः सिकता प्रमेहः स्यन्दनेन मूत्रेण शनैःप्रमेहः । मन्दंमन्दवेगन्तु कृच्छ्रं यो मूत्रयेच्छनैः। शनैर्मेहिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्मकोपतः ॥** (चरक)

वक्तव्य--उक्त दोनों मेह एक ही के अवस्था भेद हैं । मूत्र के अन्दर जब पथरी के छोटे २ कण सरुज या निरुज निकलते रहते हैं, किसी प्रकार की मूत्रोत्सर्जन में रुकावट नहीं होती तो उसे सिकता-मेह कहते हैं । वे कण जब इकट्ठे हो मूत्राशय के मुख को ढक लेते हैं तो मूत्र का वेग रुक रुक कर शनैः शनैः आने लगता है, जिसे शनैर्मेही कहते हैं । अर्वाचीन अन्वेषण के अनुसार कण (Crystals) नाना प्रकार के होते हैं जो संक्षेप रूप से इस प्रकार हैं--(१) Crystals of calcium oxalate, (२) Calcium carbonate, (३) Urates, (४) अन्य organic nuclei जिनसे पथरी बनती है । उक्त दोनों प्रकार के प्रमेहों का वर्णन Renal calculus से मिलता जुलता है । Renal calculus में भी पथरी के छोटे २ कण मूत्रमार्ग से निकलते रहते हैं । इस विकार में पीड़ा बंक्षण प्रदेश से आरम्भ हो मुष्क, भग तथा उदर की ओर जाती प्रतीत होती है । इस अवस्था में मुष्क सिकुड़े हुवे प्रतीत होते हैं और बार २ मूत्रोत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है। साथ ही वमन, कम्प, स्वेद, पाण्डुता आदि लक्षण दीख पड़ते हैं । जब रुकावट अत्यधिक होती है तो कभी २ रक्त भी मूत्रमार्ग से निकलने लगता है । मूत्र में रक्त तथा Pus cells भी कभी २ निकलते हैं परन्तु Cast नहीं होता । मूत्रपरीक्षण में Crystals मिलते हैं जिससे पता चलता है कि पथरी बन रही है। प्रधानतः इसमें Oxalate calculus होता है ।

चिकित्सा--प्रथम चिकित्सा वेदना की शान्ति करना है और अन्य उपद्रव वमनादि को दूर करना। सुश्रुत ने इसकी चिकित्सा में चित्रक और खदिर का कषाय पीने को बताया है।

**सिकतामेहिनं चित्रक कषायं,**
**शनैर्मेहिनं खदिर कषायम् ।।**
(सुश्रुत)

कभी २ तीव्र वेदना की शान्ति के लिये Morphia का Injection भी देना पड़ता है। शिलाजतु तथा पाषाणभेदादि योगों का व्यवहार इसमें करते हैं। पथ्य की सुव्यवस्था करना परमावश्यक है। ऐसे पदार्थों का सेवन, जिससे सिकता कण (Oxalates) बनते हों नहीं करना चाहिए। रेवन्दचीनी, टमाटर, गोभी, प्याज, मिष्टान्न और सुरा का सेवन नहीं करना चाहिए। मूत्र को Acid sodium phosphate और नरसार आदि पदार्थों के योग से अम्ल बनाए रखना चाहिए जिससे Crystals सदा घुलते रहें और मूत्र से निकल जाएं। इसमें सर्वतोभद्रवटी अच्छा कार्य करती है।

६-लवणमेह--इसमें मूत्र लवणाम्बुनिभ होता है। आयुर्वेद में इसका लक्षण निम्न प्रकार से है--

**विशदं लवणतुल्यं लवणमेही ।** (सुश्रुत)

चिकित्सा--**लवणमेहिनं पाठाऽगरु कषायम् ।**
(सुश्रुत)

अर्थात् लवणमेही को पाठा और अगरु का कषाय पिलावें।

**७-पिष्टमेह-या शुक्लमेह**--इसमें मूत्र पिष्टमिश्रोदक तुल्य होता है। हृष्टरोमत्व पिष्टमिश्रोदक देखने का मानसिक प्रभाव प्रतीत होता है। इसके लक्षण पहले कह आये हैं। इस प्रकार सफेद मूत्र Albumen, Pus या Chyle की उपस्थिति से होता है। मूत्र में Chyle (अन्नरस) श्लीपद के कृमियों के कारण आता है। ये कृमि आन्त्रस्थ रक्तवाहिनियों में अवस्थान करके रसप्रवाह को अवरुद्ध कर देते हैं। इस अवरोध के कारण जब मूत्र-वह संस्थान की रसवाहिनियां फूटती हैं तब रस मूत्र के साथ बाहर निकलने लगता है। इसे अर्वाचीन चिकित्सक Chyluria कहते हैं।

साध्यासाध्य--यह रोग साध्य है। रोगी इस रोग के साथ बीसों वर्ष तक बिना किसी कष्ट विशेष के रह सकता है। इससे कभी २ मन में अवसाद हुआ करता है।

चिकित्सा--इस रोग को रोकने के लिए उबले हुए जल का सेवन करना चाहिए। पूर्ण रूप से क्षति की पूर्ति के लिए सुपच और पौष्टिक आहार का सेवन करना चाहिये। हरिद्रा, दारुहरिद्रा का क्वाथ इसमें अच्छा लाभ करता है।

**"पिष्टमेहिनं दारुहरिद्राकषायम् ।"** (सुश्रुत)

इसमें नित्यानन्द रस, विषमुष्टि वटी तथा शिलाजत्वादि वटी का सेवन करावे। चन्दनासव, अश्वगन्धारिष्ट खाने के बाद पीने को देवे।

**८-सांद्रमेह**--इसमें मूत्र थोड़ी देर रखने के बाद गाढ़ा हो जाता है।

**यस्य पर्युषितं मूत्रं सान्द्रीभवति भाजने ।**
**पुरुषं कफकोपेन तमाहुः सान्द्रमेहिनम् ।।**
(चरक)

मूत्र में Fibrin या पूय (Pus) की उपस्थिति से वह गाढ़ा हो जाता है। इसके वर्ण का निर्देश न होने से दोनों में से एक का निर्णय करना कठिन है। पूययुक्त मूत्र का वर्ण श्वेत होता है और Fibrin युक्त मूत्र का वर्ण किञ्चित् रक्ताभ होता है।

चिकित्सा--**"सान्द्रमेहिनं सप्तपर्ण कषायम् ।"**
(सुश्रुत)

अर्थात् सान्द्रमेही को सप्तपर्ण का कषाय पिलावे।

इसमें मञ्जिष्ठाद्यर्क, सारिवाद्यरिष्ट, चन्दनासव, बब्बूलाद्यरिष्ट आदि औषधें लाभ करती हैं। जिन कारणों से मूत्र में Fibrin तथा पूय आते हों उनको दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए। मूत्र में पूय आने के अनेक कारण हैं जो आगे मिलेंगे। गोक्षुरादि फाण्ट तथा तृणपञ्चमूल क्वाथ से भी लाभ होता है।

९–**शुक्रमेह**––इसमें मूत्र शुक्राभ और शुक्रमिश्र आता है।

**"शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा शुक्रमेही प्रमेहति।"**

(चरक)

शुक्राभ मूत्र की तुलना Albuminuria से कर सकते हैं। शुक्रमिश्र मूत्र को Spermatorrhoea कहते हैं। मूत्र में Albumen आने के अनेक कारण होते हैं जिनमें प्रधानतः वृक्क के विविध विकार, विविध पाण्डु रोग, यकृद्दाल्युदर, हृद्विकार, मदात्यय, सगर्भावस्था इत्यादि हैं। शुक्रमेह मानसिक विकार का प्रतिफल है। मन के अन्दर कामुक भावनाओं के होते रहने से जननेंद्रियों की अनावश्यक उत्तेजना होती रहती है और अर्ध-निर्मित शुक्र मूत्र मार्ग से मूत्र-विसर्जनकाल में तथा ऐसे भी निकलता रहता है। Neurasthenia के कारण भी यह विकार हो जाता है। "All kinds of disturbances in the sexual sphere occur and may dominate the clinical picture. Sexual impotency, premature ejaculation, spernatorrhoea, all occur in men." (Savill).

चिकित्सा––**शुक्रमेहिनं दूर्वा-शैवाल-प्लव-हठ-करंज-कसेरुक कषायं कुंकुम चन्दन कषायं वा।**

(सुश्रुत)

अर्थात् शुक्रमेही को उक्त औषधों का कषाय पिलावें। उसमें ऐसे औषधों को देना चाहिए जिससे मलशुद्धि होती रहे और पौष्टिक भी हो। मलशुद्धि के लिए त्रिवृत त्रिफला आदि का योग, धान्यकादि लेह, सेवती पाक का व्यवहार करें। पुष्टि के लिए शुक्रमातृकावटी, पूर्णचन्द्ररस, गोक्षुरवटी आदि का सेवन करावे। भोजन में मिर्च, खटाई, तेल न दें।

**फेनमेह**––इसमें मूत्र झागदार होता है। अर्वाचीन चिकित्सक इसे Pneumaturia कहते हैं। वस्ति का सम्बन्ध स्थूलांत्र मलाशय के साथ होने से अथवा वस्ति में Bacillus colliconeunis या yeast नामक जीवाणु के प्रवेश से मूत्र में वायु उत्पन्न हो झाग पैदा कर देती है। कामला में भी मूत्र अधिक झागदार होता है और झाग देर तक रहता है।

चिकित्सा––**फेनमेहिनं त्रिफलाऽऽरग्वधमृद्वीकाकषायं मधुरं, कफजे तु मधु मधुरं मिति।**

(सुश्रुत)

अर्थात् फेनमेही को उक्त कषाय मधु से मधुर करके देवे। इसमें कफज होने पर भी अपेक्षाकृत वायु अधिक होता है जिससे झाग की उत्पत्ति होती है अतः वातकफहर औषध का विधान करना चाहिए।

११–**शीतमेह**––उक्त दश मेहों के अतिरिक्त चरक में इसका पाठ मिलता है जो निम्न प्रकार है––

**अत्यर्थशीतमधुरं मूत्रं मेहति यो भृशम्।**
**शीतमेहिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्म कोपतः॥**

(चरक)

यह इक्षुमेह का ही भेद प्रतीत होता है। इसके लक्षण Renal glycosuria से मिलते हैं जिनका वर्णन पहले हो चुका है। चिकित्सा भी उसी के अनुसार करनी चाहिए।

१२–**आलालमेही या लालामेही**––**तन्तुबद्ध**-मिवालालं पिच्छिलं यः प्रमेहति। आलाल मेहिनं विद्यात् तं नरं श्लेष्म कोपतः।

इसके लक्षण Albuminuria से मिलते हैं। इस रोगी के मूत्र में Albumen रहता है। मूत्र में

Albumen रक्त सीरम से ही आता है। रक्त में दो प्रकार की प्रोटीनें आती हैं--(१) सीरम अल्बुमिन और (२) सीरम ग्लोब्युलीन। परन्तु सुविधार्थ दोनों को एक ही नाम से पुकारते हैं।

कारण--(१) स्वस्थावस्था में कभी२ अज्ञात कारणों से भी Albumen आने लगता है। यह प्रायः युवावस्था में, विशेष कर दुर्बल, आलसी तथा मूर्छादि से पीड़ितों में होता है। (२) ज्वर-कभी २ किसी २ ज्वर में भी Albumen आने लगता है। (३) वृक्कों में रक्त संचय। (४) विष प्रभाव-गर्भविष या अन्य विषादादि के प्रभाव से। उपर्युक्त कारणों से उत्पन्न लालामेह में वृक्क के व्यापारिक रोन होते हैं ऐन्द्रियक नहीं। (५) वृक्क शोथादि रोगों के कारण हर समय मूत्र में Albumen आता रहता है।

चिकित्सा--मूत्रल शोथहर औषधों का व्यवहार करना चाहिए। पथ्य में लवणवर्जित पदार्थ दें। गोक्षुर, पुनर्नवा, स्वर्जी, यवक्षार, शिलाजतु, लोह, मण्डूर, शङ्ख, शुक्ति तथा प्रवाल आदि का योग दें। चन्द्रप्रभावटी, पुनर्नवा मण्डूर, पुनर्नवासव, चन्दनादि लोह, आदि का प्रयोग करें।

नोट--कफजन्य प्रमेहों में दोष कफ होता है और दूष्य मेद प्रभृति होते हैं। कफ के लिए जो रूक्ष तीक्ष्ण कटु प्रभृति क्रिया अनुकूल होती है वही क्रिया मेद के लिए भी अनुकूल होती है, यानि दोष और दूष्य की चिकित्सा में विरुद्धोपक्रम नहीं होता। अतः चिकित्सा का दोनों पर योग्य उपयोग होने से कफज प्रमेह साध्य होते हैं। साध्यता में व्याधि महिमा भी कुछ सहायता देती हैं--

ज्वरे तुल्यर्तु दोषत्वं प्रमेहे तुल्य दूष्यता।
रक्त गुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यत्वं हेतवः॥
(सुश्रुत)

## पित्तज प्रमेह

पित्तज प्रमेह ६ हैं जो निम्न प्रकार हैं--(१) नीलमेह, (२) हारिद्रमेह, (३) अम्लमेह, (४) क्षारमेह, माञ्जिष्ठमेह और (६) रक्तमेह। चरक ने अम्ल के स्थान पर दूसरा एक कालमेह का उल्लेख किया है।

**१-नीलमेह**--(Indicanurea) इसमें (Indicane) नामक पदार्थ रहता है। आन्त्र में या आन्त्रेतर शरीर के अन्य हिस्सों में Albumen के सड़ने से यह पदार्थ उत्पन्न होता है, और मूत्र में आने लगता है। इसका लक्षण शास्त्रों में निम्न प्रकार मिलता है--

**चासपक्ष निभं मूत्रं मन्दं मेहति यो नरः।**
**पित्तस्य परिकोपेण तं विद्यान्नीलमेहिनम्॥**
(चरक)

यह विकार पुराना मलबन्ध, आन्त्रावरोध, अतिसार, प्रवाहिका, आन्त्रशोथ, फुफ्फुसशोथ, दुर्गन्धित कास, राजयक्ष्मा की तृतीयावस्था इत्यादि के कारण हुआ करता है। नीलमेह में त्यागते समय मूत्र का वर्ण प्रकृत और थोड़ी देर बाद नील हो जाता है।

चिकित्सा--जिन कारणों से रोग हो उन्हें दूर करें। शालसारादि कषाय या अश्वत्थ कषाय पिलावे।

**"नील मेहिनं शालसारादि कषायं अश्वत्थ कषायं वा पाययेत्।"**

**२-हारिद्रमेह**--इसमें मूत्र का वर्ण "हारिद्रोदक संकाश" हो जाता है। इस प्रकार का गाढ़ा पीतवर्ण मूत्र में पित्त का Bilirubin नामक रंग पदार्थ की उपस्थिति से होता है। यह प्रमेह कामला में दिखाई देता है। इस के अतिरिक्त मूत्र का स्वाभाविक रंगद्रव्य जो Urobilin है, उसकी अधिक राशि उपस्थित रहने से भी मूत्र

पीतवर्ण हो जाता है। इस प्रमेह को Urobilinuria कहते हैं। यह प्रमेह दुष्ट पाण्डु रोग, विषमज्वर, यकृद्दाल्युदर, इत्यादि रक्तनाशक रोगों से उत्पन्न होता है।

चिकित्सा—कारण की चिकित्सा।

**"हारिद्र मेहिनं राजवृक्ष कषायं।"** (सुश्रुत)

इस में रक्तवर्धक, रक्तशोधक, मूत्रल तथा यकृद् के कार्य को ठीक करने वाली पित्तप्रशामक औषधों का सेवन करना चाहिए। लौह, प्रवाल, मण्डूर, माक्षिक धातु, कालमेघ, सप्तपर्ण, आदि का व्यवहार करना चाहिए। कुमार्यासव, विषमज्वरान्तक लौह, नवायस लौह, चन्दनादि-लौह, महामञ्जिष्ठाद्यर्क आदि का उपयोग करना चाहिए।

**३–अम्लमेह**—मूत्र में Uric acid तथा Urates अधिक मात्रा में उपस्थित रहते हैं। इसे अर्वाचीन चिकित्सक Highly acid urine और Lithuria कहते हैं। यह प्रमेह आमवात या वातरक्त (Gout) तथा गरिष्ठ अन्न के अधिक सेवन से, व्यायामाभाव इत्यादि से होता है। इसके लक्षण संहिताओं में निम्न प्रकार है—

**"अम्लरस गन्धं अम्लमेही"** (सुश्रुत)

चिकित्सा—**"अम्लमेहिनं न्यग्रोधादिकषायं मधुमिश्रं।"** (सुश्रुत)

इसमें गुग्गुलु के योगों का प्रयोग कराना चाहिए। पञ्चतिक्त घृतगुग्गुलु, सिंहनाद गुग्गुलु, इत्यादि। सारिवाद्यरिष्ट, और वातरक्तान्तक योगों का उपयोग करना चाहिए।

**४–क्षारमेह—गन्धवर्ण रसस्पर्शैः क्षारेण क्षार-तोयवत्।"** (चरक)

इसे अर्वाचीन चिकित्सक Alkalinuria कहते हैं। वस्ति में अधिक देर तक मूत्र रुके रहने से Prostate gland की वृद्धि के कारण, या मूत्र मार्ग संकोच से, फौस्फेट की अधिकता से, या नीचे के वस्तिशोथ से, मूत्र क्षारीय हो जाता है।

चिकित्सा—**"क्षारमेहिनं त्रिफला कषायम्।"** (सुश्रुत)

इसमें क्षार को उदासीन करने की दवा करनी चाहिए। अम्ल (Acid) लवणाम्लक आदि का प्रयोग करना चाहिए। अभयारिष्ट, जम्बीर द्राव आदि का प्रयोग करना चाहिए।

**५–६–माञ्जिष्ठमेह और रक्तमेह**—ये प्रमेह मूत्र में रक्त की उपस्थिति से होते हैं। अधोग रक्तपित्त (मूत्रमार्ग के) में भी हारिद्र वर्ण और रक्तवर्ण मूत्र आता है। परन्तु इसमें प्रमेह के अन्य लक्षण नहीं होते। देखो चरक चिकित्सा—

**हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं**
**विना प्रमेहस्य हि पूर्व रूपैः।**
**यो मूत्रयेत्तन्न वदेत् प्रमेहं**
**रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः॥**

यह रक्त जब केवल रंगद्रव्य के रूप में उपस्थित होता है तब उस प्रमेह को माञ्जिष्ठमेह या Haemoglobunuria कहते हैं। इसमें मूत्र में रक्त कण नहीं होता। जब पूर्ण रक्त मूत्र में उपस्थित होता है तब उसे रक्तमेह या Haematuria कहते हैं। इस में मूत्र में रक्तकण उपस्थित होता है। Microscope से इनके तलछट की परीक्षा किए बिना इनका पार्थक्य नहीं प्रगट होता। ये दोनों प्रमेह वृक्कार्बुद, वृक्काश्मरी वस्तिकार्बुद, विषमज्वर (Yellow fever) शोणित मेहज्वर, (Black water fever) हिमोफिलिया-पर्प्युरा, स्कर्वि इत्यादि रक्तविकारों में होते हैं।

चिकित्सा—कारण की चिकित्सा करनी चाहिये।

**माञ्जिष्ठमेहिनं मञ्जिष्ठाचन्दनकषायं, शोणितमेहिनं गुडूचीतिन्दुकास्थिकाश्मर्य्यखर्ज्जूर-कषायं मधुमिश्रम्॥** (सुश्रुत)

**कालमेही**--इसमें मूत्र मसीवर्ण अर्थात् स्याही के रंग का होता है। मूत्र का कृष्ण वर्ण निम्न-कारणों से हुआ करता है--

(१) जीर्ण कामला में Biliverdin नामक रंग द्रव्य के आधिक्य से। (२) मूत्र में रक्त की तथा रक्त कण की उपस्थिति। (३) Indicane और Indole के उच्च श्रेणी के अपद्रव्य की अधिक राशि में उपस्थिति। (४) मूत्र में Melanin नामक रंग की उपस्थिति से, इसे Melanuria कहते हैं। इस का कारण शरीर में Melanotic sarcoma नामक घातक अर्बुद है। (५) मूत्र में Haemogentisinic acid की उपस्थिति से, इसको Alkaptonuria कहते हैं। यह सहज प्रमेह है। रोगी को आजीवन रहता है। परन्तु इससे कोई विशेष कष्ट नहीं होता। (६) Carbolic acid का विशेष उपयोग। (७) Salol, Salicylate, Gallic acid इत्यादि के सेवन से।

चिकित्सा--निदान प्रत्यनीक चिकित्सा।

नोट-पित्त और मेद की चिकित्सा में वैषम्य या विरोध होने के कारण पित्तज प्रमेह याप्य होता है "विषमक्रियत्वात्" पित्त प्रमेह में मधुरादि पित्तहर द्रव्यों का प्रयोग करने से मेदादिदूष्य बढ़ जाता है और कटु आदि मेदहर द्रव्यों के उपयोग से पित्त और प्रकुपित होता है। इस प्रकार विरुद्धोपक्रम के कारण याप्य है।

## वातज प्रमेह

वातज प्रमेह चार हैं, जो निम्न प्रकार हैं।

१. सर्पिमेह, २. वसामेह, ३ क्षौद्रमेह, और ४. हस्तिमेह!

**१,२--सर्पिमेह और वसामेह**--इन दोनों में मूत्र में पूय (Pus) अल्ब्युमेन या चर्बी (Fat) की उपस्थिति होती है। जिसमें पूय (Pus) उपस्थित होता है उसे Pyurea कहते हैं। मूत्र में पूय, वृक्कविद्रधि, गविनीमुखशोथ (Pyelitis) वस्तिशोथ, पूयमेह, मूत्र संस्थान की राजयक्ष्मा इत्यादि विकारों से होता है। यदि वसा का योगार्थ लिया जाय तो वसामेह को Lipurea कह सकते हैं। वसामेह चर्बीयुक्त पदार्थों के अधिक सेवन से, मधुमेह से, वृक्क के चिरकालीन शोथ में और पूयमय वृक्क से होता है। Chylurea में भी मूत्र में वसा आती है। इनके लक्षण शास्त्रों में निम्न प्रकार मिलते हैं--

**वसामिश्रं वसाभं च मुहुर्मेहति यो नरः।**
**वसामेहिनमाहुस्तमसाध्यो वातकोपतः॥**
(चरक)

**"सर्पिप्रकाशं सर्पिमेही।"** (सुश्रुत)

चरक में सर्पिमेह के स्थान पर मज्जामेह मिलता है। जिस का लक्षण यह है--

**मज्जानं सह मूत्रेण मुहुर्मेहति यो नरः।**
**मज्जमेहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः॥**
(चरक)

चिकित्सा--**सर्पिमेहिनं कुष्टकुटजपाठाहिंगु-कटुरोहणीकषायं गुडूचीचित्रकषायेण पाययेत्।" "वसा मेहिनं अग्निमन्थकषायं शिंशिपाकषायं वा:"**
(सुश्रुत)

इसके अतिरिक्त इन दोनों प्रकार के प्रमेहों में पथ्य में वसा उत्पन्न करने वाले पदार्थों का सेवन न करावे! और कारण की चिकित्सा करें।

**३--क्षौद्रमेह या मधुमेह**--Diabetes mellitus-इस में मूत्र के अन्दर 'मधुर स्वभाव ओजः' उपस्थित रहता है। आधुनिक वैज्ञानिक इसे Glucose कहते हैं। यह एक प्रकार की शर्करा है जो और शर्कराओं के साथ मधु में वर्तमान रहता है इसीलिये इसे मधुमेह भी कहते हैं। इसकी उपस्थिति में यद्यपि मूत्र मधु के समान नहीं होता, फिर भी कुछ गाढ़ा हो ही जाता है जिससे मूत्र

का आपेक्षिक घनत्व बढ़ जाता है। मूत्र में मधु की उपस्थिति होने के अनेक कारण हैं जिनके ज्ञान के लिए शरीर में शर्करा तथा अन्य पिष्टमय पदार्थों का उपयोग कैसे होता है, यह जानकारी होना परमावश्यक है। स्थानाभाव से यहां उसे नहीं दिया जाता। मूत्र में शर्करा प्रधानतः निम्न कारणों से आती है।

(१) वृक्क का विकार अर्थात् वृक्क की शर्करा-बंधन मर्यादा की कमी। यह प्रमाण साधारणतः १.८ प्र.श. तक होता है।

(२) शालिपिष्टमय पदार्थों ( शर्कराजन्य Carbohydrates ) का अत्यशन।

(३) मस्तिष्क और मानसिक विकार, क्रोध, शोक, भय, चिन्ता, मस्तिष्क विद्रधि, अर्बुद, रक्तस्राव, शोथ.इत्यादि।

(४) अंतःस्रावी ग्रंथियों के विकार, अग्न्याशय ( Pancreas ), चुल्लिकाग्रंथि (Thyroid) उपवृक्क ग्रंथि ( Suprarenal gland ) पिटचुटरी ग्रंथि।

मधुमेहनिरुक्ति——"मधुवन्मधुरं मूत्रं यः प्रायो भूरि मेहति।
मधुमेहीति तं विद्यात् तृष्णादाहक्लमान्वितः।"
(गणनाथः)

सम्प्राप्तिः——

"भूयिष्टं मधुरं युक्तं विपाकान्मधुरोत्तरम्।
रक्तं संजनयेत् सोऽसौ रक्तमाश्रित्य सञ्चरन्॥
परिणामं न लभते सम्यग् धात्वग्नि, वैकृतात्।
माधुर्य्यं तेन रक्तादेस्ततो मधुर-मूत्रता॥
अथ धात्वग्निविकृतिर्यथा स्यात्तत् प्रवर्ण्यते।
अग्न्याशयोद्गतः सूक्ष्मो रसोऽन्तः स्रवणस्तु यः॥
रसस्य परिणामाय मधुरस्य प्रभाववान्।
स रक्ते सञ्चरन् नित्यं धात्वग्नेर्बलमावहेत्॥
यदा त्वग्न्याशयांशस्य विकृतेः स प्रहीयते।
तदा स्याद् रक्तामाधुर्यं मूत्रमाधुर्यमेव च॥
अथ स्वभावाद् यकृतो या शक्तिः परिणामकृत्।
मधुराणां विशेषेण सञ्चयाय व्ययाय च॥
साप्यत्र हीयते कालेऽव्यायामाद् भूरिभजनात्।
तेनापि रक्तमाधुर्यं विशेषाद् भवति ध्रुवम्॥
इति नव्यमतं प्रोक्तं प्रत्यक्षज्ञानमूलकम्॥" (गणनाथ)

प्राचीन मतम्——

"त्यक्तव्यायामचिन्तानां संशोधनमकुर्वताम्।
श्लेष्मा पित्तं च मेदश्च मांसश्चाति प्रवर्धते॥"
तैरावृतगतिर्वायुरोजः आदाय गच्छति।
यदा वस्तिं तथा कृच्छ्रो मधुमेहः प्रवर्त्तते॥
स मारुतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहुः।
दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्यायते पुनः॥"

भेद——

यह दो प्रकार के मनुष्यों को होता है——एक स्थूल पुरुष को और दूसरा कृश को। स्थूल और प्रौढ़ पुरुष जिनकी अवस्था ३० से ऊपर है और जो बली हैं उनका मधुमेह चिरकालीन होता है। कृश पुरुष का, बाल और तरुण अवस्था वाले पुरुष का, या जो दुर्बल हैं उनका मधुमेह अति कष्टप्रद और शीघ्रकारी होता है।

प्रधान लक्षण——

"तृष्णा तीव्रा त्वचो रौक्ष्यं क्लमो दौर्बल्यमेव च।
विड्बन्धः कृशता वृद्धिर्मधुरप्राज्यमूत्रता॥
जिह्वादिषु मलाधिक्यं दाहश्च करपादयोः।
मधुमेहस्य लिंगानि भस्मकाग्निश्च कुत्रचित्॥"

मेदस्वी पुरुषों के ये लक्षण पहले छिपे रहते हैं पुनः अव्यायामादि से शनैःशनैः दुष्टि बढ़कर पिपासा कृशता आदि लक्षण दीख पड़ते हैं। यदि कोई फोड़ा ( पिडिका ) आदि होने पर वह शीघ्र अच्छा नहीं हो तो मूत्रपरीक्षा से पता चलता है कि उसे मधुमेह है।

मधुमेह के उपद्रव——

"मधुमेहोपेक्षया च काले भवन्त्यमी।
उपद्रवाः कृच्छ्रसाध्याः केचित् प्राणान्तिकाऽपि च॥

कासः श्वासः ज्वरो मन्दः शीघ्रकारीक्षयस्तथा ।
पिडिका मांसकोथश्च प्रमेहो वा कदाचन ।।
शाखागतासु नाडीषु क्वचित्तीव्ररुजोद्गमः ।
क्लैव्यं च प्रायशः काले तस्य धातुक्षयाद्भवेत् ।।
दृष्टिनाडीवितानस्य प्रशोथाच्छोषतोऽथवा ।
तदन्तवीसृजः शाखाद् दृष्टिदोषोऽन्धताऽपि च ।।
अथास्य वृक्करोगश्च यकृद्रोगश्च कुत्रचित् ।
हृत्पेशीदुर्बलत्वं च तीव्रं शोथोदरादिकृत् ।।
रक्तेऽतिमधुरीभूते त्वङ्मेदोमांसदूषणात् ।
महत्यः पिडिकास्तत्र काले काले भवन्ति च ।।"
(गणनाथ)

मधुमेहज प्रमोह--(Diabetic Coma)- यह अवस्था तब होती है जब शरीर के अन्दर एसेटिक एसिड, बीटाऑक्सीव्युटारिक एसिड और एसीटोन अत्यधिक होजावें । यह प्रायः प्राणघाती हुआ करता है ।

चिकित्सा--निदानपरिवर्जन । अर्वाचीन चिकित्सा में Insulin के आविष्कार के पूर्व इसकी चिकित्सा केवल पथ्य की सुव्यवस्था थी । भोजन, को व्यवस्थित करने के लिए निम्न बातों का ध्यान देना चाहिए--(१) शर्करा विहीन भोजन तथा शर्करोत्पादक विहीन भोजन । (२) यदि मूत्र में एसीटोन तथा डाईएसेटिक एसिड मिले तो भोजन में शर्करोत्पादक ( Carbohydrates) पदार्थों का थोड़ा संमिश्रण करदें, क्योंकि उक्त तत्व आने का अर्थ यह है कि शारीरिक वसा कार्बोज के अभाव में द्राक्षौज बनने के काम में आ रहा है जो उपेक्षा करने से प्रमेह की अवस्था उत्पन्न कर सकता है । उक्त बातों को सुव्यवस्थित रखने के लिए आवश्यक है कि रोगी की मूत्रपरीक्षा जब तब करता रहे । (३) जहां तक हो अपतर्पण चिकित्सा ही करनी चाहिए ।

ज्ञानार्थ कुछ भोजनों की सूची दी जाती है, जिन में न्यूनातिन्यून शर्करा और कार्बोहाइड्रेट्स हैं--

दुग्धवर्ग--घृत, मक्खन, पनीर, मलाई तथा शर्करारहित दुग्ध ।

धान्यवर्ग--निशास्ताहीन आटे की रोटी, बिस्कुट, केक, यव, कोद्रव, श्यामाक इत्यादि ।

शाक-वर्ग--पालक, सेम, गोभी, शलजम, सलाद, कुन्दरु, गाजर, मूली, टमाटर, बैंगन, भिण्डी, प्याज इत्यादि ।

मांस वर्ग--भेड़, बकरी, शूकर, मत्स्य, अण्डे ।

औषध चिकित्सा--(१) इन्सुलीन चिकित्सा। (२) प्रमेह के कारण विकृत अंगों की चिकित्सा--

"क्षौद्रमेहिनं खदिरक्रमुककषायं ।" (सुश्रुत)

शिलाजतु के अनेक योग इसमें लाभ करते हैं। चन्द्रप्रभावटी, इन्द्रवटी, बसन्तकुसुमाकर रस से लाभ होता है । जम्बुफलमज्जाचूर्ण का प्रयोग लाभप्रद सिद्ध हुआ है । उपद्रव की चिकित्सा उपद्रव के अनुसार ही करें । सन्त्रस्तावस्था में २० से ३० यूनिट इन्सुलीन के सूचीवेध करें और ४ तोला के लगभग शर्करा खिला दें । यदि लाभ न हो तो २५ यूनिट इन्सुलीन का सूचीवेध और करते हैं । परन्तु मूत्र में शर्करा न हो तो इन्सुलीन देना अहितकर होता है । मलबन्ध को दूर करें ।

४-हस्तिमेह--"हस्तिमत्त इवाजस्रं मूत्रं वेगविवर्जितम् । सलसीकं विवद्धं च हस्ति प्रमेहति ।।"
(अष्टांग)

इन लक्षणों का विचार करने से हस्तिमेह अर्थात् "बिना उत्तेजना के निरन्तर मूत्रस्राव" नामक रोग होता है । यह विकार सुषुम्नागत मूत्र केन्द्र के आघात से, वस्तिवध के कारण, अश्मरी के कारण, या पौरुष ग्रन्थि के विकृत होने के कारण, होता है । वस्ति में मूत्र भरा रहता है, और अतिरिक्त मूत्र निकलता रहता है । कुछ आधुनिक

विद्वान् इसे भी डायाविटीज इन्सिपिड्स कहते हैं ।

चिकित्सा—"हस्तिमेहिनं तिन्दुककपित्थशिरीषपलाशपाढामूर्वादुःस्पर्शाकषायं मधुमिश्रं हस्ति-अश्वशूकरखरोष्ट्रास्थिक्षारंचेति ।"

नोट—वातजमेह शरीर के धातुओं के क्षयजन्य होने से तथा विरुद्धोपक्रम होने से असाध्य कहा गया है ।

उपसंहार—

"त्रिदोष कोप निमित्ताः विंशतिः प्रमेहाः भवन्ति ।"
(चरक)

प्रमेह की उत्पत्ति में वात, पित्त और कफ ये तीनों दोष प्रकृत अवस्था में नहीं रहते । फिर भी इन तीनों दोषों से उत्पन्न विभिन्न प्रमेहों के नाम इस लेख में बताये गये हैं । इसका अर्थ यह है कि प्रमेह उत्पन्न करने में, ये इन तीनों दोषों के कुपित होने पर भी जिस दोष का प्रबल कोप होता है, रोग (प्रमेह) के लक्षण उस दोष के अनुकूल होते हैं । आयुर्वेदीय अन्वेषण के अनुसार हमारे शरीर के निर्माण में तीन मूल उपादान पाए गए हैं और इन तीनों की तीन विभिन्न क्रियायें शरीर के अन्दर दृष्टिगोचर होती हैं । ये मूल उपादान वात, पित्त, और कफ हैं और इनकी प्रधान क्रियायें जीवन, पचन, वर्धन हैं । तात्पर्य यह है कि शरीर के मूलभूत उपादानों में से एक उपादान ऐसा है, जिस के बिना शरीर का कोई भी कार्य सम्पादित नहीं हो सकता, जो शरीर की प्राण शक्ति ( Vital power ) का मूलाधार है, जो आयु है, जो शरीरदाता है, जो प्रभु है और जो विभु है । यह मूल भूत उपादान वायु कहलाता है । यह पान्चभौतिक होने पर भी वायु तथा आकाशगुण बहुल है । दूसरा उपादान वह है जिसकी उपस्थिति में शरीर का रासायनिक कार्य अर्थात् पाक या पचन होता है । इस तत्त्व के अभाव में हमारे शरीर के अन्दर कोई रासायनिक क्रिया होनी सम्भव नहीं । शरीर के जितने धातु हैं उनके अन्दर सदा पाक होता रहता है और उस पाक के कारण क्षीण धातुओं की पूर्ति केलिए दूसरा पाक शरीर के महास्रोतस् के अन्दर भुक्तान्न का होता रहता है । ये पाक इस दूसरे मूलभूत उपादान पित्त के कारण हो होते हैं । तीसरा मूलभूत उपादान वह है जिसकी उपस्थिति में ये तीनों कार्य सम्यक् रूप से हो सकते हैं । शरीर का वर्धन या शरीर के अन्दर रचनात्मक कार्य इसी उपादान से होता है, इसे कफ कहते हैं । जिस प्रकार विश्व की स्थिति में सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण का स्थान है उसी प्रकार शरीर के अन्दर वात, पित्त और कफ का स्थान है ।

मानव शरीर के मूलभूत उपादान वात, पित्त और कफ में जब किसी प्रकार की विषमता होती है तब शरीर में विकार उत्पन्न होता है । ये विकार दोष विषमता के प्रकार पर निर्भर करते हैं । प्रमेह विकार, प्रकुपित वात, पित्त और कफ के द्वारा मेद, मांस, शरीरज क्लेद, शुक्र, शोणित, वसा, मज्जा, लसीका, रस और ओज के दूषित होने पर उत्पन्न होता है । इसमें जिस प्रकुपित दोष की प्रधानता होती है, उसी के अनुकूल रोग के भी रूप होते हैं ।

उदाहरण—कफज प्रमेह में उन धातुओं का क्षय होता है जिनसे शरीर की वृद्धि का सम्बन्ध है । इन मेहों में शरीरवृद्धि के आवश्यक उपादान निकलते रहते हैं जिससे शरीर की पुष्टि नहीं होती और पुष्टि के अभाव में शरीर क्षीण होने लगता है । यह विकार संतर्पणजन्य होता है, अर्थात् भोजन में जब हम अधिक प्रमाण में इन तत्वों का उपयोग करते हैं तो हमारी कायाग्नि उन तत्वों का उचित पाचन नहीं कर पाती जिससे यह रोग उत्पन्न होता है । इसीलिए इस की चिकित्सा भी अपतर्पण प्रधान है । अर्थात् कफ को नाश करने

वाले रूक्ष कटु पदार्थ का सेवन इसमें लाभप्रद होता है।

पित्तजप्रमेह——शरीर के अन्दर दो तरह का पाक होता रहता है। एक को अन्नपाक या आहार पाक कहते हैं और दूसरे को धातुपाक कहते हैं। दोनों पाकों का कर्त्ता पित्त है। कफजप्रमेह में प्रथम पाक अर्थात् अन्नपाक की ही केवल विकृति होती है, परन्तु पित्तजप्रमेह में अन्नपाक के साथ धातुपाक भी बिगड़ जाता है जिससे शरीर के धातुओं के पाक करने वाले तत्वों का क्षय मूत्र द्वारा होने लगता है। इसकी चिकित्सा भी कठिन होती है, क्योंकि ये उपक्रम विरोधी होते हैं।

वातज प्रमेह——शरीर के अन्दर से जीवनीय उपादानों ( Vital Elements ) का क्षय होने लगता है तो उसे वातजप्रमेह कहते हैं। ये जीवनीय उपादान चार रूप में मूत्र द्वारा निकलते हैं, जिन्हें आकृति के अनुसार चार नाम दिए गए हैं—— मज्जामेह या सर्पिमेह, वसामेह, क्षौद्र या मधुमेह और हस्तिमेह। क्योंकि इसमें जीवनीय धातुओं का क्षय होता है, अतः इन्हें असाध्य कहा गया है।

★

# आहार काल

**आहार कब करे ? जब मलमूत्र का विसर्जन किया जा चुका हो, जब मन तथा इन्द्रियां प्रसन्न हों (अरति-वैचित्त्य-अवसाद न हों), जब शरीर लघु प्रतीत हो (तन्द्रा, गौरव नहीं हों), जब उद्गार की शुद्धि हो गई हो, जब हृदय में विमलता प्रतीत हो, जब अधोवायु का निस्सरण हो गया हो, जब भोजन की रुचि हो ( भोजन के लिए क्षुधा हो), जब (तृषा) तथा क्लम नहीं हों, जब कुक्षिप्रदेश में शिथिलता-अगौरव हो।**

**(सु. उ. अ. ६४–८४)**

★
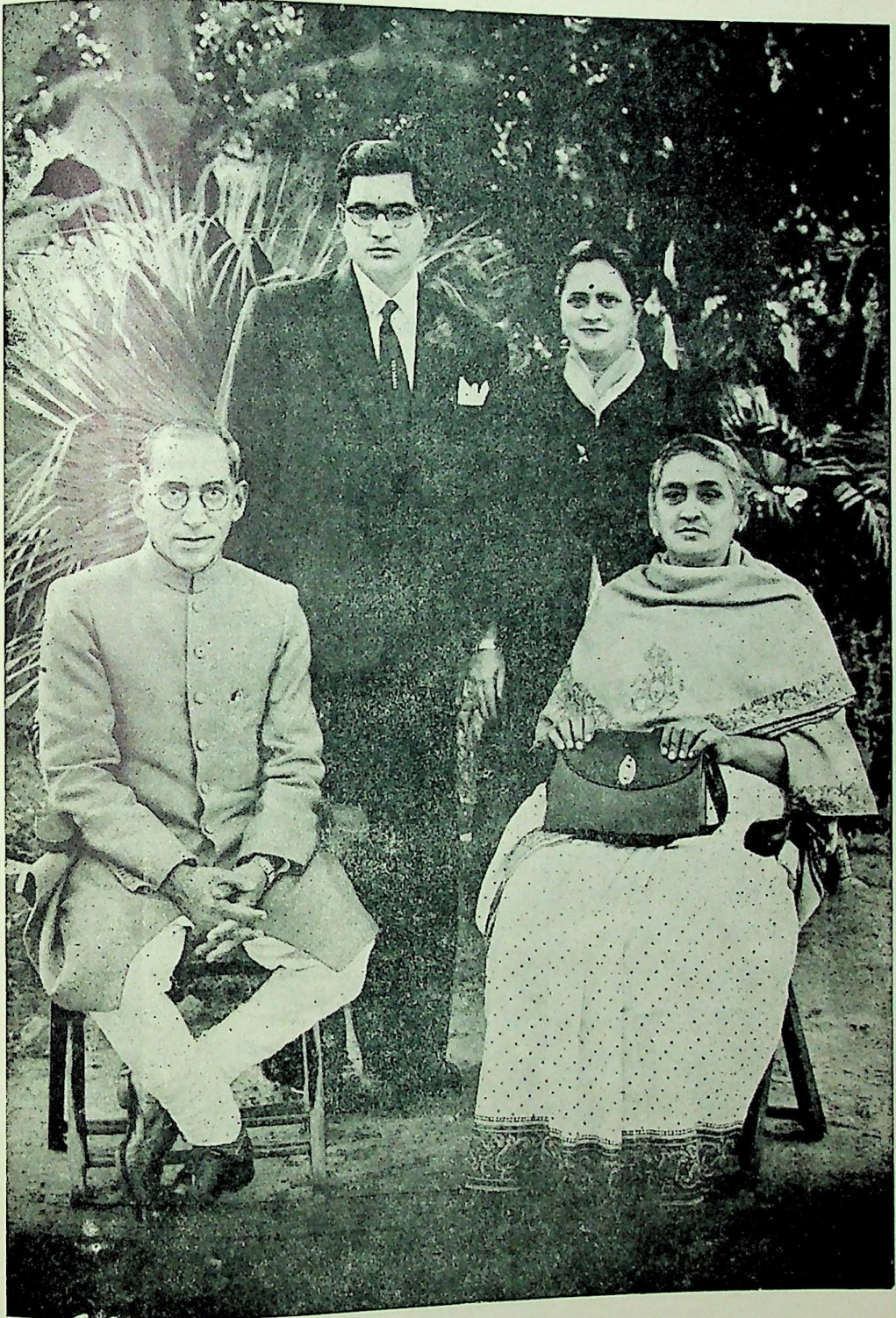
श्री वैद्य धर्मदत्त जी (६५ वर्ष की आयु) पत्नी, पुत्री कमला तथा
दामाद राघवेन्द्र महेन्द्र के साथ (सन् १९५९)।

# वैदिक यज्ञ-चिकित्सा

डाक्टर श्री रामनाथ वेदालङ्कार, एम० ए०, पी-एच० डी०

भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्वों में से यज्ञ एक है। यह कहना अधिक ठीक है कि यज्ञ भारतीय संस्कृति का प्राण है। आर्य-मानव जब माता के गर्भ में होता है, तभी यज्ञ द्वारा संस्कृत होना प्रारम्भ हो जाता है। यज्ञ के वातावरण में ही वह जन्म लेता है। यज्ञ द्वारा ही पालित-पोषित होता है। यज्ञ में ही अपना समग्र जीवन व्यतीत करता है। अन्त में यज्ञ द्वारा ही अपनी इहलोकलीला को समाप्त करता है। जीवन में उसे दैनिक अग्निहोत्र, पंचयज्ञ, षोडश संस्कार तथा अन्य कई श्रौत यज्ञ तो करने होते ही हैं, पर शास्त्रकारों ने यहां तक कहा है कि वह अपने सम्पूर्ण जीवन को ही यज्ञ रूप समझे। छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है--

"पुरुषो वाव यज्ञः। ३।१६" ॥

मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है। उसकी आयु के जो प्रथम चौबीस वर्ष हैं वे मानो प्रातः सवन हैं, अगले चौबालीस वर्ष माध्यन्दिन सवन हैं, अगले अड़तालीस वर्ष तृतीय सवन हैं। इस प्रकार वह ११६ वर्ष चलने वाला यज्ञ है। मनुष्य को चाहिए कि इसे मध्य में ही आधि-व्याधियों से खण्डित न होने दे।

भारतीय विचार-धारा के रोम-रोम में ओत-प्रोत यह यज्ञ दो दृष्टियों से अपनी महत्ता रखता है। एक तो भावना की दृष्टि से, दूसरे बाह्य लाभों की दृष्टि से। भावना की दृष्टि से यज्ञ मनुष्य के अन्दर त्याग, समर्पण, परोपकार, ऊर्ध्व-गामिता, आन्तरिक शत्रुओं का दमन, तेजस्विता, देवपूजा, शान्ति, संगठन आदि भावनाओं को उद्बुद्ध करता है। बाह्य लाभों की दृष्टि से यह वायुमण्डल को शुद्ध करता है और रोगों तथा महामारियों को दूर करता है। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने यज्ञ का ऐसा वैज्ञानिक सूक्ष्म अध्ययन किया था कि वे प्राकृतिक रूप से वर्षा न होने पर वृष्टि-यज्ञ द्वारा वर्षा करा लिया करते थे। वे खेतों में खड़ी हुई फसल में कीड़े लग जाने पर उनके विनाश के लिए भी यज्ञ का प्रयोग करते थे, और यज्ञ की धूम द्वारा पौधों को खाद भी देते थे। किसी स्त्री के सन्तान न होने पर पुत्रेष्टियज्ञ द्वारा वे उसे सन्तान प्राप्त करा सकते थे। ये सब यज्ञ के बाह्य लाभ कहे जा सकते हैं। वेदों में यज्ञ द्वारा चिकित्सा का भी वर्णन मिलता है, यह इस लेख में दर्शाया है।

## रोगोत्पादक कृमियों का विनाश

अथर्ववेद १।२।३१, ३२; ४।३७ तथा ५।२३; २९ में अनेक प्रकार के रोगोत्पादक कृमियों का वर्णन आता है। वहां इन्हें यातुधान, क्रव्याद्, पिशाच, रक्षः आदि नामों से स्मरण किया गया है। ये श्वासवायु, भोजन, जल आदि द्वारा मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होकर या मनुष्य को काट कर उसके शरीर में रोग उत्पन्न करके उसे यातना पहुंचाते हैं, अतः ये 'यातुधान' हैं। शरीर के मांस को खा जाने के कारण ये 'क्रव्याद्' या 'पिशाच' कहलाते हैं। इनसे मनुष्य को अपनी रक्षा करना आवश्यक होता है, इसलिए ये 'रक्षः' या 'राक्षस' हैं। यज्ञ द्वारा अग्नि में कृमि-विनाशक ओषधियों की आहुति देकर इन रोगकृमियों को विनष्ट कर रोगों से बचा जा सकता है। अथर्व १।८ में कहा है--

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवावहत्।
य इदं स्त्री पुमानकः इह स स्तुवतां जनः ॥ १

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ
गुहा सतामत्त्रिणां जातवेदः ।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो
जह्येषां शततर्हमग्ने ।। ४ ।।

"अग्नि में डाली हुई यह हवि रोगकृमियों को उसी प्रकार दूर बहा ले जाती है, जिस प्रकार नदी पानी के झागों को । जो कोई स्त्री या पुरुष इस यज्ञ को करे, उसे चाहिए कि वह हवि डालते के साथ मन्त्रोचारण द्वारा अग्नि का स्तवन भी करे । हे प्रकाशक अग्ने ! गुप्त से गुप्त स्थानों में छिपे बैठे हुए भक्षक रोगकृमियों के जन्मों को तू जानता है । वेदमन्त्रों के साथ बढ़ता हुआ तू उन रोगकृमियों को सैकड़ों वधों का पात्र बना ।"

इस वर्णन से स्पष्ट है कि मकान के अन्धकारपूर्ण कोनों में, सन्दूक-पीपे आदि सामान के पीछे, दीवार की दरारों में तथा गुप्त से गुप्त स्थानों में जो रोगकृमि छिपे बैठे रहते हैं, वे कृमिहर ओषधियों के यज्ञिय धूम से विनष्ट हो जाते हैं ।

अथर्व. ५।२९ से इस विषय पर और भी अच्छा प्रकाश पड़ता है ।

अक्ष्यौ निविध्य हृदयं निविध्य
जिह्वां नितृन्द्धि प्र दतो मृणीहि ।
पिशाचो अस्य यतमो जघास-
अग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि ।। ४

हे यज्ञाग्ने ! जिस मांसभक्षक रोगकृमि ने इस मनुष्य को अपना ग्रास बनाया है, उसे तू विनष्ट कर दे । उसकी आंखें फोड़ दे, हृदय चीर दे, दांत तोड़ दे ।

आमे सुपक्वे शबले विपक्वे,
यो मा पिशाचो अशने ददम्भ ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा,
वियातयन्तामगदो ऽयमस्तु ।।

क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भ-
अकृष्टपच्ये अशने धान्ये यः० ।।
अपां मा पाने यतमो ददम्भ-
कृव्याद् यातूनां शयने शयानम्० ।।
दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ,
क्रव्याद् यातूनां शगने शयानम् ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा,
वियातयन्तामगदोऽयमस्तु ।।
अथर्व० ५।२९।६-९

"कच्चे, पक्के, अधपके या तले हुए भोजन में प्रविष्ट होकर जिन मांसभक्षक रोगकृमियों ने इस मनुष्य को हानि पहुंचायी है, वे सब रोगकृमि हे यज्ञाग्ने ! तेरे द्वारा सन्तति सहित विनष्ट हो जायें, जिससे कि यह नीरोग हो । दूध में, मठे में, बिना खेती के पैदा हुए जंगली धान्य में, कृषिजन्य धान्य में, पानी में, विस्तर पर सोते हुए, दिन में या रात में जिन रोगकृमियों ने इसे हानि पहुंचायी है, वे सब हे यज्ञाग्ने ! तेरे द्वारा सन्तति सहित विनष्ट हो जायें, जिससे कि यह हमारा साथी नीरोग हो" ।

इन मन्त्रों से ज्ञात होता है कि जिस प्रकार बाहर गुप्त स्थानों में छिपे हुए रोगकृमि यज्ञ द्वारा विनष्ट हो सकते हैं, उसी प्रकार दूध, पानी, अन्न, वायु आदि के माध्यम से शरीर के अन्दर पहुंचे हुए रोगकृमि भी नष्ट हो सकते हैं और शरीर स्वस्थ हो सकता है ।

## ज्वर-चिकित्सा

यज्ञाग्नि द्वारा ज्वर तथा ज्वर के सहकारी कास, शिरःपीड़ा, अंगों का टूटना आदि भी दूर हो सकते हैं यह अथर्व. १।१२ तथा ५।२२ सूक्तों से ज्ञात होता है ।

अङ्गे अङ्गे शोचिषा शिश्रियाणम्,
नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम ।
अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम,
यो अग्रभीत् पर्वास्या ग्रभीता ॥
अथर्व० १।१२।२

'हे ज्वर ! अंग-अंग में ताप के साथ व्याप्त हुए तेरा प्रतिकार हम हवि के द्वारा करते हैं। अंगों को जकड़ने वाले जिस ज्वर ने इस रोगी के अंगों को जकड़ लिया है, उसके लिए हवि के द्वारा हम पाशों को तैयार करते हैं'।

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं,
परुष्परुराविवेशा यो अस्य ।
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो,
वनस्पतीन्सचतां पर्वतांश्च ॥
अथर्व० १।१२।३

"हे सूर्य ! हवि के साथ मिल कर तू इस रोगी को शिरः पीड़ा से मुक्त कर, जो इसे खांसी ने सताया हुआ है उससे इसे छुड़ा। जो श्लेष्मजन्य, वातजन्य या पित्तजन्य ज्वर इसके अंग-अंग में व्याप्त हो गया है वह शरीर से निकल कर वृक्षों और पर्वतों से टक्कर खाता फिरे"।

अग्निस्तक्मानमपबाधतामितः
सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः ।
वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना,
अपद्वेषांस्यमुया भवन्तु ।
अयं यो विश्वान् हरितान् कृणोषि,
उच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन् ।
अधाहि तक्मन्नरसो हि भूया,
अधा न्यङ्ङधराङ् वा परेहि ॥
अथर्व० ५।२२।१, २

"यज्ञाग्नि यहां से ज्वर को दूर भगा देवे। सोमरस, यज्ञिय सिल-बट्टे, पवित्र बल को देने वाला सूर्य, वेदि, कुशा, प्रज्वलित समिधाएं ये समस्त यज्ञांग ज्वर-निवारण में सहायक हों। इस विधि से द्वेषकारी सब ज्वरजन्य उपद्रव दूर हो जायें। हे ज्वर ! जो तू अपने ताप से तप्त करता हुआ, पीड़ित करता हुआ, सबको पीले शरीर वाला कर देता है, वह तू यज्ञाग्नि द्वारा निर्वीर्य होजा, शरीर से बाहर निकल जा"।

यत् त्वं शीतोऽथो रूरः सह कासाऽवेपयः ।
भीमास्ते तक्मन् हेतयस्ताभिः स्म परिवृङ्ग्धि नः ।
तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम् ।
तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम् ॥
अथर्व० ५।२२।१०, १३

'हे ज्वर ! जो तू शीतरूप है या उष्णरूप है, खांसी से प्रकम्पित करता है, तेरे ये सब हथियार बड़े भयानक हैं, उनसे तू हमें बचाये रख। हे यज्ञाग्नि ! जो तीसरे दिन चढ़नेवाला, चौथे दिन चढ़ने वाला, प्रतिदिन चढ़ने वाला, ग्रीष्म में होने वाला, वर्षा में होने वाला, शीत या उष्ण ज्वर है उसे तू नष्ट कर।"

## उन्माद-चिकित्सा

अथर्व० ६।१११ में यज्ञाग्नि द्वारा उन्माद रोग की चिकित्सा का वर्णन मिलता है।

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्धि-
अयं यो बद्धः सुयतो लालपीति ।
अतोऽधि ते कृणवद् भागधेयं,
यथा ऽनुन्मदितोऽसति ॥ १ ॥

'हे यज्ञाग्ने ! यह जो उन्माद रोग से ग्रस्त पुरुष कस कर बंधा हुआ असम्बद्ध प्रलाप कर रहा है, उसे तू इस रोग से मुक्त कर दे। जब वह तेरी कृपा से इस रोग से छूट जाये तब भी वह तुझे तेरा हविर्भाग प्रदान करता रहे, जिससे कि फिर कभी उन्मत्त न हो'।

अग्निष्टे निशमयतु यदि ते मन उद्युतम् ।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोऽसति ।२।

'हे मनुष्य ! यदि उन्माद के कारण तेरा मन उद्दीप्त हो गया है, तो यज्ञचिकित्सा को जानने वाला मैं तेरा इलाज करता हूं, जिससे कि तू उन्मादरहित हो जायें'।

इन मन्त्रों से यह ज्ञात होता है कि यदि कोई मनुष्य उन्मत्त हो जाये, उसकी अवस्था ऐसी बिगड़ जाये कि वह असम्बद्ध बातें बोलता रहे, काटने-मारने को दौड़ता हो, यहां तक कि उसे रस्सी से बांध कर रखने की आवश्यकता पड़े,

तो उस हालत में भी वह यज्ञचिकित्सा से स्वस्थ हो सकता है। यज्ञाग्नि में डाली हुई ओषधियों की सुगन्ध उसके विकृत मस्तिष्क और उत्तेजित मन को ठीक कर सकती है। जो एक बार उन्माद रोग से ग्रस्त हो चुका होता है, उसके लिए आगे भी भय रहता है कि कहीं फिर उन्मत्त न हो जाये। पर यहां वेद ने यह उपाय बताया है कि ठीक होने के पश्चात् यदि वह इस रोग के लिए हितकर ओषधियों से नियमपूर्वक यज्ञ करता रहे तो भविष्य में फिर कभी इस रोग से ग्रस्त नहीं होगा।

### गण्डमाला-चिकित्सा

अथर्व० ६।८३ में गण्डमाला की चिकित्सा का वर्णन है। वहां सूर्य और चन्द्रमा की किरणों के सेवन तथा यज्ञाग्नि की आहुति द्वारा यह रोग दूर हो सकता है, ऐसा कहा गया है।

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव।
सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽपोच्छतु॥
एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहणी द्वे।
सर्वासामग्रभं नाम-अवीरघ्नीरपेतन॥
असूतिका रामायणी अपचित् प्र पतिष्यति।
ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति॥
वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा।
मनसा यदिदं जुहोमि॥ १-४॥

"हे गण्डमाला की ग्रन्थिओ! तुम इस रोगी के शरीर से निकल कर उड़ जाओ, जैसे बाज पक्षी अपने घोंसले से उड़ता है। सूर्य तुम्हारी चिकित्सा करे, चन्द्रमा तुम्हें दूर भगा दे। तुम में से एक कुछ कुछ लाल-श्वेत वर्ण वाली है, एक सफेद है, एक काली है, दो लाल हैं। एक एक करके तुम सबका मैं नाम लेता हूं। इस वीर पुरुष का संहार न करती हुई तुम इसके शरीर से दूर हो जाओ। हे रोगी! तू विश्वास रख, जिससे अभी पूयस्राव होना आरम्भ नहीं हुआ है, ऐसी तेरी यह गण्डमालाग्रन्थि निश्चय ही गिर जायेगी। तेरी पीड़ा दूर हो जायेगी, व्रण नष्ट हो जायेगा। हे रोगी तू मनोयोग के साथ इस आहुति का सेवन कर, जिसे मैं मनोयोग-पूर्वक यज्ञाग्नि में डाल रहा हूं"।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि गण्डमाला का रोगी यदि गण्डमालाग्रन्थियों पर विशेष ओषधियों का यज्ञधूप लेवे तो वे ग्रन्थियां नष्ट हो सकती हैं। साथ में सूर्यकिरणों और चन्द्रकिरणों का सेवन भी सहायक चिकित्सा के रूप में करना चाहिए।

अथर्व ७ ७४ में भी गण्डमाला की चिकित्सा का वर्णन करते हुए अन्तिम मन्त्र में यज्ञाग्नि को स्मरण किया है।

व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो,
विश्वाहा सुमना दीदिहीह।
तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं,
प्रजावन्त उपसदेम सर्वे॥ ४॥

"हे व्रतपते जातवेदः यज्ञाग्ने! रोगनिवारण आदि व्रतों से युक्त तू प्रति दिन हमारे घरों में प्रज्वलित होता रह। हम समिधाओं से प्रज्वलित तेरे समीप सब परिजनों सहित बैठा करें।"

### क्षयरोग या राजयक्ष्मा की चिकित्सा

अन्य रोगों की तो गगना ही क्या, यज्ञ द्वारा राजयक्ष्मा की भी चिकित्सा हो सकती है, यह वैदिक सन्दर्भों से प्रकट होता है। सर्व प्रथम हम अथर्व ७।७६ का प्रसंग लेते हैं।

यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः॥३॥
पक्षी जायान्यः पतति स आविशति पूरुषम्।
तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षितस्य च॥४॥
विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे॥ ५॥

'जो क्षयरोग पसलियों को तोड़ डालता है,

फेफड़ों में जाकर बैठ जाता है, पृष्ठवंश के उपरि-भाग में स्थित हो जाता है उस अतिस्त्रीप्रसंग से उत्पन्न होने वाले क्षयरोग को हे यज्ञिय हवि ! तू शरीर से बाहर निकाल दे। पक्षी की भांति उड़ने वाला अर्थात् छूत द्वारा फैलने वाला यह रोग एक से दूसरे पुरुष में प्रविष्ट हो जाता है। चाहे उसने जड़ जमा ली हो, चाहे जड़ न जमायी हो, हवि-चिकित्सा दोनों की ही उत्तम चिकित्सा है। हे अतिस्त्रीप्रसंग से उत्पन्न होने वाले क्षय रोग ! हम तेरे उत्पादक कारणों को जानते हैं। पर जिस पुरुष के घर में हम हवन करते हैं, उसे तू कैसे मार सकता है।

इन मन्त्रों से क्षयरोग के निवारण में यज्ञ-हवन की महत्ता स्पष्ट है। इस विषय पर अथर्व-वेद (३।११, २०।९६) तथा ऋग्वेद (१०।१६१) के कुछ अन्य मंत्र और भी अच्छा प्रकाश डालते हैं। यज्ञ चिकित्सा करने वाला वैद्य कहता है—

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कम्
अज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यदि वैतदेनं
तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम् ॥

"हे रोगी ! चाहे तेरे शरीर में क्षयरोग अज्ञात अवस्था में है, चाहे प्रकट अवस्था में है, हवि द्वारा मैं तुझे उस रोग से मुक्त कर दूंगा, जिससे कि तू चिरकाल तक जीवित रहे। हे वायु और अग्नि ! यदि यह रोगी पूरी तरह से क्षय-रोग की पकड़ में आ गया है तो भी तुम इसे उससे छुड़ा दो"।

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो
यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमाहरामि निर्ऋतेरुपस्थाद्
अस्पार्षमेनं शतशारदाय ॥

'यदि इसकी आयु क्षीण हो चुकी है, यदि यह निराश हो चुका है, यदि यह मृत्यु के बिल्कुल समीप पहुंच चुका है, तो भी हविचिकित्सा द्वारा मैं इसे मृत्यु की गोद से लौटा लाता हूं। मैंने इसे सौ वर्ष जीने के लिए बल प्रदान कर दिया है'।

सहस्राक्षेण शतशारदेन
शतायुषा हविषाऽऽहार्षमेनम् ।
शतं यथेमं शरदो नयाति
इन्द्रो विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥

"इन्द्रियों को सहस्रगुणित शक्ति देने वाली, सौ शरद् ऋतुएं निर्विघ्न पार कराने वाली, सौ वर्ष की आयु देने वाली हवि के द्वारा मैं इस पुरुष को क्षयरोग के चंगुल से छुड़ा लाया हूं, जिससे कि आगे भी (हविर्गन्ध से युक्त) वायु सौ वर्षों तक इसे सब रोग-कष्टों से पार करता रहे'।

शतं जीव शरदो वर्धमानः
शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः
शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः ॥

'हे हविचिकित्सा द्वारा क्षय रोग से आरोग्य लाभ किए हुए मनुष्य ! तू दिनोंदिन बढ़ता हुआ सौ शरदों तक, सौ हेमन्तों तक और सौ वसन्तों तक जीवित रह। वायु, अग्नि, सूर्य और बृहस्पति पर्जन्य ने सौ वर्ष की आयु देने वाली हवि की सहायता से पुनः तुझे सौ वर्ष की आयु प्राप्त करा दी है'।

इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि क्षयरोग चाहे प्रार-म्भिक अवस्था में हो, चाहे बहुत बढ़ गया हो, यहां तक कि उसके कारण रोगी बिल्कुल मरणासन्न हो गया हो, तो भी हवि चिकित्सा के द्वारा ठीक हो सकता है, और रोगी स्वस्थ होकर सौ वर्ष तक जीने योग्य हो सकता है। परन्तु हवि-

चिकित्सा के साथ साथ शुद्ध वायु सेवन, सूर्यकिरण-स्नान, शुद्ध जल का प्रयोग आदि हों तभी हवि-चिकित्सा लाभदायक होती है यह भी प्रकट है।

## गर्भदोष-निवारण

ऋग्वेद में अगले ही सूक्त (१०।१६२) में यज्ञाग्नि द्वारा गर्भदोषों के निवारण का उल्लेख किया गया है। यह प्रकरण अथर्ववेद (२०।६६) में भी है।

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये॥

'हे नारि! जो तेरे गर्भ या योनि के अन्दर बुरे नाम वाला रोग या रोगकृमि प्रविष्ट हो गया है, उसे वेदमन्त्रों से युक्त कृमिविनाशक यज्ञाग्नि वहां से निकाल देवे'।

यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये।
अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत्॥

"जो तेरे गर्भ या योनि में बुरे नाम वाला रोगकृमि प्रविष्ट हो गया है उस मांस-भक्षक कृमि को वेदमंत्रों के साथ प्रयुक्त यज्ञाग्नि नष्ट कर देवे'।

यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम्।
जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥

'जो रोग या रोगकृमि तेरे गर्भाशय में जाते हुए वीर्य की उत्पादकशक्ति को नष्ट करता है, जो अन्दर स्थित हुए गर्भ की हत्या करता है, जो गर्भाशय से बाहर आते हुए चंचल गर्भ की हत्या करता है, जो पैदा हुए शिशु की हत्या करता है, उसे हम यज्ञाग्नि द्वारा विनष्ट कर देते हैं'।

इन मंत्रों से यह द्योतित होता है कि यज्ञ-हवन द्वारा अनेक प्रकार के गर्भदोष भी दूर हो सकते हैं। जिन स्त्रियों में गर्भ ठहरने ही नहीं पाता, या ठहरने के बाद दो-चार महीनों में गिर जाता है, या पूरे नौ-दस महीने की अवधि तक स्थिर रह कर भी प्रसव ठीक नहीं हो पाता, या प्रसव हो भी जाये तो शिशु ऐसा रोगाक्रान्त पैदा होता है कि शीघ्र ही मर जाता है, ऐसी स्त्रियां हविचिकित्सा से लाभ प्राप्त कर सकती हैं, ऐसा वेद का आशय है।

प्रसूतकर्म आसानी से हो जाने के लिए भी किन्हीं विशेष ओषधियों की यज्ञिय सुगंध उपयोगी हो सकती है, यह अथर्व १।११।१ के निम्न मंत्र से प्रकट होता है—

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतौ-
अर्यमा होता कृणोतु वेधाः।
सिस्रतां नारी-ऋतप्रजाता,
विपर्वाणि जिहतां सूतवा उ॥

'हे पोषक गृहपते! इस प्रसव के समय रोग-शत्रुओं का नियमन करने वाला (अर्यमा, अरीन् नियच्छति। निरुक्त ११।२३) यज्ञ का विधाता (वेधाः), होमनिष्पादक (होता) तेरे लिए अग्नि में हवि डालता हुआ वषट्कार करे। नारी बाहर की ओर खिंचे और अपने अंगों को ढीला छोड़ दे, जिससे कि आसानी से प्रसूति हो जाये'।

## अन्य रोगों का निवारण

अब तक हमने ऐसे मंत्र प्रस्तुत किए हैं जिन में यज्ञ द्वारा किन्हीं विशेष रोगों के विनाश होने का वर्णन है। अब कुछ ऐसे मंत्र उद्धृत करेंगे जिनमें किसी विशेष रोग का नाम न लेकर सामान्य रूप से यह कहा गया है कि यज्ञाग्नि से रोग दूर होते हैं।

यथा वृत्र इमा आपस्तस्तम्भ विश्वधा यतीः।
एवा ते अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये॥
अथर्व० ६।८५।३

'जिस प्रकार वृत्र (मेघ) चारों ओर जाने वाले जलों की गति को रोक देता है, उसी प्रकार

हे रोगी ! सर्वजन-हितकारी यज्ञाग्नि के द्वारा मैं तेरे रोग का निवारण कर देता हूं'।

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते।
आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ।।
अथर्व० ७।५३।६

'हे रोगी ! तेरे अन्दर हम प्राण को प्रेरित करते हैं, रोग को दूर कर देते हैं। यह वरणीय और श्रेष्ठ यज्ञाग्नि हम सबको सर्वत्र दीर्घायुष्य प्रदान करे'।

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो
विराडग्ने क्षत्रभृद् दीदिहीह ।
विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः
शिवाभिरद्य परिपाहि नो गयम् ।।
अथर्व० ७।८४।१

'हे यज्ञाग्ने ! तू अनाधृष्य अर्थात् रोगादि शत्रुओं से अपराजेय है, तू उत्पन्न पदार्थों का प्रकाशक है, तू अमर, तेजस्वी और बलधारक होता हुआ हमारे घरों में प्रज्वलित हो। सकल रोगों को छुड़ाता हुआ मनुष्य का कल्याण करने वाली रक्षाओं से हमारे घर की भली प्रकार रक्षा कर'।

कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे ।
देवममीवचातनम् ।। ऋग्० १।१२ ७

'हे मनुष्य ! जो यज्ञाग्नि मेधावी के तुल्य सत्य धर्मों वाला, देदीप्यमान और रोगों को नष्ट करने वाला है, उसका तू यज्ञ में स्तवन कर'।

घृतस्य जूतिः समना सदेवा
संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती ।
श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्तु-
अच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः ।।
अथर्व० १९।५८।१

'मनोयोग के साथ और चक्षु, वाक् आदि इन्द्रिय देवों के व्यापार के साथ अग्नि में डाली हुई घृत की धारा अन्य ओषधियों की हवि के साथ वर्ष भर हमें बढ़ाती रहे। हमारे श्रोत्र, चक्षु, प्राण रोगादि से छिन्न न होवें, हम आयु और तेज से छिन्न न होवें'।

स घा यस्ते ददाशति समिधा जातवेदसे ।
सो अग्ने धत्ते सुवीर्यं स पुष्यति ।।
ऋग्० ३।१०।३

'हे यज्ञाग्ने ! जो मनुष्य तुझ में विभिन्न ओषधियों की समिधाओं का आधान करता है, उसे बल प्राप्त होता है, वह परिपुष्ट होता है।'

इन तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक मंत्रों से यह स्पष्ट है कि विभिन्न ओषधि-वनस्पतियों के समित्-पत्र-पुष्प-फल-मूल-निर्यास आदि की हवि से मनुष्य बल, पोषण, रोग निरोधक शक्ति प्राप्त कर सकता है, और प्राप्त तथा अप्राप्त विविध रोगों से बच कर दीर्घायुष्य पा सकता है।

## यज्ञ द्वारा रोगनिवारण की प्रक्रिया

अब हम यह देखेंगे कि यज्ञ द्वारा रोगनिवारण कैसे होता है। जब हम यज्ञाग्नि में घृत, अन्न, ओषधियों आदि की आहुति देते हैं तब उनकी रोगनिवारक गन्ध वायुमण्डल में फैल जाती है। उस वायु को श्वास द्वारा हम अपने फेफड़ों में भरते हैं। वहां उस वायु का रक्त से सीधा सम्पर्क होता है। वह वायु अपने में विद्यमान रोग-निवारक परमाणुओं को रक्त में पहुंचा देती है। उससे रक्त में जो रोगकृमि होते हैं, वे मर जाते हैं। रक्त के अनेक दोष वायु में आ जाते हैं, और जब हम वायु को बाहर निकालते हैं, तब उसके साथ वे दोष भी हमारे शरीर से बाहर निकल जाते हैं। इस प्रकार यज्ञ द्वारा संस्कृत वायु में बार-बार श्वास लेने से शनैः-शनैः रोगी स्वस्थ हो जाता है। इसी प्रक्रिया को वेद में निम्न

शब्दों में दर्शाया है—

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः ।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद् रपः ।।
आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः ।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे ।।

ऋग्० १०।१३७।२, ३, अ० ४।१३।२, ३

'ये श्वास-निश्वास रूपी दो वायुयें चलती हैं, एक बाहर के वायुमण्डल से फेफड़ों के रक्तसमुद्र तक, और दूसरी फेफड़ों से बाहर के वायुमण्डल तक। इन में से पहली हे रोगी! तुझे रोग-निवारक बल प्राप्त कराये, दूसरी रक्त में जो दोष है उसे अपने साथ बाहर ले जाये। हे वायु! तू अपने साथ औषध को ला, हे वायु! तू रक्त में जो मल है उसे बाहर निकाल। तू सब रोगों की दवा है, तू देवों का दूत होकर विचरता है'।

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे ।
प्रण आयूंषि तारिषत् ।।
उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा ।
स नो जीवातवे कृधि ।।
यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निर्धिर्हितः ।
ततो नो देहि जीवसे ।।

ऋग्वेद १०।१८६।१-३

'वायु हमारे शरीर के अन्दर औषध को ले जाये, जो कि हमारे हृदय के लिए शान्तिकर और सुखकर हो। हमारी आयु को बढ़ाये। हे वायु! तू हमारा पितृतुल्य, भ्रातृतुल्य और मित्रतुल्य है, वह तू हमें जीवन प्रदान कर। हे वायु! जो तेरे घर में अमृतमय औषध का भण्डार निहित है, उसमें से कुछ अंश हमें भी प्रदान कर, जिससे कि हम चिरंजीवी हों'।

## आयुर्वेदिक ग्रन्थों का प्रमाण

यज्ञों द्वारा रोग निवारण का वर्णन आयुर्वेद के ग्रंथों में भी मिलता है। महर्षि चरक क्षयरोग की चिकित्सा के प्रकरण में कहते हैं—

यया प्रयुक्तया चेष्ट्या राजयक्ष्मा पुरा जितः ।
तां वेदविहितामिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत् ।।

चरक, चिकित्सास्थान। ८।१२२

अर्थात् प्राचीनकाल में जिन यज्ञों के प्रयोग से राजयक्ष्मा को जीता जाता था, आरोग्य चाहने वाले मनुष्य को चाहिए कि उन वेदविहित यज्ञों का अनुष्ठान करें।

आयुर्वेद के विभिन्न ग्रंथों में ऐसे अनेक प्रयोग लिखे है, जिनमें अग्नि में ओषधियां डालकर उनकी धूनी लेने से रोगों को दूर करने का वर्णन है। इन्हें भी यज्ञचिकित्सा का ही रूप समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए हम कुछ प्रयोग नीचे देते हैं।

अगुरुघनसारसल्लककररुहनतनीरचन्दनैर्युक्तः ।
सर्जरसेन समेतो धूपो रुग्दाहकं हन्ति ।।

(बृहन्निघण्टु र०)

अगर, कपूर, लोबान, नखी, तगर, सुगन्ध-बाला, चन्दन और राल इनकी धूप देने से दाह शान्त होता है।

अश्वगन्धोऽथ निर्गुण्डी, वृहती पिप्पलीफलम् ।
धूपोऽयं स्पर्शमात्रेण ह्यर्शसां शमने ह्यलम् ।।

(बृ० नि० र०)

असगन्ध, निर्गुण्डी, बड़ी कटेली, पीपल—इन की धूप से बबासीर की पीड़ा शान्त होती है।

शिग्रुपल्लवविनिर्यासः सुपिष्टस्ताम्रसम्पुटे ।
घृतेन धूपितो हन्ति शोथघर्षाश्रुवेदनः ।।

(वंगसेन)

सहंजने के पत्तों के रस को ताम्रपात्र में डाल कर तांबे की मूसली से घोटें और उसे घी में मिला लें। इसकी धूप देने से आंखों की पीड़ा, अश्रुस्राव, किरकिराहट और शोथ का नाश होता है।

काकुभकुसुमविडङ्गं लाङ्गलिभल्लातक तथोशीरम् ।
श्रीवेष्टकसर्जरसं चन्दनमथ कुष्ठमष्टमं दद्यात् ।।
एष सुगन्धो धूपः सकृत् कृमीणां विनाशकः प्रोक्तः ।
शय्यासु मत्कुणानां शिरसि च गात्रेषु यूकानाम् ।।
(योगरत्नाकर)

अर्जुन के फूल, वायविडंग, कलियारी की जड़, भिलावा, खस, धूप सरल, राल, चन्दन और कूठ समान भाग लेकर बारीक कूट लें। इसकी धूप से कृमि नष्ट हो जाते हैं। यदि खाट को इसकी धूप दी जाये तो खटमलों का और शिर तथा अंगों को दी जाये तो जूंओं का विनाश होता है।

काकमाचीफलैकेन घृतयुक्तेन बुद्धिमान् ।
धूपयेत् पिल्लरोगार्तं पतन्ति कृमयोऽचिरात् ।।
(गदनिग्रह)

मकोय के एक फल को घृत लगाकर उसे आग पर डालकर आंख में उसकी धूनी देने से तुरन्त आंख से कृमि निकल कर पिल्ल रोग नष्ट हो जाता है।

निम्बपत्रं वचा कुष्ठं पथ्या सिद्धार्थकं घृतम् ।
विषमज्वरनाशाय गुग्गुलुश्चेति धूपनम् ।।
( वृ० नि० र० )

नीम के पत्ते, बच, कूठ, हर्र, सफेद सरसों और गूगल के चूर्ण को घी में मिलाकर उसकी धूप देने से विषमज्वर नष्ट होता है।

निम्बपत्रवचाहिङ्गु सर्पिर्लवणसर्षपैः ।
धूपनं कृमिरक्षोघ्नं व्रणकण्डूरुजापहम् ।।
(वृ० नि० र०)

नीम के पत्ते, बच, हींग, सेंधानमक और सरसों के समभागमिश्रित चूर्ण को घी में मिला उसकी धूप देने से व्रण के कृमि, खाज और पीव नष्ट होते हैं।

इस प्रकार के अनेक प्रयोग आयुर्वेद के ग्रंथों में हैं। प्राचीन आयुर्वेदविज्ञ आचार्यों ने ये परीक्षण किये थे। अनुसंधान और परीक्षण से हम अन्य भी अनेक प्रयोगों का आविष्कार कर सकते हैं। परन्तु अग्नि में औषधियों के मिश्रण को डालने मात्र से जितना फल सम्भव है उससे शतगुणित फल यज्ञ द्वारा उस विधान को करने से प्राप्त हो सकता है। रोगी श्रद्धा के साथ मन में पवित्र विचारों को लेकर यज्ञ में बैठता है। वह मन में इस विश्वास को धारण किए होता है कि इस यज्ञिय हवि से मेरा रोग अवश्य दूर होगा। चिकित्सक की भावना और उत्साह रोगी के हृदय में और भी आशा का संचार कर देते हैं। मन्त्रपाठपूर्वक यज्ञ प्रारम्भ होता है। एक एक मन्त्र के साथ स्वाहाकारपूर्वक अग्नि में हवि पड़ती है। मन्त्र का एक एक शब्द रोगी के हृदय पर असर करता है। थोड़े थोड़े अन्तर के पश्चात् प्रत्येक स्वाहाकार के साथ अग्नि से हविर्धूम उठता है और श्वास-वायु के साथ रोगी के अन्तस्तल को स्पर्श करता हुआ रोग को दूर भगाता है। यज्ञिय वातावरण की शांति, पवित्रता रोगकल्मष को दूर करने केलिए सोने में सुगन्ध का काम करती है। यह सब लाभ यज्ञ-विहीन शुष्क क्रिया द्वारा भला कहां सम्भव है?

## उपसंहार

अस्तु, शास्त्रीय प्रमाणों से हमने यह प्रतिपादित करने का यत्न किया है कि यज्ञ द्वारा समस्त रोगों का निवारण सम्भव है। किस रोग में किन पदार्थों की हवि हितकर होगी इसका वैद्यविद्वन्मंडली को अधिकाधिक अनुसंधान करना चाहिए। अथर्ववेद में गूगल, कुष्ठ, पिप्पली, पृश्निपर्णी, सहदेवी, लाक्षा, अजश्रृङ्गी आदि कतिपय औषधियों का महात्म्य वर्णन मिलता है। हवन-सामग्री में गूगल का प्रयोग प्रायः किया जाता है। उसके विषय में अथर्व० १९।३८ में कहा है—

न-तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते ।
यं भेषजस्य गुग्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते ।।

अर्थात् जिस मनुष्य को गूगल ओषध की उत्तम गन्ध प्राप्त होती है, उसे रोग पीड़ित नहीं करते, और अभिशाप या आक्रोश उसे नहीं घेरता ।

यज्ञ द्वारा रोगनिवारण शास्त्रकारों की कोरी कल्पना नहीं है । प्राचीनकाल में रोग फैलने के समयों में बड़े-बड़े यज्ञ किए जाते थे और जनता उनसे आरोग्य लाभ करती थी । इन्हें भैषज्ययज्ञ कहते थे । गोपथ ब्राह्मण में लिखा है—

भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि ।
तस्माद् ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते ।
ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते ।।

गो० ब्रा० । उ० १।१९

अर्थात् जो चातुर्मास्य यज्ञ हैं वे भैषज्ययज्ञ कहलाते हैं, क्योंकि रोगों को दूर करने के लिए होते हैं । ये ऋतुसन्धियों में किये जाते हैं, क्योंकि ऋतुसन्धियों में ही रोग फैलते हैं ।

वर्तमान काल में भी वर्षा, शरद् और बसंत के आरम्भ में बड़े व्यापक रूप में रोग और महामारियां फैलते हैं, जिनके निवारण के लिए जनता और सरकार का करोड़ों रुपया व्यय हो जाता है, तो भी वे बीमारियां पूर्णतः नहीं रुक पाती । यज्ञ एक ऐसा उपाय है जिससे स्वल्प व्यय में महान् लाभ प्राप्त किया जा सकता है । जब सर्दी-जुकाम, मलेरिया, चेचक आदि रोग फैलने का समय हो तब यदि घर-घर में और विशाल रूप में सार्वजनिक स्थानों में भी उन रोगों के निवारण के लिए उपयोगी ओषधियों से प्रतिदिन यज्ञ किए जाया करें तो सारा वायुमंडल उन रोगों के प्रतिकूल हो जाये और कहीं वे रोग न फैले, या फैलें भी तो बहुत हल्के रूप में ।

भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न रोग उद्भूत होते हैं । किसी ऋतु में वात प्रकुपित होता है, किसी में पित्त, किसी में कफ । उन-उन प्रकोपों के शमन के अनुकूल हवन-सामग्री का प्रयोग करना उचित है । वेद में भी ऋत्वनुकूल हवन-सामग्री का विधान है—

"देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि" ।

(अथर्व० ५।१२।१०) ।

# "'मन' का द्रव्यत्व"

आचार्य श्री ब्रह्मदत्त शर्मा, आयुर्वेदालंकार
प्राचार्य, आयुर्वेदिक यूनानी तिब्बिया कालेज, नई दिल्ली - ५

'मन' शब्द की निष्पत्ति 'मनु अवबोधने' धातु से होती है। इसकी निरुक्ति दो प्रकार से की जा सकती है, तद्यथा— 'मन्यते इति मनः', यद्वा, 'मन्यते अवबुध्यते ज्ञायतेऽनेनेति मनः'। मन वस्तुतः ज्ञान का साधन है।

('मन' का महत्त्व) आयुर्वेद में 'मन' का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण बताया गया है। 'आयुर्वेद' वस्तुतः 'आयु' का 'वेद' अर्थात् 'विज्ञान-शास्त्र' है। और 'आयु' का स्थूल अभिप्राय इस सन्दर्भ में है, 'जीवित शरीर'। वस्तुतः 'जीवित' अवस्था में रहने वाला शरीर अकेला नहीं होता, अपितु एक समूची जीवन श्रृंखला की एक कड़ी मात्र होता है। इस जीवित-श्रृंखला की कड़ियां चार होती हैं — शिर-कबन्ध-हस्तयुग्म पादयुग्म से युक्त अर्थात् षडंग शरीर, नेत्र आदि इन्द्रियां, सत्त्व अर्थात् मन, और आत्मा। चरकसंहिता में कहा है—

"शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते" ॥
(च० सू० १।४२)

उसी अध्याय में आगे बताया है कि सत्व (मन), आत्मा, शरीर ये तीनों इस जीवन या लोक के दण्ड या स्तम्भ हैं, जिस पर सब कुछ आधारित है तथा जो आयुर्वेद का प्रतिपाद्य विषय है, तद्यथा—

'सत्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्, तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्।
स पुमांश्चेतनं तच्च, तच्चाधिकरणं स्मृतम् ॥
वेदस्यास्य, तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः' ॥
(चरक सू० १, ४६-४७)

अर्थात्, मन इस जीवन की अत्यन्त आवश्यक (अनिवार्य) कड़ी है, जिसके बिना यह जीवन हो ही नहीं सकता। वस्तुतः, 'मन':— संयुक्त आत्मा ही इस शरीर के रूप में नये-नये चोले बदलता रहता है। जब तक आत्मा इस मन के साथ संयुक्त रहता है, तब तक शरीर-धारण या जीवन-धारण की अर्थात् पुनर्जन्म की परम्परा चलती रहती है। मन से आत्मा का विश्लेष मुक्ति या मोक्ष काल में ही होता है। और, मुक्ति या मोक्ष भी सावधिक (सीमित) होता है जिसकी समाप्ति पर या कल्पान्त के बाद पुनः सृष्टि होने पर पुनः आत्मा नये मन से संयुक्त होकर पुनः शरीरधारण के चक्र में पड़ जाता है।

इस संदर्भ से निकलने वाले अनेक निष्कर्षों में से तीन निष्कर्ष हमारे इस संदर्भ में अवधेय हैं:—

१ जीवन की श्रृंखला में 'मन' एक अत्यंत आवश्यक कड़ी है।

२ 'मन' का नित्य शाश्वत आत्मा के साथ संयोग (संश्लेष) भी होता है तथा विश्लेष भी— जीवन-परम्परा की अवस्था में संश्लेष, तथा मुक्ति या मोक्ष की अवस्था में विश्लेष अर्थात्, 'मन' की सत्ता आत्मा से पृथक् है।

३. मुक्ति या मोक्ष की अवस्था में 'मन' का आत्मा से सम्बन्धविच्छेद ही नहीं होता, अपितु 'विलय' या 'विनाश' भी हो जाता है; तथा नवीन सृष्टि के समय पुनरुत्पत्ति भी होती है। अर्थात् मन अनित्य-अशाश्वत है तथा उत्पत्तिविनाशशील है।

('मन' ज्ञान का साधन) आत्मा के लिंग हैं— सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न तथा ज्ञान। तद्यथा — "सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नज्ञानान्यात्मनो लिंगानि" ॥ तथा च—

"इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।
बुद्धिस्मृतिरहंकारो लिंगानि परमात्मनः" ।।
(च० शा० १-७२)

'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानि लिंगम्'।
(न्यायदर्शन सूत्र १)

'प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर-विकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि।
(वैशेषिकदर्शन ३।४ )

आत्मा को यह सुख-दुःख-ज्ञान आदि की उपलब्धि इन्द्रियों के द्वारा ही होती है, जिन्हें इसी लिए 'करण' कहा जाता है। इन्हीं के माध्यम से आत्मा प्रयत्न-इच्छा-द्वेष आदि को सम्पन्न करता है। तद्यथा—

'आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं तस्य प्रवर्तते'।
(च० शा० १-५४)

और, चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियां द्रष्टव्य वस्तु के समक्ष उपस्थित होने पर भी 'दर्शन' आदि की उपलब्धि नहीं करा सकतीं। एतदर्थ बीच में 'मन' रूप कड़ी की अनिवार्य आवश्यकता पड़ती है। इन्द्रियों का सम्पर्क आगे तो द्रष्टव्य वस्तु अर्थात् इन्द्रियार्थ (विषय) से होता है तथा पीछे मनः पुरस्सर 'आत्मा' के साथ—तभी 'ज्ञान' प्राप्त होता है। अर्थात्, 'आत्मा' द्वारा चेतनीभूत मन इन्द्रियों का इन्द्रियार्थ से सम्पर्क स्थापित करा के दर्शन-श्रवण-घ्राणन-रसन-स्पर्श आदि ज्ञान सम्पन्न कराता है। वस्तुतः, मन से युक्त होने पर ही इन्द्रियां ज्ञान एवं कर्म में प्रवृत्त होती हैं और इसी रूप में 'आत्मा' ज्ञाता या कर्ता बनता है। तद्यथा—

'मनः पुरस्सराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति'। (च०सू० ८.७)।

'बुद्धीन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च
मनोऽधिष्ठितानामेव प्रवृत्तेः'।
(डल्हणटीका। सु० शा० १.४)

'इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते'।
(च० शा० १.२२)

मन के सावहित-अव्यवहित सन्निकर्ष या सान्निध्य या सम्पर्क के बिना इन्द्रियां ज्ञान एवं कर्म नहीं करा सकतीं:—

'इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात्तदनुत्पत्तिः।
(न्यायदर्शन ३, २, २१)

सतिह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते।
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं, सान्निध्यात्तच्च वर्तते ।।
(च० शा० १, १८-१९)

वस्तुतः जब आतमा+मन+इन्द्रिय+इन्द्रियार्थ इस प्रकार संयोग सम्पन्न होकर शृंखला बन जाती है, तभी ज्ञान या कर्म की निष्पत्ति होती है। तद्यथा—

'आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन'
(वात्स्यायनभाष्य, न्यायदर्शन १, १, ४)

'पंचेन्द्रियबुद्धयः—चक्षुर्बुद्धयादिकाः; ताः
पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थ सत्वात्मसन्निकर्षजाः'।
(च० सू० ८, १२)

'इन्द्रियबुद्धयुत्पादसामग्रीमाह—ताः पुनरि यादि। सन्निकर्षः सम्बन्धः तेन चक्षुर्बुद्ध्यादावात्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन'।
(चक्रपाणिटीका। च० सू० ८, १२)

'आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निगद्यते'।
(च० सू० ११, २०)

आत्मेन्द्रियमनोर्थानामेकैका सन्निकर्षजा।
अंगुल्यगुंष्ठतलजस्तन्त्री वीणानखोद्भवः।
इष्टशब्दो यथा, बुद्धिर्दृष्टा संयोगजा तथा' ।।
(च० शा० १, ३३-३४)

'बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च, चक्षुरादीनां वागादीनां च मनोऽधिष्ठितानामेव स्वस्वविषयेषु प्रवृत्तेः'।
(वाचस्पतिमिश्र)

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते'।
(च० शा० १-२२)

('मन' प्रधान करण) परन्तु, इस शृंखला या परम्परा में भी 'मन' का महत्व ही अधिक है। 'आत्मा' तो 'ज्ञाता' 'कर्ता' एवं 'चेतयिता', अतः प्रधान है ही। परन्तु उसके नीचे रहता हुआ 'मन' ही वस्तुतः 'ज्ञान' एवं 'कर्म' प्रक्रिया में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कड़ी है और यदि मन सावहित या सम्पृक्त या स्वस्थ न हो तो चक्षु आदि खुले रहने पर भी तथा इन्द्रियों का इन्द्रियार्थों के साथ सम्पर्क बना रहने पर भी और नेत्र के भीतर दृष्टिपटल पर 'विषय' या 'वस्तु' का प्रतिबिम्ब बना रहा होने पर भी दृश्य वस्तु या 'विषय' की प्रतीति या उपलब्धि (Perception) होती ही नहीं। अर्थात् 'चक्षु'–आदि इन्द्रियां दर्शन-आदि ज्ञान स्वयं नहीं करातीं, अपितु 'मन' ही कराता है—

'चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा।
मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति।।
यथेन्द्रियाणि सर्वाणि पश्यन्तीत्यभिचक्षते।
न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवात्र पश्यति'।।
(महाभारत। शान्ति० ३११, १७-१८)

इसीलिए, किसी दृश्य आदि के समय यदि हम अन्यमनस्क होते हैं तो चेताने पर कह उठते हैं, 'अरे, मैं अनमना था, देख नहीं पाया, सुन नहीं पाया'—

'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्, अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्–इति मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति'
(बृहदारण्यकोपनिषद् १, ५, ३)

(अन्तःकरण)— वस्तुतः, ये चक्षु-श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियां तो मात्र बाह्यद्वार हैं, जिन के माध्यम से बाह्य-रूप में कार्य या ज्ञान की शृंखला बनती है। वास्तविक ज्ञान-साधन या कर्मसाधन तो इन बाह्य 'करणों' की तुलना में भीतरी 'करण' है, जिसे 'अन्तःकरण' कहते हैं। यह 'अन्तःकरण' मन-बुद्धि-अहंकार-चित्त से बनता है, तथा बाह्य करणों (चक्षु-आदि बाह्य इन्द्रियों) से आते ज्ञान को उपलब्ध करता है, तथा किसी कर्म को बाह्य करणों द्वारा सम्पन्न करता है। समनस्क इन्द्रिय इन्द्रियार्थ को ग्रहण करके मन को प्रतीति कराती है, मन उसके सम्बन्ध में निश्चय-संशय या संकल्प-विकल्प या सार-असार या गुण-दोष का विचार करके कार्य-अकार्य एवं कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय एवं निश्चय के लिए बुद्धि को प्रदान करता है, तदनन्तर उस प्रतीति के साथ विवेक का तथा 'निजत्व' या 'अहंबुद्धि' (जिसकी निष्पत्ति 'अहंकार' द्वारा होती है) का संयोग होकर 'ज्ञान' (चित्) की उपलब्धि होती है। कर्म की प्रक्रिया में, बुद्धि के निर्देशानुसार मन सम्बद्ध इन्द्रिय के द्वारा आदिष्ट कर्म कराता है। अर्थात्, ज्ञान तथा कर्म का वास्तविक साधन 'अन्तःकरण' है—

'मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे'।।
(वेदान्तभाष्य)

'बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च, चक्षुरादीनां वागादीनां च मनोऽधिष्ठितानामेव स्वस्वविषयेषु प्रवृत्तेः'।
(वाचस्पतिमिश्र)

'इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।
कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा।।
जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका।
व्यवस्यति तया वक्तुं वा बुद्धिपूर्वकम्'।।
(च० शा० १, २२-२३)

'सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात्त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि'।।
(सांख्यकारिका)

इसलिए मन को विश्लेषणकर्ता-विवेचनकर्ता या व्याकरणात्मक माना जाता है—

'मनो व्याकरणात्मकम्' । (महाभारत)

('मन के विषय) जो वस्तु, तत्व, या भाव जिस इन्द्रिय या 'करण' से गृहीत या ग्राह्य होते हैं वे उस इन्द्रिय का 'विषय' या 'अर्थ' कहलाते हैं । यथा—'रूप' चक्षु का विषय है, 'शब्द' श्रोत्र का विषय है, 'रस' जिह्वा का विषय है, 'गन्ध' घ्राण का विषय है, तथा 'स्पर्श' त्वचा का । यद्यपि इन सब की उपलब्धि मन के माध्यम से होती है, अतः ये मन के भी विषय होने चाहियें, परन्तु 'मन' इन का ऐकान्तिक ग्राहक नहीं है । इन की उपलब्धि के प्राथमिक साधन या 'करण' तत्तत् इन्द्रिय है, अकेला 'मन' नहीं—इसीलिए ये तत्तत् इन्द्रिय के अपने 'विषय' कहाते हैं ।

इस दृष्टि से मन के अपने विषय वे होने चाहिएं, जिनकी उपलब्धि में मन सीधा ऐकान्तिक रूप में तथा इन्द्रिय-सहायता के बिना समर्थ हो । अर्थात्, इन्द्रिय-निरपेक्ष मन के जो ग्राह्य या कर्तव्य भाव-तत्व या घटना-विशेष अथवा वस्तु होते हैं वे 'मन के विषय या अर्थ' कहाते हैं । तद्यथा—

मनसो ज्ञेयमिति इन्द्रियनिरपेक्षमनोग्राह्यम् ।
(चक्रपाणिटीका । च० शा० १, २०)

उदाहरणार्थ—इन्द्रियों की अपेक्षा के बिना ही मन जिसके कर्तव्य-कर्तव्य का विचार करता है, वह 'चिन्त्य' तत्व या भाव या वस्तु या घटना या समस्या या प्रश्न 'मन का विषय' कहाएगा ।—

'मनसस्तु चिन्त्यमर्थः' । (च०सू० ८, १२)
'इन्द्रियनिरपेक्षमनो यद् गृह्णाति तच्चिन्त्यम् ।
(चक्रपाणिटीका । च० सू० ८, १२)

'चिन्त्यं कर्तव्यतयाऽकर्तव्यतया वा यन्मनसा चिन्त्यते' । (चक्रपाणिटीका । च०शा० १, २०)

मन के ऐसे विषय पांच होते हैं—चिन्त्य, विचार्य, ऊह्य, ध्येय और संकल्प । तद्यथा—

'चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च ।
यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्' ।।
(च० शा० १, २०)

इनके अतिरिक्त सुख-दुःख आदि भी मन के विषय होते हैं—

'यत्किंचिदित्यनेन सुखाद्यनुक्तविषयावरोधः' ।
(चक्रपाणिटीका । च०शा० १, २०)

इनमें से 'चिन्त्य' का अर्थ है, कर्तव्य तथा अकर्तव्य की दृष्टि से विचार का विषय ('चिन्त्यं कर्तव्यतयाऽकर्तव्यतया वा यन्मनसा चिन्त्यते'), 'विचार्य' का अर्थ है, युक्ति अयुक्ति की सहायता से विवेक का विषय 'विचार्यम् उपपत्त्यनुपपत्तिभ्यां यद्विमृश्यते', 'ऊह्य' का अभिप्राय है, सम्भावना के आधार पर सोचने का विषय (ऊह्यं च यत् सम्भावनया ऊह्यते 'एवमेतद् भविष्यति' इति'।) 'ध्येय' का अभिप्राय है, अपने भावना का केन्द्र (ध्येयम् भावना-ज्ञानविषयम्'), तथा 'संकल्प्य' का अर्थ है, गुणों तथा दोषों की दृष्टि से निर्धारण का विषय ('संकल्प्यं गुणवत्तया दोषवत्तया वाऽवधारणाविषयम्'—
(चक्रपाणिटीका । च० शा० १, २०)

अर्थात्, जिन तत्वों या भावों या घटनाओं पर चिन्तन-विचार-ऊहा-ध्यान एवं संकल्प किया जाता है वे मन के 'विषय' कहाते हैं ।

('मन' के गुण) मन के दो गुण माने जाते हैं—'अणुत्व' और 'एकत्व' । अर्थात्, मन 'अणु' और 'एक' माना जाता है । तद्यथा—

'अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौगुणौ मनसः स्मृतौ' ।
(चरक० शा० १, १९)

ज्ञानायौगपद्यादेकम् मनः' ।

(न्यायदर्शन० ३, २, ५९)

'यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु' ।

(न्यायदर्शन ३, २, ६२)

'अणु' का अर्थ है—सूक्ष्म, एकदेशस्थ । मन 'अणु' होता है, अर्थात एक समय पर एक ही देश या स्थान में स्थित रह सकता है । इस के विपरीत आत्मा शरीर में सर्वेन्द्रियव्यापी अर्थात् 'विभु' होता है । 'विभु' आत्मा सभी इन्द्रियों के साथ एक समय में ही सम्युक्त रहता है । मन भी यदि आत्मा के समान 'विभु' होता तो उसका सम्पर्क एककाल में ही सभी इन्द्रियों के साथ रहता और पांचों ज्ञानेन्द्रियां एककाल में ही स्व-स्व-विषय को ग्रहण कर सकतीं । परन्तु क्योंकि सभी इन्द्रियों से एककाल में ही (युगपत्) स्व-स्व-विषय की उपलब्धि नहीं होती या सभी क्रियाओं की एक साथ उपलब्धि नहीं होती, अतः मानना पड़ेगा कि 'विभु' आत्मा के विपरीत मन 'अणु' होता है ।

इसी प्रकार, मन 'एक' है, अनेक नहीं । यदि 'अनेक' मन होते तो सभी इन्द्रियों के साथ उनका सम्पर्क एककाल में ही तथा निरन्तर स्थापित रहता जिससे सभी ज्ञानेन्द्रियों से एककाल में ही ज्ञान-उपब्धि तथा कर्मेन्द्रियों से एककाल में ही क्रिया-निष्पति हुआ करती । परन्तु ऐसा नहीं हुआ करता—सभी ज्ञानेन्द्रियों से एककाल में ही ज्ञान-उपलब्धि तथा सभी कर्मेन्द्रियों से एककाल में ही क्रिया-निष्पत्ति नहीं होती, अतः मानना पड़ेगा कि मन 'अनेक' नहीं, अपितु 'एक' है ।

ज्ञानायौगपद्यादेकम् मनः ।। ५९ ।।

न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ।। ६० ।।

(न्यायदर्शन ३, २ ५९-६०)

'तच्च कारणम् मनोरूपं यद्यात्मवद्युगपत् सर्वेन्द्रियव्यापकं स्वीक्रियते किंवा अनेक-संख्यमिन्द्रियवत्स्वीक्रियते, तदा पुनरपि युगपदिन्द्रियार्थ-सम्बन्धे पंचभिर्ज्ञानैर्भवितव्यं, विभुना वा मनसा, अनेकैर्वा मनोभिर्युगपदधिष्ठितत्वादिन्द्रियाणां, न च भवन्ति युगपज्ज्ञानानि, तस्माद् युगपज्ज्ञानानुदयाल्लिगान् मनोऽणुरूपमेकं च सिद्धयतीत्याह—अणुत्वमित्यादि' ।।

(चक्रपाणिटीका । च० शा० १-१९)

यहां एक शंका की जा सकती है । बहुत बार ऐसा प्रतीत होता है कि हमें एक साथ ही अनेक ज्ञानों की उपलब्धि हो रही है, या कर्मेन्द्रियों द्वारा एक साथ ही अनेक क्रियाएं सम्पन्न हो रही हैं । उदाहरणार्थ—फूल का दर्शन तथा सुगन्धग्रहण दोनों एककाल में ही उपलब्ध हो रहे प्रतीत होते हैं, अथवा, हम एककाल में ही मन से चिन्तन, हस्त-मुख-जिह्वा-दन्त आदि से भोजन एवं जिह्वा से भाषण आदि कर रहे प्रतीत होते हैं । परन्तु नहीं, यह प्रतीति मात्र है । जिस प्रकार सिनेमा की एक-के-बाद एक फिल्मों को इतनी शीघ्रता से परिवर्तित किया जाता है कि पहली फिल्म का नेत्र के दृष्टिपटल पर बना प्रतिबिम्ब पुंछने से पूर्व ही १/९ सैकण्ड से पूर्व ही अगली और फिर अगली फिल्म का प्रतिबिम्ब पड़ते जाने के कारण नेत्रों को पर्दे पर निरन्तर चलती क्रिया की प्रतीति होने लगती है, जो कि परमार्थतः सत्य नहीं है, इसी प्रकार हमें यह भी प्रतीति-मात्र ही होती है कि एक-के-बाद-एक होती हुई ज्ञान-उपलब्धि या क्रियानिष्पत्ति सम्भवतः एकसाथ या 'युगपत्' ही हुई है । ऊपरिलिखित रूप-गन्ध की उपलब्धि अथवा चिन्तन-भोजन-भाषण क्रियाओं की निष्पत्ति एक-के-बाद-एक इतनी शीघ्रता से होती है कि हमें एककाल में ही सम्पन्न हुई प्रतीत होती है । वस्तुतः परमार्थतः यह प्रतीति मात्र

होती है, वास्तविकता नहीं। इसे न्यायदर्शन में एक अतिसुन्दर व्यावहारिक उदाहरण से समझाया गया है। वह उदाहरण है, मशाल का। मशाल को तेजी से घुमाने पर आग का एक वृत्त (चक्र) सा बन गया प्रतीत होता है, जो वास्तविक नहीं होता, घूमती मशाल को अकस्मात् रोक देने पर अग्नि-चक्र भी नहीं दीखता। वस्तुतः हमारे हाथ में पकड़ी हुई मशाल हाथों को वृत्ताकार में घुमाने पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर इतनी शीघ्रता से पहुंचती है कि हमें दृष्टि से उसकी गति न प्रतीत होकर एककालिकता अथवा निरन्तरता एवं वृत्त-आकृति-मता प्रतीत होती है। इसी प्रकार, हमें ज्ञान एवं क्रिया की एककालिकता प्रतीत मात्र हो रही होती है। परमार्थतः वह वास्तविकता नहीं होती। तद्यथा--

'अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसंचारात्'।
(न्यायदर्शन ३, २, ६१)

(मन के कर्म) हमने ऊपर देखा है कि मन कर्मेन्द्रियों से सम्पृक्त होकर आत्मा एवं बुद्धि द्वारा आदिष्ट क्रियाएं कराता है। ऐसी क्रियाएं तत्-तत् इन्द्रिय का कर्म कहाती हैं। परन्तु कर्म-निष्पत्ति की इस प्रक्रिया में मन भी एक कड़ी होने के कारण ऐसे कर्म 'मन' के भी कहा सकते हैं। इनके विपरीत कुछ कर्म ऐसे हैं, जिन्हें मन स्वयं ही सम्पन्न करता है तथा ऐसा करने में उसे इन्द्रियों (कर्मेन्द्रियों) की आवश्यकता नहीं पड़ती। ऐसे कर्म मन के अपने कर्म कहलाते हैं।

इन्द्रियनिरपेक्ष मनके कर्म आयुर्वेद में मुख्यतः चार प्रकार के माने गये हैं--इन्द्रियाभिग्रह, मनोनिग्रह, ऊहा और विचार। तद्यथा--

'इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः।
ऊहो विचारश्च'। (च० शा० १, २१)

इन में से 'इन्द्रियाभिग्रह', का अर्थ है, इन्द्रियों का नियंत्रण। अर्थात्, इन्द्रियों को नियंत्रित करके रखना। 'इन्द्रियाभिग्र := इन्द्रियाधिष्ठानं मनसः कर्म'। (चक्रपाणिटीका। च०शा० १, २१)

इन्द्रियां इस शरीर-रूपी रथ में जुते हुए घोड़ों के समान हैं और अपने-अपने विषयों की ओर भागती रहती हैं, तथा शरीर एवं आत्मा को भी उस के शुभाशुभ-फल का भागी होना पड़ता है--'इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान्' इस परिस्थिति में मन शरीर-रथ के सारथी का कार्य करता है और इन्द्रियों को नियन्त्रित करता है--बुरे विषयों या कर्मों से रोके रखता है। यही 'इन्द्रियाभिग्रह' है। इन्द्रियरूपी घोड़ों को नियंत्रित करने वाले शरीररथ-सारथी मन का वर्णन वेद में भी बड़े सुन्दर रूप में किया गया है, तद्यथा-

'सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयते-
ऽभीशुभिर्वाजिनइव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः
शिवसंकल्पमस्तु'॥

(यजुर्वेद। वाजसनेयीसंहिता ३४, ६)

'मनोनिग्रह' का अभिप्राय है, 'मन द्वारा मन का निग्रह'। शरीररूपी रथ में सारथी की तरह स्थित मन यदि अनियन्त्रित रहे तो उससे अत्यन्त घातक हानि होगी। अतः मन का भी नियंत्रण अत्यावश्यक है। और, यह 'मनोनिग्रह' मन का ही कर्म है--मन ही इसे स्वयं करता है। मन स्वयं को अनिष्ट विषयों से रोक कर रखता है। इस 'मनोनिग्रह' कर्म में 'धृति' से मन को सहायता मिलती है। धृति-सहित मन अनिष्ट विषयों की ओर जाते मन (स्वयं) को रोक रखता है। यही 'मनोनिग्रह' है। तद्यथा--

'... तथा स्वस्य निग्रहो मनसः कर्म। मनो ह्यनिष्टविषयप्रसूतं मनसैव नियम्यते। मनश्च

गुणान्तरयुक्तं सद् विषयान्तरा-न्नियमयतीत्याहुरेके। यदुक्तम्– 'विषयप्रवणं चित्तं धृतिभ्रंशान्न शक्यते। नियन्तुमहितादर्थाद् धृतिर्हि नियमात्मिका' इति।

(च०शा० १, १००)

तेन धृत्या कारणभूतया मन आत्मानं नियमयतीति न स्वात्मनि क्रियाविरोधः ॥

(चक्र०। च० शा० १, २१)

'ऊह' का अर्थ है, विकल्प या संशय के बिना सत्य-असत्य, शुभ-अशुभ, सार-असार, आदि का आलोचनात्मक ज्ञान। 'अत्रोह आलोचनज्ञानं निर्विकल्पकम्'। (चक्र०। च० शा० १, २१)

'विचार' का अर्थ है, 'संकल्पन', अथवा 'हेय-उपादेय की दृष्टि से तोलना'। इस रूप में मन इन्द्रियों से प्राप्त निर्विकल्प ज्ञान में हेय-उपादेय की पद्धति से विवेचन करता है, जिस पर बाद में बुद्धि 'ग्राह्य' एवं 'कर्तव्य' अथवा 'अग्राह्य' एवं 'अकर्तव्य' का अध्यवसायात्मक निर्णय देती है। तद्यथा––

'विचारः=संकल्पनं=हेयोपादेयतया विकल्पनम्। चतुर्विधं हि विकल्पकारणं सांख्या मन्यन्ते। तत्र बाह्यमिन्द्रियरूपम्, आभ्यन्तरं तु मनोऽहंकारो बुद्धिश्चेति त्रितयम्। तत्रेन्द्रियाण्यालोचयन्ति निर्विकल्पेन गृह्णन्तीत्यर्थः, मनस्तु संकल्पयति हेयोपादेयतया संकल्पयतीत्यर्थः, अहंकारोऽभिमन्यते 'ममेदम्, अहमत्राधिकृतः' इति मन्यत इत्यर्थः, बुद्धिरध्यवस्यति 'त्यजाम्येनं दोषवन्तम् उपाददाम्येनं गुणवन्तम्' इत्यध्यवसायं करोतीत्यर्थः .... । (चक्र०। च० शा० १, २१)

इस प्रकार, मन के कर्म मुख्यतया चार होते हैं–इन्द्रियाभिग्रह, मनोनिग्रह, ऊहा तथा विचार।

('मन' का द्रव्यत्व) –– मन को आयुर्वेद में, बल्कि भारतीय दर्शन-मात्र में, 'द्रव्य' माना गया है, तद्यथा––'खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः'। (च०सू० १, ४८)। अर्थात्, 'द्रव्य' निम्नलिखित माने गये हैं–आकाश-वायु-अग्नि-जल-पृथ्वी ये पंचमहाभूत, आत्मा, मन, काल (time), दिशाएं (space)।

परन्तु, 'द्रव्य' तो हरीतकी-बिभीतक-आमलक-ब्राह्मी-अश्वगन्धा-वचा-शंखपुष्पी-शतावरी-सोमलता आदि भी होते हैं, उन्हें यहां क्यों नहीं गिना गया? इस शंका का उत्तर यह है कि वे सब 'कार्यद्रव्य' होते हैं, और यहां इस सन्दर्भ में 'कारणद्रव्य' गिनाये गये हैं। तद्यथा–'द्रव्यसंग्रह इति करचरण-हरीतकीत्रिवृताद्यसंख्येयभेदभिन्नस्य कार्यद्रव्यस्य कारणद्वारा संक्षेप इत्यर्थः'। (चक्रपाणिटीका-चरक सू० १-४८)। वस्तुतः इन पंचमहाभूत आदि कारणद्रव्यों से ही हरीतकी आदि कार्यद्रव्य बना करते हैं, और कारणद्रव्यों का व्याख्यान करने पर कार्यद्रव्यों का भी समाहार हो गया। अर्थात्, 'मन' एक 'कारणद्रव्य' है, यद्यपि इसके भी निष्पादक कारण वैकारिक एवं तैजस अहंकार हैं, जिनके परस्पर संयोग द्वारा इन्हीं के लक्षणों से युक्त पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों, एवं मन की उत्पत्ति होती है, तद्यथा––

'तत्र वैकारिकादहंकारात्तैजससहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते, तद्यथा––

श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति ––'। (सुश्रुत सूत्र १, ४)

आयुर्वेद में एक अन्य स्थान पर भी 'मन' को द्रव्यों में गिना गया है। वह सन्दर्भ है, 'अध्यात्म-द्रव्य' का। इस 'अध्यात्मद्रव्यसंग्रह' में गणना उन तत्वों, भावों, या द्रव्यों की होती है जिनका सम्बन्ध या सान्निध्य भौतिक स्थूल शरीर के विपरीत आत्मा के साथ अधिक है, तद्यथा–मन, मनोर्थ (अर्थात्, मन के विषय), बुद्धि और आत्मा। सूक्ष्मता के कारण स्वयं आत्मा की भी गणना इस

वर्ग में की गई है। इस वर्ग के उपदेश का प्रयोजन यह है कि यदि इस वर्ग का सम्यग्ज्ञान होगा तथा तदनुसार आचरण होगा तो धर्म-सुख में प्रवृत्ति होगी तथा अधर्म एवं असुख से निवृत्ति होगी। साथ ही, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्-आचरण न होने पर संसार में पुनरागमन की प्रवृत्ति लगी रहेगी तथा सम्यग्-ज्ञान एवं सम्यग्-आचरण होने पर संसार में निवृत्ति अर्थात् मुक्ति मिलेगी। तद्यथा—

'मनो मनोऽर्थों बुद्धिरात्मा च,
इत्यध्यात्मद्रव्यगुणसंग्रहः।
शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुश्च,
द्रव्याश्रितं च कर्म, यदुच्यते क्रियेति'॥
(चरक सू० ८, ६)

'...आत्मनोऽपकारकोपकारकाणां द्रव्यगुणानामयं संग्रहः इति। योऽयं संग्रहः शुभस्य=धर्मस्य, सुखस्य च, प्रवृत्तौ हेतुर्भवति, अशुभस्याधर्मस्यासुखस्य च निवृत्तौ हेतुर्भवति...। दुर्ज्ञातस्तुसंग्रहः संसारस्य हेतुर्भवति तत्त्वतो ज्ञातस्तु मोक्षस्य हेतुरिति व्याख्येयम्'। (चक्र०च०सू० ८, ६)

अर्थात् मन को आयुर्वेदशास्त्र में 'कारणद्रव्य' एवं 'अध्यात्मद्रव्य' माना गया है। तो, प्रश्न होता है—'द्रव्य' किसे कहते हैं ? इसकी परिभाषा क्या है ?

('द्रव्य' की परिभाषा) — आयुर्वेद एवं भारतीय दर्शनों के अनुसार 'द्रव्य' उसे कहते हैं जिसमें कर्म तथा गुण आश्रित या समवेत रहते हों, तथा जो निजस्थ गुण-कर्मों का समवायी कारण हो। तद्यथा—

'यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत्।
तद् द्रव्यम्'। (चरक सू० १, ५१)

उदाहरणार्थ—'आमलक' में अम्ल-कषाय-रस, मधुर-अनुरस, आदि समवेत रूप में रहते हैं जिन के द्वारा यह तत्तत् रसायन आदि कार्य करता है तो 'आमलक' एक द्रव्य कहाता है। यहां 'समवायी-कारण' का अभिप्राय है, वह कारण जो स्वसमवेत-कार्य को सम्पन्न करावे। गुण कर्म से युक्त द्रव्य तो स्वसमवेत कार्य करा सकता है, परन्तु उसके विपरीत, 'गुण' या 'कर्म' न तो किसी अन्य गुण या कर्म के आश्रय बनते हैं, नाहीं स्वसमवेत-कार्य सम्पन्न करा सकते हैं।

'समवायिकारणं च तद् यत् स्वसमवेतं कार्यम् जनयति। गुणकर्मणी तु न स्वसमवेतं कार्यं कुरुतः, अतो न ते समवायिकारणे'।
(चक्रपाणिटीका। चरक सू० १, ५१)।

दूसरी ओर, 'द्रव्य' के अंग्रेजी पर्याय 'सब्स्टैंस' (substance) की भी लगभग यही परिभाषा है। चेम्बर्स-डिक्शनरी में इसकी परिभाषा इस प्रकार बतायी है—

"Substance" — that in which qualities or attributes exist; the existence to which qualities belong : that which constitutes anything what it is ....". (Chambers's twentieth Century Dictionary).

अंग्रेजी की यह परिभाषा 'द्रव्य' की आयुर्वेदीय परिभाषा का सीधा अनुवाद ही प्रतीत होता है। अस्तु, इस परिभाषा के अनुसार, 'मन' सोलहों आने 'द्रव्य' है—क्योंकि 'मन' के अपने विषय होते हैं, पृथक् 'गुण' भी हैं तथा 'कर्म' भी, और ये सब गुण-कर्म मन में समवेत रूप में रहते हैं जिन से स्वसमवेत-कर्म मन कराता है, मन इन 'गुणों'-'कर्मों' का समवायी कारण भी है, जिसके बिना ये विशिष्ट गुण-कर्म नहीं रह सकते। अर्थात्, 'मन' इस परिभाषा में पूरा उतरता है, अतः 'द्रव्य' है।

परन्तु, एक और दृष्टि से भी परखना आवश्यक है। प्रत्येक 'द्रव्य' का कोई स्वरूप आकार-प्रकार-परिभाषा-भार-आदि होना चाहिए जिससे

उसे पहचाना या अन्य द्रव्यों से पृथक् किया जा सके। उदाहरणार्थ–'आमलक' का एक विशेष प्रकार का चपटा गोल आकार होता है, हलका हरा रंग होता है, छोटे-बड़े देसी-बनारसी-जंगली आदि प्रकार होते हैं, प्रकार-अनुसार भिन्न-भिन्न भार होते हैं, कच्चे-पक्के आदि के भेद से विभिन्न रस-गुण आदि होते हैं और इसी प्रकार विशिष्ट कर्म भी होते हैं। इस प्रकार की स्वरूप-परिचायक विशेषताएं मन की कौन-सी हैं जिनसे मन को भौतिक परिभाषाओं में जाना-पहिचाना जा सके?

इस के उत्तर को पाने के लिए पहले हमें यह ध्यान में रखना होगा कि मन 'कारणद्रव्य' है, स्थूल भौतिक परिभाषा में आने वाला 'कार्यद्रव्य' नहीं। वह आत्मा के समान सूक्ष्म है और इसी लिए 'अध्यात्मद्रव्यगुणसंग्रह' में परिगणित है। आत्मा के समान ही न तो मन का कोई आकार (वृत्त, वर्ग, आयत, आदि) है, न आयतन, न भार, आदि। वह तो अपने कर्मों से जाना जाता है। जिस प्रकार, 'बिजली' की सत्ता को हम प्रकाशमान बल्ब से पहचानते हैं, इसी प्रकार 'मन' को भी उसके द्वारा होने वाले 'इन्द्रियाभिग्रह'– 'मनोनिग्रह'– 'ऊहन'– 'विचारण'–कर्मों के द्वारा जानते हैं। इसी उदाहरण को जरा और आगे बढ़ावें, तो, जिस प्रकार हम 'बिजली' की प्रवहमाण धारा को उसके द्वारा चलने वाले 'गाल्वैनोमीटर' से जानते तथा नापते हैं तथा परमाणुओं की अतीन्द्रिय गति को 'गीगर-काउण्टर' द्वारा देखते एवं नापते हैं, इसी प्रकार 'मन' द्वारा ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियों से सम्पन्न होने वाले ज्ञान एवं कर्म के प्रमाण से हम 'मन' की जान-पहचान प्राप्त करते हैं। इतना ही नहीं, नवीन-आविष्कृत 'इलैक्ट्रो-ऐन्सफैलोग्राम'–यन्त्र द्वारा तथा नाना प्रकार के कम्प्यूटरों द्वारा हम मन की चिन्तनधारा एवं विचारधारा को जान तथा नाप भी सकते हैं। अर्थात् मन की क्रिया को तथा मन के माध्यम एवं नियन्त्रण से चलने वाली ज्ञान-कर्म की प्रक्रिया को आधुनिक सूक्ष्म यन्त्रों से देखा-पहिचाना तथा नापा जा सकता है।

('द्रव्य' और 'शक्ति')–– तो, क्या 'मन' भी 'बिजली' के समान 'शक्ति' है? इसके उत्तर के लिए हमें इस बात को समझ लेना आवश्यक है कि वस्तुतः परमार्थतः 'द्रव्य' और 'शक्ति' एक ही वस्तु के दो रूप हैं, परमार्थतः इन दोनों में भेद है ही नहीं। 'द्रव्य' को हम आवश्यकतानुसार शक्ति में परिवर्तित कर लेते हैं, और 'द्रव्य' तो वह है ही। उदाहरणार्थ–कोयले को जला कर हम ताप एवं शक्ति प्राप्त कर लेते हैं, जल को वाष्प बना कर इञ्जिन को चलाने के लिए शक्ति प्राप्त कर लेते हैं, पेट्रौल या डीजल को चिनगारी द्वारा विस्फोटात्मक रूप में जलाकर मोटर तथा डीजल-इंजिन चला लेते हैं, और परमाणु को विस्फोटित कर के भयंकर शक्तिशाली ऊर्जा प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात्, 'द्रव्य' और 'शक्ति' (ऊर्जा) में अभेद है। आधुनिक विज्ञान में इस तथ्य को स्वर्गीय आइन्स्टीन ने सफल रूप में प्रतिपादित किया था और अब हम इसके लाभकारी एवं विनाशक उपयोग परमाणु-विस्फोटन के द्वारा होते देख रहे हैं।

वस्तुतः, 'बिजली' में भी कुछ 'गुण' तथा 'कर्म' समवेत रूप में रहते हैं जिनके प्रति बिजली 'समवायी कारण' हैं तथा जिनके द्वारा बिजली 'स्वसमवेत-कार्य' कराती है। तो, 'बिजली' भी तो इस परिभाषा के अनुसार 'द्रव्य' ही कहावेगी। और 'परमाणु' तथा उनसे उत्पन्न 'ऊर्जा' भी 'द्रव्य' कहावेंगे। यह बात दूसरी है कि 'परमाणु' तथा उससे उत्पन्न 'ऊर्जा' दोनों के स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं

तथा उनका परिचय, ज्ञान, एवं मापन भी भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है । परमाणु को हम विशेष आकार-प्रकार-आयतन-भार आदि के रूप में देखते-पहचानते हैं, और अब तो उसके स्फटिक का चित्र भी बनाया जा चुका है, तथा, दूसरी ओर, तज्जन्य ऊर्जा को हम टी०एन०टी० (T.N.T.) की तुलना की परिभाषा में नापते तथा जानते हैं । और, यह रूप-परिवर्तन तो ऐसा है जैसा जल को ठोस, तरल, वायव्य रूपों में होता हम देखते हैं । जल का वायव्य रूप अर्थात् 'जलवाष्प' परमार्थतः जल ही है, यद्यपि उसका 'तरलत्व' या 'द्रव्यत्व' वाला गुण अब लुप्त हो चुका है, तथा जब यही जलवाष्प 'ऊर्जा' या 'शक्ति' बना देता है तो उस 'ऊर्जा' या 'शक्ति' में जलत्व ढूंढे भी नहीं मिल सकता । अर्थात्, रूप परिवर्तन होते रहने पर भी परमार्थतः 'द्रव्य' और 'शक्ति' में अभेद मानना पड़ेगा । और, हमारी 'द्रव्य'-परिभाषा में तो 'शक्ति' या 'ऊर्जा' भी समाविष्ट हो जाती है ।

(निष्कर्ष) —— 'मन' के गुण-कर्म का स्वरूप-ज्ञान प्रत्यक्ष होने के कारण, अपने गुण-कर्म के प्रति मन समवायी करण होने की वजह से, मन में उस के गुण-कर्म समवेत-रूप में आश्रित रहने के कारण, मन के स्वसवेत-क्रिया कराने से, तथा मन की क्रियाओं को विविध युक्तियों-यन्त्रादिकों द्वारा जानना और नापना प्रत्यक्ष होने के कारण मन 'द्रव्य' है । परन्तु, आत्मा के समान अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इसे 'कारणद्रव्य' तथा 'आध्यात्म-द्रव्य' माना जाता है ।

# जख्म छोटा है मगर उपेक्षा न कीजिए !

## क्योंकि इसमें टिटेनस के घातक जीवाणु घुस सकते हैं

श्री जसवन्तराय गोयल

एक व्यक्ति को टहलने की आदत थी । वह नंगे पांव हर मौसम में सुबह-शाम बिना नागा स्वास्थ्य-वर्धन केलिए टहला करता था । जो भी उससे मिलता, उसे वह टहलने का माहात्म्य अवश्य समझाता । उसका स्वास्थ्य अच्छा था । टहलते समय कभी-कभी उसके पैरों में जरा सी खरोंच लग ही जाया करती थी, जिस पर वह ध्यान नहीं देता था । एक रोज सुबह जब वह टहल कर घर वापस आया, तब एकाएक उस के गले व पीठ में दर्द शुरू हो गया । घर वालों ने समझा कि सर्दी लग गयी है, कुछ ही देर बाद उस का मुंह जकड़ गया, और झटके का दौरा आया जिससे पूरा बदन कड़ा होकर जकड़ गया । अब घर के लोग घबराने लगे । पड़ोस में ही एक सज्जन जो चिकित्सा में ज्ञान रखते थे बुलाए गये । उन्होंने रोगी को देखा और कहा कि कोई बात नहीं है, मैं दवा दे रहा हूं, एक-आध घंटे बाद ठीक हो जायेगा । परन्तु दोपहर होते-होते रोगी को दस बारह झटके के दौरे पड़ गये । तब बड़े डाक्टर से इलाज कराना उचित समझा गया, बड़े डाक्टर ने आकर रोगी को भलीभांति देखा । उस समय तक रोगी की हालत काफी बिगड़ चुकी थी, फिर भी डाक्टर ने आधुनिकतम उपचार तुरन्त शुरू करवाया । रात के बारह बजे तक जीवन और मृत्यु का भीषण द्वंद्व चलता रहा । बारबार भयंकर झटके के दौरे आते रहे और अन्त में जीवन हार गया । करीब एक बजे रात को एक प्रबल दौरा रोगी के पूरे शरीर में आया और उसने दम तोड़ दिया ।

अब सवाल उठता है कि व्यक्ति किस वजह से मर गया । वह व्यक्ति "टिटेनस" नामक रोग के कारण मरा । इस व्यक्ति के उपेक्षित घाव में टिटेनस के जीवाणु प्रवेश कर गये थे, जिन्होंने इस भयंकर रोग को जन्म दिया, जिसकी वजह से रोगी की अकाल मृत्यु हो गयी ।

क्या है यह टिटेनस ? यह बहुत भयंकर रोग है । प्राचीनकाल के चिकित्सक तथा जनता भी इस रोग से परिचित थी । आयुर्वेद के ग्रंथों में इसे धनुस्तम्भ, अपतानक, धनुष्टंकार आदि कहा गया है ।

आखिर क्यों होता है यह टिटेनस ? आधुनिक विज्ञान ने बहुत खोज कर के 'दैवी कोप' के इस दोषारोपण को निर्मूल सिद्ध कर दिया है । छोटी सी चोट में प्रविष्ट जीवाणु ही इस भयंकर रोग के लिए जिम्मेदार हैं । यह एक प्रकार के बैसिलस (दण्डाणु) से होता है । इस बैसिलस को 'क्लास्ट्रिडियम टिटेनाई' कहा जाता है । इस बैक्टीरिया का पता सर्व प्रथम निकोयर ने १८८४ में लगाया था । इस के प्रतिविष (एंटीटौक्सिन) का पता १८९० में वान वेहरिंग और किटास्टो ने लगाया ।

प्रकृति में यह सैप्रोफाइट की तरह बहुतायत से पाया जाता है । भूमि इसका प्रथम निवास स्थान है, जहां से यह मनुष्यों और जानवरों के पेट में पहुंच कर अस्थायी या स्थायी रूप से रहता है । यह गाय के गोबर और घोड़े की लीद में हमेशा मिलता है । यह बहुरूपिया ( प्लीओमारफिक ) जीव है । साधारणतया यह लम्बा डंडे की शक्ल का ३ से ८ म्यू तक का होता है। यह स्पोर (च्छेद) बना

लेता है जो कि वेजीटेटिव वैसिलस से चौड़ा होता है। स्पोर्स की शक्ल ड्रम बजाने वाली लकड़ी की तरह होती है। इसको खिसकने में मदद देने के लिए फ्लैजिला होते हैं। यह ग्राम-पाजीटिव होता है। इसके स्पोर्स विष्ठा मिली मिट्टी में जीवित मिलते हैं।

इस वैसिलस टिटेनाई की विशेषता यह है कि यह आक्सीजन के अभाव में ही जीता है। अर्थात् शुद्ध खुली हुई हवा इसके लिए प्राणघातक है।

आमतौर पर ये जीवाणु स्वस्थ तन्तुओं में नहीं बढ़ सकते हैं। इनके बढ़ने के लिए उचित वातावरण का होना अति आवश्यक है। इस उचित वातावरण का निर्माण खरोंच व जख्म के रूप में होता है। जब यह सड़े-गले तन्तु एनरोवायोसिस उत्पन्न करते हैं, तभी ये जीवाणु अपनी वृद्धि कर के रोग उत्पन्न करते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि सड़े-गले तन्तु क्यों इस जीवाणु की वृद्धि में सहायक होते हैं? किसी भी जख्म के संक्रमण के दौरान टिटेनस के स्पोर्स के साथ ही बहुत से मवाद पैदा करने वाले वैक्टीरिया भी पहुंच जाते हैं। शुरू-शुरू में मवाद पैदा करने वाले जर्म्स अति शीघ्र बढ़ना शुरू करते हैं, और इस वृद्धि में काफी आक्सीजन खर्च कर लेते हैं इसके अलावा वे चिथरे घाव के तन्तुओं को सड़ने में भी मदद देते हैं इस तरह से 'टिटेनस-वैसिलस' जो कि एनरोवस हैं सड़े-गले टिसूज में, कम आक्सीजन के वातावरण में वृद्धि का मौका पाता है।

## कैसे होता है टिटेनस रोग--

टिटेनस रोग के सब असर इसी घुलनशील विष के ही कारण होते हैं। टिटेनस का विष जहरीले विषों में से एक है। यह इतना प्राणघाती है कि इसकी ०.००००१ सी० सी० ही एक १० ग्राम वजन के चूहे को मारने के लिए पर्याप्त होती है।

टिटेनस का विष दो प्रकार का होता है। (क) एक प्रकार का विष (कनवलसन) झटके का दौरा उत्पन्न करता है। जिसे टिटेनोस्पाजमिन कहते हैं। (ख) दूसरे प्रकार का विष रक्तकणों का नाश (हिमोलिसिस) करता है जिसे टिटेनोलाइसिस कहते हैं।

निम्नलिखित तरीकों से व्रण होने पर उस व्रण द्वारा टिटेनस के जर्म्स हमारे शरीर में पहुंच कर रोग पैदा करते हैं।

(१) पैर के तलुए में कील, खुत्थी, कांटा या कोई नुकीली चीज धंस जाय।

(२) फटे-चिथरे घाव जो दुर्घटना के फलस्वरूप होते हैं।

(३) कोई भी मवाद देने वाला जख्म जैसा फोड़ा, फुन्सी, बेडसोर, कान बहना आदि।

(४) चेचक का टीका लगाने के बाद गन्दगी से।

(५) कुनीन जैसी दवाओं का इंजैक्शन लगाने पर।

(६) अस्वच्छ और संक्रमणयुक्त मरहम-पट्टी करने से।

(७) महावारी होने के बाद गन्दगी से, या बच्चा पैदा होने के बाद गन्दा पैड लेने से।

(८) ग्रामीण अंचलों में नवजात शिशु के नाल काटने की प्रचलित दूषित पम्परा के कारण।

(९) जल जाने के बाद गन्दगी से।

(१०) नया जूते के काटने से।

(११) कपड़ा सिलते समय या बटन लगाते समय अंगुलि में सुई चुभ जाने से।

टिटेनस का विष जानवरों और मनुष्यों दोनों को ही खतरनाक होता है। आमतौर से घोड़ा और मनुष्य इससे ज्यादा प्रभावित होते हैं, जब कि कुत्ता, बिल्ली अप्रभावित रहती हैं। टिटेनस के विष को मुंह द्वारा देने से कुछ नहीं होता है। परन्तु विष सुई के द्वारा शरीर में पहुंचाया जाये, तब यह पेशियों के 'मोटर एण्ड प्लेट' के द्वारा सोख लिया जाता है और मोटर नर्व द्वारा सुषुम्ना के अग्रशृंग 'एंटीरियर हार्नसेल' कोष तक पहुंचा दिया जाता है। मोटर नर्व कोषों तक पहुंचने के बाद विष एक प्रकार के स्थायी गठ बंधन में बंध जाता है, जिससे प्रतिविष (ए० टी० एस०) का कोई असर इस बंधे (फिक्सड) विष पर नहीं पड़ सकता। प्रतिविष इसे अलग करके प्रभावहीन नहीं कर सकता है।

**उपचार टिटेनस का--**

(१) इस रोग की खास औषधि ए०टी०एस० की सूचीवेध है। उन्नीसवीं सदी के अन्त में टिटेनस विष का प्रतिकार करने वाले प्रतिविष का पता लग पाया।

(२) रोगी को शांत, स्थिर और अन्धेरे कमरे में रखा जाता है जिससे कि उसे किसी भी प्रकार की उत्तेजना न होने पाये। इससे दौरे कम आते हैं कोई भी आवाज या शोर नहीं होना चाहिए। रोगी के कान में रूई के फोह लगा दिए जाते हैं उसे बोलने नहीं दिया जाता है।

(३) रोगी को आराम देने केलिए तथा दौरों को कम करने केलिए पैरेलडिहाइड की सूचीबेध पेशियों में ४-६ घंटे पर दी जाती है।

(४) टालसिरम की गोली दिन में तीन बार दी जाती है।

(५) लारगेक्टिल की गोली या सूचीबेध दिन में तीन बार दी जाती है।

(६) एंटीबायोटिक्स सुबह शाम दी जाती है

(७) यदि जकड़न ज्यादा हो तो निश्चेतक दवायें (एनेस्थीसिया) दी जाती है।

(८) हारमोन के इंजेक्शन या गोली जिससे रोगी जल्द आराम पा जाए।

(९) आक्सीजन कभी-कभी दी जाती है और कभी-कभी श्वांस नली को काट कर नली द्वारा सांस लेने का प्रबन्ध करना पड़ता है।

(१०) खान-पान– दूध, फलों का रस, यदि मुंह बन्द हो तो नाक द्वारा एक नली डालकर खाना दिया जाता है। कभी-कभी मल द्वार से भी चीनी व नमक का पानी देना पड़ता है।

मगर यह सब हो ही क्यों ? अगर थोड़ी सी सावधानी बरती जाय। चोट लगने पर एण्टी टिटेनस सीरम का सूचीबेध लगावा लेने से रोग नहीं होने पाता है। यदि आपको जरा-सा भी चोट, खरोंच, जख्म हो, कान बहे, फोड़ा फुन्सी हो, बच्चा होने के बाद जच्चा व बच्चा दोनों को ही तथा जलने के बाद ए० टी० एस० का सूचीबेध अवश्य लगवा दें। बच्चों में इसकी मात्रा ७५० यूनिट की होती है तथा वयस्कों के लिए १५०० यूनिट की होती है। छह मास के अन्दर यह दुबारा नहीं लगनी चाहिए। हां, छह मास के बाद फिर लगवाना आवश्यक हो जाता है। तब आप इस रोग से बचे रहेंगे।

# आयुर्वेद में अनुसन्धान

श्री अशोककुमार वर्मा

देश को स्वतंत्र हुए लगभग २२ वर्ष हो चुके हैं, । परन्तु देश में पाश्चात्य चिकित्साविज्ञान के चिकित्सक स्वास्थ्य-समस्याओं का निराकरण नहीं कर सके । इसका मूल कारण हमारे देश में स्वास्थ्य तथा चिकित्साशास्त्र की शिक्षा की निश्चित नीति का नहीं होना है । मैं पाचात्य चिकित्सा-प्रणाली को आयुर्वेद का एक अंग मानता हूं । प्राचीन समय में स्वास्थ्य के सम्बन्ध में निश्चित नियम ऋषि मुनियों द्वारा लागू किए गए थे । आयुर्वेद की अनेक औषधियों का प्रयोग आधुनिक चिकित्साप्रणाली में हो रहा है । आयुर्वेद की संहिताओं के रचियताओं को उन सभी चीजों के बारे में ज्ञान था जो आज आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के चिकित्सकों को है । हमारे देश में न तो एलोपैथिक दवाओं ने सफलता प्राप्त की और न ही पाश्चात्य चिकित्साविज्ञान देश की स्वास्थ्य समस्याओं का समाधान कर सका । यह निश्चित है कि एक ओर तो एलोपैथिक दवाइयां जीवाणुओं को नष्ट करती हैं, और दूसरी ओर शरीर के अनेक अंगों हृदय, यकृत, वृक्क, मस्तिष्क पर गम्भीर दुष्प्रभाव पैदा करती हैं । जीवाणुजन्य रोग के बदले ओषधि के विषजन्य दुष्प्रभाव को मोल ले लेते हैं । इसका मूल कारण है एलोपैथिक दवाओं के कुप्रभाव, जो एक रोग को दबा कर दूसरे नए भयंकर रोगों को जन्म देती हैं । इस के विपरीत आयुर्वेदिक औषधियों का एलोपैथिक दवाओं की भांति कुप्रभाव नहीं होता है, आयुर्वेद के प्रयोजन के सम्बन्ध में चरक ने सूत्र ३०।२६ में यह श्लोक कहा है—

'प्रयोजनं चास्यं (आयुर्वेदस्य) स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम् आतुरस्य विकारप्रशमनं च' ।।

इससे ज्ञात होता है कि आयुर्वेद, किंवा चिकित्सापद्धति मात्र, के प्रयोजन दो हैं । प्रथम ऐसे आहार-बिहार, देश, काल, तथा औषधोपचारों का उपदेश जिनके अवलम्बन से स्वस्थ पुरुष अपने स्वास्थ्य को स्थिर रख सके और आयु की वृद्धि कर सके । द्वितीय अहिताहार बिहार आदि के कारण पुरुष रोगी हो गया हो तो जिस उपचार से वह रोगमुक्त हो सकता हो उस का उपदेश । आयुर्वेद में मनुष्य के स्वास्थ्यरक्षा पर बहुत ही बल दिया गया है, तथा जितना सुन्दर स्वास्थ्य बनाने के लिए आयुर्वेद में वर्णन है वह अन्यत्र दुर्लभ है । भारत के प्राचीन इतिहास को देखने से पता चलता है कि प्राचीन समय में विभिन्न देशों के विद्वान आयुर्वेद (साइन्स आफ मेडिसन) तथा ज्योतिष (एस्ट्रोनामी) के सम्बन्ध में जानने के लिए भारत की ओर आकर्षित हुए । जो चिकित्साविज्ञान विश्व में अपना महत्त्व रखता था वह कुछ तो मुगल शासनकाल तथा ब्रिटिश शासनकाल में समाप्त हो ही चुका था तथा जो कुछ भाग अब भी शेष है उसकी प्रगति के लिए सरकार को यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए ।

अब प्रश्न उठता है कि हम पाश्चात्य चिकित्सा के विद्वानों के सम्मुख यह किस प्रकार प्रमाणित करें कि आयुर्वेद के विद्वानों को आज से हजारों वर्ष पूर्व वह ज्ञान प्राप्त था जिस ज्ञान का दावा आधुनिक चिकित्साशास्त्री करते हैं । शल्य चिकित्सा प्राचीन समय में आज से पीछे नहीं थी । चूंकि शास्त्रों के विभिन्न स्थलों पर यह वर्णन आया है कि प्राचीन शल्यचिकित्सकों ने कटे हुए शिर, हाथ, टांग को जोड़ा था । आयुर्वेद में रसायन द्रव्यों का चमत्कार यह है कि च्यवन ऋषि को बुढ़ापे से यौवन प्रदान कर दिया था ।
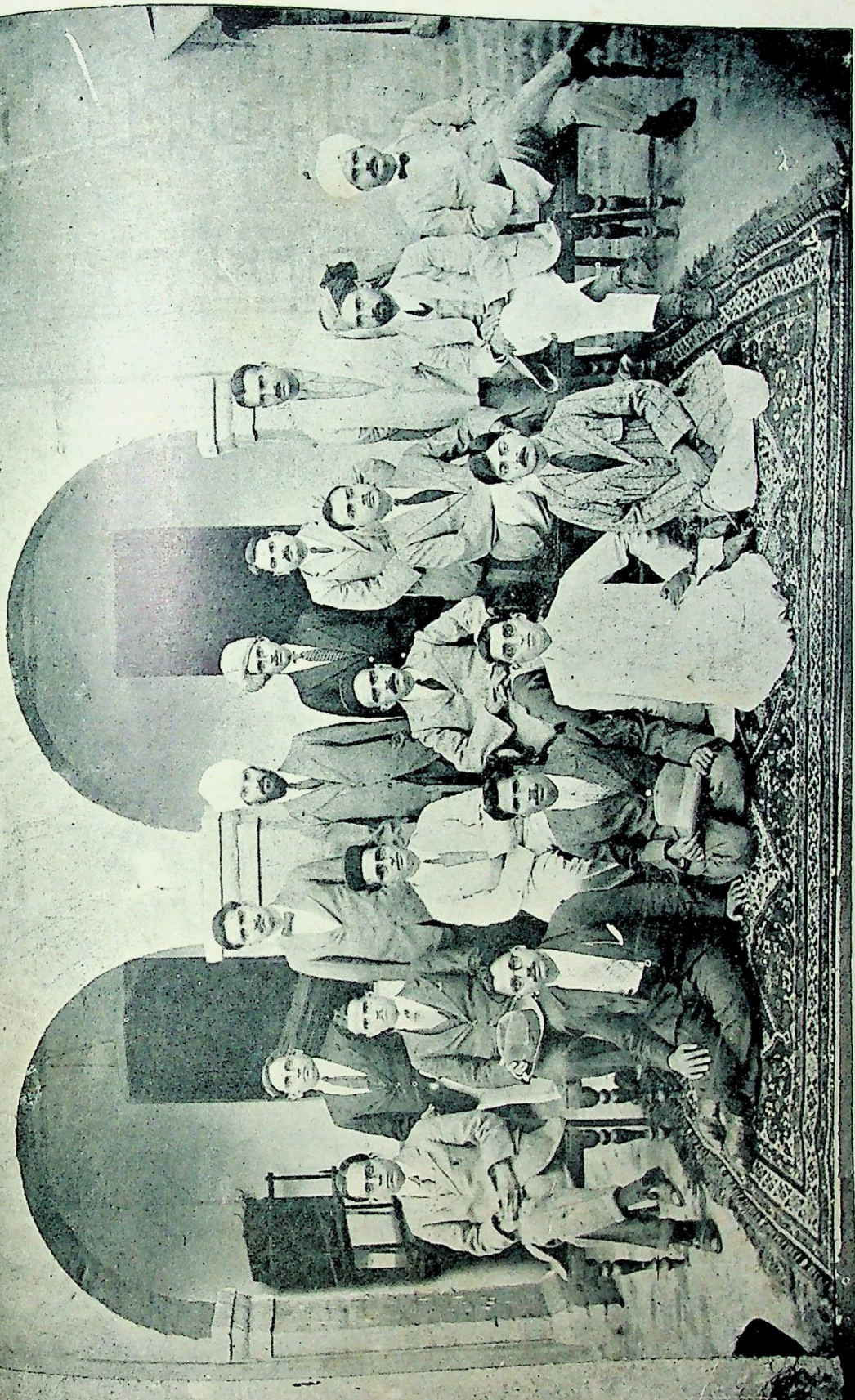
मध्य में डाक्टर मथुरादास पहवा नेत्र विशेषज्ञ विराजमान हैं, और भूमि पर बैठे हुए तृतीय क्रम में आचार्य धर्मदत्त वैद्य

यह सब प्राचीन समय की चिकित्सा के विकास की ओर संकेत करता है कि आयुर्वेद की क्या उन्नत दशा थी। आधुनिकों की प्लास्टिक सर्जरी भी आयुर्वेद के सुश्रुत की देन है। परिवार नियोजन जो आज देश की प्रमुख समस्याओं में से एक समस्या है उसका ज्ञान आयुर्वेदज्ञों को था। इस के प्रमाण सुश्रुत संहिता में मिलते हैं। यह भी कहना अतिशयोक्ति न होगा कि पाश्चात्य चिकित्साविज्ञान ने आयुर्वेद से बहुत कुछ ग्रहण किया है। भारत के प्राचीन साहित्य में ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में चिकित्सकों को गर्भाधान तथा गर्भनिरोध के बारे में यथेष्ट ज्ञान था। चरक सुश्रुत संहिताएं जिनका स्थापनाकाल आज से ३००० वर्ष पूर्व रहा होगा वह आयुर्विज्ञान के ज्ञान की अनुपम निधियां हैं। ग्रीस तथा मिस्र के प्राचीन साहित्य में स्त्री, पुरुष के जननांगों के बारे में बड़े ही अवैज्ञानिक ढंग के वर्णन मिलते हैं। मिस्र देश का प्राचीन साहित्य पेपिराई नामक ग्रंथों में मिलता है जिसको स्थापना आज से लगभग ३००० या ४००० वर्ष पूर्व रही होगी। एवर्स पैपिरिस में योनि के बारे में एक स्थान पर लिखा है कि 'योनि यूट्रस पेट के अन्दर एक जीवित प्राणी के समान होता है जो कभी कछुए के आकार को बना लेता है तथा कभी मगर के समान बन जाता है'। इसके ठीक विपरीत योनि के बारे में बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से सुश्रुत संहिता में लिखा मिलता है—

शंखनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्ता सा प्रकीर्तिता।
तस्यास्तृतीये त्वावर्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता॥

अर्थात् योनि शंखनाभि के आकार की तीन आवर्त्तों से युक्त होती है। उसके तीसरे आवर्त्त में गर्भशय्या होती है। यह वर्णन ठीक उसी प्रकार का है जैसा कि पाश्चात्य चिकित्सा की पुस्तकों में लिखा है। वर्तमान समय में सन्ततिनिरोध के लिए फैलोपियन ट्यूब्स को बांध देते हैं। ठीक इसी प्रकार का वर्णन सुश्रुत संहिता में किया गया है कि यदि आर्तव नालों को विद्ध कर दें तो गर्भ ठहरने की शक्ति समाप्त हो जाती है। सुश्रुत ने लिखा है शुक्रवह स्रोत दो हैं। जिन्हें आधुनिक चिकित्साशास्त्री स्परमेटिक कौर्ड्स कहते हैं। उनके विद्ध होने से क्लैव्य, देर से शुक्र का प्रसेक होना ये होते हैं। स्परमेटिक कौर्ड्स के मूल में दो वृषण या टेस्टिकिल्स तथा दो स्तन या एपिडेडाइमिस होते हैं। आज के शल्यचिकित्सक उपरोक्त क्रियाओं का प्रयोग करके मनुष्य को बधिया बना देते हैं जिसे वेसेक्टामी या नसबन्दी कहते हैं। इसी प्रकार सुश्रुत ने शरीररचना या (एनाटामी), शरीरक्रियाविज्ञान (फिजियोलाजी), सर्जरी इत्यादि का वर्णन किया है। यह आधुनिक चिकित्साविज्ञान के सदृश है।

आयुर्वेद में विभिन्न रोगों का विस्तृत रूप में वर्णन किया गया है तथा उनके उपचार के लिए बहुत सी लाभकारी जड़ी-बूटियों से बनी औषधियां हैं। इन औषधियों का प्रयोग पाश्चात्य चिकित्साविज्ञान के चिकित्सकों ने करना प्रारम्भ कर दिया है। ये चिकित्सक यह दावा करने लगे हैं कि विभिन्न मेडिसिनल प्लान्ट्स से बनी हुई औषधियों का आविष्कार उन्होंने किया है जब कि इन औषधियों के गुणों का वर्णन हजारों वर्ष पूर्व संहिताओं में हो चुका है। अन्तर केवल इतना है कि पाश्चात्य चिकित्साविज्ञान ने उन औषधियों को आधुनिक रूप देकर टेबलेटों और कैपसूलों में बनाना शुरू कर दिया है और आयुर्वेदिक फार्मेसियां आज भी वही पुराने ढंग से चूर्ण के रूप में अभी तक औषधियों का निर्माण कर रही हैं। एसप्रिन जो एलौपैथिक दवाओं में दर्द निवारण के

लिए एक प्रमुख दवा है, यह अमेरिकन भारतीय चिकित्सकों द्वारा जोड़ में दर्द होने पर 'विल्लोवार्क (Willow Bark)' दिया करते थे। इस में सेली-साइलेट (Salicylate) होता है तथा यही गुण एसप्रिन का भी है। कुनैन भी एलोपैथिक दवाओं में ज्वर के लिए एक प्रमुख दवा है। इसे दक्षिणी अमेरिका के भारतीय जाति के चिकित्सक सिनकोना के छाल को ज्वर की दशा में देते थे। राबुलफिया सरपेनटाइना या सर्पगन्धा जो एक मेडिसिनलप्लान्ट है तथा जिसका वर्णन आयुर्वेद के ग्रन्थों में आया है वह उच्च रक्तचाप में बड़ी लाभकारी औषधि साबित हुई है। इसी प्रकार गुड़हल के फूल, अजवाइन पर अनुसन्धान हुआ जो कि विभिन्न रोगों में लाभकारी हैं।

आयुर्वेदशास्त्र के द्रव्यगुणविज्ञान में बहुत से मेडिसनल प्लान्ट के गुणों का वर्णन हैं। चरक सुश्रुत संहिताओं के अध्ययन से यह पता चलता है कि आयुर्वेदिक चिकित्साविज्ञान पूर्णतः वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है तथा दूसरे देशों के प्राचीन चिकित्साविज्ञानों से श्रेष्ठ है। इस में कोई दो मत नहीं हो सकते। आवश्यकता है केवल अनुसन्धान करके उसको विकसित करने की जिस से आयुर्वेद को आधुनिक वैज्ञानिक युग में आधुनिक रूप दिया जा सके। यदि सरकार नीचे लिखे सुझावों के आधार पर चले तो देश में स्वास्थ्य समस्या का भी हल हो जाएगा और देशवासियों को सुन्दर तथा सस्ती औषधियां भी उपलब्ध हो जाएंगी।

(१) आयुर्वेद के ग्रंथ जो संस्कृत में लिखे गए हैं उनका अनुवाद हिन्दी, अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं में किया जाय जिससे पूरे संसार के लोग आयुर्वेद को समझ सकें।

(२) आयुर्वेद में अनुसन्धान की बहुत आवश्यकता है। इस कारण आयुर्वेद में अनुसन्धान करके उसे आधुनिक रूप देने के लिए पूरे देश में अनेक रिसर्च सैन्टर की स्थापना हो।

(३) आयुर्वेद की जो औषधियां लाभकारी सिद्ध हो चुकी हों उनको प्रत्येक अस्पतालों में भेजा जाए।

(४) आयुर्वेदिक दवाओं को आधुनिक रूप देने के लिए सरकार कोआपरेटिव फार्मेसियां एवं सरकारी फार्मेसियों का निर्माण करे।

(५) आयुर्वेद को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार को चाहिए कि कम से कम प्रत्येक जिले में चाहे वह ग्रामीण क्षेत्र में हो या शहरी क्षेत्र में, एक २०० पलंगों का आयुर्वेदिक अस्पताल खोले जहां आयुर्वेदिक रीति से शल्यक्रिया एवं रोगों के उपचार किए जाएं। सरकार को यह भी चाहिए कि प्रत्येक जिला अस्पतालों में पृथक आयुर्वेदिक-विभाग खोले तथा अन्तरंग विभाग में कम से कम २५ बिस्तरे आयुर्वेदिक रीति से उपचार कराने वाले रोगियों के लिए सुरक्षित हों।

(६) प्रत्येक विश्वविद्यालय के आयुर्वेद कालेजों में प्राचीन चिकित्साविज्ञान में शोध करने के लिए विद्वानों को प्रोत्साहन देना चाहिए।

(७) भारत सरकार को चाहिए कि वह कुछ रिसर्च फेलोशिप प्राचीन चिकित्सा अर्थात् आयुर्वेद के विद्वानों को विदेशों में जाकर अनुसंधान करने के लिए सुरक्षित रखे।

(८) पूरे देश के आयुर्वेदिक मेडिकल कालेजों के स्तर को उठाने के लिए आयुर्वेद कालेजों को विभिन्न विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध कर देना चाहिए।

# SNAKE BITE

DR. L. V. GURU, A. M. S.
Reader, Deptt : of Basic Principles, P. G. I. I. M.
Kashi Hindu University, Varanasi

According to the reports of statisticians it has been proved that in India daily one hundred pepole die of snake bites. This heart-breaking-report compels us to study about the snakes, their poisons and the treatment.

Our ancient Doctors of Medicine also classified Indian snakes on the basis of Tridoshas (त्रिदोष) which are the fundamental principles of Ayurveda.

दर्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तस्तथैव च
सर्पा यथा क्रमं वात-पित्त-श्लेष्म-प्रकोपणाः ॥
दर्वीकरः फणी ज्ञेयो मण्डली मण्डलाफणः
बिन्दुलेखो विचित्रांगः पन्नगः स्यात्तु राजिमान् ॥
(चरक)

Why the poison of a particular snake disturbs the normal function of a particular dosha. Functions of Vata, Pitta and Kapha :-

विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च ।
विशेषाद्रूक्षकटुकमम्लोष्णं स्वादुशीतलम् ।
विषं यथाक्रमं तेषां तस्माद्वातादि कोपनम् ॥
(वाग्भट्ट)

Every snake is not poisonous and every bite of the poisonous snake is not fatal.

Biologically we can classify the common snakes of India like this. Out of seventeen hundred species only three hundred thirty are found in India.

Because it depends upon six Rasas to depress or excite a particular dosha.

रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः
तत्राद्या मारुतं घ्नंति त्रयस्तिक्तादयः कफम् ।
कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्येतु कुर्वते ॥
(वाग्भट्ट)
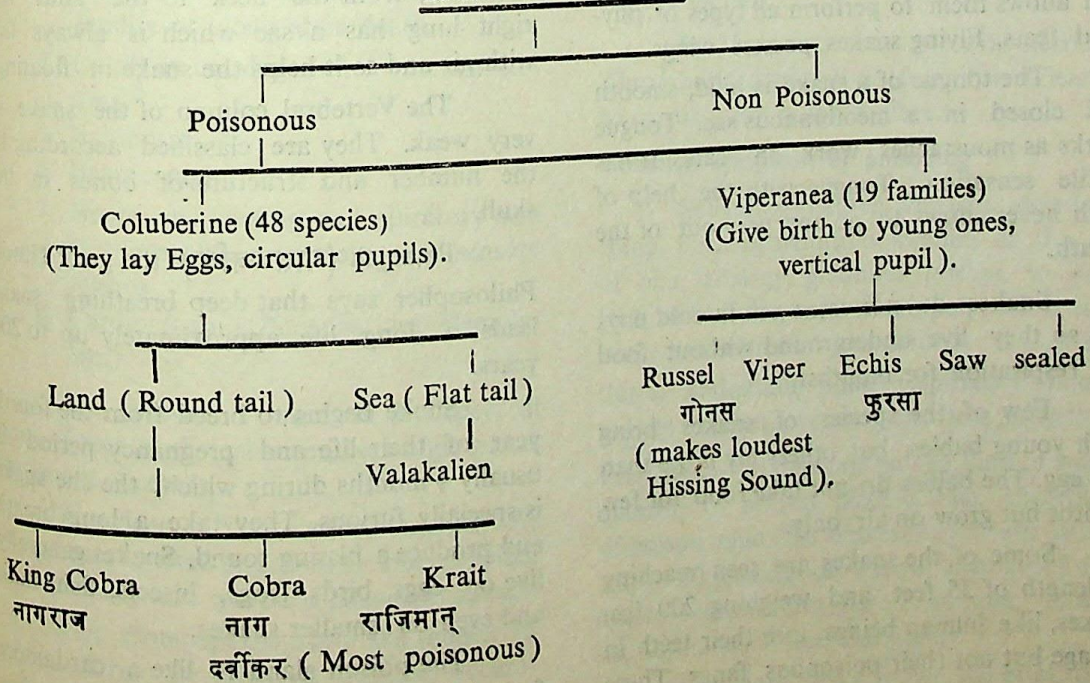
## Structural and functional peculiarities of Snakes

Snake belongs to the cold blooded vertebrate class. It has a head, a body, and a tail. Snakes do not possess limbs therefore they move by lateral undulations caused by internal movements of ribs. The lower jaw of a snake consists of two pieces of bone joined by elastic ligaments which allow them to widen the buccal cavity for swallowing big preys

It has a fixed transparent eyelid which is shed off periodically with the skin of the body and enables the snakes to stare constantly at the prey, till the animal is stupified with fear. Snakes do not have external Ears and therefore, the auditory sensations are carried by Eyes.

अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं
दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षिचाफलम् ।
इति स्म चक्षुःश्रवसां प्रियानले
स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः ।। (नैषध)

The muscular system is fully developed and allows them to perform all types of physical feats. Flying snakes possess wings.

The tongue of a snake is bifid, smooth and closed in a membranous sac. Tongue works as moustaches work in cats. It has tactile sensation. Tongue with the help of teeth never allows to go any prey out of the mouth.

Snakes do not come out in cold days and so they live underground without food and respiration for months.

Few of the species of snakes bring forth young babies, but others lay more than one egg. The babies do not take food for few months but grow on air only.

Some of the snakes are seen reaching the length of 35 feet and weighing 200 lbs. Snakes, like human beings, lose their teeth in old age but not their poisonous fangs. These fangs are renewed by nature because these are meant for the snake's protection.

The heart of a snake is divided into three chambers and beat from 30 to 50 times per minute. The Heart of a snake looks like the size of the mouse, circulation is slow and so snakes can live for many days without air. Snakes change their skin and eye covering within 15 to 60 days.

Cloaca is situated where the body of the snake tapers down into a tail. The cloaca is used for defecation, micturition, and parturition. Snakes do not chew their food but swallow it completely. They possess a strong gastric and enteric juice to digest every sort of food and so they never suffer from dyspepsia.

Snakes have good ear for music. They hear it with great attention which makes them unable to locate their victim because they can either see or hear. Due to this functional disability, people think that snakes are charmed by music and do not bite.

The right lung of the snake is long, extending from the neck to the anus, the right lung has a sac which is always full with air and so it helps the snake in floating.

The Vertebral column of the snake is very weak. They are classified according to the number and structure of bones in the skull.

Patanjali (पातञ्जलि) the great Hindu Philosopher says that deep breathing snake leads a long life, approximately up to 200 years.

Snake begins to breed from the fourth year of their life and pregnancy period is usually 4 months during which, the she snake is specially furious. They take a long breath and produce a hissing sound. Snakes generally live on eggs, birds, frogs, insects, fish, milk and even on smaller snakes.

The poison gland is like a cardamom fruit situated on each side of the upper jaw

as the parotid gland is situated behind the eye. A tube leads from the gland to the fangs. The mechanism of gland and fangs works like a hypodermic syrings. The active fangs are 4 but 4 are also in reserve.

दंष्ट्रापदानि चत्वारि (अ० संग्रह)
सर्पदंष्ट्राश्चतस्रस्तु तासां वामाधराऽसिता ।
पीता वामोत्तरा दंष्ट्रा रक्ताश्यावाऽधरोत्तरा
यन्मात्रः पतते बिन्दुर्गोबालात्सलिलोद्धृतात् ।।
(चरक)

## Pharmacology and Therapeutics of snake Venom

It is clear yellow transparent fluid having bitter taste and alkaline reaction. The sp. gravity is from 1015 to 50. It is rapidly soluble in water. It contains many toxic principles which are Thermostabile and coagulable protein which are thermolabile.

1. Powerful fibrin ferment causing coagulation of blood.
2. Proteolitic ferment.
3. An anti-fibrin ferment which causes fluidity of blood after death.
4. Cytolysin causing intra vascular clotting.
5. Aglutinine.
6. Heamorragin.
7. Neuro-toxin acting on respiratory centres in medula and motor and sensory centres.
8. Cardio toxin (Phosphatides Hemolysin ).

The poison is used in Epilepsy, all kinds of mental disturbances, Neuralgic pains, Malignant diseases.

The dose is 5 ms. subcutaneously. As a Haemostatic used in Epistdis, Haemophilia, Tonsillectomy and purpura Haemorrhagica.

The Homeopaths use snake venom in different forms for different diseases generally in 30 X potency. They use it in Heart troubles, Plague, Diphtheria, Cholera, Gout, Paralysis, T. B., Jaundice, etc.

The practitioners of Indian medical system also use snake venom in their different pharmaceutical preparations as Suchika Bharan Rasa etc. They use it in Cholera, T. B., Typhoid, Pneumonia etc. Under the classification of poisons they include their poison in animal poison group.

सर्पाः कीटोन्दुरा लूता वृश्चिका गृहगोधिका ।
द्रंदंष्ट्रिणो ये विषं तेषां दंष्ट्रोत्थं जंगमं मतम् ।।
(चरक)

स्थावरं जंगमश्चैव द्विविधं विषमुच्यते । (सुश्रुत)

निद्रां तन्द्रां क्लमं, दाहं, सपाकं, लोमहर्षणम् ।
शोफं चैवातिसारं च जनयेज्जंगमं विषम् ।।
(चरक)

**Pathology of snake poisoning :—**

In colubrines' bites there is congestive mode of death from peripheral respiratory failure associated with fluid blood, dilated right heart and congestion with oedema at the site of bite.

In Viperine's bite :— Haemorrhage, Thrombosis, digestion of Heart tissues leading to cardiac fallure takes place.

**Common symptoms of poisoning :—**

Salivation, nausea, fainting, slow breathing, burning irritation, swelling at the site of bite, lethargy, giddiness, leading to paralysis of muscles, cold sweat, palpitation, vomiting, convulsions, heamaturia, hemostasis, thirst, abdominal pain, respiratory failure, tongue swollen, cyanosis and loss. of taste.

**Prognosis:—** It depends on the kind of snake, quantity of poison, place of bite, absorption of poison and the treatment. Death occurs within 20 minutes or after a number of days due to complication like Pneumonia, Paralysis, Suppuration and Gangrene.

The chart below shows the fatal dose

of each snake venom and injected quantity at every bite.

| Name | Fatal dose | Inj. dose. |
|---|---|---|
| Cobra. | 12 - 15 mgs. | 100 - 200 mgs. |
| Krait. | 1 - 10 | 5 - 42 |
| Viperine. | 5 - 42 | 12 - 72 |

मात्राशतं विषं स्थित्वा दंशे दष्टस्य देहिनः ।
देहं प्रक्रमते धातून् रुधिरादीन् प्रदूषयन् ।।
एतस्मिन्नन्तरे कर्म दंशस्योत्कर्तनादिकम् ।
कुर्याच्छोधं यथा देहे विषवल्ली न रोहति ।।
(अ० सं०)

If the proper treatment is carried on there are no compiications and the patient is saved from the nervous shock, the prognosis is always good.

**Diagnosis :—** It is always based on the following points :—

i. Physician should try to know what kind of snake has bitten.

ii. Physician should try to know the kind of snake by the help of the site and the teeth wounds caused on the body of the patient.

iii. Symptoms and the signs of different snake poisoning also help in diagnosis.

iv. Loss of taste, delirium, muscular weakness, collapse, unconsciousness help in diagnosing snake bite.

दंशस्तु सविषः सर्वः सशोफो वेदनान्वितः ।
तुद्यते ग्रथितः किञ्चित् कण्डूमान् दह्यते भृशम्
निर्विषो विपरीतोऽस्मात् । (अ०सं०)

**Curative Treatnent :—** It must be stazted immediately (i) Ligature for checking of further flow of poison in the circulation. A lace should be tied between the heart and the wound. The following things should be kept in mind when tourniquet is tied.

(a) It should be tied on a bone with a motto to stop blood circulation of that part.

(b) It should be done urgently then alone it helps in prolonging the time of circulation of poison.

(c) Two ligatures should be tied (i) near the bite and (ii) little away from the first.

(d) There is no necessity of checking arterial blood flow and lymph flow and therefore ligature must be loosened after 15 minutes and again tied.

दंशस्योपरि बध्नीयादरिष्टाश्चतुरंगुले ।
प्लोतचर्मान्तिवल्कानां मृदुनाऽन्यतमेन वै ।
सा तुरज्वादिभिर्बध्वा विषप्रतिकरी मता ।।
(सुश्रुत)

(2) Should be locally the site of bite washed to prevent the absorption of poison.

(3) Incise and scrap the bitten area and try to suck the poisoned blood by the breast pump. All the nerves should be saved in the incision. Bleeding should be allowed.

(4) When the snake bites on extrimities and if incision etc. fails to cure, the part should at once be separated from the body by operation (Amputation).

आचूषणच्छेददाहाः सर्वत्रैव तु पूजिताः ।
(सुश्रुत)

(5) The bitten area should be burnt with the help of Ag $No_3$, hot iron, Coal, $H_2s$ $0_4$ HNoz3. But the chemicals should not be too strong to cause a fatal wound.

(6) Last of all venesection should be performed and 20 to 30 oz of blood

should be taken out from the nearest vein.

प्रच्छानश्रृङ्गजलौकाव्यधनैः स्राव्यं ततो रक्तम् ।
(चरक)

समन्ततः सिरां दंशाद्विध्येत्तु कुशलो भिषक् ।
रक्ते निर्ह्रियमाणे तु कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम् ।।
(सुश्रुत)

7. **Detoxication :—**

(a) Use KMnO 4 for washing the ulcer. Bleaching powder is also used for washing the wounds. People inject 5% AuCl in surrounding tissues.

हेमसर्वविषाण्याशु गरांश्च विनियच्छति ।
(चरक)

(8) Polyvalent antivenom should be given intravenously as soon as possible, as this is a horse serum so adrenalin must be near at hand to prevent anaphylaxis.

(9) Tiryag :— It is locally applied and also orally given. It is very simple in administration.

(10) Sokhey's serum :— It is also recommended in snake bite. It is bitter in taste the dose is 5 ms. per five minutes.

(11) Lexin, which has gold cholride in it, is claimed to be a definite cure for snake bite. It is locally applied and also orally administered. It can also be used by injections.

**General Treatmənt :—**

Keep the patient warm in bed. Give stimulants for respiratory and cardiac failure. Injections of Pitutarin Adrenalin, coramin and glucose should be given camphor and other stimulant mixtures should be used, Oxygen with $CO_2$ should be used when there is asphyxia and blood transfusion may be done if there is blood loss.

Sulpha drugs and penicillin should be used if there is suppuration of the wound.

**Prophylactic Treatment :—** A little general knowledge of the snake's mode of life will save a man from the bites. Snake never attacks a man unless troubled.

पदाभिमृष्टा दुष्टा वा क्रुद्धा ग्रासार्थिनोऽपि वा ।
ते दशन्ति महाक्रोधास्त्रिविधं भीमदर्शनाः ।।
(सुश्रुत)

Wearing of boots and walking cautiously in the night with a light generally saves a man from this terror.

सातपत्रपदत्राणो विचरेद्युगमात्रदृक् ।
निशिनात्ययिके कार्ये दण्डी मौली सहायवान् ।।
(वाग्भट्ट)

छत्री जर्जरपाणिश्च चरेद्रात्रौ तथा दिवा ।
तच्छायाशब्दवित्रस्ताः प्रणश्यन्ति भुजङ्गमाः ।।
(चरक)

Ayurvedic doctors described venesection as a treatment for the advanced snake bite cases.

विषे प्रविसृते विध्येत्सिरां सा परमा क्रिया ।
रक्ते निर्ह्रियमाणे हि कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम् ।।
(वाग्भट्ट)

Very few people will die of snake bite if there is no mental shock by the horror of death because they believe that there is no cure.

सर्पाणां च खलानां च सर्वेषां दुष्टचेतसाम् ।
अभिप्राया न सिध्यन्ति तेनेदं वर्तते जगत् ।।
(पंचतन्त्र)

**Books Consulted :—**

1. Charaka Samhita.
2. Sushruta Samhita.
3. Vagbhatta Samhita.
4. Price Medicine.
5. Savill Medicine
6. Metaria medica ( R. Ghosh).
7. Modi's Medical juris.
8. Aupasargikaroga ( Dr. Ghanekar ).
9. Snake bite ( Benerji ).
१०. सर्प संसार
११. स्वास्थ्य विज्ञान (डा० घणेकर)
१२. नैषध
१३. पंचतन्त्र

०:——:०

# शरद् ऋतुचर्या

शरद् ऋतु में कषाय, स्वादु, तिक्त रसों, तथा इक्षुविकृति, मधु, शालिधान्य, मूंग, जांगलमांस का सेवन करे। रात्रि के प्रथम प्रहर में चन्दन का अनुलेपन करे और श्वेत मालाओं तथा चन्द्रमा की किरणों का सेवन करे। स्वच्छ लघु वस्त्रों को पहने। क्योंकि शरद् में जल सर्वथा स्वच्छ होता है। अतः सब जल हितकारी हैं। कमल, नीलोपल से शोभित सरोवरों में तैरना चाहिए। वर्षा में संचित पित्तदोष को निकालने के लिए तिक्त घृतों को पीये—युक्ति पूर्वक रक्त मोक्षण करे—विरेचन कर्म करे। पित्त प्रशमन करने वाले आहार विहारों को करे।

तीक्ष्ण, अम्ल, उष्ण, क्षार द्रव्यों को छोड़ दे। दिन में सोना और रात्रि में जागना छोड़ दे। मैथुन नहीं करे। धूप से बच कर रहे। ( सु० उ० अ० ६४, १३ से २० )

श्री वैद्य धर्मदत्त जी के पिता
स्वर्गीय श्री खुशाबीराम जी, लायलपुर निवासी।

श्री वैद्य धर्मदत्त जी (सन् १९४०)
४६ वर्ष की आयु में

# Ayurved in a Nutshell

Acharya Vaidya Dharma Dutta Vidyalankar

**Tridhatu Theory:—**

Ayurvedic system of medicine is founded on the rock of the three life-factor doctrine which postulates that there are three basic factors of life that conduct metabolism of the body properly, and keep it healthy.

**Shleshma:—**

One of them is called formative or constructive factor which in Ayurveda is termed as 'sheshma' the word which derived from the root shlish' meaning thereby a substance that adds to the tissues. This factor forms new proteins and fats etc. from food and adds them to the tissues. thus it builds, preserves, repairs and reproduces the bodily organs. This formating factor or Shleshma may be called as anabalic, nutritive growth factor also.

This fact also has been proved that every extra or intra cellular fluid of the body contains a substance which when added to a tissue culture or an injured tissue it activates its growth and helps in repairing it. Thus growth, repair and self preservation are inherent properties of a living tissue.

Obviously nutritive food, rest and sleep are essential for the proper working of this factor.

**Pittam :—**

There is another factor of life that conducts combustion of that food in intestine and in tissues as well, and hence is called combustive or oxygenative factor. Since it is a means of producing heat in the body it is called Pittam in Ayurveda, the word is derived from the root 'Topa' meaning thereby a substance that generates heat. By means of giving rise to various enzymes in the cells it consumes food and oxidizes numerous malproducts arising in the metabolism of the body.

Pittam is the most essential factor of life. On the one hand it helps the formative factor in its constructive work and on the other it helps the motive factor in its excretory function. In order to keep this factor in its normal state supply of oxygen by means of physical exercise or physical exertion is very necessary.

**Underactivity of Pittam gives rise to Kaph rogas:—**

So long as these both of the factors of growth and combustion keep in a balanced state they carryout metabolism well and keep the body healthy. It is imbalance or inharmony between them that leads to disease. Mostly it is the sluggishness of the combustive factor that results in the accumulation of some malproducts in the body that predispose it to a class of disease, which are called 'shleshmrogas' i. e. the diseases caused by the predominance of the formative factor.

Excessive formation of a tissue called hyperplasia and excessive exudative swelling of a mucous membroneae the distinguishing symptoms of a Kaph-roga.

Management of the Kaph rogas consists in prescribing a regimen of strict dieting attended with some physical exercises, heating or fomentation and administration of such drugs that promote combustive process of the body.

**Over-activity of the Combustive factor or Pittam leads to Pitt rogas:—**

On the other hand if the combustive factor becomes one over active in comparison to the nutritive one it gives rise to a category of diseases which are called Pitta rogas.

Pittam is liable to become overactive whenever a considerable part of the body gets injured either through wound or through some bacterial infection for under such conditions Pittam is bound to be over active in order to oxidise and liquefy the dead cells or tissues of the body.

Excessive destruction of cells or tissues followed with rise of temperature is the chief **Sympton** of all Pitta rogas.

As to the **management** of all the Pitta rogas first by the cause of local infection should be in creased and thirdly the condition of hypopothermia should be created.

**Vayu:—**

Besides the two above metioned factors there is another basic factor of life which being the cause of motion sensation, animation, vivacity courage and all physical and mental dynamism is called motive factor. In Ayurveda it is called 'Vayu' or 'Vata' the word which is derived from the root 'Va' Thereby meaning a substance that moves. The word Vayu may be translated as vitalish or dynamism or vayu may be the electrical potential of the body. Obviously good nutrition on the one hand and ample oxygenation on the other are essential for its proper working. Besides cheerful attitude and relaxation of its preservation. All the bodily organs work normally if this factor remains normal.

**Vitiation of Vayu:—**

This 'Vayu'gets vitiated when man is exposed to violent emotions fatigue, exhaustion, mental or physical shock, inordinate stress or strain or some kind of toxin. Excessive fatizue or strong emotions seem to produce a poisonous substance in the blood which deprives the organs of their normal vigour and thus predisposes them to Vayurogas. Vayurogas of Ayurveda are those diseases which arise due to want of tone or asthma in an organ. Thus all the asthemic disorders of modern medicine are termed as Vayurogas in Ayurveda.

The **symptoms** of over excitability, increased sensitivity and some sort of degenerative change are found in an organ when its vayu is vitiated.

As to the general treatment of Vayurogas such measures as invigourate or rehabilitate the system or a particular organ to ite normal state are the indicated.

To sum up Ayurveda describes all physiological, Pathological and therapeutic phenomena in terms of its three-life-factor doctrine and this fact defferentiates it chiefly from modern medicine.

This doctrine may be hypothetical and not based on science, however, it is in consonance with it.

# वनस्पति घृत

श्री मुकुटमोहन संगल

वनस्पति घृत को 'घृत' कहना तो एकदम गलत है ही, इसके अलावा वह विशुद्ध तेल भी नहीं है। वह तो जमाई हुई एक मिलावटी सफेद सी चीज है जिसको घी के धोखे में घी की तरह व्यवहार करके जनता अपने स्वास्थ्य को खराब बना लेती है।

वनस्पति घृत बनाने के लिये मूंगफली, नारियल बिनौला तथा अन्यान्य प्रकार की सस्ती चीजों के तेल को एक में मिला लिया जाता है। फिर उस बनावटी तेल की गंध को 'हाइड्रोजन' और 'निकल' धातु जैसी अत्यन्त स्वास्थ्यविनाशक गैस-पद्धति से उड़ाकर उसे साफ किया जाता है, और उसके जलीय अंश को सुखाकर जमाया जाता है। उसको जमाने की कोशिश में जो रासायनिक प्रक्रियायें काम में लाई जाती हैं, उसके प्रभाव से तेल के जो स्वाभाविक गुण होते हैं, वे सब नष्ट हो जाते हैं। तेलों में कई तरह के अम्ल होते हैं जो वनस्पति घृत में बिल्कुल भी नहीं रह जाते हैं। वनस्पति घृत को असली घृत के समान दानेदार बनाने के लिये उसमें 'निकल' धातु का खूब बारीक पीसा हुआ चूर्ण मिला दिया जाता है। उसके बाद उसमें कृत्रिम विटामिन का समावेश किया जाता है, जिसके लिये उसमें अन्दाज से शार्क मछली का तेल, कौड मछली का तेल, या लेमनघास का तेल मिलाया जाता है। यही वनस्पति घृत है।

वनस्पति घृत, जैसा कि ऊपर बताया गया है, दो या अधिक प्रकार के तेलों का जमाया हुआ मिश्रण ही होता है। अतः वह स्वास्थ्य के लिये हानिकर है। वनस्पति तेल को घी का रूप देने के लिए जो निकल धातु वस्तु के रूप में प्रयुक्त होती है, वह वनस्पति घृत को और भी विकारी बना देती है। क्योंकि निकल धातु एक ऐसी धातु है जिसकी जरूरत मानव शरीर को बिल्कुल नहीं होती है। अतः उसकी कम से कम मात्रा भी शरीर में पहुंच कर कालान्तर में कुप्रभाव करती है।

डाक्टरों ने यह अनुभव किया है कि बच्चों को वनस्पति घृत खिलाने से उनकी वृद्धि रुक जाती है। क्योंकि उसके कुप्रभाव से उनका शरीर कैलशियम को आत्मसात नहीं कर पाता, तथा उनका चर्बीला ढांचा बन जाता है।

डाक्टर टेम्पल ने अपने भाषण में एक बार कहा था कि वनस्पति तेल तथा तेल जन्य पदार्थों के उत्पादन कर्त्ता जो यह दावा करते हैं कि वनस्पति तेल, पशुओं की चर्बी की अपेक्षा स्वास्थ्य के लिए अधिक अच्छा है, यह बिल्कुल गलत है। पशुओं की चर्बी खाने से शरीर शीघ्र बूढ़ा होता है, और उसकी नाड़ियां अपना काम करना कम कर देती हैं, ठीक प्रकार वनस्पति तेल खाने से भी शरीर का चेता-संस्थान शिथिल पड़ जाता है जिससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं –

## वनस्पति घृत के प्रयोग से होने वाले मुख्य रोग !

### नपुंसकता—

विशेषज्ञों की सम्मति के अनुसार तीन पुश्त तक केवल वनस्पति घृत की चिकनाई खाने से मनुष्य नपुंसक बन जाता है, और नपुंसक व्यक्ति में साहस व हिम्मत कहां ?

अमेरिका में मक्खन मंहगा होने के कारण लोग मारगरीन (वनस्पति घृत) खाते हैं। वहां शुद्ध मक्खन और मारगरीन अलग-अलग दो दलों

के बालकों को खिलाकर प्रयोग किया गया उससे दोनों प्रकार के दल के बच्चों के स्वास्थ्य में जो अंतर पाया गया। वह इस प्रकार है—मक्खन स्वास्थ्य के लिए श्रेष्ठ पाया गया, क्योंकि इसमें विटामिन 'ई' रहता है, परन्तु मारगरीन घृत खाने वाले लड़के तथा लड़कियों का स्वास्थ्य गिर गया। वे स्थूल हो गये और उनका पुंस्त्व घट गया। इस सम्बन्ध में यह बात समझ लेनी चाहिए कि पुंस्त्व के लिए विटामिन 'ई' की सख्त जरूरत होती है, जो मारगरीन या बनस्पति घृत में नहीं होता।

बनस्पति घृत का सतत सेवन अन्ततः नपुंसकता की सृष्टि करता है। इस तथ्य का रहस्योद्घाटन उज्जैन में हुई डाक्टरों और वैद्यों की एक अनौपचारिक गोष्ठी में भी तब हुआ जब उसमें डाक्टर एस० के० बोस द्वारा की गई उन शोधों के विवरण का मनन किया गया जो उन्होंने लखनऊ की सैनिक शोधशाला में बनस्पति घृत पर हाल में ही की थी। डाक्टर बोस ने मुर्गों को शुद्ध घी, बनस्पति घी, और तिल तेल खिलाकर उन के अण्डकोषों और वीर्य का परीक्षण किया था। उसके अनुसार उन मुर्गों के अण्डकोषों और वीर्य कणों में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ जिनको शुद्ध घी और तिल्ली के तेल की खुराक पर पाला गया था। परन्तु उन मुर्गों के अण्डकोष और वीर्य-कणों में ४८ सप्ताहों के बाद आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ जिन को बनस्पति घृत की खुराक पर पाला गया था। अर्थात् उनके अण्डकोष ४८ सप्ताहों के बाद आकार में घटकर चनों के बराबर हो गए और उनके वीर्य में प्रजनन-कणों का सर्वथा अभाव हो गया।

## हृदय रोग —

अनुसंधान-कार्य से यह भी ज्ञात हुआ है कि बनस्पति घृत के अधिक सेवन से हृदय गति रुकने की बीमारी हो जाती है। संतृप्तवसा का ही दूसरा नाम बनस्पति घृत है और वैज्ञानिकों के गवेषणानुसार इस संतृप्तवसा से शरीर में एक प्रकार की अनुपयोगी मद्यसार की उत्पत्ति हो जाती है जो हृदय को दुर्बल बना देती है। जिस से हृदय के अनेकानेक रोग पैदा हो जाते हैं।

अमेरिका के मिनेसोटा विश्वविद्यालय के शरीरविज्ञान के डाक्टर 'ऐंसलकाज' ने बनस्पति तेलों के बारे में गम्भीर गवेषणा की है। उनका भी मत है कि आजकल दिल के दौरे की जो अधिकांश घटनाएं होती हैं उनका कारण बनस्पति तेलों का सेवन है। डाक्टर काज ने कहा है कि अमेरिका में लोगों का सबसे बड़ा शत्रु यह तेल है। इससे हृदय रोगों का प्रकोप बढ़ रहा है और इसके सेवन से प्रतिवर्ष ५ लाख अमेरिकन काल के मुख में चले जाते हैं। डाक्टर काज की मान्यता है कि इन तेलों के सेवन से रक्त में 'कोलेस्ट्रोल' की मात्रा बढ़ जाती है, जिसकी वजह से रक्त संचरण में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। धमनियों में स्थित रक्त में जब इसकी मात्रा बढ़ जाती है तो इसके साथ प्रोटीन के अणु और चिकनाई भी होती है। समय पाकर चिकनाई और प्रोटीन के अणु तो जल जाते हैं, पर कोलेस्ट्रोल शेष रह जाता है। यह हृदय से सम्बन्ध रखने वाली धमनी (कारोनरी आर्टरी) में आकर जमा हो जाता है। और रक्तसंचरणमार्ग को अवरुद्ध कर देता है, जिसकी वजह से दिल का दौरा होने लगता है।

## चर्मरोग—

शायद आपको विदित हो कि बनस्पति तेल को बनस्पति घृत का रूप देने में, उसकी रासायनिक प्रक्रिया में कास्टिक सोडा के बगैर काम नहीं चलता। अतः बनस्पति घृत के कारखाने

वाले चाहे कितनी भी सफाई क्यों न दें, पर यह असम्भव है कि वनस्पति तेल में इस काम के लिए मिलाया हुआ कास्टिक सोडा बाद में कुल का कुल उससे अलग कर दिया जाए और उसका कुछ भी अंश उससे बने वनस्पति घृत में न बचा रहे। घृत स्थित इस कास्टिक सोडा से ही भांति भांति के चर्म रोग उत्पन्न होते हैं, जो वनस्पति घृत का सतत प्रयोग करने वालों का पीछा नहीं छोड़ते।

नेत्ररोग--

वनस्पति घृत के निरन्तर सेवन से मनुष्य को नेत्र सम्बन्धी कोई न कोई रोग अवश्य हो जाता है। इसका पता डाक्टरों ने चूहों पर किये गये परीक्षणों से लगाया।

पागलपन--

मस्तिष्क के कोषाओं पर वनस्पति घृत का हानिकारक प्रभाव पड़ने से पागलपन रोग की उत्पत्ति होती है। अतः आजकल जो पागलों की संख्या में वृद्धि होती जा रही है उसका एक प्रमुख कारण वनस्पति घृत का सेवन हो सकता है।

उपर्युक्त रोगों के अलावा कैन्सर, लकवा, तपेदिक, मधुमेह, मूत्रदोष, ब्लडप्रेशर, अर्धांग, अजीर्ण तथा कब्ज आदि और भी कितने ही रोग हैं जो वनस्पति घृत के सतत व्यवहार से हो जाते हैं, साथ ही वनस्पति घृत के सेवन से मनुष्य निश्चित रूप से अल्पायु होता है।

सरकारी विशेषज्ञों, वैज्ञानिकों, डाक्टरों तथा विचारकों की राय में प्रमाणित हो चुका है कि जीवमात्र की शारीरिक, बौद्धिक, प्रजननशक्ति तथा स्नायुओं पर बनस्पति घृत का असर बुरा पड़ता है।

भारत सरकार की इम्पीरियल कृषि जांच कौन्सिल द्वारा वनस्पति घृत की बाबत की गई अन्वेषण की रिपोर्ट --"लोगों को खुराक के साथ वनस्पति घृत दिया गया। एक दो महीने बाद सभी बनस्पति घृत खाने वालों में तेज एलोपीसिया (गंजापन) के चिन्ह प्रकट हुए। चार महीने बाद अर्धांग, मूत्रदोष, तथा नपुंसकता, नेत्र विकार हो गये। सिक्के बनाने पर सजा होती है, फिर जाली घी के लिये क्यों न सजा दी जाए"?।

प्रसिद्ध विचारक श्री कन्हैयालाल मिंडा ने लिखा है कि--"जो चीज राष्ट्र की निधि और स्वास्थ्य को खतम ही नहीं कर दें, अपितु उसे नपुंसक भी बना दें, उससे बढ़कर और अधिक भयंकर खतरा राष्ट्र के लिए क्या हो सकता है? क्या वनस्पति घृत मछली घी के रूप में मीठा जहर या अणुबम से बढ़कर एक संहारक वस्तु नहीं है।"

--:-०-:--

# आचार्य वैद्य धर्मदत्त जी के आयुर्वेद सम्बन्धी विचार

श्री आचार्य वैद्य निरंजनदेव, आयुर्वेदालंकार
भूतपूर्व प्रिन्सिपल, आयुर्वेद कालेज, बरेली

मान्य आचार्य श्री वैद्य धर्मदत्त जी, आयुर्वेद के द्रव्यगुण, कायचिकित्सा आदि विषयों के साथ-साथ इसके मौलिक सिद्धान्त का भी गहन अध्ययन, अनुशीलन और चिन्तन करते रहे हैं। इसी कारण अपने 'औषध विज्ञान' 'आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र' आदि ग्रन्थों के साथ-साथ इन्होंने 'त्रिदोष विमर्श,' 'त्रिदोष संग्रह' आदि ग्रंथ भी समय-समय पर लिखे हैं जिन में पंचमहाभूत, त्रिदोष आदि विषयों पर विशद वर्णन है।

इन के अतिरिक्त त्रिदोष सिद्धान्त पर आपके प्रवचन, व्याख्यान, वार्ताएं सुनने का भी लेखक को बहुधा अवसर प्राप्त हुआ है। त्रिदोष विषय पर दार्शनिक तथा वैज्ञानिक दोनों दृष्टियों से विचार करने के उपरान्त इन का एक समन्वयात्मक स्वतन्त्रमत प्रकट हुआ है। प्रस्तुत लेख में मैं आपके उन्हीं विचारों का आपकी अनुमति लेकर संकलन कर रहा हूं।

आपका विचार है कि जैसे आधुनिक चिकित्सा शास्त्र 'विज्ञान' पर आश्रित है वैसे ही आयुर्वेद 'दर्शन' पर आश्रित है। यहां दर्शन का अर्थ सम्यक् निरीक्षण (आबजर्वेशन) है। प्राचीन लोगों की यह दर्शन पद्धति इतनी यथार्थ है कि यह नानाप्रकार की वास्तविकताओं तथा तथ्यों का उद्घाटन करती है। इसी कारण प्राचीन आयुर्वेद के ग्रन्थों में कोई ही ऐसी स्थापना होगी जो सत्य और विज्ञानानुकूल न हो। आयुर्वेद का त्रिधातु सिद्धान्त भी दर्शन पर आश्रित है, अर्थात् वह एक दार्शनिक स्थापना 'पोस्चुलेशन' या 'हाइपोथिसिस' है जिसके द्वारा प्राचीन विद्वान् प्राणिजगत् की समस्याएं हल करते आए हैं।

त्रिधातु सिद्धान्त के विषय में आपका कथन है कि वायु, पित्त और कफ ये तीन सूक्ष्म तत्व हैं जो प्राणिशरीर के निर्माता, विधाता, संचालक तथा रक्षक हैं। विकृत होने पर क्योंकि ये रोग-जनक विनाशक और शरीर दूषक हो जाते हैं अतः इन्हें त्रिदोष भी कहते हैं।

भौतिक जगत् के उत्पादक संचालक सत्व रज तम के समान प्राणिजगत् के उत्पादक ये वायु पित्त कफ तीन तत्व भी सूक्ष्म, अप्रत्यक्ष, इन्द्रियातीत और अनुमान गम्य हैं। शरीर में पाए जाने वाले कुछ स्थूल पदार्थों को जो कफ या पित्त कहा जाता है वह इन सूक्ष्मतत्वों के कार्यों में कारण-रूप द्रव्यों का अध्यारोपमात्र है। वस्तुतः ये तीन तत्व अव्यक्त हैं केवल इनके कार्य व्यक्त होते हैं।

आपका कथन है कि आयुर्वेद ग्रन्थों में वायु को जो रूक्ष, लघु, शीत, खर, कठिन, आदि; पित्त को विस्र, सर द्रव, नील, पीत, कटु, तिक्त आदि; तथा कफ को श्वेत, पिच्छिल मन्द, स्थिर, शीत, मधुर आदि कहा है वह इनका रूप नहीं है वे सब इन सूक्ष्मतत्वों के कार्य हैं। उदाहरणतया जब किसी अंग में वायु धातु मन्द हो जाता है तो उस में रूक्षता, लघुता, (एट्रोफी) शीतता (वान्ट आफ हीट), खरता (फाइब्रोसिस), कठिनता (कैल्सि-फिकेशन), आदि विकृति सूचक लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। जब किसी अंग में पित्तधातु या पित्तकर्म अधिक बढ़ जाता है तो वहां द्रवता (लिक्वफैक्शन) विस्रता (सप्पुरेशन), तथा मूत्र या रक्त आदि में पीतता आदि के दुर्लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार जब किसी अंग में कफ धातु बढ़ता है तो वहां पक्तिकर्म मन्द हो जाता तथा वृद्धिकर्म

बढ़ जाता है जिससे उस अंग में गुरुता, स्निग्धता, मन्दता, शीतता तथा मूत्र या रक्त आदि में श्वेतता ये लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इन दुर्लक्षणों को देखकर जान लिया जाता है कि अमुक अंग में वायु, पित्त या कफ धातु बढ़ा हुआ है। अभिप्राय यह है कि ये तीन धातु अव्यक्त हैं देखे या दिखाए नहीं जा सकते, इनके गुण या कर्म ही व्यक्त होते हैं।

पित्त, कफ तथा वायु धातु के कार्य के विषय में आपका कथन है कि यकृत्, प्लीहा, वृक्क आदि किसी आशय के एक कोषा या सेल की परीक्षा की जाए तो उसके अन्दर अनेकानेक पाचकरस (इन्ट्रासेल्युलर एन्जाइम्स) मिलते हैं। जिनमें से बहुत से तो रक्त द्वारा आए ग्लुकोज, फैट्स, अमीनोएसिड्स को तथा कोषा के भीतर के पदार्थों को पचाने या विश्लिष्ट करने का कार्य करते हैं। कोषा के भीतर दूसरे बहुत से ऐसे पाचक रस या एन्जाइम्स हैं जो उसके अन्दर पाए जाने वाले पदार्थों को बनाने का काम करते हैं। इस प्रकार एक-एक कोषा या सेल के अन्दर जो पाचनात्मक तथा रचनात्मक कार्य हो रहा है उन दोनों के सन्तुलित या समरूप में चलने पर ही उस कोषा का जीवन और स्वास्थ्य ठीक रहता है। इस पाचनात्मक कार्य के कारणभूत तत्व को आयुर्वेद में पित्तधातु तथा रचनात्मक कार्य के कारणभूत तत्त्व को कफधातु कहा है। कोषाओं या सेल्स के बाहर भी अनेकानेक एन्जाइम्स द्वारा आहारद्रव्यों तथा धात्वीयमलों के मालिक्यूल्स के पचन और निर्माण का जो कार्य शरीर में हो रहा है उसके कारण भी ये ही पित्त तथा कफ धातु हैं। 'पक्ति' तथा 'वृद्धि' के उपर्युक्त दो कार्यों के अतिरिक्त कोषाओं के अन्दर (इन्ट्रासेल्युलर) या बाहर (एक्स्ट्रा सेल्युलर) जो जो गति, चेष्ठा, संकोच, प्रसार, सञ्ज्ञा, बोध, मनन, निर्णय-करण आदि कर्म हो रहे हैं उनके कारणभूत मूल-तत्व को आयुर्वेद में वायु धातु कहा है।

इस प्रकार आयुर्वेद मानता है कि शरीर के सर्व पचनात्मक, सर्व रचनात्मक और सर्व चेष्टात्मक कर्मों के रूप में जो देहधातुनिर्माण कर्म (मेटाबोलिज्म) चल रहा है उस के मूल प्रवर्तक संचालक पित्त, कफ और वायु ये तीन धातु हैं। शरीर की क्रियाएं किस विधि से (हाउ) होती है, इसकी व्याख्या अर्वाचीन शरीरक्रिया-विज्ञान में हुई है। पर, वे क्यों (ह्वाई) होती हैं इसका उत्तर आयुर्वेद देता है।

रोग इन तीन धातुओं के विकार से होते हैं। इस विषय में आपका कथन है आयुर्वेद में सर्वरोगों के उत्पादक (प्रिडिस्पोजिङ्ग) कारण ये तीन धातु ही हैं। वायु के विषय में चरक ने जो कहा है "वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम्" तथा 'स प्राणः प्राणिनां स्मृत=' अर्थात् वायुधातु पर शरीर का बल, स्वास्थ्य, और आयु निर्भर है तथा वह प्राणियों का प्राण है, इससे स्पष्ट है वायु धातु की विषमता या मन्दता रोग का कारण हो सकती है प्राकृत वायु धातु की अधिकता नहीं। जिस अंग में वायु धातु मन्द होता है उसमें संज्ञा चेष्टा तथा विक्षोभ शीलता या मन में या मस्तिष्क में उसकी मन्दता हो तो उस में आवेशशीलता बढ़ जाती है। इन वायु के लक्षणों को बढ़ा हुआ देख कर उपलक्षणरूप से कह दिया जाता है कि वायु बढ़ा हुआ है या प्रकुपित है, वस्तुतः ये लक्षण वायुधातु की मन्दता से होते हैं। वायु धातु की मन्दता हलके रूप में हो तो चलता और संज्ञा-शीलता बढ़ जाती है। वायु धातु की मन्दता तीव्र रूप में हो तो चेष्टानाश-संज्ञानाश-मूर्छा आदि लक्षण हो जाते हैं।

वायु धातु की मन्दता प्रायः किसी आघात, श्रम या विष (स्ट्रेस, स्ट्रेन, टाक्सीन) के कारण होती है। तथा मन्द हुआ वायुधातु या प्राणतत्व निद्रा, विश्राम, शान्ति, प्रसन्नता, पौष्टिक औषध, आहार-विहार से पुनः अपनी सम अवस्था में आ जाता है। इस प्रकार रोगोत्पति का प्रथम कारण तो शरीर की वायुधातु या प्राणतत्व (डायनामिज़्म) की मन्दता है।

रोगोत्पत्ति का दूसरा कारण शरीर के किसी अवयव का आघात से या किसी जीवाणु के दुष्प्रभाव से खण्डित होना, टूट जाना, या मर जाना है ऐसे अवयव में मृत कोषाओं या सेलों को पचाने के लिए वहां पित्तधातु अर्थात् पित्तकर्म बढ़ जाता है। वहां कोई ऐसा एन्जाइम उत्पन्न हो जाता है जो पैप्सीन से अनेक गुणा प्रबल होता है और वहां के मृत अवयव को शीघ्र पचा देता है जिससे वहां शोथ (इनफ्लेमेशन) तथा पूयभाव हो जाता है और शरीर में ज्वर दाह बेचैनी आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार शरीर में पक्तिकर्म बढ़ने से जो रोग होते हैं उन्हें पित्तरोग कहते हैं। पौष्टिक शीतल आहार विहार विश्राम आदि से जब शरीर की शक्ति बढ़ती है और उस में जीवाणु विष के प्रतिरोधी-द्रव्य पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न हो जाते हैं तब इन द्रव्यों के द्वारा जीवाणु तथा उसके विष के नष्ट हो जाने पर बढ़ा हुआ या प्रकुपित पित्तधातु शान्त हो जाता है, एवं पित्त रोग भी शान्त हो जाता है। जीवाणु प्रतिरोधी (एन्टिवायोटिक या कीमोथेरापि) द्रव्यों को देने के बदले आयुर्वेद त्रिधातुओं की समता या प्रति-क्रिया के द्वारा उत्पन्न जीवाणुप्रतिरोधीक्षमता या द्रव्यों की उत्पत्ति पर बल देता है।

रोगोत्पत्ति का तीसरा कारण कफधातु की वृद्धि है। पित्तकर्म और कफकर्म सन्तुलित न रह कर पित्तकर्म मन्द हो जाए, कफकर्म या वृद्धि कर्म प्रबल हो जाए, तो उसे कफधातु की वृद्धि कहते हैं। ऐसी अवस्था में अपूर्ण परिणतद्रव्य या आमद्रव्य शरीर में बढ़ जाते हैं। इन आमद्रव्यों (इनकम्पलीट मेटाबोलाइट्स) के कारण होने वाले रोगों को कफ रोग कहते हैं। इन रोगों की शान्ति के लिए आयुर्वेद शरीरश्रम, लंघन, दीपन पाचन, अपतर्पणगुणयुक्त औषध आहार विहार का प्रति-पादन करता है। इस प्रकार आयुर्वेद त्रिधातुओं की विषमता को ही रोगों का उत्पादक (प्रिडिस्पोजिंड) कारण मानता है तथा उनकी समता के उपायों को ही रोगों की चिकित्सा मानता है।

औषधियों और आहार द्रव्यों का अध्ययन भी आयुर्वेद में मुख्यतया इस दृष्टि से किया जाता है कि उनका त्रिधातुओं पर क्या प्रभाव होता है।

वैद्य जी का कथन है कि आयुर्वेद उस चिकित्सापद्धति को कहते हैं जिसमें आतुर की चिकित्सा के सब अंगों का अध्ययन प्रधानतया त्रैधातुक दृष्टि से किया जाता है। अतः नवीन प्राचीन सभी चिकित्सासम्बन्धी विषयों का अध्ययन त्रिधातु दृष्टि से किया जाए तो वह आयुर्वेद के अन्तर्गत हो जाता है। अर्थात् शरीर प्रकृतिविज्ञान शरीरविकृतिविज्ञान-औषधविज्ञान - रोग - विज्ञान आदि का त्रैधातुक दृष्टि से अध्ययन किया जाए तो वह आयुर्वेद ही हो जाता है। त्रिधातु दृष्टि को छोड़कर आयुर्वेदिक औषधियों का भी प्रयोग किया जाए तो वह आयुर्वेद नहीं रहता।

आयुर्वेद कालेज, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, की छात्रपरिषद् की कार्यकारिणी के मध्य आचार्य वैद्य धर्मदत्त जी विद्यालंकार माला पहने हुए। (१९५७–५८)
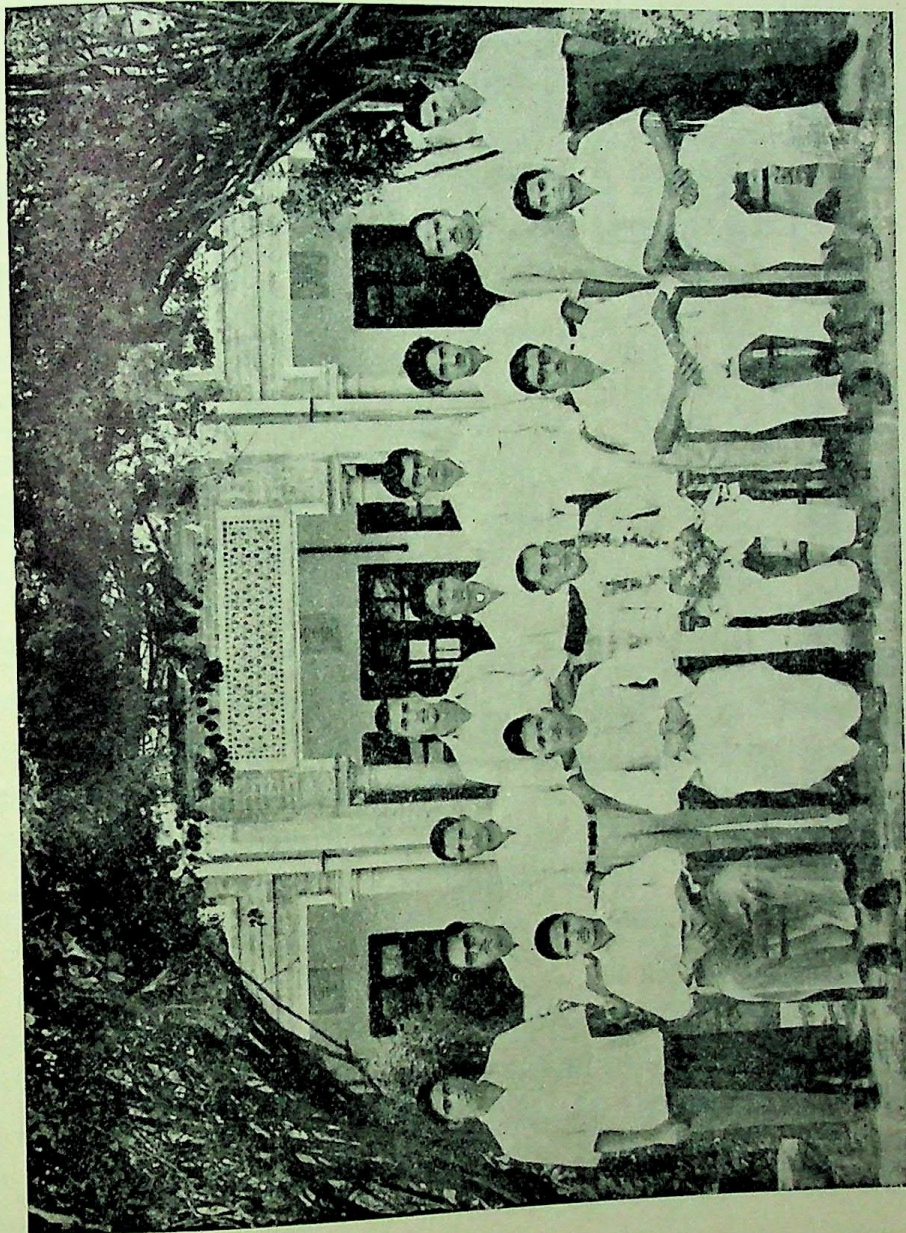
मध्य में–श्री वैद्य निरंजनदेव आयुर्वेदालंकार (प्रिंसिपल), आचार्य वैद्य धर्मदत्त जी।

# अर्शो-रोग[1]

आचार्य श्री ब्रह्मदत्त शर्मा, आयुर्वेदालंकार, आयुर्वेदाचार्य

## परिभाषा

मलाशय के निम्न भाग और गुदा के चारों ओर की शिराओं में कुटिलता-कठिनता और बरता के साथ-साथ होने वाले विस्ताररूप विकार को अर्शोरोग कहते हैं ।

## स्वरूप

असंयत पुरुषों में दोषप्रकोपक कारणों से, विरोधी खाद्यों को एक संग सेवन करने से, एक भोजन के बाद उसके पचे बिना ही दूसरा भोजन करने से, अत्यधिक मैथुन से, उकड़ूं बैठने से, हाथी-घोड़े-ऊंट की सवारी अधिक करने से, मल-मूत्रादि के वेगों को रोकने से तथा अन्य इसी प्रकार के प्रकोपक कारणों से वातादि दोष प्रकुपित हो जाते हैं। ये दोष अलग-अलग, दो-दो की जोड़ी में, या सब मिलकर, या रक्त के साथ योग बनाकर सारे शरीर में फैलते हैं । इस प्रकुपित अवस्था में ये दोष सभी (दसों) प्रधान धमनियों (रक्तवाहिनियों) में होते हुए दोष की प्रकृति के अनुसार यथानुकूल निर्बल स्थान में स्थित हो जाते हैं । इधर जब इस प्रकार से इन दोषों का प्रकोप होकर प्रसार हो रहा है तो उधर मलाशय के अधोभाग की और गुदा की शिरायें उत्तेजक पदार्थों के सेवन आदि कारणों द्वारा निर्बल और विकृत हो गई होती हैं । उन निर्बल और विकृत शिराओं में इन प्रकुपित दोषों के अवस्थित होने से उनका स्वाभाविक रक्तसंचार प्रतिरुद्ध हो जाता है और फलतः उस प्रदेश में ये शिरायें रक्तमय मखमली उभारों और मस्सों के रूप में फूली हुई दीखती हैं। साथ ही साथ वे शिरायें टेढ़ी भी पड़ जाती हैं (सिराकौटिल्य—Varicosity of veins) । इन्हीं फूले हुए मस्सों को 'अर्श' कहते हैं[२] ।

तिनका, लकड़ी, कंकर-पत्थर, खुरदरा कपड़ा, कठिन वस्तु, शीतलजल इत्यादि लगने से इन मस्सों में वेदना बहुत होती है और इनका परिमाण बढ़ जाता है[२]। शुष्क मल के दबाव-पूर्वक गुजरने से इन मस्सों के ऊपर की झिल्ली फट जाती है, और इनमें से रक्त निकलने लगता है ।

## पर्याय

संस्कृत–अर्शः, दुर्नामकम्, दुर्नाम, हतनाम, अनामकम्, गुदकीलः, गुदांकुरः, गुदप्ररोहः, गुदजः, गुदरोगः, मूलरोगः, इत्यादि ।

अरबी–बवासीर ।

आंग्लभाषा–Piles, Haemorrhoids.

लैटिन (नवीन)–Pilae.

## निरुक्ति और व्युत्पत्ति

अर्शः—१. 'ऋच्छन्ति गुदेन्द्रियप्रलयं कुर्वन्ति, तन्मांसवृत्तित्वेनेत्यर्शांसि । २. ऋच्छति प्राप्नोति

---

१. इस लेख में मलाशय और गुदा के ही अर्शो-रोग का वर्णन किया गया है, अन्य स्थानों वाले का नहीं । 'गुदवलिजानां त्वर्शांसीति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन् ।'' (चरक । चिकि० ।१४।६।)

२. 'तत्रानात्मवतां यथोक्तैः प्रकोपणैर्विरुद्धाध्यशनस्त्रीप्रसंगोत्कटुकासनपृष्ठयानवेगविधारणादिभिर्विशेषैः प्रकुपिता दोषा एकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वा यथोक्तं प्रसूताः प्रधानधमनीरनुप्रपद्याधो गत्वा गुदमागम्य प्रदूष्य गुदवलीर्मांसप्ररोहञ्जनयन्ति विशेषतो मन्दाग्नेः, तथा तृणकाष्ठोपललोष्ठवस्त्रादिसंघर्षादभीक्ष्णं शीतोदकसंस्पर्शनाद्वा कन्दाः परिवृद्धिमायान्ति, तान्यर्शांसीत्याचक्षते ॥' (सुश्रुत । निदान ।२।३)

गुदमित्यर्शः।'--'ऋ गतौ' धातु का व्याधि अर्थ में यह रूप है। ऋ+असुन् (सर्वधातुभ्योऽसुन्'। उणादि०)=अर्+अस्=अर्+शुट् (अर्तेर्वृर्याधौ शुट् च' उणादि०४।१९५) +अस्=अर्+श्+अस्=अर्शस्=अर्शः। ३. अरिवत् प्राणान् शृणाति हिनस्ति इति अर्शः।' पृशोदरादि पाठान्निरुक्तिः।=अर्शः। ४. अरिवत् शसन्ति हिंसन्ति इति अर्शांसि[1]। अरि+शस्। पृषोदरादिपाठात्सिद्धिः=अर्शांसि।

दुर्नामिकम्, दुर्नामि-'दुष्टं नामापि यस्य, दुःखप्रदं नामापि यस्य वा।' अर्शोरोग को पापरोग माना जाता है,[2] और इसी लिए इसके नाम मेंभी दुःख-प्रदता मानी जाती है।

हतनाम-'दुर्नामि' का ही भाव इसमें भी है।

अनामकम्-इसमें भी 'हतनाम' का ही भाव है।

गुदकीलः-इत्यादि नाम गुदा में मस्से रूप रोग होने के कारण रखे गये हैं। 'मूलरोग' का भी यही भाव है, क्योंकि अनेक स्थानों पर शरीर के निचले एवं गुदाप्रदेश को 'मूल' नाम से याद किया जाता है।

बवासीर-'बवासीर' शब्द वास्तव में अरबी भाषा के 'बासूर' शब्द का बहुवचन है। 'बासूर' शब्द अरबी की 'बसर' धातु से बना हुआ है। 'बसर' का अर्थ है उभरना, विजय प्राप्त करना, दबाना, पीड़ित करना, तीव्र करना, इत्यादि। इस प्रकार 'बवासीर' का अर्थ हुआ-'वे मौके-मस्से या वृद्धियां जो उभर कर उस स्थान को दबायें और इस प्रकार उस स्थान में तकलीफ पहुंचायें। ठीक यही भाव 'अर्शः' का भी है।

Piles--अंग्रेज़ी का यह शब्द लैटिन के Pila शब्द से बना है, जिसका अर्थ है--'गोल पदार्थ'। बवासीर के मस्से गोल होते हैं, अतः उनके अर्थ में यह शब्द रूढ़ होगया। Piles का लैटिन (नवीन) में पर्याय Pilae है। इसका ठीक प्रतिनिधि शब्द संस्कृत में 'वातार्श' या 'शुष्कार्श' है।

Haemorrhoids--यह शब्द ग्रीक भाषा के hema (--रक्त) और rrhoos (--स्राव) इन दो शब्दों के संयोग से बना हुआ है। स्राववाची शब्द का एक रूप ग्रीक में rhein (=स्राव) भी है, जिसका ठीक अर्थ है, 'बहती शिरा।' इस प्रकार इन दोनों शब्दों के संयोग से ग्रीक में hemo-rrhoos शब्द बना, जिसका अर्थ है, 'रक्त स्रवित करना।' दूसरे स्राववाची शब्द के साथ संयोग से hemorrhois (*pl.*, hemorrhoides) बना, जिसका अर्थ है, 'रक्तस्रवण करने वाली शिरायें, इसी शब्द से अंग्रेजी का haemorrhoids शब्द बना। इस शब्द का संस्कृत में ठीक पर्याय 'परिस्रावी अर्श' या 'रक्तार्श' है।

Pilae -यह नवीन लैटिन का शब्द लैटिन के ही Pila (गोल पदार्थ) का बहु-वचन है।

### क्षेत्र[3] और अधिष्ठान

अर्शोरोग के क्षेत्र एवं अधिष्ठान पर विचार करने से पूर्व मलाशय और गुदा की रचना जान लेना आवश्यक है।

---

१. "अरिवत् प्राणिनो मांसकीलका विशसन्ति यत्। अर्शांसि तस्मादुच्यन्ते गुदमार्गनिरोधतः॥ (अष्टांगहृदय। निदान।७।१)

२. "अर्शआद्या महारोगा अतिपापाद्भवन्ति हि (शातातपस्मृति)।

३. क्षेत्र--देश, Incidence --"क्षेत्रमितिदेशः। -(चरक। चिकि०।१४।६।)। "देशस्तु भूमिरातुरश्च। तत्र भूमिपरीक्षा आतुरपरिज्ञानहेतोर्वा स्यादौषधपरिज्ञानहेतोर्वा॥--॥ ...आतुरस्तुखलु कार्यदेशः;, तस्य परीक्षा आयुषः प्रमाणज्ञानहेतोर्वा स्याद्बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोर्वा॥ (चरक। विमान।८।९३-९४)

बृहदन्त्र का निम्नतमभाग मलाशय[1] और गुदा[2] से बना है। इस भाग की कुल लम्बाई १४.५४ सैण्टीमीटर (लगभग ६ इंच या ८ अंगुल) है। इसका इस प्रकरण में वर्णनीय भाग ९ सैण्टीमीटर या ३।। इन्च या लगभग ४।। अंगुल है। समूचे मलाशय की वास्तविक लम्बाई १२ सैण्टीमीटर (लगभग ५ इन्च या ६।। अंगुल) है, उसके नीचे २.५४ सैण्टीमीटर (१ इन्च) लम्बी गुदा समकोण बनाकर इससे मिलती है। इस संयोगस्थल से कुछ ऊपर मलाशय की अगली दीवार कुछ उभर कर बीच की प्रणाली को कुछ विस्तृत कर देती है, जहां मल प्रभूत मात्रा में संचित रहता है। गुदा या गुदप्रणाली को तीन पेशियां घेरे हुए हैं--गुदोत्तोलनी[3], बाह्य और आन्तर गुदसंकोचनी पेशियां[4]। पिछली दो पेशियां गुदप्रणाली के चारों ओर एक छल्ला सा बना देती हैं।

मलाशय में अन्दर की ओर कुछ पार्श्वीय मोड़ हैं, जहां से अन्दर की ओर श्लेष्मकला की कुछ आड़ी पड़ी हुई सलवटें अन्दर की प्रणाली में उभरी रहती हैं–इन्हें गुदवलियां[5] कहते हैं। ये संख्या में तीन हैं। कईयों में ये वलियां दो और कइयों में चार या पांच भी होती हैं। इनमें से प्रथम वलि तो त्रिक से ऊपर मलाशय के प्रारम्भ के पास ही दाईं ओर को लगी हुई है। दूसरी वलि त्रिकप्रदेश के मध्य की सतह पर मलाशय में बाईं ओर से उभरी हुई है। तीसरी वलि सबसे बड़ी है और मजबूत तथा स्थिर है; यह मूत्राशय के मध्यभाग की सतह पर मलाशय के अग्रभाग (अगली दीवार) से पीठ की दिशा में उभरी हुई है। यदि चौथी भी उपस्थित हो तो वह गुदा से १इन्च ऊपर गुदप्रणाली की बाईं ओर पिछली दीवार से भीतर को स्थित होती है। इन वलियों की चौड़ाई १२ मिलीमीटर (आध इन्च या पौन अंगुल) होती है। सम्भवतः ये गुदवलियां मलपदार्थ के भार को संभालने (थामने) के लिए हैं, और इसी लिए एक दूसरे को ढकती हुई स्थित हैं। अन्यथा इन की अनुपस्थिति में मल मलाशय के अन्दर पहुंचते ही गुदाद्वार पर सीधा दबाव डाल देगा, और फलतः बिना तत्काल मलत्याग किए निस्तार नहीं होगा।

प्राचीन आयुर्वेदिक अन्वेषकों के कथनानुसार[6] गुदा बृहदन्त्र का अधोभाग है। इस गुदा की लम्बाई ४।। अंगुल (३।। इन्च) है। इसमें ३ वलियां

---

१. Rectum.

२. Anus.

३. Levator Ani.

४. External and Internal Anal Sphincters.

५. Houston's Valves.

६. "गुदः स्थूलान्त्रसंश्रः। अर्धपंचागुलस्तस्मिंस्तिस्रोऽध्यर्धांगुलाः स्थिताः। वल्यः प्रवाहणी तासमन्तर्मध्ये विसर्जनी ।। बाह्या, संवरणी तस्या गुदौष्ठो बहिरंगुले। यवाध्यर्धः प्रमाणेन रोमाण्यत्र ततः परम् ।।
(अष्टांगहृदय। निदान। ७।४-५।)

"तत्र स्थूलान्त्रप्रतिबद्धमर्धपंचांगुलं गुदमाहुः। तस्मिन् वलयस्तिस्रोऽध्यर्धांगुलान्तरसम्भूताः प्रवाहणी विसर्जनी संवरणी चेति ।। चतुरंगुलायताः सर्वास्तिर्यगेकांगुलोच्छ्रिताः। शंखावर्तनिभाश्चापि उपर्युपरिसंस्थिताः।। गजतालुनिभाश्चापि वर्णतः संप्रकीर्तिताः। रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्धो गुदौष्ठः परिकीर्तितः ।।"
(सुश्रुत निदान। २।४.७।)

"गुदवलित्रये सार्धचतुरंगुलं गदस्य मानम्। तस्यावयवभूतास्तिस्रो वलयः शंखावर्तनिभा उपर्युपरि सन्ति। तासां नामानि प्रवाहणी विसर्जनी संवरणी चेति। तत्र गुदौष्ठोऽर्धांगुलमानस्तदूर्ध्वमंगुलमाना प्रथमा वलिः, सार्धेकांगु-

इसके ही अंगरूप में स्थित हैं। इन वलियों का सादृश्य शंख के एक दूसरे पर स्थित आवर्तों (मोड़ों, पेंचों) से हो सकता है। इनके नाम हैं प्रवाहणी, विसर्जनी और संवरणी। प्रवाहणी सब से ऊपर है, इससे १।। अंगुल (१ इञ्च से कुछ अधिक) नीचे विसर्जनी है, इससे १।। अंगुल नीचे संवरणी है, इससे एक अंगुल (पौन इञ्च) नीचे गुदौष्ठ (गुदद्वार)[१] है, वहां से आध अंगुल नीचे रोमान्त-प्रदेश है जहां गुदा की श्लेष्मकला बाह्य त्वचा से मिलती है। सब वलियां मिलाकर चार अंगुल के प्रदेश में, तिरछी, एक अंगुल उभरी हुई और शंख के पेंच की तरह एक पर एक स्थित होती हैं। इनका रंग हाथी के तालु के समान होता है।

'प्रत्यक्षशारीर' के अनुसार इनमें से प्रथम गुदवली को मलप्रवाह करने के विचार से प्रवाहणी कहते हैं, दूसरी को गुदा को विस्तृत करके मलत्याग करने के कारण विसर्जनी कहते हैं, और तीसरी वलि वास्तव में तो पूर्वोक्त बाह्य और आन्तर गुदसंकोचनी पेशियों के द्वारा गुदा के चारों ओर बना हुआ छल्ला है, जिसे संकोचन कार्य के विचार से संवरणी वलि कहा गया है।[२]

कुछ भी हो यह स्पष्ट और परीक्षित है (जैसा कि अभी हम आगे भी स्पष्ट करेंगे) कि गुदा के इस वलि प्रदेश में रक्तसंचार पर्याप्त होता है, यहां की शिरायें लम्बाई के रुख होती हैं, उनमें कपाटियां नहीं होतीं और दृढ़ पेशियां भी नहीं होती, फलतः इस गुदवलिप्रदेश (चार अंगुल परिमित) में मिथ्या आहार-विहार आदि से, मलबन्ध से तथा अन्य कारणों से जब भी भार आ पड़ता है, तो भीतर स्थित रक्तप्रवाह प्रतिरुद्ध होकर इसी प्रदेश में वे शिरायें प्रतिरुद्ध रक्त के कारण आध्मात और कुटिल हो जाती हैं, जिन्हें अर्श या बवासीर के मस्से कहा जाता है—और इस लिए मुख्यतः इन वलियों को ही प्राचीन अन्वेषकों ने अर्शोरोग का आधार बताया है।[३]

मलाशय और गुदप्रणाली के भी बाकी आंत की तरह आड़ी दिशा में चार ही स्तर होते हैं—श्लैष्मिक[४], अधःश्लैष्मिक[४], पेशीमय[५], और बहिःकलामय[६] स्तर। इनमें से प्रथम और द्वितीय स्तरों से ही हमारा सम्पर्क है। प्रथम अर्थात् श्लैष्मिक-स्तर में विविध लसीका-ग्रन्थियां हैं, बृहदन्त्र की अपेक्षा यहां पर यह स्तर स्थूलतर और अधिक रक्तमय है तथा अधिक ढीले रूप में पेशीमयस्तर से जुड़ा हुआ है। इस स्तर में गुदौष्ठ के पास रोमान्त (त्वचा और श्लेष्मकला की सन्धि वाले) प्रदेश में कई अर्धचन्द्राकार सलवटों की शृंखला है, जिसे गुदौष्ठ को बन्द रखने के कारण गुदकपाट[७] कहते हैं। प्रायः इस प्रदेश में बाह्यार्श की उपस्थिति हुआ करती है।

मलाशय और गुदा का रक्तसंचार इस प्रकरण

---

लमाना द्वितीया, तृतीया च तावती ।। अर्धांगुलप्रमाणेनगुदौष्ठपरिचक्षते । गुदौष्ठादंगुलचैकं प्रथमां तु वलिं विदुः ।। सार्धैकांगुलमानेन पृथगन्ये प्रकीर्तिते ।।" (भावप्रकाश मध्य०। अर्शस् ।)

१. Anal orifice.

२. "प्रथमवलिचक्रोपलक्षितभागेन मलस्याधःपीडनात्प्रथमा प्रवाहणी । गुदविस्फारणेन मलविसर्जनाद् द्वितीया विसर्जनी । गुदसंकोचन्यान्यपेशीद्वयकृता चक्राकारा बलिस्तु संवरणीनाम ।।" (प्रत्यक्षशारीर) ।

३. "सर्वेषामर्शसां क्षेत्रं गुदस्यार्धपंचमांगुलावकाशे त्रिभागान्तरितास्तिस्रोगुदवलयः । क्षेत्रमिति देशः ।" (चरक । चिकि. ।१४।६।)

४-६ Mucous-Submucous-Muscular and Rectal Serous Coats.

७. Anal Valves.

में अत्यन्त आवश्यक है । इस प्रदेश की धमनियां ऊर्ध्वा-मध्यमा और अधरा गुदान्तिका हैं[1] । अपनी विभिन्न शाखाओं द्वारा ये तीनों प्रकार की धमनियां मलाशय और गुदा के अन्दर प्रचुर मात्रा में रक्त पहुंचाती हैं ।

इस प्रदेश में शिराओं का प्रबन्ध इस प्रकरण की दृष्टि से सब से अधिक महत्वपूर्ण है । मुख्यतः दो प्रकार की शिरायें मलाशय और गुदा-प्रदेश में हैं– ऊर्ध्वा और अधरा गुदान्तिका शिरायें ।[2] मलाशय के निम्नभाग तथा गुदा के ऊर्ध्वभाग में अधः-श्लेष्मिकस्तर के अन्दर जो रक्तवाहिनियों का जाल है, वहां से ऊर्ध्वा गुदान्तिका शिरा निकलती हैं और अधिकतया इसी स्तर में रहती हुई वे ऊपर यकृत् को जाने वाली प्रतिहारिणी सिरा[3] में जा मिलती हैं– इनमें कपाट भी नहीं हैं । उधर गुदप्रणाली के निम्न-भाग से अधरा गुदान्तिका शिरायें निकल कर सीधी हृदय को जाने वाली महाशिरा में जा मिलती हैं । अर्थात् इस प्रदेश से रक्त सीधा भी हृदय में लौटता है और यकृत् में से होता हुआ भी । यकृत् में यदि कोई विकार (यथा यकृत् काठिन्य[4], यकृत्श्वयथु[5] आदि) हो या प्रतिहारिणी महासिरा में अन्य किसी कारण से कोई बाधा उपस्थित हो जावे तो मलाशय का दूषित रक्त ऊपर नहीं लौट पाता और फलतः उसके मलाशय में ही प्रतिरुद्ध होजाने से मस्से बन जाते हैं । यकृत् के उत्तेजक पदार्थ खाने से भी यही परिणाम निकलता है । इसी विकार की कठिनाई को कम करने के लिए इस रक्त के कुछ भाग का सीधे हृदय में लौटना एक प्रकार से वरदान है । तथापि यदि कठिन आसन पर बैठा जावे, लगातार बैठे रहने या खड़े रहने का मौका पड़े, तीव्र विरेचक (विशेषतः एलुआ आदि) लिए जावें तो इन दोनों ही प्रकार की शिराओं में रक्त रुक कर इस प्रदेश में मस्से बन जाते हैं ।

आयुर्वेद में अर्शोरोग को अधिमांस का रोग माना गया है ।[6] 'अधिमांस' का अर्थ है,–मांसमय स्तर के समीप का धातु या तन्तु । इस प्रकार का धातु या तन्तु अधःश्लैष्मिकस्तर ही अधिक सम्भव है । अर्थात् यह रोग अधःश्लेष्मिकस्तर का है । वास्तव में इस अधःश्लैष्मिकस्तर (मलाशय वाले) में ही उपरोक्त दोनों प्रकार की प्रमुख गुदान्तिका शिरायें स्थित हैं, जिनमें होने वाले इस रोग का आरोप इस अधःश्लैष्मिकस्तर में सामीप्य या आधार सम्बन्ध से किया गया है, और इस रूप में इसे 'अधि-मांसज गुदवलिरोग' रूप से उपदेश किया गया है ।

अधःश्लैष्मिकस्तर में ही मेदस् (Adipose Tissue), त्वचा के निचले स्तर तथा मांसमय-तन्तु के कुछ उथले स्तर भी (पेश्यावरण के रूप में) सम्मिलित होने के कारण इस रोग को मेदस्, मांस और त्वचा का भी सामीप्य सम्बन्ध से माना गया है[7]। यों, गुदार्श के अलावा अन्य स्थानों के अर्शों का

---

१. Superior-Middle and Inferior Haemorrhoidal Arteries.

२. Superior and Inferior Haemorrhoidal Veins.

३. Portal Vein.

४-५. Cirrhosis and Congestion of the Liver.

६. "अर्शांसीत्यधिमांसविकाराः ।" (च०। चि०। १४।५।) ।
"केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसाम् – शिश्नमपत्यपथं गलतालुमुखनासिकाकर्णाक्षिव-र्त्मानि त्वक् च । तदस्त्यधिमांसदेशतया । (च०।चि०।१४।६।) ।

७. "सर्वेषां चार्शसामधिष्ठानं मेदो मांसं त्वक् च ।" (च०।चि०।१४।६।) ।
"सर्वेषां पुनरधिष्ठानं मेदो मांसं त्वक् च ।" (अष्टांगसंग्रह । निदान ।७।३।) ।

अधिष्ठान मेदस्-मांस और त्वचा में वस्तुतः होता भी है।

देश या क्षेत्र की दृष्टि से यह रोग सभी देशों में, सभी भूमियों में, सभी वातावरणों में, सभी आयुओं में तथा दोनों लिंगों में पाया जाता है। बल्कि, यों कहना चाहिये कि संसार में विरला ही कोई ऐसा मनुष्य होगा जो कि जीवन में इस अर्शोरोग के किसी न किसी रूप से व्यथित न हो।[1] स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को यह रोग अधिक होता है और बच्चों तथा बूढ़ों की अपेक्षा मध्यम आयु वालों को अधिक होता है।

### प्रकार[2]

अर्शोरोग के अनेक प्रकार हैं। दृष्टिभेद से इस रोग के प्रकारों की संख्या बहुत बढ़ जाती है। सामान्यतः मोटे तौर पर इसके सहज[3] और उत्तर-कालज[4] ये दो भाग किये जा सकते हैं। स्थानभेद[5] की दृष्टि से इसे हम बाह्य[6] और आभ्यान्तर[7] इन दो प्रकारों में बांट सकते हैं।

सहज का अर्थ है, जन्म से पूर्व ही शिशु का इस रोग से पीड़ित होना। अर्थात् इस रोग की कारण-रूप कुलजप्रवृत्ति मानी जाती है, इसी लिए सुश्रुत ने समूचे अर्शोरोग को ही आदिबलप्रवृत्त व्याधियों में गिना है।[8] ऐसे रोगियों के गर्भ में आविर्भाव से पूर्व उनके निर्मापक माता पिता के डिम्ब और शुक्राणु में गुदवलियों का उत्पादक भाग निर्बल और विकृत होता है; और इस बीजविकृति का कारण भी माता पिता के द्वारा किया हुआ मिथ्या आहार विहार होता है, या पूर्वकृत कर्म होता है, या कुलज अनुवृत्ति होती है।[9]

उत्तरकालज का अर्थ है, जन्म के बाद किन्हीं कारणों से अर्श का उत्पन्न होजाना। इसके पुनः छह भेद हैं—वातज, पित्तज, कफज, द्वन्द्वज, सन्निपातज और रक्तज।[10] कभी कभी द्वन्द्वज प्रकार के बजाय सहज की गिनती करके भी इस रोग के कुल छह ही भेद माने जाते हैं।[11]

---

१. "So common are piles that probably few persons pass through life without suffering in some degree from this affection." —Encyclopaedia Medica.

२. Varieties.

३. Inherited.

४. Acquired.

५. "समासतस्तु द्विविधान्यर्शांसि सहजानि जन्मोत्तरकालजानि च।" (अ०सं०।नि०।७।३।) "द्विविधान्यर्शांसि सहजानि कानिचित्, कानिचिज्जातस्योत्तरकालजानि।" (च०।चि० १४।५।)। "सहजजन्मोत्तरोत्थानभेदाद्द्वेधा समासतः।" (अ०हृ०।नि०।७।३।)।

६-७ External and Internal Piles.

८. "तत्रादिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वयाः कुष्ठार्शःप्रभृतयः।" (सु०।सू०।२४।५।)।

९. "तत्र (सहजे) बीजं गुदवलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसां सहजानाम्। तत्र द्विविधो बीजोपतप्तौ हेतुर्मातापित्रोरपचारः पूर्वकृतं च कर्म; तथाऽन्येषामपि सहजानां विकाराणाम्।" "तत्र सहजानि सह जातानि शरीरेण॥" (च०।चि० ।१४।५।), "तत्र सहजानां गुदवलिबीजोपतप्तिरायतनम्। तस्या द्विविधो हेतुर्मातापित्रोरपचारो दैवं च॥" (अ०सं०।नि०७।६।)

१०. "अथेतराणि षड्विधानि पृथग्दोषैः संसृष्टैः सन्निपातितैः शोणितेन च।" (अ०सं०।नि० ७।८), "षोढाऽन्यानि पृथग्दोषसंसर्गनिचयास्रतः।" (अ०हृ०।नि०।७।६।)।

११. "वातात्पित्तात्कफाच्चैव सन्निपातात्तथैव च।

गुदौष्ठ के बाहर जो रोमान्त प्रदेश है, जहां गुदा की श्लेष्मकला बाह्य त्वचा से मिलती है, उस स्थान की सतह से यदि अर्श नीचे हो तो उसे बाह्य अर्श कहते हैं। ये मस्से अपनी स्थिति के कारण वास्तविक त्वचा से ढके होते हैं। गुदाप्रणाली के इस प्रदेश की शिरायें छोटी हैं और ऊपर के गुदान्तिका वाहिनियों के जाल तथा नीचे गुदा की परिवर्ती शिराओं के बीच संयोजक का काम करती हैं,—अतः उन दोनों प्रान्तों में यदि कहीं पर कोई रुकावट पड़ जाती है तो ये मस्से सूज जाते है। इस बाह्यार्श के भी दो भेद हैं—प्रथम तो आभ्यन्तर अर्श से संयुक्त होने के कारण मिश्रित अर्श[1] कहाते हैं, क्योंकि तब अन्दर वाले मस्से नीचे को फूलते हुए गुदा से बाहर चारों ओर एक मखमली छल्ला सा बनाकर उभर आते हैं। इस भेद का कारण वही होता है जो कि आभ्यन्तर अर्श का है, तथा चिकित्सा भी वही है। द्वितीय भेद में मस्सा रोमान्त प्रदेश में ही शिरा में खून का थक्का बनकर जम जाने के कारण बनता है, जो गुदा के किनारे पर या तो किसी प्रतिरुद्ध और आध्मात शिरा के फटने से गोल रक्तगुल्म के रूप में बनता है या फिर गुदा के चारों ओर की विस्तृत शिरा जमने से होता है[2]।

आभ्यन्तर अर्श सदा गुदप्रणाली में या उससे ऊपर अर्थात् अदृश्य रूप में स्थित होते हैं। गुदप्रणाली के ऊर्ध्वभाग में तथा मलाशय के निम्नभाग में श्लेष्मकला के पास शिराजाल में इन मस्सों का प्रारम्भ होता है।

बाह्य और आभ्यन्तर को क्रमशः बाहर दीखने और न दीखने के कारण भेलसंहिता में दृश्य और अदृश्य नाम से कहा गया है।[3]

वातज आदि छहों भेदों में अलग-अलग यद्यपि तीनों ही दोषों का प्रकोप रहा करता है[4], पर उल्वण भेद से उनकी वातज आदि संज्ञा रखी गई हैं।[5] वास्तव में तो इन सभी उत्तरकालज भेदों में भी एक सहज कुलज प्रवृत्ति इस रोग की हुआ करती है,[6] और इस प्रकार इन्हें भी सहज' में ही गिनना चाहिए, परन्तु अभिव्यक्ति की दृष्टि से सहज और उत्तरकालज ये ही दो भेद किये गये हैं।

स्राव की दृष्टि से भी इस रोग के दो भेद हैं[7]—शुष्क[8] और परिस्रावी[9]। वास्तव में ये भेद भी

---

सहजानि च रक्ताच्च षोढार्शांस्यथ देहिनाम्।' (भेल० चि०।१५।१)। "षडर्शांसि भवन्ति वातपित्त कफशोणितसंन्निपातैः सहजानि चेति।" (सु०।नि०।२।२।) "अर्शांसि षड्विधान्याहुर्वातपित्तकफास्रतः। सन्निपाताच्च संसर्गात्।" (शार्ङ्गधराप्रथम०।७।१२।)।

१. Mixed Piles.

२. Thrombo-phlebitic Piles = रक्तगुल्मसदृश अर्श।

३. "अदृश्यानां च यत्प्रोक्तं दृश्यानां च यथाक्रमम्।' (भेल०।चि०।१५।२।)

४. "पंचात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रये। सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥" (च०।चि०।१४।२४।)।

५. "अर्शांसि खलु जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः। दोषैर्दोषविशेषात्तु विशेषः कथ्यतेऽर्शसाम् ॥" (च०।चि०।१४।२६)।

६. "आदिबलप्रवृत्तास्तु ये शुक्रशोणितदोषान्वयाः कुष्ठार्शः प्रभृतयः।" (सु०सू०४।२४।५।)।

७. "शुष्कस्राविविभेदाच्च।" (अ०हृ०।नि०।७।३।) "तथा शुष्कार्द्रभेदतः।" (शार्ङ्ग०। प्रथम०।७।१३।)। "पुनश्च द्विविधानि, शुष्काणि आर्द्राणि च।" (अ०सं०।नि०।७।३।)।

८-९ Simple and Bleeding Piles.

दोषों के अनुसार ही किये गये हैं--शुष्कार्श तो वातकफप्रधान होते हैं[१], और परिस्रावी (रक्तस्रावी) अर्श पित्तरक्तप्रधान[२]। शुष्क को बाह्य और परिस्रावी को आभ्यन्तर भी कहते हैं।

इस प्रकार अर्श के निम्नलिखित प्रकार या भेद हुए :--
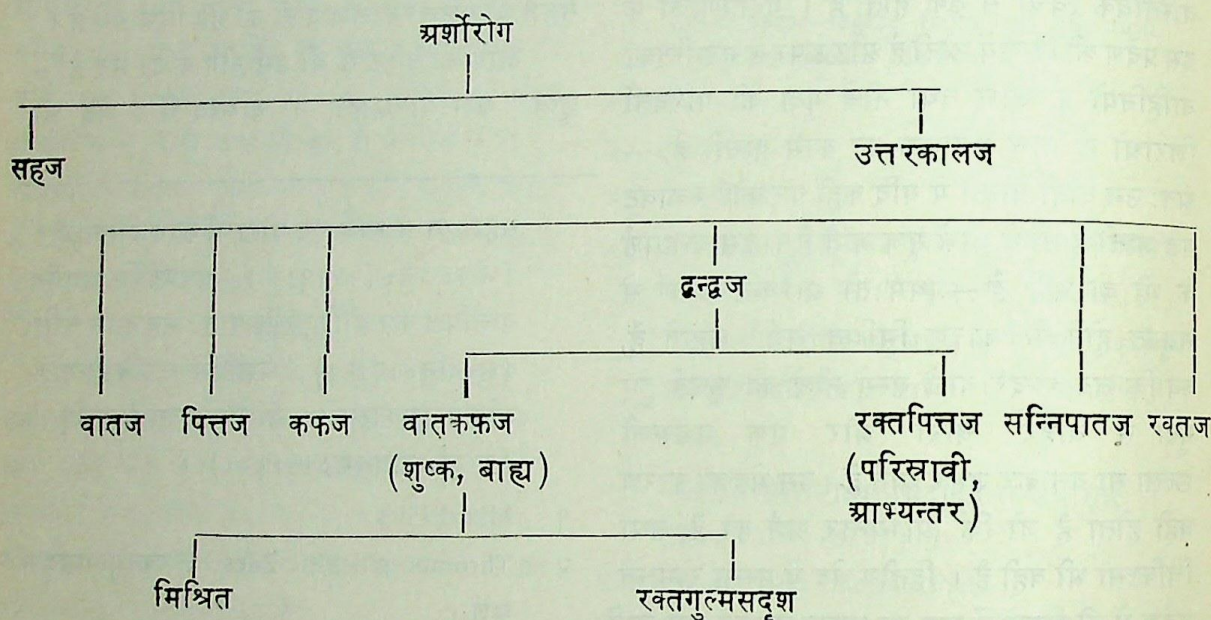
## कारण और सम्प्राप्ति

इस रोग के कारण दो प्रकार के हैं--विप्रकृष्ट और सन्निकृष्ट। प्रथम अर्थात् विप्रकृष्ट कारण भी दो प्रकार के हैं--सामान्य और विशेष। सामान्यत: इस रोग की कुलज प्रवृत्ति इस रोग वालों में अवश्य पाई जाती है। इसीलिए सुश्रुत ने इसे आदिबलप्रवृत्त व्याधियों में गिना है। वास्तव में, अर्श में जिस प्रकार की सिराविकृति या सिराकुटिलता ( Varix or Varicosity ) पाई जाती है, उस प्रकार की सिराविकृति उत्पन्न होने के लिए सिराओं की आदिबलप्रवृत्त रचनाविशेषता और दीवार की निर्बलता ही मुख्य कारण होता है[३]। अत: इस रोग को आदिबलप्रवृत्त मानना ही पड़ेगा।

इस प्रदेश में रक्तसंचार का एक विशिष्ट प्रकार का प्रबन्ध होने से भी अर्श की उत्पत्ति सम्भव होती है। बाकी सारी आंत के विपरीत मलाशय में रक्तवाहिनियां लम्बाई के रुख हैं, जिन्हें आड़ी शाखायें जोड़ती हैं और इस प्रकार गुदा से ठीक ऊपर उसके चारों ओर एक जाल सा बना देती हैं--

१.२. "वातश्लेष्मोल्वणान्याहु: शुष्काण्यर्शांसि तद्विद:। प्रस्रावीणि तथार्द्राणि रक्तपित्तोल्वणानि च ।।" (च०।चि०।१४।३८।)।
"तत्र वातश्लेष्मोत्तराणि शुष्काणि रक्तपित्तोत्तराण्यार्द्राणि ।" (अ०सं०।नि०।७।६।)।

३. "Piles consist in a varicose condition of the veins surrounding the anus or lower inch or two of the rectum. ( in Piles ). .......Varix is possibly due to some inherited weakness of the venous wall, or irregularity in the arrangement of

ऐसा हम देख चुके हैं। प्रतिहारिणी महासिरा में जा मिलने वाली इस प्रदेश की (ऊर्ध्वा गुदान्तिका) शिराओं में कपाटियां नहीं है, और गुरुताकर्षण के कारण गुदान्तिक-शिराजाल में रक्तप्रतिरोध प्रायः बना रहता है। शिराओं का मुख्य प्रवाह ऊपर को है, और काफी दूर तक ऊर्ध्वा गुदान्तिका शिरायें श्लैष्मिक और अधःश्लैष्मिकस्तर के बीच में अर्थात् शिथिल वातावरण में रहती हैं--बल्कि निराश्रय खड़ी हैं। ठोस मल मलाशय में रहकर इन शिराओं का निकास (प्रवाह) रोक देता है। मलत्यागार्थ उदीरण (विशेषतः तब जबकि गुदा की पेशियां शिथिल हों, और निचली धारकशक्ति न बची हो)--इससे शिराओं के गुदान्तिकाजाल पर बड़ा भारी जोर पड़ेगा ही। फलतः मलत्याग से पहले और पीछे इनपर यकायक भार आ पड़ता है। फिर प्रतिहारिणी महासिरा के निम्नतम भाग में इनका निकास पराधीन-सा होकर रहता है, कपाटियां भी इन में नहीं हैं। इसलिए यकृत् के वातिक काठिन्य ( Hepatic cirrhosis ) से और हृदयरोग से भी इस प्रदेश की शिराओं के निकास में अपूर्णता रहती है, और फलतः कइयों में अर्श हो जाता है। इसी प्रकार उदर के भीतरी भार को बढ़ाने वाली अवस्थायें तथा आंतों की निचली शिराओं पर सीधा दबाव डालने वाली (यथा वस्तिगुहा के बड़े अर्बुद, सगर्भावस्था आदि) अवस्थायें भी इसी प्रकार अर्श कर देती हैं। ये सब रचनायें ही इस रोग का विप्रकृष्ट कारण बनी रहती हैं।

साथ ही, आरामपसन्द जीवन, मद्य का अतिसेवन (जिससे यकृत्-काठिन्य होकर प्रतिहारिणी महासिरा और फलतः मलाशय के रक्त का प्रवाह एवं निकास प्रतिरुद्ध हो जायगा), जीर्ण मलबन्ध इत्यादि अवस्थायें भी अर्श का विप्रकृष्ट कारण बनती हैं।

आयु का भी इस पर प्रभाव है। युवावस्था में, विशेषतः युवकों को यह रोग बहुत होता है। सामान्यतः २० वर्ष की आयु के आस-पास आरामपसन्द पुरुषों को हो जाता है। मध्य आयु तक यह प्रवृत्ति घटती जाती है। परन्तु वृद्धों में अष्ठीला-ग्रन्थि की वृद्धि[1] इत्यादि कारणों से यह रोग हो जाता है। मलाशय में अर्बुद आदि हो या कोई व्रणबन्ध हो तो भी यहां के रक्त के निकास (प्रवाह) में बाधा पड़कर यह रोग हो जाता है। युवतियों को सम्भवतः मासिक स्राव की नियमित प्रवृत्ति होते रहने के कारण प्रायः नहीं होता। परन्तु गर्भावस्था, गर्भाशय-अर्बुद, गर्भाशयभ्रंश इत्यादि से उनमें भी यह रोग हो जाता है।

कर्मविपाक भी इस का विप्रकृष्ट हेतु माना जाता है। वेतन देकर पढ़ने से, तथा वेतन लेकर पढ़ाने-यज्ञ कराने-जप करने से भी कर्मविपाक द्वारा अर्शोरोग होता माना जाता है।[3] शातातपस्मृति के अनुसार अर्शोरोग अत्यन्त पाप के कारण होता है।[4]

---

of the valves,.......though this may produce no ill-effect until some exciting cause comes into action. The facts that varix sometimes appears quite early in life and without adequate cause and often involves the same vein in different members of the same family, confirm this statement ( inherited weakness of the venous walls )., ( in 'Varix' )"—Rose and Carless;s Manual of Surgery.

१ Enlargement of the Prostate Gland.

२. Stricture.

३. "दत्त्वाथ वेतनं योऽध्येत्यादायापि च वेतनम्।
अध्यापयेच्च जुहुयाज्जपेद्वाऽर्शोयुतो भवेत्॥"

४. "अर्शआद्या महारोगा अतिपापाद्भवन्ति हि।"
(शातातपस्मृति)।

ये सब अर्शोरोग के सामान्य विप्रकृष्ट कारण हैं।

विशेष विप्रकृष्ट कारण वातादि के पृथक्-पृथक् होते हैं।

वातार्श के विप्रकृष्ट कारण––कषाय-कटु-तिक्त रूक्ष-शीत-लघु पदार्थों का सेवन, अल्पाशन, अति-भोजन, तीक्ष्णमद्यमैथुन का अतिसेवन, बहुत कूद-कूद कर चलना, शीतल स्थानों और शीतकाल का सेवन, व्यायाम का अति सेवन, शोक, वात और धूप का अतिसेवन,––इत्यादि कारणों से वातार्श हो जाता है।[1]

पित्तार्श के विप्रकृष्ट कारण––कटु-अम्ल-लवण-उष्ण-व्यायाम-अग्नि-धूप-उष्णदेशकाल-क्रोध-मद्य-परदोषान्वेषण-विदाहि-तीक्ष्णोष्णपदार्थ (अन्नपान-भोजनादि) के सेवन से पित्तार्श हो जाता है।[2]

कफार्श के विप्रकृष्ट कारण––मधुर-स्निग्ध-शीत लवण-अम्ल-गरिष्ठ पदार्थ-अपरिश्रम-आलस्य-दिवास्वप्न-लेटे या बैठे रहना ( Sedentary life ) पूर्वीयवायु-शीतलदेशकाल-बेफिक्री, इत्यादि से कफार्श हो जाता है।[3]

त्रिदोषार्श के विप्रकृष्ट कारण––तीनों दोषों के प्रकोपक कारणों के अतिमात्रा में एकत्र होकर कार्य करने से तीनों दोषों के प्रकोप से युक्त अर्शोरोग हो जाताहै।[4] यद्यपि वात पित्त कफ में से कोई एक या दो प्रकुपित होकर अपने ही कारणों से (उस प्रकोपयिष्यमाण दोष के कारणों से नहीं) इतर को भी प्रकुपित करके त्रिदोष-प्रकोप की अवस्था ला सकते हैं, और इस प्रकार प्रायः सभी रोग त्रिदोषज हो जाते हैं; परन्तु इस त्रिदोषज अर्श में तो तीनों ही दोष स्वतन्त्रतया अपने ही प्रकोपक कारणों से प्रकुपित होकर त्रिदोषार्श को उत्पन्न करते हैं।

रक्तार्श के विप्रकृष्ट कारण––पित्त प्रकोपक कारणों से ही रक्तार्श भी हो जाता है।

सन्निकृष्ट कारण––कई प्रकार के हैं :—१. प्रतिहारणी महासिरा में प्रतिरोध होने से स्पष्टतया अर्श उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार इस प्रतिहारिणी महासिरा में प्रतिरोध के जितने भी कारण हैं, वे सभी अर्श के भी कारण हैं। इसलिए अर्श का निदान करते समय इस प्रतिरोध के अन्य लक्षणों को भी ढूंढना चाहिए, जिनके पा जाने पर अर्श का निदान करने में बड़ी सुगमता होती है। लाल-मिर्च आदि कटु-तीक्ष्ण-उष्ण पदार्थों के सेवन से यकृत् में क्षोभ के कारण रक्तवृद्धि होकर यह प्रतिरोध हो जाता है और फलतः नीचे गुदा में अर्श के मस्से उभर आते हैं। (विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च सर्वं पानान्नभेषजम्।)।

२. स्थिर मलबन्ध इस रोग का सबसे व्यापी कारण है। युवतियों में तथा छोटी आयु की स्त्रियों

---

१. "कषायकटुतिक्तानि रूक्षशीतलघूनि च। प्रमितात्यशनं तीक्ष्णमद्यमैथुनसेवनम्॥ लंघनं देशकालौ च शीतौ व्यायामकर्म च। शोको वातातपस्पर्शो हेतुर्वातार्शसां मतः।" (च०चि० १४।१२-१३।)।

२. "कट्वम्ललवणक्षारव्यायामाग्न्यातपप्रभाः। देशकालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूनयनम्॥ विदाहि तीक्ष्णमुष्णं चसर्वं पानान्नभेषजम्। पित्तोल्वणानां विज्ञेयः प्रकोपो हेतुरर्शसाम्॥" (च० चि०१४।१५-१६।)।

३. "मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरूणि च। अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्यासनसुखे रतिः॥ प्राग्वातसेवा शीतौ च देशकालावचिन्तनम्। श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत्कारणमर्शसाम्॥" (च० चि०।१४।१८-१९)।

४. "सर्वोहेतुस्त्रिदोषाणां।" (च० चि०।१४।२०।)

म जब-तब पुरीषवेगधारण करते रहने से स्थिर मलबन्ध हो जाता है और फलतः इस अपरित्यक्त मल के दबाव के कारण मलाशय की सिरायें फूल कर अर्श हो जाता है। अन्य भी जो लोग मलावेग का धारण करते हैं, या मलबन्ध से पीड़ित रहते हैं, उन्हें भी यह रोग इसीलिए होजाता है (वेगविधारणादिभिः'--सुश्रुत। 'मलेऽतिनिचिते'--अष्टांगहृदय)।

३. मद्य के सेवन से प्रतिहारिणी महासिरा में और फलतः यकृत् में रक्तबृद्धि या अध्मान हो जाता है, जिससे मलाशय की शिराओं के निकास में बाधा पहुंचकर अर्श हो जाता है। मद्य के अति सेवन से यकृत् का वातिक काठिन्य ( Cirrhosis of the Liver ) होकर भी वही परिणाम होता है, और अर्श हो जाता है। (तीक्ष्णमद्यमैथुनसेवनम्'–चरक)।

४. 'अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्यासनसुखे रतिः' (चरक)। आराम और बेफ़िक्री ('अचिन्तनम्'--चरक) से पड़े रहना। आराम की जिन्दगी बसर करना। मेहनत से बचना।

५. अनेक स्थानीय अवस्थायें, यथा–शीतल आसन पर बैठना ('शीतौ च देशकालौ'--चरक), या नरम गद्दों पर बैठना ('शय्यासनसुखे रतिः'—चरक)--इनसे अधरा गुदान्तिका शिरायें सिकुड़ जाती हैं, फलतः उनका निकास ठीक न होने से अर्श हो जाता है; गर्भाशयभ्रंश; सगर्भावस्था; मलाशय में या बस्तिगह्वर में अर्बुद आदि हो जाना–इन सब से भी अर्श की उत्पत्ति होती है। हृद्रोग से स्थानीय रक्तरोध होकर भी अर्श हो जाता है।

ये पांचों ही सन्निकृष्ट कारण कभी-कभी विप्रकृष्ट रूप में भी अर्शोरोग के कारण हुआ करते हैं, अतः उस प्रकरण में भी हमने इन्हें देखा है।

सम्प्राप्ति--उपर्युक्त विप्रकृष्ट कारणों से शरीर की अग्नि क्षीण हो जाती है, और फलतः मलपदार्थों का संचय बढ़ जाता है। इस अवस्था में अतिमैथुन से, गाड़ी-आदि में बैठने से हुए क्षोभ से, कठिन और विषमासन पर और उकड़ूं होकर अधिक बैठने से, गुदाद्वार पर या मलाशय में पत्थर मिट्टी-ढेला-कंकर-भूमितल बस्तिनेत्र-वस्त्र आदि की रगड़ लगने से, अतिशीतल जल गुदप्रदेश में लगने से, लगातार अत्यधिक मलप्रवाह करने से (यथा एलुआ आदि तीव्र विरेचकों के द्वारा या मलवेगप्रवाहणों के द्वारा), वात-मूत्र-मल के वेगों को रोकने या बलात् प्रवृत्त करने से, ठण्डे और गीले पत्थर पर बैठने से, अतिमद्यादि (जिससे यकृत् में रक्तवृद्धि अकस्मात् हो सकती है) से, ज्वर-अतिसार-ग्रहणी-पाण्डु आदि जीर्ण रोगों के द्वारा शरीर के (विशेषतः मलाशय की रक्तवाहिनियों की दीवारों के) अतिक्षीण हो जाने से, विषम आहारविहारादि से बस्ति प्रदेश में स्थित अपान वायु (अर्थात् तत्रत्य अंगों की धारणशक्ति) कुपित होकर उस समूचे मलपदार्थ (पुरीष और दूषित रक्त) को गुदवलियों में रोक रखता है और उनके फूल जाने पर अर्श हो जाता है। स्त्रियों में कच्चा गर्भ गिराने से, गर्भवृद्धिकाल में बस्तिप्रदेश पर दबाव पड़ने से तथा अन्य कारणों से भी पूर्वोक्तप्रकारेण अर्शोरोग हो जाता है।[१]

---

१. दोषप्रकोपहेतुस्तु प्रागुक्तस्तेन सादिते अग्नौ, मलेऽतिनिचिते, पुनश्चातिव्यवायतः ।। यानसंक्षोभविषमकठिनोत्कटकासनात्। बस्तिनेत्राश्मलोष्ठोर्वीतलचैलादिघट्टनात् ।। भृशं शीताम्बुसंस्पर्शात्प्रततातिप्रवाहणात् । वातमूत्रशकृद्वेगधारणात्तदुदीरणात् ।। ज्वरगुल्मातिसारामग्रहणीशोथपाण्डुभिः । कर्शनाद्विषमाभ्य-

संक्षेप में, अर्शोरोग के कारण निम्नलिखित हैं--
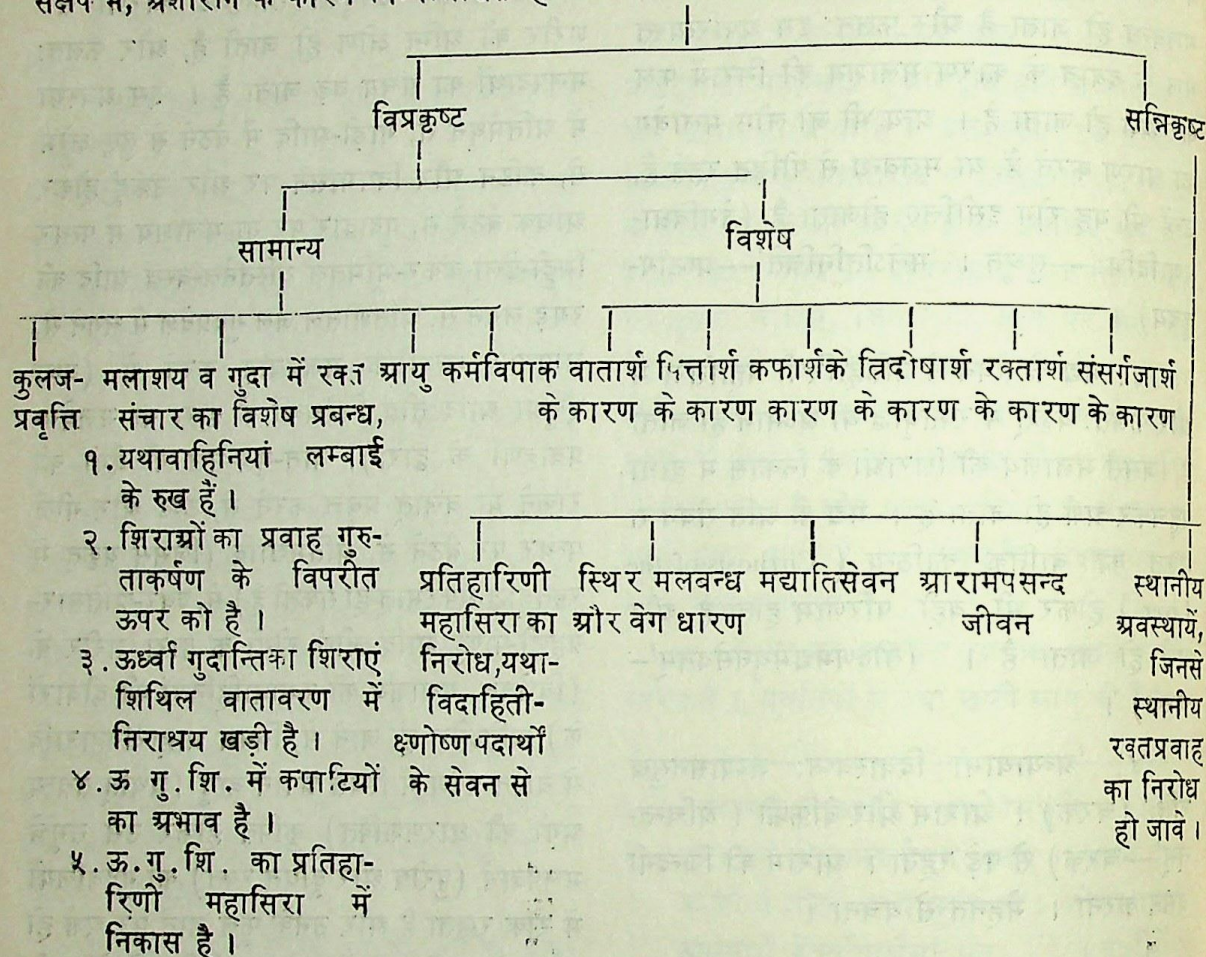
श्च चेष्टाभ्यो,योषितां पुनः।। आमगर्भप्रपतनाद् गर्भवृद्धिप्रपीडनात् । ईदृशैरपरैर्वायुरपानः कुपितो मलम् ।। पायोर्वलीषु तं धत्ते तास्वभिष्यण्णमूर्तिषु । जायन्तेऽर्शांसि ।।" (अ०हृ० नि०।७।१०-१५।) ।

"गुरुमधुरशीताभिष्यन्दिविदाहिविरुद्धाजीर्णप्रमिताशनासनासात्म्यभोजनाद्गव्यमात्स्यकौक्कुटवाराहमाहिषाजाविकपिशितभक्षणात् कृशशुष्कपूतिमांसपैष्टिकपरमान्नक्षीरदधिमन्दकतिलगुडविकृतिसेवनाच्च माषयूषेक्षुरसपिण्याकपिण्डालुकशुष्कशाकशुक्तकिलाटतक्रपिण्डकबिसमृणालशालूकक्रौञ्चादनकशेरुकशृंगाटकतरूटविरूढनवशूकशमीधान्यामममूलकोपयोगाद् गुरुफलशाकरागहरितकमर्दकवसाशिरस्पदपर्युषितपूतिशातसंकीर्णान्नाभ्यवहरणान्मदकातिक्रान्तमद्यपानाद् व्यापन्नगुरुसलिलपानादतिस्नेहपानादसंशोधनाद्बस्तिकर्मविभ्रमादतिव्यवायाद्दिवास्वप्नात् सुखशयनासनोपसेवनाच्चोपहताग्नेर्मलोपचयो भवत्यतिमात्रं, तथोत्कटुकविषम.सन्नसेवनादुद्भ्रान्तयानोष्ट्रयानादति

## पूर्वरूप

इसके पूर्वरूप भी दो प्रकार के होते हैं—स्थानीय और व्यापी।

स्थानिक दृष्टि से, पहले तो मस्से गुदप्रणाली में बन्द रहने के कारण मलत्याग के समय बाहर नहीं निकलते और फलतः नहीं दीखते। इन पर आवरण लम्बोत्तर सेलों का होता है। मलत्याग में दबाव पड़कर ये फूलते हैं और प्रायः प्रारम्भ में फूटकर इनमें से रक्त भी निकलता है जो मल पर लगा होता है। द्वितीय अवस्था में जाकर विशेष पूर्वरूप कुछ स्पष्ट होने लगते हैं और इन मस्सों पर चपटे कोषों का कलामय आवरण बनकर ये कठिन और खर हो जाते हैं और इनमें से रक्तस्राव नहीं हुआ करता है—ये ही पूर्वावस्था में स्थित वातार्श हैं। इस अवस्था को जो मस्से पार कर जाते हैं, उनमें मलत्याग से उभार बढ़कर वे फट जाते हैं और उनमें से रक्तस्राव होता है, ये पित्तार्श हैं। यदि ये मस्से कठिन स्थिर गुरु और आध्मात हों तो कफार्श होंगे।

व्यापी पूर्वरूप भी अनेक प्रकार के हैं। मुख्यतः अन्न का उदर में विष्टम्भ होना, शरीर निर्बल हो जाना, पेट में गुड़-गुड़ाहट ('आटोपो गुड़गुड़ाशब्दः प्रोक्तो जठरसम्भवः'—भावप्रकाश), देह क्षीण होना, डकार बहुत आना, जांघों की जकड़ाहट, मल न्यून और शुष्क आना, मस्सों में से अति रक्तस्राव हो जाने के कारण ग्रहणी या पाण्डुरोग के लक्षणों की प्रतीति होना या उदररोग होता हुआ प्रतीत होना—ये प्रमुख पूर्वरूप अर्शोरोग के होते हैं।[1]

इनके अतिरिक्त सामान्यतः अग्निमान्द्य, पिंडलियों में ऐंठन, चक्कर आना, शरीर में जकड़ाहट, नेत्र में शोफ, अतिसार (सड़ांद के कारण) या मलबन्ध होना, पेट में नाभि से नीचे विकृत वायु (विष्टब्ध अन्न की सड़ांद से बनी गैसों) के अतिसंचार के कारण गुड़गुड़ाहट होना और उस वायु का गुदा को काटते हुए दर्द के साथ और शब्दपूर्वक कठिनता से त्याग होना, मूत्र का बहुत आना, मल न्यून आना, अन्न में अरुचि होना, अन्न की सड़ांद से पैदा हुए ऐन्द्रियिक अम्लों के कारण खट्टे डकार आना ('अम्लकः') और धुआं सा पेट से गले की ओर उठता प्रतीत होना ('धूमायनम्'), सिर-पीठ और छाती में दर्द होना, आलस्य, शारीरिक वर्ण में परिवर्तन हो जाना, स्थायी तन्द्रा बनी रहना, इन्द्रियों की दुर्बलता, क्रोध बहुत आना—इत्यादि विकार भी भावी अर्शोरोग की सूचना देते हैं[2]।

---

व्यवायाद्बस्तिनेत्रासम्यक्प्रणिधानाद् गुदक्षणनादभीक्ष्णं शीताम्बुसंस्पर्शाच्चेललोष्ठतृणादि - घर्षणात् प्रततातिनिर्वाहणाद्वातमूत्रपुरीषवेगो - दीरणात् समुदीर्णवेगविनिग्रहात्स्त्रीणां चामगर्भभ्रंशाद्गर्भोत्पीडनाद्बहुविषमप्रसूतिभिश्च प्रकुपितो वायुरपानस्तं मलमुपचितमधोगमासाद्य गुदवलिष्वाधत्ते, ततस्तास्वर्शांसि प्रादुर्भवन्ति ॥" (च.।चि.।१४।९।)।

"दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि सन्दूष्य विविधाकृतीः। मांसांकुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि तान् जगुः॥" (माधवनिदान) (भावप्रकाश)।

१. "विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च। कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता॥ ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्त्तेराशंका चोदरस्य च। पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये॥" (च० चि०।१४।२१–२२।)।

२. "तत्पूर्वलक्षणं मन्दवह्निता॥ विष्टम्भः सक्थिसदनं पिण्डिकोद्वेष्टनं भ्रमः। सादोऽङ्गे नेत्रयोः शोफः शकृद्भेदोऽथवा ग्रहः॥ मारुतः प्रचुरो मूढः प्रायो नाभेरधश्चरन्। सरुक् सपरिकर्तश्च कृच्छ्रान्निर्गच्छति स्वनन्॥ आन्त्रकूजन-

## लक्षण

अर्शोरोग के लक्षण मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं--सामान्य और विशेष। अर्शोरोग के विभिन्न वातिक आदि प्रकारों के पृथक्-पृथक् लक्षणों को विशेष लक्षण कहते हैं, बाकी सब सामान्य लक्षण कहाते हैं। इन्हीं दो प्रकार के लक्षणों में इस रोग के स्थानीय और व्यापी लिंगों की भी परिगणना हो जाती है। हम पहले सामान्य लक्षणों को ही लेंगे।

सामान्य लक्षण--पूर्वोक्त पूर्वरूप ही अधिक स्पष्ट होकर इस रोग के लक्षण (सामान्य) बन जाते हैं[1]। आयुर्वेदीय सिद्धान्त के अनुसार मलाशय और गुदा के मार्ग में तथा तत्रत्य रक्तसंचार के प्रवाह में इन सब पूर्वोक्त कारणों से अवरोध की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इस अवरोध के कारण बस्तिस्थ अंगों का नियामक अपानवायु कुपित होकर सारे शरीर में तथा इन्द्रियों में स्थित अन्य प्रकार के (चारों) वायुओं को भी क्षुब्ध कर देता है और मूत्र-पित्त-मल-धातु-आशय आदि को भी क्षुब्ध एवं विकृत कर देता है। परिणामतः अग्निमान्द्य[2] के साथ-साथ अर्शस् के लक्षण परिस्फुट हो जाते हैं। मलाशय और गुदा की शिराओं में इस कारण से जो विकृतिरूप विस्तार और कुटिलता पैदा होकर मस्से बनते हैं, उनके साथ-साथ सर्वशारीरिक लक्षण किस प्रकार से उत्पन्न होते हैं, यही इस सिद्धान्त के द्वारा चित्रित किया गया है। इसके पश्चात् रोगी और अधिक क्षीण, हतोत्साह, दीन, हतप्रभ, एवं अशक्त होजाता है--ऐसा लगता है, मानों किसी हरे-भरे वृक्ष को कीड़ों ने खाकर छायारहित (छाया--छांह ( Shadow ), (शरीर की कान्ति Complexion of the body)--(छाया च वर्ण प्रभाश्रया, चरक) कर दिया हो। सभी प्रकार के कष्टप्रद उपद्रव उसे चिपट जाते हैं। खांसी, प्यास, मुंह में विकृत स्वाद, श्वासरोग, पीनसरोग (जुकाम का भेद), शरीर में क्लान्ति, अंग टूटना, वमनप्रतीति--उबकाई, छींकें, ज्वर, पुंस्त्वहीनता, बहरापन, आंखों के आगे अन्धेरा छाना, मूत्र में शर्करा और अश्मरी बनना, स्वर क्षीण और फटा सा होना, चिन्ता, थूक बहुत आना, अरुचि, सब जोड़ों-हड्डियों-हृदयप्रदेश-नाभिप्रदेश-गुदा-वंक्षणदेश आदि में शूल होना, गुदा से लेसदार पदार्थ (आम, आंव, mucus) निकलना, कभी-मल सख्त, या पतला-सूखा, या गीला-पचा, या अनपचा विभिन्न रूपों में आना, मल का रंग भी पीला-हरा या लाल होना, उसमें आम आना

---

माटोपः क्षामतोद्गारभूरिता। प्रभूतं मूत्रमल्पा विट्, अश्रद्धा धूमकोऽम्लकः॥ शिरःपृष्ठोरसां शूलमालस्यं भिन्नवर्णता। तन्द्रेन्द्रियाणां दौर्बल्यं क्रोधो दुःखोपचारता॥ आशंका ग्रहणीदोषपाण्डुगुल्मोदरेषु च॥" (अ०हृ० नि०।७।१६--२०।)।

"तेषां तु भविष्यतां पूर्वरूपाणि-अन्नेऽश्रद्धा कृच्छ्रात्पक्तिरम्लीका परिदाहो विष्टम्भः पिपासा सक्थिसदनमाटोपः कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं अक्ष्णोः श्वयथुरन्त्रकूजनं गुदपरिकर्तनमाशंका पाण्डुरोगग्रहणीदोषोदराणां कासश्वासो बलहानिर्भ्रमस्तन्द्रा निद्रेन्द्रियदौर्बल्यं च॥" (सु० नि०।२।८)।

१. "जातेषु चैतानि लिंगानि प्रव्यक्ततराणि भवन्ति।" (अ०सं० नि०।७।१२।)।

२. "तैः खल्वधोमार्गोपरोधाद्वायुरपानो निवर्तमानः समानव्यानोदान--प्राणान् पित्तश्लेष्माणौ च प्रकोपयन्नबलमुपमृद्नाति।" (अ०सं० नि०। ७।१३)।

इत्यादि लक्षण होते हैं[१] ।

स्थानीय रूप में, मलाशय और गुदा में सरसों-जौ-मूंग-छोटे बड़े बेर की गुठली-हाथ के अंगूठे आदि के बराबर के, तांबे जैसे रंग वाले स्थिर या लटकते हुए (सवृन्त Pediculated) एक या अनेक मस्से हो जाते हैं। इनके फटकर पुन: रूढ हो जाने पर गुदा में व्रणबन्ध (Stricture) बन जाते हैं, जिनसे मल इत्यादि निरोध होकर गुदा में आनाह हो जाता है, फलत: दोषों और इस प्रतिरुद्ध मल की ऊर्ध्वगति होकर उपद्रव रूप में अनेक लक्षण (उदावर्त आदि) खड़े हो जाते हैं[२]।

विशेष लक्षण--शुष्क-परिस्रावी-वातिक आदि भेदों के पृथक्-पृथक् लक्षण इसमें आते हैं।

वातार्श के लक्षण--मस्सों का रंग गदला सांवला-लाल सा होता है। इनका स्वरूप रूखा, विषम, सख्त और खुरदरा होता है। परिमाण बेर-खजूर-बिनौला या सरसों के बराबर होता है, कभी-कभी (बहुत कम) तो कदम्ब के फूल के बराबर भी होता है। ये मस्से अनेक होते हैं, टेढ़े-मेढ़े तीखे, अनेकाकृति और फटे हुए होते हैं। इनके कारण सिर-पसलियों-कन्धों-कमर-जांघ और जंघासों में बहुत वेदना होती है। इन मस्सों में स्वयं भी बड़ी चीस मारती है। मल भी बहुत सख्त, गांठदार थोड़ा-सा, दर्द-झाग-आंव और आवाज के साथ बार-बार निकलता है। व्यापी रूप में छींक, डकार, अरुचि, हृदय पर भार, खांसी, श्वास, अग्निमान्द्य, कानों में घूं-घूं, सिर में चक्कर आदि लक्षण होते हैं। त्वचा-नाखून-मल-मूत्र-आंख और मुख पर लाली के बजाय कालिमा झलकती है। उपद्रव रूप में गुल्म, प्लीहावृद्धि, उदररोग तथा अष्ठीला-ग्रन्थि की वृद्धि (उस प्रदेश में स्थिर रक्तवृद्धि बनी रह कर) होजाती है।[३]

पित्तार्श के लक्षण--मस्सों का रंग लाल-पीला-काला होता है। रंग की दृष्टि से ये तोते की जीभ,

---

१. "एतान्येव विवर्धन्ते जातेषु हतनामसु ।। निवर्तमानोऽपानो हि तैरधोमार्गरोधत: । क्षोभयन्ननिलानन्यान्सर्वेन्द्रियशरीरगान् ।। तथा मूत्रशकृत्पित्तकफान्धातूंश्च साशयान् । मृद्नात्यग्निं तत: सर्वो भवति प्रायशोऽर्शस: ।। कृशो भृशं हतोत्साहो दीन: क्षामोऽतिनिष्प्रभ: । असारो विगतच्छायो तन्तुजुष्ट इव द्रुम: ।। कृत्स्नैरुपद्रवैर्ग्रस्तो यथोक्तैर्मर्मपीडनै: । तथा कासपिपासास्यवैरस्यश्वासपीनसै: ।। क्लमांगभंगवमथुक्षवथुश्वयथुज्वरै: । क्लैब्यबाधिर्यतैमिर्यशर्कराश्मरिपीडित: ।। क्षामभिन्नस्वरो ध्यायन्मुहु: ष्ठीवन्नरोचकी । सर्वपर्वास्थिहृन्नाभिपायुवंक्षणशूलवान् ।। गुदेन स्रवता पिच्छां पुलाकोदकसन्निभाम् । विबद्धमुक्तं शुष्कार्द्रं पक्वामं चान्तरान्तरा ।। पाण्डु पीतं हरिद्रक्तं पिच्छिलं चोपवेश्यते ।।" (अ० हृ० नि० ७।२०-२७) ।

२. "कीलास्तत्र प्ररोहन्ति सूक्ष्मसर्षपसन्निभा: । यवमुद्गादिनिष्पावकर्कन्धुबदरोपम: ।। शरीरांगुष्ठमात्रा वा ताम्रा गोस्तनसंनिभा: । निरूढास्ते गुदे कीला: स्तम्भयन्ति गुदं भृशम् ।। स्रोतसां गुदमानाहं मूलं बध्नन्ति वाप्यथ । निरोधात् स्रोतसां तेषामूर्ध्वदोषा: समुत्थिता:।। एकैकं दूषयित्वा तु रोगात्कुर्वन्ति चातुरान् ।।" (भेलसंहिता) ।

३. "गुदांकुरा बह्वनिला: शुष्काश्चिमिचिमान्विता: । म्लाना: श्यावारुणा: स्तब्धा विषमा: परुषा: खरा: ।। मिथोविसदृशा वक्रास्तीक्ष्णा: विस्फुटिताननाः । बिम्बीकर्कन्धुखर्जूरकार्पासीफलसन्निभ: ।। केचित्कदम्बपुष्पाभा: केचित्सिद्धार्थकोपमा: । शिर:पार्श्वांसकट्यरुव

यकृत् या जोंक के मुख के समान होते हैं। ये पतले, बीच में जौ की तरह मोटे, मृदु, शिथिल, दुर्गन्धमय और रक्तस्रावी होते हैं। शरीर में दाह, ज्वर, पसीना, प्यास, अरुचि, मूर्च्छा, मोह ('मूर्च्छा मनोमोहः, प्रमूढ़ता इन्द्रियमोहः'—मधुकोश) इत्यादि लक्षण होते हैं। त्वचा-नाखून इत्यादि के रङ्ग हरे-पीले होते हैं। मल पतला, गरम, पीला-लाल, रक्तयुक्त और आम से युक्त होता है।[1]

कफार्श के लक्षण——मस्से बड़े, मोटे, कठिन, फूले हुए, स्निग्ध, स्थिर, भारी, और चिकने होते हैं। रंग इनका सफेद होता है। स्थिर रूप में थोड़ा-थोड़ा दर्द और खाज इनमें बनी रहती है, इसी लिए इन्हें छूने पर सुखकर प्रतीत होती है। इनका परिमाण क़रीर (टेंट), कटहल की गुठली, मुनक्का या गाय के थन के बराबर होता है। इन मस्सों पर श्लेष्मा (Mucus) का स्राव बना रहने से पिच्छिल स्पर्श होता है। इन पर आवरण मज़बूत होने से नहीं फटता, अतःरक्तस्राव नहीं होता। इनके कारण जंघासों में आनाह (खिंचाव 'णह' बन्धने) रहता है और गुदा-बस्ति-नाभि इत्यादि में काटने का सा दर्द होता है। मल बार-बार बड़ी मात्रा में वसा का सा और श्लेष्मा से युक्त आता है। रोगी कास, श्वास, उबकाई, अरुचि, पीनस, मूत्रकृच्छ्र (मस्सों के दबाव के कारण), सिर की जकड़ाहट, शीतज्वर, पुंस्त्वहीनता, अग्निमांद्य, वमन इत्यादि से व्यथित रहता है। उसकी त्वचा-नाखून इत्यादि में लालिमा के स्थान पर सफेदी आ जाती है।[2]

त्रिदोषार्श के लक्षण——व्यापी रूप से तीनों दोषों के लक्षण होते हैं। मस्सों के रंग भी तीनों ही दोषों के कारण चित्रविचित्र होते हैं। मस्सों का आकार सरसों-मूंग-मसूर-उड़द-मोठ-मटर-खजूर-बेर-रत्ती-करीर-गूलर-जामुन-मुनक्का गोस्तन-कसेरू

---

क्षणाभ्यधिकव्यथाः ।। क्षवथूद्गारविष्टम्भहृद्ग्रहारोचकप्रदाः । कासश्वासाग्निवैषम्यकर्णनादभ्रमावहाः ।। तैरार्तो ग्रथितं स्तोकं सशब्दं सप्रवाहिकम् । रुक्फेनपिच्छानुगतं विबद्धमुपवेश्यते ।। कृष्णत्वङ्नखविण्मूत्रनेत्रवक्त्रश्च जायते । गुल्मप्लीहोदराष्ठीलासम्भवस्तत एव च ।।" (अ०हृ०।नि०।७।२८-३३)। और भी देखें—चरक (चि०।१४।११) सुश्रुत (नि०।२।१०।), अष्टांगसंग्रह (नि०।७।१५।) इत्यादि।

१. "पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्तपीतासितप्रभाः । तन्वस्रस्राविणो विस्रास्तनवो मृदवः श्लथाः ।। शुकजिह्वायकृत्खण्डजलौकोवक्त्रसन्निभतः। दाहपाकज्वरस्वेदतृण्मूर्च्छारुचिमोहदाः ।। सोष्माणो द्रवनीलोष्णपीतरक्तामवर्चसः । यवमध्या हरित्पीतहारिद्रत्वङ्नखादयः ।।" (अ०हृ०। नि०।७।३४-३६)।)। और भी देखें—चरक (चि०।१४।१४), सुश्रुत (नि०।२।११), अ० सं० (नि०।७।१६) आदि।

२. श्लेष्मोल्वणा महामूला घना मन्दरुजः सिताः। उच्छूनोपचिताः स्निग्धाः स्तब्धवृत्तगुरुस्थिराः।। पिच्छिलाः स्मिताः श्लक्ष्णाः कण्ड्वाढ्याः स्पर्शनप्रियाः । करीरपनसास्थ्याभास्तथा गोस्तनसन्निभाः ।। वंक्षणानाहिनः पायुबस्तिनाभिविकर्तिनः । सकासश्वासहृल्लासप्रसेकारुचिपीनसाः ।। मेहकृच्छ्रशिरोजाड्यशिशिरज्वरकारिणः । क्लैव्याग्निमार्दवच्छर्दिरामप्रायविकारदाः ।। वसाभसकफप्राज्यपुरीषाः सप्रवाहिकाः । न स्रवन्ति न भिद्यन्ते पाण्डुस्निग्धत्वगादयः ।।" (अ० हृ०। नि०।७।३४-४१)। और भी देखें——चरक (चि०।१४।१७) सुश्रुत (नि०।२।१२), अ०सं० (नि०।७।१७) आदि।

सिंघाड़ों के बराबर होता है।[1]

रक्तार्श के लक्षण--प्रायः पित्तार्श के से ही लक्षण होते हैं। मस्सों का रंग वटांकुर-रत्ती या मूंगे के समान होता है। सख्त मल के कारण लाल-काला सा (अवरोध के कारण) उष्ण रक्त बह निकलता है, फलतः रोगी को बड़ी वेदना होती है और वह चिल्लाता है। अतिरक्तस्राव के कारण शरीर का रंग बरसाती मेंढक की तरह पीला-सफेद (पाण्डु) पड़ जाता है, रोगी के बल-उत्साह-ओज वर्ण तथा प्राणशक्ति का विनाश होजाता है। मल रक्तमय होने से काला, सख्त, थोड़ा और कठिनता से आता है--इसमें रक्त के कारण झाग और लाल रंग भी होता है। अधोवायु की ठीक प्रवृत्ति नहीं होती।[2]

रक्तार्श में वात और कफ के अलग-अलग अनुबन्ध होने पर विशिष्ट लक्षण भी होते हैं।[3]

सहजार्श के लक्षण--मस्से सख्त, अनेक, भयंकर, खुरदरे तथा अन्दर (मलाशय में) होते हैं। इनका रंग अरुण या पाण्डुर होता है। रोगी बहुत क्षीण, फटे बांस के से और कमजोर स्वर वाला, मन्दाग्नि, हीनवीर्य और क्रोधी होता है। सारे शरीर में सिराओं की कुटिलता के विकार यत्र-तत्र (विशेषतः पिण्डलियों में) दीखते हैं। पुंस्त्व-क्षीणता के कारण रोगी की सन्तानें नहीं होतीं या कम होती हैं। सिर-आंख-कान-नाक में विकार होकर इनके कार्य क्षीण होजाते हैं। लाला-स्राव और उबकाई होती हैं।[4]

शुष्कार्श के लक्षण---इन्हें बाह्यार्श भी कहते हैं। वातकफजनित होने से इनमें इन दोनों के लक्षण होते हैं।[5]

शुष्कार्श गुदौष्ठ के बाहर चारों ओर पहिये के आरे की भांति होते हैं। प्रत्येक मस्से के बीच में एक छोटी सी गंठीली सिरा होती है, उसके चारों ओर सौत्रिक तन्तु होते हैं जो त्वचा से ढके रहते

---

सप्रवाहिकाः। न स्रवन्ति न भिद्यन्ते पाण्डु-स्निग्धत्वगादयः।।" (अ० हृ० नि० ७। ३४-४१)। और भी देखें--चरक (चि. १४।१७), सुश्रुत (नि. २।१२), अ. सं. (नि.।७।७।१७) आदि।

१. "निचयात्सर्वलक्षणाः।" (अ०हृ० नि० ७। ४२)। और भी देखें-चरक (चि० १४।१०।), सुश्रुत (नि० २।१४।) भेलसंहिता इत्यादि।

२. "रक्तोल्वणा गुदे कीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः। वटप्ररोहसदृशा गुंजाविद्रुमसन्निभाः।। तेऽत्यर्थं दुष्टमुष्णं च गाढविट्प्रतिपीडिताः। स्रवन्ति सहसा रक्तं तस्य चातिप्रवृत्तितः।। भेकाभः पीड्यते दुःखैः शोणितक्षयसम्भवैः। हीन-वर्णबलोत्साहो हतौजाः कलुषेन्द्रियः। विट् श्यावं कठिनं रूक्षमधोवायुर्न गच्छति। तनु चारुणवर्णं च फेनिलं चासृगर्शसाम्।।" (भाव-प्रकाश। अर्श०।)। और भी देखें--सुश्रुत (नि० २।१३।), अ०हृ० (नि० ७।४३-४५), अ०सं० (नि० ७।१९।) इत्यादि।

३. "कट्यूरुगुदशूलं च दौर्बल्यं यदि चाधिकम्। तत्रानुबन्धो वातस्य हेतुर्यदि च रूक्षणम्।।" शिथिलं श्वेतपीतं च विट् स्निग्धं गुरु शीतलम्। यद्यर्शसां घनं चासृक् तन्तुमत्पाण्डु पिच्छिलम्।। गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरु स्निग्धं च कारणम्। श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां बुधैः।।" (भावप्रकाश) (माधवनिदान)।

४. "अर्शांसि सहजातानि दारुणानि भवन्ति हि। दुर्दर्शनानि पाण्डूनि परुषाण्यरुणानि च।। अन्तर्मुखानि तैरार्तः क्षीणः क्षीणस्वरो भवेत्। क्षीणानलः क्षीणरेताः शिरासन्ततविग्रहः।।

हैं। प्रारम्भिक अवस्थामें ये मृदु रहते हैं और प्रतीत नहीं होते। सख्त कब्ज, वस्त्रादि की रगड़, सीले स्थान पर बैठना कारणों से या तीव्र विरेचन (एलुआ) से जब ये प्रकुपित और शोथयुक्त होते हैं तब रोगी को पीड़ा होती है और चलने-फिरने में कष्ट होता है। शोथ से भीतर की सिरा फूलती है, सौत्रिक तन्तु बढ़ते हैं और त्वचा मोटी हो जाती है। इस तरह बार-बार शोथ होने से अर्श की कठिन गांठें बन जाती हैं। प्रायः सूखे होने के कारण इन्हें शुष्कार्श कहते हैं।

शुष्कार्श का आवरण पहले तो लम्बोत्तर कोषों से बना होता है, पुनः उत्तरोत्तर रोगवृद्धि होने पर चपटे कोषों की कला का आवरण आ जाता है—जिससे ये अर्श कठोर हो जाते हैं और इनमें से रक्तस्रवण नहीं हो पाता। इसी लिए ये शुष्क रहते हैं। इन्हें वातकफोल्बण अर्श भी कहते हैं।[१]

इस शुष्कार्श या बाह्यार्श के दो भेद होते हैं। प्रथम भेद तो आभ्यन्तरार्श से संयुक्त मिलता है, जिसे मिश्रित अर्श कहते हैं। इस भेद के कारण-लक्षण-चिकित्सा आदि आभ्यन्तरार्श जैसे ही हैं। सामान्यतः आभ्यन्तरार्श होने पर गुदप्रणाली का इस आभ्यन्तरार्श से निचला भाग अतिशिथिल और शोफमय होता है। जब कई आभ्यन्तरार्श बाहर निकल आवें तो गुदप्रणाली में उनके बीच स्थित शिथिल और शोफमय श्लेष्मकलाभाग गुद-द्वार से बाहर उलटा मुड़कर उन आभ्यन्तरार्श के मस्सों के चारों ओर एक रबर के छल्ले जैसा गुदगुदा घेरा बना देता है। यही मिश्रित अर्श का रूप है।

शुष्कार्श का द्वितीय भेद अधिक आवश्यक है। गुदद्वार के किनारे पर किसी फूली हुई और रक्त से भरी हुई प्रतिरुद्ध शिरा के फटने से एक बर्तुल रक्तगुल्म सा चारों ओर बन जाता है—जो वास्तव में स्रवित रक्त के जम जाने से बनता है। या फिर गुदा के परिवर्ती प्रदेश की कोई छोटी शिरा रक्त से खूब भर जावे और उसमें रक्त भीतर ही भीतर जम जावे—तब भी मस्सा बन जाता है। दोनों ही अवस्थाओं में स्थानिक रूप से रक्त जम जाता है और परिणामतः शिरा का शोथ भी हो जाता है। अतः इस भेद को रक्तगुल्मसदृश बाह्यार्श[२] कहते हैं।

शुष्कार्श का प्रारम्भ हमेशा ही तीव्र होता है। सख्त परिश्रम या किसी पेशी के उग्र कार्य से उदर में दबाव बढ़कर गुदा में यकायक तीव्र दर्द होता है। तत्काल गुदा में नीलाभ शोथ बन जाता है। यह पहले तो मृदु होता है, फिर शीघ्र ही सख्त और बड़ा ही स्पर्शासह हो जाता है और आकार में टूटे हुए मटर से लेकर बेर जितनी हो जाती है। दर्द की मात्रा प्रायः अतिकष्टप्रद सीमा तक पहुंच जाती है। दो-तीन दिन बाद लक्षण प्रायः घटने लगते हैं और वह शोथ कम होने लगता है। इस क्रम में स्थानिक रूप से बना हुआ खून का थक्का पूर्णतः निलीन या पाचित हो सकता है, परन्तु प्रायः गुदा पर त्वचा से ढका एक सौत्रिक चिन्ह सा रह जाता है। कभी-कभी इस थक्के से ही शिरा में अश्मरी

---

अल्पप्रजः क्रोधशीलो भग्नकांस्यस्वनान्वितः। शिरोदृक्कर्णनासासु रोगी हृल्लेपसेकवान्॥" (भावप्रकाश)। और भी देखें—चरक (चि० १४।७:८१), सुश्रुत (नि० २।१५), अष्टांगसंग्रह (नि० ७।७।) इत्यादि।

५. "हेतुलक्षणसंसर्गाद् विद्याद् द्वन्द्वोल्वणानि तु।" (चि० चि० १४।२०)

१. "वातश्लेष्मोल्वणान्याहुः शुष्काण्यर्शांसि तद्विदः।" (च० चि० १४।३८)।

२. Thrombo-phlebitic-External Piles.

बन जाती है। कभी-कभी इस थक्के की त्वचा में स्वयं ही पोषणाभाव से कोथ होकर वह थक्का बाहर निकल जाता है, और शीघ्र ही जख्म भर जाता है। कभी-कभी थक्के में पूयकृमियों का संक्रमण होकर गुदा का नाडीव्रण या भगन्दर बन जाता है।

शुष्कार्श में वातप्रकोप के कारण अतीव वेदना होती है, विशेषत: मलत्यागकाल में।

परिस्रावी अर्श के लक्षण--स्थिति की दृष्टि से इस भेद को आभ्यन्तरार्श भी कहते हैं। इसमें पित्त और रक्त का प्रकोप प्रधानतया होता है[1]। गुदप्रणाली के ऊर्ध्वभाग और मलाशय के अधोभाग में श्लेष्मकला के पास शिराजाल में इस आभ्यन्तर अर्श का प्रारम्भ होता है।

इस आभ्यन्तर अर्श में मुख्यत: विस्तृत और फूली हुई शिराओं का एक संग्रह होता है, और साथ ही उसमें रक्त लाने वाली एक या अनेक धमनियां भी होती हैं। यह मस्सा एक भी हो सकता है और अनेक भी। कभी-कभी यह मस्सों की अनेकता इतनी अधिक होती है कि निरन्तर छल्ला सा बन जाता है। प्राय: तीन-चार मस्से होते हैं। आठ तक भी सम्भव हैं--बाहर को निकले हुए। अर्श की आवरक श्लेष्मकला में रक्तवृद्धि होती है और प्राय: मल के द्वारा व्रणित होती रहने से इस कला में से रक्तस्राव हुआ करता है। मलोदीरण से ये मस्से बाहर निकलते हैं। पहले तो ये मस्से केवल मलत्यागकाल में बाहर निकलते हैं और फिर तत्काल अन्दर लौट आते हैं; परन्तु बाद में मामूली से दबाव से भी ये मस्से बाहर उभर आते हैं और फलत: इन्हें ठीक स्थान पर पहुंचाना कठिन होता जाता है।

जब आभ्यन्तर अर्श को बाहर रहने दिया जाता है तो पहले तो इन मस्सों में से काफी श्लेष्मस्राव निकलता है, पर बाद में श्लेष्मकला का स्तर दृढ़ हो जाता है। बारबार रक्त जमने और शिराशोथ के आक्रमण होते रहते हैं। मस्से सूजे हुए, शिथिल और वेदनामय हो जाते हैं। उग्र रोगियों में पूयसंक्रमण और कोथ होकर मस्से पूर्णत: विनष्ट हो जाते हैं।

प्रारम्भिक लक्षण, इस अवस्था में रक्तस्राव का होना है। पहले तो कभी-कभी ही मल के पार्श्व पर रक्त की धारी सी लगी हुई होती है और रक्तस्राव भी तीव्र नहीं होता। परन्तु कईयों में प्रत्येक वार के मल के साथ रक्त का पर्याप्त विनाश होता है, जिस से गम्भीर (चिन्तनीय) पाण्डु हो जाता है। इस स्रवित रक्त का रंग चमकीला लाल होता है और कभी-कभी आधपाव ( $\frac{1}{8}$ पाइण्ट ) तक रक्त एक बार में निकल जाता है। जब यह रक्तस्राव अस्थायीरूप में बाहर को उभरे हुए मस्से से होता है तो रक्त पिचकारी की धार की तरह छूटता है, जिससे यह सन्देह हो जाता है कि रक्त धमनी से आ रहा है--पर यह रक्त वस्तुत: शिरा से ही आता है।

द्वितीय लक्षण है, मलत्याग में तीव्र वेदना। मल निकल आने के कुछ देर बाद तक भी यह वेदना बनी रहती है। रोगी को मलत्याग के समय गुदा से किसी उभार के बाहर निकलने तथा उसमें कुछ कष्ट होने से कभी-कभी पहले ही अर्श होने का ज्ञान हो जाया करता है। जब मस्सा शोथयुक्त हो जाता है या गुदसंकोचनी पेशी में फंस जाता है तो तीव्र वेदना और कष्ट अनुभव होते हैं और रोगी कई दिनों तक बिस्तर पर पड़े रहने के लिए

---

१. "प्रस्रावीणि तथार्द्राणि रक्तपित्तोल्वणानि च।।" (च० चि० १४।३८।)।

बाधित हो सकता है। यह वेदना अन्य अंगों में भी प्रतिक्षिप्त होकर अनुभूत होती है, यथा—अण्ड, मूत्राशय आदि में।

यदि मस्सों को बाहर ही निकला रहने दें तो श्लेष्मा का स्राव होता है, जिसमें मस्से की आवरक क्षोभित श्लेष्मकला से रक्त भी आजाता है। यदि रक्त जम जावे और शिराशोथ हो जावे तो प्रायः तीव्र वेदना होती है और ज्वर तथा अन्य व्यापी लक्षण भी हो जाते हैं।

तृतीय लक्षण है, मलबन्ध। यह प्रायः सदा ही अर्श के साथ हुआ करता है। इसका कारण कुछ तो दबाव सम्बन्धी प्रतिरोध होता है और कुछ मलत्याग में होने वाला दर्द। इस मलबन्ध से अर्श में पुनः उग्रता बढ़ जाती है और इस प्रकार एक अन्योन्याश्रय दुष्टचक्र बन जाता है।

उग्र रोगियों में व्यापी लक्षण (क्षीणता, क्षुब्धावस्था, दुःखोपचारता, शिरःशूल, भ्रम, पाण्डु आदि) भी हो जाते हैं।

पहले तो इस आभ्यन्तरार्श का पता नहीं चलता, जबतक कि रक्तस्राव न हो। परन्तु गुदा में भार और गुरुता की प्रतीति सामान्यतया होती है, जिसके साथ साथ दर्द भी होता है। यह दर्द मलत्याग से पहले और बाद में बढ़ जाता है। रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कोई शल्य-पदार्थ गुदा में है और यह मस्सा बहुधा बाहर उभर आता है, जिसके गुदसंकोचनी पेशी में फंस जाने से तीव्र वेदना होती है। इस फंसाहट के कारण मस्से में कोथ होकर पूय बन जाती है और ज्वर सदृश व्यापी लक्षण भी हो जाते हैं। यदि यह फंसाव न भी हो तो भी मस्से में रक्त का जमाव, शिराशोथ गुदा के चारों ओर पूय ये लक्षण हो जाते हैं। इन बाहर निकले मस्सों को रोगी भीतर स्थापित कर भी लेता है। इसके बाद रक्तस्राव अवश्य शुरू हो जाता है। पहले तो यह रक्तस्राव मलत्याग के बाद और कुछ बूंदोंके रूप में ही होता है, पर कुछ समय बाद अतिरक्त होकर तीव्र पाण्डु हो जाता है। तब भी चिकित्सा न हो तो दर्द और कष्ट तीव्र हो जाता है, रक्तमिश्रित श्लेष्मा (आम) मलाशय से निकलने लगता है, व्यापी क्षोभ-दर्द और रक्तस्राव के कारण रोगी अति दीन-क्षीण हो जाता है।

यदि यकृत्काठिन्य द्वारा प्रतिहारिणी सिरावरोध होकर अर्श पैदा हो तो रक्तस्राव से लाभ होता है और तब इसे सदा ही बन्द नहीं कर देना चाहिए, अन्यथा पुनः यकृत् में रक्तवृद्धि संन्यासरोग आदि उपद्रव खड़े हो जाते हैं।

मलाशय में से निकलने वाले श्लेष्मस्राव से गुदा के चारों ओर की त्वचा भीगी रहती है, अतः प्रायः गुदा के चारों ओर स्थिर क्षोभ बना रहता है।

इस परिस्रावी अर्श में स्थानिक वेदना के कारण मलावरोध, विष्टम्भ, आटोप, मन्दाग्नि, डकार, गुदपरिकर्तन सदृश लक्षण होते हैं। मलावरोध से आंत में मल सड़कर विष बनते हैं जो सारे शरीर में फैलते हैं और फलतः कमजोरी इन्द्रियदौर्बल्य, तन्द्रा आदि लक्षण होते हैं। रक्तस्राव से पाण्डु, श्वास, थकावट आदि लक्षण होते हैं। रक्तातिस्राव से शीताद व्याधि ( Scurvy ) के लक्षण भी पैदा हो जाते हैं।

आभ्यन्तरार्श का आकार बढ़ने पर आंत में भार और दाह की प्रतीति होती है, मूत्रत्याग की बार-बार इच्छा होती है, मल रंजित होकर आता है, कभी-कभी मूत्रत्याग में अशक्ति होती है, रात में दर्द होता है तथा स्त्रियों में श्वेतप्रदर हो जाता है।

इन स्थानीय लक्षणों के अलावा कभी-कभी

अन्यत्र भी लक्षण होते हैं। यथा––समीपस्थ शिरा जालों (मूत्राशय, अष्ठीलाग्रन्थि, त्रिक आदि के शिराजालों) में भी ये लक्षण होने लगते हैं। कईयों में त्रिकप्रदेश में दर्दें होती हैं और मूत्रत्याग में विकार होते हैं। स्त्रियों में योनि का क्षोभ, मासिक-धर्म के विकार आदि होते हैं। स्थूलता, जीर्ण आमाशयान्त्रक्षोभ, व्यापी नाडीदौर्बल्य आदि लक्षण भी प्रायः ऊपर से आ मिलते हैं; अतः अर्श एक शरीरव्यापी रोग बन जाता है।

## परिणाम और उपद्रव

किसी मस्से में रक्त जम सकता है। इसके साथ ही प्रायः मस्से का संक्रमण भी मिला होता है जिससे वहां एक विद्रधि बन जाती है। यह विद्रधि आंत के भीतर ही फूटकर स्रवित हो जाती है। कइयों में यह विद्रधि गहराई में बढ़ती जाती है और गुदनाडी या भगन्दर बन जाता है। थोड़े से रोगियों में बस्तिप्रदेश की शिराशोथ के साथ-साथ पाकप्रक्रिया भी हो कर उपद्रव रूप में व्यापी पूयसंचार हो जाता है। जहां तीव्र संक्रमण नहीं होता तो जमे रक्त वाला मस्सा सौत्रिकतन्तुमय बन जाता है और फलतः मलाशय का सौत्रिक चर्मकील ( Polyp ) बन जाता है। गुदसंकोचनी पेशियों में फंस जाने से मस्सा बाहर उभरा रह जाता है और उसे स्वस्थान में लौटाना सम्भव नहीं रह जाता––फलतः वह मस्सा अति स्पर्शासह, तना हुआ, सूजा हुआ और नीला सा हो जाता है; उसमें शोथ के बाद व्रण बनता है और वह सड़ जाता है, इसके बाद एक दम आराम भी हो जाता है।

वाग्भट के अनुसार 'उदावर्त' नामक दुःसाध्य परिणाम अतिरक्तस्राव और वातप्रकोप के कारण हो जाता है[१]। इसके अतिरिक्त तीव्र पाण्डुरोग और श्वेतप्रदर भी इसके परिणाम हैं। चरक ने बद्धगुद का भी वर्णन किया है[२]।

## साध्यासाध्य

यह रोग प्रायः इतना खतरनाक तो नहीं होता, पर तकलीफदेह ज़रूर होता है। इस तकलीफ और कष्ट के कारण मुख्यतः तीन होते हैं––रक्त का लगातार नष्ट होते जाना, मस्से में पुनः-पुनः शोथ और रक्त जमने के आक्रमण होने की प्रवृत्ति और तीसरे तज्जनित वेदना।

सामान्यतः यदि यह रोग सहज या त्रिदोषज हो, आभ्यन्तर वलि में हो तो असाध्य होगा। किन्तु यदि रोगी की अग्नि और बल स्वस्थ हों और चिकित्सक-परिचारक तथा भेषज भी उत्तम हों तो यह रोग याप्य होगा, बशर्ते कि आयु शेष हो। अन्यथा यह रोग अप्रतिकार्य है। यदि यह रोग द्विदोषज हो,

---

१. "मुद्गकोद्रवजूर्णाह्वकरीरचणकादिभिः। रूक्षैः संग्राहिभिर्वायुः स्वेस्थाने कुपितो बली ॥ अधोवहानि स्रोतांसि संरुध्याधः प्रशोषयन्। पुरीषं वातविण्मूत्रसंगं कुर्वीत दारुणम् ॥ तेन तीव्रा रुजा कोष्ठपृष्ठहृत्पार्श्वगा भवेत्। आध्मानमुदरावेष्टो हृल्लासः परिकर्तनम् ॥ बस्तौ च सुतरां शूलं गण्डश्वयथुसम्भवः। पवनस्योर्ध्वगामित्वं ततश्छर्द्यरुचिज्वराः ॥ हृद्रोगग्रहणीदोषमूत्रसंगप्रवाहिकाः। बाधिर्यतिमिरश्वासशिरोरुक्कासपीनसाः ॥ मनोविकारस्तृष्णास्रपित्तगुल्मोदरायः। ते ते च वातजा रोगा जायन्ते भृशदारुणाः ॥ दुर्नाम्नामित्युदावर्तः परमोऽयमुपद्रवः। वाताभिभूतकोष्ठानां तैर्विनाऽपि स जायते ॥" (अ०हृ० नि० ७। ४६-५२)। और भी देखें––अष्टांगसंग्रह (नि० ७।२०-२६)।

२. "तेषां प्रशमने यत्नमाशु कुर्याद्विचक्षणः। तान्याशु हि गुदं बद्ध्वा कुर्युर्बद्धगुदोदरम् ॥" (च०चि० १४।३२)

द्वितीय गुदवलि में स्थित हो, एक साल का हो तो कृच्छ्रसाध्य होगा। यदि यह रोग एकदोषज हो और बाह्य गुदवलि में स्थित हो और नया ही हो तो सुखसाध्य होगा१।

जिस अर्शोरोगी के हाथ-पैर-मुख-नाभि-गुदा और वृषण में शोथ हो और हृदयप्रदेश में तथा पसवाड़ों में दर्द हो तो वह असाध्य होगा। मोह (--इन्द्रियासंवित्ति, 'मुह वैचित्त्ये') हो, वमन होती हो, सर्वांगशूल और ज्वर हो, प्यास बहुत लगे, गुदा में शोथ-पाक बहुत हों तो वह रोगी सर्वथा असाध्य होगा२।

### निदान और परीक्षा

पड़ोस की अन्य शोथों से गुदजार्श का निदान करना कठिन नहीं है। इसके लिए रोगी के बताये हुए इतिवृत्त मात्र पर ही भरोसा नहीं करना चाहिए। पूरी परीक्षा करनी ज़रूरी है। गुदा के चारों ओर सामान्य चर्मकील हों या फिरंगजन्य गुद-शूक (मांसकील, Condylomata) हों तो उन्हें भी सामान्यतः भ्रम से अर्श ही समझ लिया जा सकता है। फिर अर्श के साथ अन्य भी कई हालतें मिली हुई हो सकती हैं, यथा--गुदनाडी, भगन्दर, त्वचा के मस्से आदि। और यदि हलकी ही परीक्षा करें तो इन सब में भी भ्रम हो सकता है। यह एक स्मरणीय तत्व है कि यदि आभ्यन्तरार्श सूजे और सूत्रायित (Fibrosed) न हों तो शीघ्र ही स्पर्शन से पहचान नहीं लिए जा सकते। यदि वे जोर मारने पर भी बाहर न निकलें तो अर्शोयन्त्र (गुदयन्त्र) से इस आभ्यन्तरार्श के प्रदेश को अच्छी तरह से देख लेना चाहिए।

मलाशय की परीक्षा प्रायः अंगुली द्वारा की जाती है। तर्जनी अंगुली पर रबर का बना हुआ अंगुलित्राणक (Fingerstall) पहन लिया जाता है। रोगी को दाईं करवट पर लिटा कर परीक्षा की जाती है। तर्जनी पर कुछ स्निग्ध पदार्थ (घृत आदि) लगाकर धीरे-धीरे उसे गुदा में प्रविष्ट किया जाता है। कई रोगियों को देखने से तर्जनी की स्पर्शशक्ति को ऐसा अभ्यास हो सकता है कि आभ्यान्तरार्श का स्पर्श अनुभव हो सके। ये अर्श कुछ लम्बोदर, मखमली मस्सों के रूप में होते हैं, जिनके मध्यावकाश में प्रणालियां रहती हैं और जिनके द्वारा ये एक दूसरे से पृथक् होते हैं।

मिश्रित अर्श के बाहर उभरे हुए मस्सों के चारों ओर शिथिल और शोथमय श्लेष्मकला से बना हुआ मखमली छल्ला भी बाहर को निकला रहता है।

बाह्यार्श अनियमित होते हैं। इनकी सूजन गोल, श्लक्ष्ण और छल्लेदार नहीं होती।

त्वचा के मस्सों या चर्मकीलों--तिलकालकों

---

१. "सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां वलिम्। जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ।। शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्विते। याप्यन्ते दीप्तकायाग्नेः प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा ।। द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च। कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ।। बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्वणानि च। अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ।।" (च० चि० १४।२८-३१)। और भी देखें-सुश्रुत (नि०२।१६।), अष्टांगहृदय (नि०।७।५३-५५।), अष्टांगसंग्रह (नि० ७।२७-२९।), भावप्रकाश, माधवनिदान इत्यादि।

२. "हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा। शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः ।। निहन्युर्गुदजातुरम् ।।" (च० चि० १४।२६-२७)।

( Polypi ) से अर्श का विभेद यह है कि अर्श के मस्से इकले न होकर अनेक (multiple) होते हैं, मृदुतर और पीडनीयतर (more small 'c'ompressible) होते हैं, गुदा के समीप होते हैं, वृन्त (pedicle) रहित होते हैं और उन गुदजार्श में रक्तस्राव बहुत स्पष्ट होता है।

गुदा की त्वचा फटकर रक्तस्राव होने की अवस्था को गुदभेद कहते हैं। इससे अर्श का विभेद यह है कि अर्श में शिरा फूली होती है, मलविसर्जन-काल में सामान्य पीड़ा होती है और फिर पीड़ा नहीं रहती, तथा मस्से फटने पर अधिक रक्त गिरता है। गुदभेद में शिरा नहीं फूली होती—केवल त्वचा फटती है; मलत्याग में और बाद में अतिपीड़ा घण्टों तक बनी रहती है; कुछ रक्त मल पर रेखारूप में लगा हुआ निकलता है; तथा मल निकलने के बाद भी रक्त की दो-चार बूंदें टपकती हैं।

गुदभ्रंश से विभेद यह है कि गुदभ्रंश का मांस मुलायम और वर्तुलाकृति होता है, परन्तु अर्श में मस्से ऊंचे-नीचे सब गुदा पर फैले हुए होते हैं।

फिरंगज गुदशूक में फिरंग का इतिवृत्त मिलता है; ये गुदशूक गुदा से कुछ दूर दोनों ओर होते हैं। अर्श गुदा के पास रहता है।

अर्श के अलावा अन्य कारणों से भी गुदा के द्वारा रक्त आ सकता है। अर्श में यह रक्त लाल चमकीले रंग का होता है और मल पर चढ़ा होता है। परन्तु यदि रक्त आन्त्रप्रणाली में अधिक ऊपर से आता है तो कृष्णाभ, गाढ़ा और चिपचिपा होता है और मल के साथ खूब रला-मिला होता है।

रक्त के वास्तविक कारण को जानने के लिए अंगुलि या अर्शोयन्त्र द्वारा परीक्षा करनी चाहिए। अर्शोयन्त्र चार अंगुल लम्बा, पांच अंगुल परिणाह (परिधि) वाला होता है। स्त्रियों के लिए छह अंगुल परिणाह का। द्विच्छिद्र होता है। गुदा को प्रकाश की तरफ रखते हुए रोगी को लिटाकर इससे परीक्षा करें।[1]

निदान में शारीरिक अवस्था का भी निरीक्षण करना चाहिये। हृदयनैर्बल्य के लक्षण ढूंढें, क्योंकि तब हृदय की आचूषणशक्ति क्षीण होने के कारण गुदान्तिका (अधरा) शिराओं में रक्त सदा बना रहकर ही अर्शोरोग होता है। पेट में यदि यकृत्काठिन्य के लक्षण मिलें तो झट यह परिणाम निकाल सकेंगे कि अर्श की ठीक चिकित्सा न हो सकेगी क्योंकि यकृत्काठिन्य असाध्य होता। अतः पेट भी अच्छी तरह देखना चाहिये। ध्यान से देखें कि गुदा के चारों ओर तो कोई विकार नहीं है।

## चिकित्सा[2]

अर्शोरोग की चिकित्सा को तीन शाखाओं में

---

१. "तत्र (अर्शो) यन्त्रं लौहं दान्तं शार्ङ्गं वार्क्षं वा गोस्तनाकारं चतुरंगुलायत पचांगुलपरिणाहं पुंसां षडंगुलपरिणाहं नारीणां तलायतं तद् द्विच्छिद्रं दर्शनार्थमेकं छिद्रमेकं छिद्रन्तु कर्मणि। एकद्वारे हि शस्त्रक्षारा ग्नीनामतिक्रमो न भवति। छिद्रप्रमाणन्तु त्र्यंगुलायतमंगुष्ठोदर-परिणाहं यदंगुलमवशिष्टं तस्यार्धांगुलमधस्ता-दर्धांगुलोच्छ्रितोपरि वृत्तकर्णिकमेष यन्त्राकृति-समासः।" (सु०चि० ६।८)। और भी देखें--भावप्रकाश इत्यादि। अर्शोयन्त्र को कह सकते हैं।

२ तीस से अधिक बृहद् ग्रन्थों के आधार पर यह चिकित्सा लिखी गई है, परन्तु स्थानाभाव के कारण बहुत संक्षेप में इसे यहां दिया जा रहा है और निर्देश ( References ) भी नहीं दिये जा रहे। चिकित्सा को और भी संक्षेप में समझने के लिए साथ की तालिका देखें।

बांटा जा सकता है, जैसा कि संलग्न तालिका से स्पष्ट है। वे तीन शाखायें ये हैं--आहाराचार, मुख्य चिकित्सा और उपद्रवों की चिकित्सा। मुख्य चिकित्सा भी भेषज, क्षार, अग्नि और शस्त्र में बंटकर अन्ततः व्यापी और स्थानीय इन्हीं दो भागों में सीमित हो जाती हैं। हम प्रत्येक शाखा का अलग-अलग संक्षेप में वर्णन करेंगे।
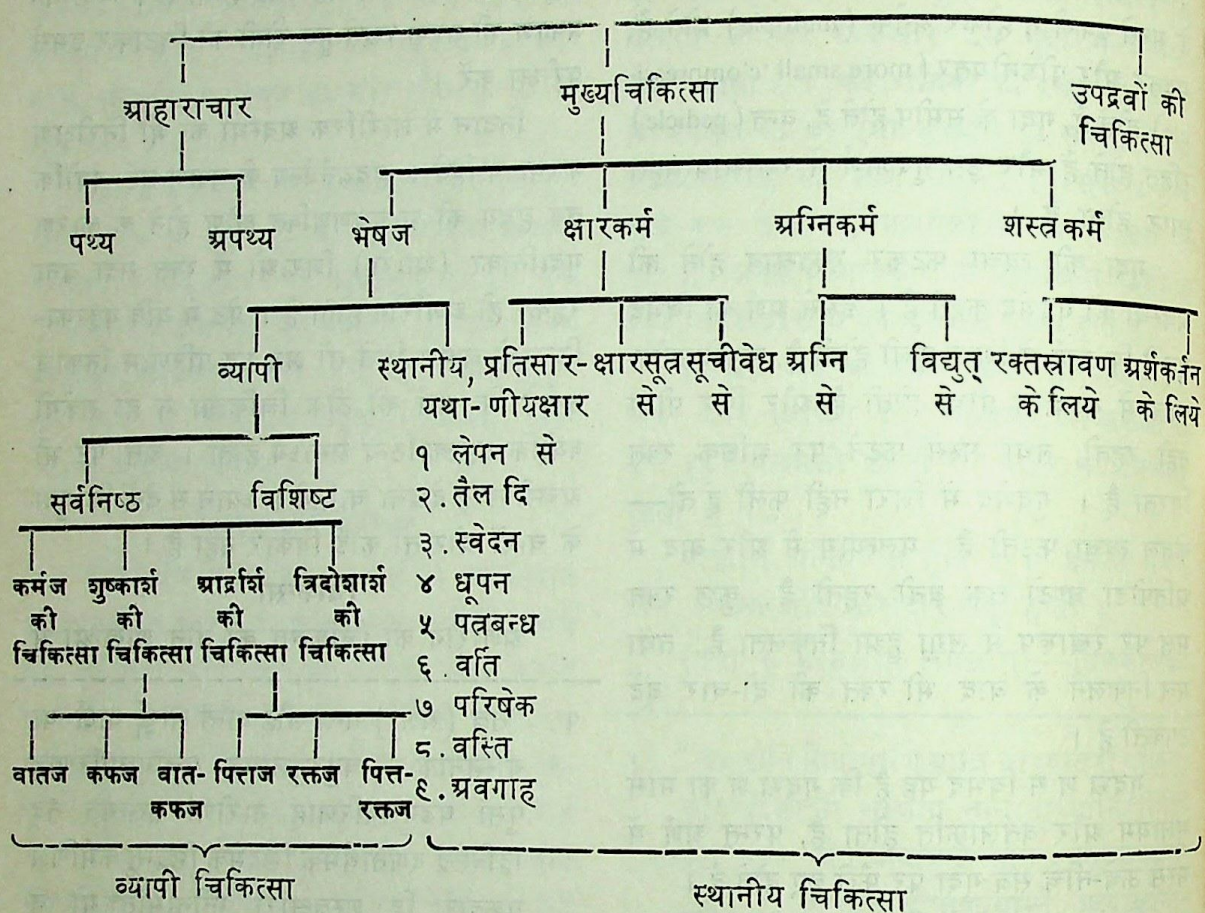
## आहाराचार

इसका अर्थ है, पथ्यापथ्य का विधान; और प्रयोजन है,अर्श को उग्र न होने देना। इस विधान के द्वारा ही कभी-कभी हलके रोगियों में अर्श के लक्षण शान्त हो जाते हैं। वास्तव में, इस रोग में, बड़ी-बड़ी उपयोगी औषधियों से भी उतना लाभ नहीं होता, जितना आहाराचार में ठीक-ठीक नियन्त्रण से।

पथ्य--अर्शोरोग वास्तव में मलबन्ध और अग्निमांद्य से हुआ करता है, अतः इन दोनों को ठीक करने वाले आहार-विहार-ओषधि आदि का ही सेवन करना चाहिये (च०।चि।१४।२४३,४४, २४६।)। मल-शोधक द्रव्यों के द्वारा मलाशय में स्थित मल के निकल जाने के कारण अर्शरोग भी ठीक हो जाता है (अ०हृ० चि० ८।५६,८७।)। एतदर्थ भोजन लघु, सुपच, सादा और थोड़ा होना चाहिये। वनस्पतियों और अनुलोमक फलों (पका पपीता, बिल्व, नारिकेलजल) आदि की बहुतायत होनी चाहिए। इस दृष्टि से अन्नों में पुराने लाल शालि चावल, सांठी के चावल, गेहूं,

जौ और कुलथी उत्तम हैं। इन्हें बकरी के दूध से या नीम के अथवा परवल के रसे के साथ खाना चाहिए। पहले खूब घी मिला लेना चाहिए। अथवा परवल, लहसुन, चित्रक, पुनर्नवा, ज़िमींकन्द (अर्शोघ्न), बथुआ, बैंगन, चौलाई, जीवन्ती, पोई, मेथी, छोटी कच्ची मूली, पालक, पियासाल, जूट, मटर आदि के शाकों से खाना चाहिए। इनके अतिरिक्त नींबू, सोंठ, हरड़, मक्खन, शीतलचीनी, आंवला, काला नमक, कैथ, ऊंट का मूत्र-घी तथा दूध, भिलावा, सरसों का तेल, गोमूत्र, कांजी अन्य भी अनुलोमक और अग्निदीपक अन्नादि का सेवन करना चाहिये। बकरी का दूध उत्तम है। तक्र तो एकदम रामबाण है। इससे दोनों ही प्रयोजन सिद्ध होते हैं। क्योंकि अन्नप्रणाली इस तक्र से सर्वथा शुद्ध होकर अन्न का यथावत् परिपाक और सात्म्यीभाव होता है और फलतः अर्श आदि रोग निवृत्त हो जाते हैं (भ०व०)। इसके अतिरिक्त सैन्धव, हींग, कालीमिर्च, दोनों कण्टकारी, वचा, नया गूलर भी उत्तम हैं (वसव०)। सोहांजने और कसौंदीं का शाक भी हितकारी होता है (वसव०)। यदि रक्तस्राव अधिक होता हो, तो खील की पेया का सेवन करना चाहिए (चक्र०), तथा कसूम का शाक खाना चाहिए (रसरत्नसमुच्चय)। रक्तार्श में मटर, मूंग, अरहर, मसूर के कुछ खट्टे रसे के साथ, उबले दूध के साथ तथा अन्य रक्तस्तम्भक पदार्थों के साथ शालि चावलों का, सावां धान्य का या कोद्रव (कोदों) का भात खाना चाहिए। खीलों की पेया को चांगेरी, नागकेसर, नीलकमल से या बला और पृश्निपर्णी से साधित कर लेना चाहिए (चरक)। अथवा नेत्रबाला, बेलगिरी, सोंठ के क्वाथ से साधित, मक्खनयुक्त और अनारदाने से या अनार के रस आदि से खट्टी की हुई पेया अच्छी है। या फिर गाजर से साधित और घी तथा तेल मिली पेया पीनी चाहिए। प्याज़ रक्तार्श में अत्युत्तम है। प्याज़ का शाक तक्र डालकर या पोई का शाक बेर का रस डालकर लेना चाहिए। (चरक)।

नियमित जीवन और व्यायाम अत्यावश्यक है। संयम द्वारा बल की रक्षा भी करनी चाहिए।

मलबन्ध दूर करने के लिए मामूली दवाई भी ली जा सकती है। गुलकन्द, हरड़ का मुरब्बा, मधुयष्टयादिचूर्ण, सनाय का मुरब्बा, त्रिवृच्चूर्ण, ईसबगोल रात को लिए जा सकते हैं। इनके साथ कुछ रसपुष्प (कैनोमल) भी मिलाया जा सकता है। प्रतिदिन प्रातः गुड़हरीतकी का सेवन उत्तम है। एतदर्थ बस्ति भी ले सकते हैं, पर सावधानी से बरतें ताकि बस्तिनेत्र की रगड़ गुदा में न लगे। मलत्याग के बाद फिटकरी के पानी से या बिन्दालडोडे (देवदाली) के कषाय से शौच करना चाहिए, खास तौर पर अतिरक्तस्राव होने की अवस्था में।

मस्से में बहुत दर्द, शोथ या रक्तस्राव हो या वह गुदा से बहुत बाहर निकल आवे तो पूर्ण विश्राम करें। मलत्याग के ठीक बाद यदि मस्सा बाहर निकल आवे तो लेट जावें और धीरे-धीरे उसे अन्दर डाल दें।

अपथ्य—उपर्युक्त से भिन्न सभी कुछ अपथ्य है। शराब, मांस, पर्युषित अन्न, वेगविधारण, मैथुन, घोड़े-बाइसिकल आदि की सवारी, उकड़ू-आसन, दोषप्रकोपक आहार-विहारादि सब हेय हैं। मसाले, अतिभोजन अध्यशन, अजीर्ण-विदाहि-अभिष्यन्दि भोजन, आदि निदानोक्त आहार-विहार का परित्याग करें। तिलकुट, दही, पीठी, उड़द, करीर, सेम, बिल्व, घीया, पका आम, पोई शाक, शीतल जल, गुरु भोजन का भी अवस्थानुसार परिहार करना उचित है।

इस रोग में पथ्यापथ्य की दृष्टि से मीठे-खट्टे, शीतवीर्य-उष्णवीर्य आदि का व्यत्यास से (Alternately) सेवन करने से भी लाभ होता है (चरक वाग्भट)।

### मुख्य चिकित्सा

इसका अर्थ है, अर्शोरोग की मुख्य और वास्तविक चिकित्सा। इसके चार अंग हैं--भेषज, क्षार, अग्नि, शस्त्र।

भेषज का अर्थ है, ओषधियों के द्वारा की जाने वाली चिकित्सा। इसके दो अंग हैं--व्यापी और स्थानीय। व्यापी भेषज के पुनः दो उपांग हैं--सर्वनिष्ठ और विशिष्ट। हम पहले सर्वनिष्ठ व्यापी भेषज का प्रकरण प्रारम्भ करेंगे।

### सर्वनिष्ठ व्यापी भेषज

इसका अर्थ है, अर्शोरोग के सभी भेदों (प्रकारों) की एक सामान्य चिकित्सा। इसके तीन प्रयोजन हैं--मल और वात के विबन्ध को दूर करना, अग्नि और बल को बढ़ाना और अर्श की शोथ को घटाना। एतदर्थ अनेक प्रकार के चूर्ण, कषाय, अवलेह, आसवारिष्ट, रस दिये जाते हैं। ज़मींकन्द (अर्शोघ्न), कुटज और भिलावा इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। कुटजबिल्व-चित्रक-सोंठ-अतीस-हरड़-धमासा-दारुहलदी-वचा-चव्य ये सब अपने प्रभाव से अर्शोहर हैं। इनके अतिरिक्त सर्जक्षार, तेजबल, और सफेद सरसों भी 'अर्शोघ्न' कहाते हैं। इस प्रकरण में हम कुछ मुख्य-मुख्य तथा सरल योग देंगे। भेषजसेवन चार मास तक लगातार अवश्य करना चाहिए (वसवराजीय)।

यदि यह रोग नया हो, इसके आरम्भक दोष-लक्षण और उपद्रव कम हों, और मस्से अभी ठीक प्रकट न होने के कारण अदृश्य हों तभी भेषज विधान करते हैं (सुश्रुत)। क्षार-अग्नि और शस्त्र के द्वारा अर्श की चिकित्सा करने पर ज़रा सी गलती से पुंस्त्वोपघात, गुदा में शोथ, अतिवेदना, अतिरक्त-स्राव, पुनर्विरोह, व्रणबन्ध, गुदभ्रंश, उपद्रव यहां तक कि मृत्यु भी होने की सम्भावना बहुत रहती है, अतः इस दृष्टि से ओषधिचिकित्सा ही अधिक अच्छी है। (चरक)।

प्रतिदिन प्रातः गुड और हरीतकी (समभाग) को २-३ माशे की मात्रा में लें। यद्वा, ३५ सेर गोमूत्र में १०० हरड़ों को पकाकर २-३ माशे की मात्रा में इसका चूर्ण प्रातःकाल मधु के साथ लें। चिरचिटे की जड़ या शतावर की जड़ का चूर्ण चावलों के पानी या बकरी के दूध के साथ लें। गुड, सोंठ पाठा को अनार के रस से खट्टा करके लें या अजवायन, सोंठ, पाठा, गुड़, अनार का रस, सैन्धव को तक्र के साथ लें। पाठा को धमासा, बेलगिरी, अजवायन, सोंठ, इन में से किसी एक के साथ या सब के साथ मिलाकर लें। यद्वा, भोजन से पूर्व करंज के कोमल पत्तों को घी और तेल में भूनकर सत्तू के साथ मिला कर लें। त्रिवृत् और जमालगोटे के चूर्ण के साथ गुड़ मिलाकर भी ले सकते हैं इन सब से मलशुद्धि होती है। इनके अतिरिक्त त्रिफला चूर्ण, मधुयष्टयादिचूर्ण, नाराच-घृत (भैषज्य०), एरण्डतैल, गुलकन्द, सनाय के पत्तों या हरड का मुरब्बा भी उत्तम है। लिक्विड पैराफीन कई लोग देते हैं, पर उससे गुदवलियों में आध्मान हो जाता है।

अग्नि और बल को बढ़ाने के लिए दीपक-पाचक-उत्तेजक योग बरते जाते हैं। इसके लिए सबसे सादी और अच्छी चीज़ तक्र है। इसे अन्य औषधियों के साथ मिलाकर भी लिया जा सकता है। भिलावे का चूर्ण २ तोला, सत्तू ६ तोला और तक्र ६।। छटांक लेकर घोलकर पी लें। या घड़े में अन्दर घी लगाकर चित्रक की जड़ के कल्क से अन्दर प्रलेप करके तक्र डाल दें और यही तक्र पीने में लावें। चित्रक के बजाय भारंगी, अजवायन, आंवले

या गिलोय के कल्क से भी घड़े में लेप करके तक्र डालकर पी सकते हैं। पिप्पली-पिप्पलीमूल-चव्य चित्रक-विडंग-सोंठ-हरड़ के साथ तक्र का ही सेवन करें, १ मास तक, अन्य भोजन न करें। और बांदे की जड़ के कल्क साथ भी तक्र लेना हितकर है। शाम के समय खील और सत्तू को तक्र के साथ लेह सा बना लें। भात या अन्य जो भी भोजन करें उसके साथ तक्र अवश्य लें। चित्रक-हाउबेर-हींग के साथ मिलाकर तक्र को लें। हाउबेर-काला जीरा-धनिया-श्वेतजीरा-छोटी जीरी-कचूर पीपलीमूल-चित्रक-गज-पीपली-अजवायन इनके समभाग मिश्रित चूर्ण में तक्र मिलाकर घी से भावित घड़े में डालदें; खट्टा होने पर इस तक्रारिष्ट को भोजन के आदि मध्य अन्त में प्यास लगने पर पीयें। यह तक्र अत्यन्त पाचक होता है, अतः जठराग्नि को खूब बढ़ा देता है। यह तक्र धीरे-धीरे बढ़ानी या घटानी चाहिये। यह तक्र कल्प है।

अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए अन्य अनेक योग दिये जाते हैं। सोंठ, पुनर्नवा चित्रक के क्वाथ से साधित दूध पीवें। कुटज की जड़ की छाल की घनक्रिया में पिप्पली इत्यादि पाचक दीपक पदार्थों का प्रक्षेप डाल कर मधु के साथ चाटें; साथ में हिंग्वादि चूर्ण भी लें और तक्र या दूध का ही आहार करें। पाटला-अपामार्ग कण्टकारी और ढाक की लकड़ियों की स्वच्छराख पानी में घोल सुखाकर इस चूर्ण को घी के साथ चाटें; अन्य भी करंज इत्यादि के क्षार अलग या चित्रक-करंज-सोंठ के कल्क के साथ लें। प्रतिदिन प्रातःकाल तिलों को गुड़ के साथ मिलाकर १ छटांक की मात्रा में खाकर ठण्डा पानी पीवें। १२ सेर करंज छाल को ३६ सेर जल में क्वाथ करें, चौथाई रहने पर ८ सेर गुड़ और ३ पाव त्रिकटु चूर्ण को डाल कर १ मास तक पड़ा रहने दें, इस करंजशुक्त का यथाकाल भोजन के बाद सेवन करें पेय के रूप में। इसी प्रकार करंज का चुक्र (अ०हृदय) भी बनाकर सेवन करें। घी में भुनी हरड़ को गुड़ और पिप्पली के साथ लें। तिल, भिलावा, हरड़ और गुड़ को समभाग में लें। २ माशे से ४ माशे की मात्रा में। सोंठ ७ भाग, पिप्पली ६ भाग, काली मिर्च ५ भाग, नागकेसर ४ भाग, तेजपात ३ भाग, दालचीनी २ भाग, छोटी इलायची १ भाग, मिश्री या चीनी २८ भाग--इस चूर्ण को लें, यह समशर्कर चूर्ण है। त्रिकटु तथा ढाक से साधित दूध लें अथवा पलाशक्षार और त्रिकटु से साधित घृत प्रतिदिन१ तोला की मात्रा में सेवन करें (गरुडपुराण १८६।११।। अग्निपुराण २८५।५०)। जूही-चित्रक-हलदी-त्रिकटु इनके साथ तक्र सेवन करें (अग्नि०।२८२! १४)। हरीतकी को सोंठ या गुड या सेंधा नमक याशर्करा और पीपली के साथ सेवन करें (गरुड०१७०।२२।। १८४।२)। गिलोय पीपली-घी में भुनी हरड़ और त्रिवृत् का चूर्ण इन्हें मिलाकर मात्रा में लें ( गरुड०।१७०।२० )। अग्नि और बल को बढ़ाने के लिए अनेक योग प्रसिद्ध हैं। भैषज्य-रत्नावली के अगस्तिमोदक, माणिभद्रमोदक, विजय-चूर्ण, जातिफलादि वटी, और शिलागन्धकवटिका; चक्रदत्त का नागार्जुनयोग (गरम पानी से); भावप्रकाश के शूरणमोदक और शंकरलौह में से किसी को अवस्थानुसार बरता जा सकता है। वसन्तकुसुमाकररस, स्वर्णवसन्तमालती भी आंशिक रूप में उपयोगी हो सकते हैं।

मस्सों की शोथ को घटाने के लिए शोथहर (विशेषतया अन्तःशोथहर) द्रव्य बरतने चाहियें। भिलावा इस दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है (हृदय)। अतः इसके योग देने चाहियें। आभ्यन्तर शोथ को दूर करने के लिए शिलाजतु और गुग्गुलु के प्रयोग से बहुत सफलता मिलती है। इन दोनों का सर्वो-त्कृष्ट योग चन्द्रप्रभावटी (भैषज्य०) है। इस वटी

में लोह इत्यादि होने से अग्नि और बल को बढ़ाने में भी बड़ी सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, कुटज-बिल्व-चित्रक-सोंठ-अतीस-हरड़-धमासा-दारुहलदी-वचा - चव्य ये दस द्रव्य अपने प्रभाव से ही अर्शोहर होते हैं। अतः इनके योग इस रोग में उपयोगी होते हैं। अन्य भी अनेक योग प्रचलित हैं। भैषज्य-रत्नावली के बाहुशालगुड, प्राणदागुटिका, अग्नि-मुखलौह, अर्शःकुठाररस, चक्राख्यरस, और चंचत्कु-ठाररस; चरक के अभयारिष्ट, दन्त्यरिष्ट, फला-रिष्ट और कनकारिष्ट; चक्रदत्त के नागार्जुनयोग (छाछ से), भल्लातकगुड और भल्लातकलौह; रसतन्त्रसमुच्चय के लोहाष्टक, सर्वलोकाश्रयरस, अर्शोघ्नवटक, अर्शोहररस, महोदय-प्रत्ययसाररस, कनकसुन्दररस, अर्केश्वररस और त्रैलोक्यतिलक रस; भावप्रकाश के तिलादिमोदक और शंकरलौह योगों में से अवस्था-बल-काल-प्रकृति के अनुसार उपयुक्त योग का चुनाव किया जा सकता है।

भेषजसेवन में सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि भेषजप्रयोग कम से कम ४ मास तक लगातार अवश्य किया जाय (वसवराजीय)।

### विशिष्ट व्यापी भेषज

इसमें सबसे पूर्व हम कर्मविपाकजन्य अर्श की चिकित्सा देखेंगे। इस प्रकार के अर्श की चिकित्सा यह है कि ३८४०० कौड़ियों या उनके मूल्य के समान चांदी या सोने का दान किया जाय।

वातार्श की चिकित्सा--वातार्श में स्नेहन-स्वेदन-वमन-विरेचन-आस्थापन-अनुवासन का अव-स्थानुसार प्रयोग करना चाहिए (योग०,सुश्रुत)। स्नेहसहित तक्र (भैषज्य०) का तथा अन्य वात-हर अन्नपान का सेवन करना चाहिए। देवदारु आदि वातहर और पिप्पली आदि दीपक पदार्थों से घृत को साधित करें, इसमें हिंग्वादि चूर्ण मिलाकर चाटें। वात के विनाश और अग्नि तथा बल की वृद्धि के लिए पूर्वोक्त अनुलोमक और दीपक-पाचक योगों के अलावा बृहद् योगराज गुग्गुलु (शार्ङ्गधर), वचादिमोदक (र०र० समुच्चय), मरिचादिचूर्ण, माणशूरणादिलौह (भैषज्य०), अश्वगन्धारिष्ट (भैषज्य०) का तथा रजत-लोह-नाग-वंग की भस्मों का सेवन करें। सप्तविंशति गुग्गुलु (चक्र०) भी उत्तम है। मस्सों की शोथ कम करने के लिए दुर्नामकुठारवटी (रसतन्त्रसार) या भैष-ज्यरत्नावली के कर्पूराद्यचूर्ण, षट्पलकघृत, चव्या-दिघृत, दन्त्यरिष्ट, अर्शःकुठाररस, चञ्चत्कुठाररस का सेवन उचित है।

कफार्श की चिकित्सा--कफार्श में वमन करना चाहिये (योग०)। पथ्य रूप में सोंठ और कुलथी का सेवन हितकर है (सुश्रुत)। तुलसी आदि कफनाशक पदार्थों के क्वाथ में घृत को साधित करके सेवन करना चाहिए (सुश्रुत)। दो सौ हरड़ों को ७२ सेर गोमूत्र में पकावें, मूत्र उड़ जाने पर इन हरड़ों में से दो-दो को प्रतिदिन प्रातः शहद के साथ लें (अ०हृदय)। मस्सों के पार्श्व में से ज़ोंक के द्वारा खून निकलवाकर आक के रस का लेप करें या दाहकर्म से मस्सों को जलादें और स्नेहरहित तक्र पीवें (भैषज्य०)। शरीर में कफ का शमन तथा अग्नि और बल को प्रबल करने के लिए आनन्द-भैरव रस और ताम्रभस्म को समभाग में लेकर चौथाई से आधी रत्ती मात्रा में लें (रसतन्त्रसमुच्चय) या माणशूरणादिलौह (भैषज्य०) शूरणपिण्डी (चक्र०) व्योषादिचूर्ण, क्रव्यादरस (योग०), नवा-यस लोह में से किसी का प्रयोग करें। इनके अतिरिक्त गुडभल्लातक (चक्र०) और भैषज्यरत्नावली के दन्त्यरिष्ट, अर्शःकुठार रस, चंचत्कुठाररस भी उपयोगी हैं।

वातकफार्श की चिकित्सा—वातकफार्श का अर्थ है शुष्कार्श। वातार्श और कफार्श की सम्मिलित चिकित्सा इसकी भी चिकित्सा है। शुष्कार्श में दो में से एक अवस्था मिली होसकती है—अतिसार या मलबन्ध। प्रथम अवस्था में पाचन योगों के द्वारा अतिसार की चिकित्सा की जाती है और द्वितीय में मलशोधक और अनुलोमक चिकित्सा (सुश्रुत)। मलशोधक और अनुलोमक चिकित्सा 'सर्वनिष्ठ' प्रकरण में दी जा चुकी है। अग्नि और बल को बढ़ाने के लिए तक्र के विविध प्रयोग तथा अन्य अनेक योग भी पहले दिये जा चुके हैं। उनके प्रयोग के द्वारा मल-वात और कफ-पित्त आदि का अनुलोमन होने पर अर्शरोग शान्त हो जाता है और जाठराग्नि भी प्रदीप्त हो जाती है (चरक)। इसी प्रयोजन से इस अवस्था में निशोथ, दन्ती, ढाक, चूका (चांगेरी), चित्रक, पोई, चौलाई, शतावरी, विदारीकन्द, बथुआ, ब्राह्मी, कुलफा, मकोय, मानकन्द, इमली, जीवन्ती, कचूर, गाजर आदि में से किसी के पत्तों को घी और तेल में छौंक कर दही मिलाकर लें (चरक)। पाचक-दीपक योगों के साथ, हिंग्वादिचूर्ण के साथ, कचनार की जड़ के साथ या बिल्व-कैथसोंठ-काला नमक-भिलावा-अजवायन के साथ तक्र का सेवन करें (अ०हृदय)। अन्य भी दीपक पाचक योग बरतें जो पहले दिये जा चुके हैं। इस तक्र-प्रयोग से अतिसार ठीक हो जाता है। इसी प्रयोजन से जातिफलादि वटी (भैषज्य०), व्योषादि चूर्ण, लोध्रादि योग (भेल०) आदि योग बरतें और पथ्यरूप में लाल चावल, महाशालि, सांठा आदि विविध स्तम्भक आहार का सेवन करें (चरक)।

मस्सों की शोथ को कम करने के लिए भिलावा सर्वश्रेष्ठ है (अ०हृदय)। भिलावे का काढ़ा या तैल उपयुक्त मात्रा में, घी से मुख को स्निग्ध करके पीवें (सुश्रुत)। चन्द्रप्रभावटी, प्राणदागुटिका, बाहुशालगुड आदि योग उत्तम हैं। अन्य भी कई योग व्यवहार में आते हैं। चरकोक्त पिप्पल्याद्यघृत, चव्याद्यघृत, नागरादिघृत, अभयारिष्ट, दन्त्यरिष्ट, फलारिष्ट, शर्करासव और कनकारिष्ट; सुश्रुतोक्त पिप्पल्याद्यरिष्ट; अष्टांगहृदय के दुरालभारिष्ट, पलाशघृत और पंचकोलघृत; भैषज्यरत्नावली के कांकायनमोदक, दशमूलगुड, शूरणमोदक, नागरादिमोदक, तिलारुष्करादि, माणशूरणादिलोह, रसगुटिका, नित्योदितरस, अर्शःकुठाररस, चंचत्कुठाररस, और शिलागंधकवटी (मलबन्धसहित में); चक्रदत्तकी शूरणपिण्डी; भेलसंहिता का तालीशपत्रवटक; रसेन्द्रचिन्तामणि का दुर्नामारिलौह; वसवराजीय का वैक्रान्तरस में से अवस्थानुसार किसी को सेवन करें।

लेप आदि द्वारा स्थानीय चिकित्सा को हम आगे देखेंगे।

पित्तार्श की चिकित्सा—पित्तार्श में विरेचन तथा पित्तशामक कर्म करने चाहियें (योग०)।देवदारु आदि तथा पिप्पली आदि के द्वारा साधित घृत में दीपक औषधियोंका प्रक्षेप डालकर इस घृत को और पृश्निपर्णी आदि के कषाय को सेवन करें (सुश्रुत)। मृदु पानीय क्षार का प्रयोग मुख द्वारा कर सकते हैं (चक्र०)। शीतवीर्य लघु अन्नपानौषध का प्रयोग उचित है। इस प्रयोजन से रजत भस्म, मौक्तिकपिष्टी, लोध्रासव (योग०), अभयारिष्ट (चरक) द्राक्षासव (योग०), बलादिघृत (भेल०) का प्रयोग करें। शिरीषपुष्पादि चूर्ण (भेल०) को चावलों के पानी से ले सकते हैं। इसके अतिरिक्त रसरत्नसमुच्चय का पित्तार्शोहररस, भैषज्यरत्नावली के भल्लातकादिमोदक, धत्तूराद्यचूर्ण, भल्लातामृतयोग, तीक्ष्णमुखरस; वसवराजीय का राजवल्लभरस विशिष्ट योग हैं।

रक्तार्श की चिकित्सा--रक्तार्श का अर्थ यहां रक्तस्रवण करने वाला अर्श है, जिसमें इस स्थान पर रक्तजनित और पित्तरक्तजनित अर्श को सुविधा की दृष्टि से गिना गया है। यों, लक्षणों का सादृश्य होने से पित्तार्श भी इसी श्रेणी का है और वहां कही चिकित्सा इसमें भी लगती है। सामान्यतः संशमन चिकित्सा करते हैं (सुश्रुत)।

रक्तार्श में पित्त और रक्त की चिकित्सा की जाती है (भैषज्य०)। परन्तु रक्तार्श में वात और कफ का अलग-अलग अनुबन्ध भी होता है, अतः उन अवस्थाओं में वात या कफ की भी चिकित्सा करनी चाहिये (चरक)। फिर, रक्त का अतिस्राव हो जाने पर शारीरिक शक्ति क्षीण होकर वात का प्राबल्य हो जाता है, अतः तब वात की भी चिकित्सा करनी चाहिए। (अ०हृदय)।

सामान्यतः पहले रक्तस्राव की उपेक्षा करनी चाहिए, ताकि दूषित रक्त बाहर निकल जावे (चरक)। अन्यथा इस दूषित रक्त के स्राव को रोकने से शूल, आनाह, रक्तविकार आदि हो जाते हैं (हृदय) और यकृत में रक्तवृद्धि तथा संन्यास रोग हो जाता है। रक्तस्राव रोकना अभीष्ट होने पर मजीठ, सोहांजने आदि शोणितास्थापक द्रव्यों से साधित घृत लेना चाहिए (सुश्रुत)। बकरी का दूध, शार्ङ्गरीघृत, बलादिघृत उत्तम हैं (भेल०)। लोध्र दारुहलदी-बहेड़े का गूदा-इनका चूर्ण मधु या चावलों के जल से, लाख-हलदी-मंजीठ-मुलहठी-नीलकमल की गिरी को बकरी के दूध से, सिरसा के फूल-कुटज की छाल-कुहे के फूल-दारुहलदी-लोध-कायफल-अड़ूसा इनको मधु के साथ चाटकर चावलों का पानी पीवें (भेल०)। योगरत्नाकरोक्त अपामार्गबीजकल्क, चन्दनादिक्वाथ, दार्व्यादिक्वाथ उत्तम हैं। बोलपर्पटी (योग०), बोलबद्धरस (र०त० सार), जातिफलादिवटी (र०सा०संग्रह), उशीरासव (भैषज्य०), अर्शोघ्न चूर्ण (र०त०सार), शंखोदररस (र०यो०सागर) आदि योग उत्तम रक्तस्रावहर हैं। नारंगी के छिलके के ६ माशे चूर्ण को १-१ तोला घी और शक्कर से लें। बकायन की गिरी-निमोली की गिरी-काला भुना जीरा-घी में भुनी छोटी हरड़ समभाग चूर्ण करके रसोंत के जल में झरबेरी के बराबर गोलियां बनालें और ताजे जल से लें। अनार के पत्तों का रस रक्तस्राव को बन्द करने के लिए अत्युत्तम है। बेलगिरी की राख भी अच्छी है (गरुड०।१८६।१२)। अशोकारिष्ट (भैषज्य०) में अशोक की छाल उत्तम शोणितास्थापक है। रक्तस्रवण हो जाने के बाद कुटकी-चिरायता आदि कड़वी चीजें देने से अग्नि दीप्त होती है, दोषों का पाक होता है और स्राव बन्द होता है (चरक)। वातोल्वण रक्त हो तो पान, अभ्यंग, अनुवासन आदि में स्नेह-पदार्थों को बरतें; पित्तोल्वण होने पर स्तम्भन करें; कफोल्वण रक्त हो तो कुटज की छाल के क्वाथ में सोंठ डालकर लें या अनार की छाल का क्वाथ लें या चन्दन के क्वाथ में सोंठ डालकर लें (चरक)। मक्खन और काले तिल मिलाकर नित्य खावें, या नागकेसर-मक्खन-शर्करा मिलाकर खावें, या दही-दही की मलाई-लस्सी को मिलाकर सेवन करें (भाव०)। पद्मकेशर-शहद मक्खन-मिश्री-नागकेसर को मिलाकर खावें (भाव०) मंजीठ, नीलकमल, मोचरस, लोध, लालचन्दन इन से साधित बकरी का दूध पीवें; या मटर-मूंग-अरहर-मसूर के यूष में तक्र मिलाकर उससे चावल आदि का भात खावें (भाव०)। अन्य आहारादि पहले दिये जा चुके हैं। करंजादिचूर्ण, फाल से के रस के साथ हरड़-तिल-आंवला-मुनक्का-मुलहठी का चूर्ण, बकरी के दूध के साथ काले तिल आदि योग रक्तस्रावहर हैं (योग०)। कुटज अत्युत्तम है। चरकोक्त कुटजसत्त्व और कुटजादिघृत;

अष्टांगहृदयोक्त कुटजावलेह और कुटजादि चूर्ण; भैषज्यरत्नावली का कुटजादिक्वाथ, और कुटज-रसक्रिया; शार्ङ्गधर का कुटजारिष्ट आदि इसके योग हैं। इनके अतिरिक्त चरकोक्त अतिविषादि-चूर्ण, उत्पलादिचूर्ण, दाडिमाष्टादिघृत, निदिग्धिका-घृत, और ह्रीवेरादिघृत; अष्टागहृदयोक्त रोध्रा-दिचूर्ण, यष्टयादिचूर्ण, यवान्यायदचूर्ण, धातक्यादि-घृत, यवक्षारादिघृत; भैषज्यरत्नावली के अभयारि-ष्ट, चांगेरीघृत आदि योग भी रक्तस्रावहर हैं। पथ्य के रूप में प्याज, घी, छाछ आदि लें। यह रक्त-स्तम्भन रक्त के पित्तकफोल्वण होने पर नहीं करना चाहिए, अन्यथा यह निरुद्ध दूषित रक्त रक्तपित्त-ज्वर-तृष्णा-अग्निमांद्य-अरुचि-कामला-श्वयथु-गुदा आदि में शूल-खाज-फोड़े-फुन्सी-कुष्ठ-पाण्डु-शिरःशूल मलबन्ध आदि उपद्रव कर देता है (चरक)। ऐसी अवस्था में सारिवा आदि रक्तशोधक द्रव्यों का तथा रक्तस्रावण का प्रयोग करना चाहिए।

मस्सों की शोथ को घटाने तथा वात की चिकित्सा के लिये अनेक योग व्यवहार में आते हैं। भल्लातकमोदक (रसरत्नसमुच्चय), तीक्ष्णमुखरस (भैषज्य०), शंकरलोह (भाव०), स्वर्णमाक्षिक-अभ्रक की भस्में, लक्ष्मीविलास (र०यो०सागर), रसगुटिका (चक्र०), पञ्चानन और अष्टांगरस (भैषज्य०), भल्लातकामृत और वैक्रान्तरस (वस-वराजीय) तथा तालीसपत्रवटक (भेल०) उत्तम हैं।

त्रिदोषार्श की चिकित्सा——त्रिदोषार्श में सब दोषों की मिश्रित चिकित्सा होती है (सुश्रुत)। शार्ङ्गरीघृत (भेल०) और वसवराजीय के वैक्रान्त-रस तथा अभ्रहरीतकी——ये योग बरत सकते हैं। आवश्यकतानुसार पूर्वोक्त सभी योगों का भी प्रयोग हो सकता है।

### स्थानीय भेषज

स्थानीय भेषज-प्रयोग के नौ मुख्य अंग हैं—लेप, तैल, स्वेदन, धूपन, पत्रबन्ध, वर्ति, परिषेक, बस्ति और अवगाह। हम प्रत्येक को संक्षेप से देखेंगे।

आलेपन——इनके अनेक योग हैं। थूहर के दूध में हल्दी पीसकर लगावें, या मुर्गे की बीठ-सफेद रत्ती-हल्दी-पिप्पलीचूर्ण को गोमूत्र और गोपित्त में पीसकर लगावें, या जमालगोटाचित्रक-ब्राह्मी-कलहारी के चूर्ण को गोपित्त में पीसकर लगावें या पिप्पली-सेंधा-कूठ-सिरस के बीज इनके कल्क को थूहर के दूध में या आक के दूध में रगड़ कर लगावें (सुश्रुत)। ये चारों लेप शुष्कार्श के हैं। इस चौथे लेप के कल्क में गुड और त्रिफला भी डाल सकते हैं (चरक)। पीपली-चित्रक-निशोथ-यीस्ट-मदन-फलबीज मुर्गे की बीठ-हलदी-गुड़ का प्रलेप या दन्ती-निशोथ-गिलोय-कबूतर की बीठ-गुड़-नीम-भिलावा इनका लेप या थूहर का डण्डा-आक का दूध-कड़वी तुम्बी के पत्ते-करंज-बकरी का मूत्र ये प्रलेप भी उत्तम हैं; इनसे मस्सों में संचित दुष्ट रक्त निकल जाता है और वे झड़ जाते हैं (चरक)। काकड़ासींगी-भांग-कूठ-भिलावा-नीला थोथा-सोहां-जने और मूली के बीज-कनेर और नीम के पत्ते-पीलु की जड़-बिल्व-हींग इनका प्रलेप भी अच्छा है (अहृदय)। सेंधा-बिन्दाल के बीज इन को कांजी से रगड़कर मस्सों पर लगाने से वे झड़ जाते हैं (योग०)। हरिद्रापुष्पशंखचूर्ण-मनःशिला को गजपिप्पली के जल में घोटकर लगावें (र०त० समुच्चय)। कड़वी तूंबी का चूर्ण रगड़ने से भी मस्से गिर जाते हैं। जमींकन्द-हलदी-चित्रक-सुहागा- गुड़ को कांजी में रगड़ कर मस्सों पर लेप करने से वे झड़ जाते हैं। कासीस-गोरोचन-तुत्थ-वर्की हरताल १-१ तोला तथा रसोंत २ तोले को कांजी में रगड़ कर सूजे हुए मस्सों पर लगावें। कपूर ४ रत्ती, अफ़ीम १ रत्ती, मिट्टी २ तोले इन्हें

जल में रगड़ कर सूजे हुए मस्सों पर लगावें।

रक्तार्श के मस्सों पर बेल को या काले तिलों को जलाकर भैंस के मक्खन में मिलाकर लगावें (ग०पुराण १८६।१२।)। बड़ के पत्तों को जलाकर मधु और मक्खन मिलाकर लगावें (भेल०।व० राजीय)। कड़वी तोरी या मालकंगनी की जड़ या बीज का लेप भी अच्छा है। योगरत्नाकर का पनसादिलेप भी अच्छा है।

तीन चार मलहमें भी प्रचलित हैं। गाल-नट पाउडर ८० ग्रेन, ऐक्स्ट्रैक्ट ओपियम ३० ग्रेन, वैज़-लीन १ औंस—यह मलहम मस्सों को सुखाती भी है और दर्द को भी घटाता है। इसी में हैमामैलिस, कोनियम, ज़िंक ऑक्साइड ये चारों प्रत्येक २-२ ड्राम (६-६ माशे) मिलाकर बरतते हैं। पहली मलहम न मिलने पर मौर्फ़ीन या कोकेन भी डाल लेते हैं। ऐनुसोल औइण्टमैण्ट भी गुदा में लगाते हैं।

तैलादि—शुष्कार्श के लिए कासीसादि तैल सर्वोत्तम है (सुश्रुत)। इससे मस्से झड़ जाते हैं। काला सांप-सूअर-ऊंट-चिमगादड़-बिल्ली इनकी चर्बी को मस्सों पर लगावें (चरक)। कासीसादि तैल सबसे अच्छा भैषज्यरत्नावली का है। बेल की जड़-चित्रक-यवक्षार और कूट इनसे साधित तैल मलें (अ०हृदय)। दर्द होने पर पञ्चकोलघृत भी अच्छा है (अ०हृदय)। तमाखू-झरबेरी की जड़ की छाल-भांग-बिन्दाल के फल २०-२० तोले को यवकुट करके गौ की मस्तुरहित दही (१ सेर) के साथ मिलाकर हांडी में थोड़ा सा सरसों का तेल चुपड़कर और औषध भरकर पातालयन्त्र-विधि से तेल निकाल लें। इसमें से फुरहरी भरकर मस्से पर सुबह लगावें। हर तीसरे दिन लगावें। आठ दस बार में मस्से झड़ जाते हैं। भोजन में घृत का सेवन करें।

रक्तार्श के मस्सों पर दूर्वाघृत या शतधौत या सहस्रधौत घी लगावें (चरक)। मांसरस में स्नेह-पदार्थ डालकर गरम-गरम से तर्पण करें और कोसे तेल, घी लगावें (अ०हृदय)। चांगेरी घृत भी अच्छा है।

स्वेदन—अभ्यंग के बाद जौ-उड़द-कुलथी की पोटलियों से या गौ-गधा-घोड़ा इनके स्नेहयुक्त पुरीषों के पिण्डों से या सस्नेह तिलकल्क आदि से या सस्नेह वचा या सोये के पिण्डों से सेक करें। या स्नेहयुक्त सत्तू की पोटली से या सूखी मूली के सस्नेह पिण्डों से या सोहांजने की जड़ के सस्नेह पिण्डों से सेक करें। या कुष्ठ-तैल लगाकर ईंट के चूरे-अजवायन-गाजर का शाक इनसे सेक करें।

शुष्कार्श के स्तब्ध मस्सों पर बैलाडोना इक्थ्योल ग्लिसरीन लगाकर मैगसल्फ या बोरिक ऐसिड का सेक (आर्द्ररूप में) करने से दर्द और सूजन में कमी होती है। ऐसिटिक ऐसिड से भी सेक किया जाता है।

धूपन—शुष्कार्श में दो ईंटों का चूल्हा बनाकर रोगी ईंटों पर उकड़ू बैठ जावे। नीचे मनुष्य के बाल-सांप की केंचुल-बिल्ले की खाल-आक की जड़ शमी के पत्ते इन्हें जलाकर धूआं दें, या धनिया-विडंग-देवदार-जौ-घी का धूम्र दें, या बड़ी कटेरी-असगन्ध-पिप्पली-तुलसी के पत्ते-घी का धूआं दें, या सूअर का मल-गोबर-सत्तू का, या हाथी की लीद-घी-राल-शिलाजीत का धूआं दें (चरक)। गेहूं का आटा ८ तो०-हींग २ मा०-भिलावा २ तो० मिला कर धूपन करें (योग०)। कचूर ५ मा०-विडंग ५ मा०-भांग ३ मा० को निर्धूम कोयले पर रखकर उलटी-चिलम से ढक दें और धूआं दें। या कुचला-कपूर-शमीपत्र-हल्दी-छोटी कटेरी के फल इनके समभाग चूर्ण का धूपन दें।

रक्तार्श में राल-कपूर-सरसों का तेल इनका धूपन देना चाहिए (भैषज्य०)।

पत्रबन्ध—रक्तार्श में यदि बहुत दाह हो तो

नाभि के नीचे रोममय प्रदेश से लेकर त्रिकदेश-पर्यन्त भाग में ठंडे जल से सींचे हुए केले, श्वेतकमल, या नीलकमल, या लालकमल के ताजे पत्रों से ढकें और इन्हें बदलते रहें।

शोथमय शुष्कार्श में एरण्डपत्र भी बांधे जा सकते हैं।

वर्ति--कड़वी तूंबी के बीजों को कांजी में घिसकर उससे उस तूंबी के भीतर जाल को लीप कर बत्ती सी बना लें। या कडवी तूंबी की भीतरी जाली और जड़ के अवलेह में क्षार और रत्ती, ज़मींकन्द, कद्दू के बीज डालकर बत्ती सी बना लें। इन दोनों बत्तियों को शुष्कार्श में गुदा में डाल रखने से मस्से झड़ जाते हैं (अ०हृदय)। इसके साथ भैंस की दही खानी चाहिए (भैषज्य०)। पुराने गुड़ को कुछ जल में घोल कर बिन्दालडोडे का प्रक्षेप डालकर बत्ती बना लें, इसे अलग ही या पीलू के तेल में भिगो-कर गुदा में रखने से मस्से गिर जाते हैं और दर्द भी नहीं होता (भैषज्य०)। रूई की बत्ती भी इसी तरह बरती जा सकती है (र०र०समुच्चय)।

लिक्विड हैज़लीन में या आयोडैक्स और कैला-मीन पाउडर के मिश्रण में लिण्ट की एक बत्ती भिगो कर गुदा में रखें। या हैमामैलिस का सत्व १-३ ग्रेन, मॉर्फिया १।८ ग्रेन की बनी बत्ती बरतें। या ऐनुसोल की बत्ती का व्यवहार करें।

परिषेक--सूजे हुए मस्सों को ताज़े कनेर-चमेली-सत्यानाशी इनके कषाय से धोवें या कोसे कांजी, दूध, मूत्र आदि से धोवें (भेल०)। बिन्दाल के कषाय से शौच करें, खास तौर से जब मलत्याग में रक्तस्राव हुआ हो (भै०र०)। रक्तार्श में ही बांसा-आक-एरण्ड-बेल इनके पत्तों के क्वाथ से परिषेक करना चाहिए और यदि रक्तस्राव बहुत ही अधिक हो रहा हो तो मुलट्ठी-बड-गूलर-पीपल-पिलखन-बेंत-बेरी-अर्जुन-परवल-बांसा-कुहा-जवासा-नीम के क्वाथ से धोना चाहिए या ठण्डे जल की धारा इस प्रदेश पर डालनी चाहिए (चरक)। या फटकरी के पानी से धोवें (फटकरी ४ माशे, जल १ पाव)।

अति रक्तस्राव में हैज़लीन को समभाग पानी में मिलाकर उससे धोने पर भी लाभ होता है। या एड्रीनेलीन (१ : १०००) लगावें या टिंचर फ़ैराई परक्लोर और हैज़लीन को समभाग में मिला कर स्राव-स्थान पर लगावें।

बस्ति--शुष्कार्श में उदावर्त्त-आनाह-गुदशोथ हों तो अनुवासन-बस्ति करना चाहिए, एतदर्थ पिप्पल्यादि-अनुवासन सर्वोत्कृष्ट है (चरक)। अथवा दशमूल के क्वाथ में दूध, गोमूत्र, तैल, सैन्धव, मदनफलकल्क डालकर निरूहबस्ति देनी चाहिए (चरक)। अन्य भी स्निग्ध बस्तियां दी जा सकती हैं (अ०हृदय)।

रक्तार्श में क्षीर-बस्ति करनी चाहिए (भेल०)। रक्तार्श में यदि वात प्रबल हो तो घृतमण्ड से शीघ्र अनुवासन करें या पिच्छा-बस्ति दें (चरक)। ऐसी अवस्था में मुलट्ठी-कमल-मोचरस और द्विगुण दूध से पक्व तैल का अनुवासन भी दिया जा सकता है (अ०हृदय)।

अति रक्तस्राव में फटकरी के पानी का या सम-भाग हैज़लीन और जल का ऐनीमा भी अति लाभ-कारी होता है।

अवगाह--अच्छी प्रकार से अभ्यंग करके मूली-त्रिफला-आक-बांस-वरुण-अरणी-सोहांजना-अम्लोट इनके पत्तों के कोसे क्वाथ में या बेरी के पत्तों के कोसे क्वाथ में अवगाह (कटिस्नान) करें। अथवा कोसी कांजी में गोमूत्र में अवगाह करें (चरक)।

रक्तार्श में रक्तस्राव-क्लेद और दाह बहुत हो तो मुलट्ठी-खस-चन्दन-पद्माक-कुश और काश की जड़ इनके क्वाथ में अवगाह करें या मस्सों पर

ठंडा तेल चुपड़ कर मुलट्ठी और वेतस के क्वाथ में ईख का रस मिलाकर उसमें या ठण्डे जल में अवगाह करें (चरक)।

स्थानीय भेषज का प्रकरण समाप्त करने से पूर्व यह बता देना आवश्यक है कि स्थानीय सफाई अत्यन्त आवश्यक है। बिन्दाल के क्वाथ से या फटकरी-जल से धोकर, नरम रूई से पोंछ कर, ऊपर कैलामीन पाउडर या बिन्दालडोडे का चूर्ण मलकर आवश्यकतानुसार पत्रबन्ध या पट्टबन्ध कर देना चाहिए।

### क्षार

इसके तीन अंग हैं--प्रतिसारणीय क्षार का पातन, क्षारसूत्र से छेदन और क्षार का सूचीवेध। हम क्रमशः इन्हें लेंगे। क्षार का क्षेत्र शुष्कार्श और नरम-फैले हुए - गहरे तथा उभरे हुए मस्से हैं (सुश्रुत)

प्रतिसारणीय क्षार--काले फूल वाले मोखे के वृक्ष को यथाविधि तिल की लकड़ियों से जलाकर राख करें। यह राख ८ सेर लेकर ४८ सेर जल में घोल लें और मन्दाग्नि पर कड़छी से हिलाते हुए पकावें। तिहाई रह जाने पर उतार लें। ठण्डा होने पर कपड़े से छानकर छने जल को पुनः पकावें और जब यह गाढ़ा होने लगे तो छने हुए क्षारजल का आठवां भाग शंखभस्म इसमें मिलादें और अनबुझे चूने के समास लाल गरम करके डाल दें और जब यह न बहुत गाढ़ा और नाहीं बहुत पतला हो जावे तो उतार कर शीशी में रखलें (चक्र० सुश्रुत)। यद्वा, १ सेर कास्टिक सोडा और २ सेर अनबुझा चूना एक बर्तन् में मिलावें। इसमें एक मन पानी मिला कर लकड़ी के डंडे से चला कर ५ दिन तक खुले मैदान में रखें। प्रतिदिन एक-दो वार डंडे से हिला दें। छठे दिन ऊपर से स्वच्छ पानी लोहे की कड़ाही में निकाल कर चूल्हे पर चढ़ावें। आध सेर जल शेष रहने पर लहसुन का रस ४ तोले मिला कर मन्दाग्नि से पकावें। आधा (२० तोले) जल रहने पर उतार कर इस क्षार को शीशी में भरलें (रसायनसार)।

पवित्र और सब उपकरणों से युक्त स्थान में, सामान्य और मेघरहित काल में समतल तख्त या मेज़ पर अर्शोरोग से पीड़ित बलवान और सहिष्णु रोगी को स्नेहन और स्वेदन के बाद स्नेहयुक्त-गरम-तरल भोजन खिला कर इस प्रकार उलटा लिटावें कि उसके गुदप्रदेश पर प्रकाश सीधा पड़े। रोगी के शरीर के ऊपर के हिस्से को उसी तख्त पर बैठे एक बलवान पुरुष की गोद में थमादें। इस अवस्था में रोगी की कमर कुछ ऊंची उठी हो और घुटने मुड़ कर फलक पर टिके हों तथा जांघ और ग्रीवा को चमड़े के फीते से बांध कर स्थिर कर लिया गया हो। बलवान परिचारक रोगी को पकड़े रहें। फिर पूर्वोक्त अर्शोयन्त्र को घी आदि से स्निग्ध करके धीरे-धीरे रोगी की गुदा में डालें और मस्सों को देखकर शलाका से उठावें। मस्सों को रूई या कपड़े से पोंछकर दर्वी, बुरुष या फुरहरी से क्षार लगावें और यन्त्र के मुख को बन्द करके वाक्शतमात्र (लगभग २ मिनिट) तक प्रतीक्षा करें। इससे मस्सों का रंग जामुन जैसा हो जायेगा, न हो तो पुनः क्षार लगावें। फिर इस क्षार को उदासीन करने के लिए कांजी दही के पानी या सिरके से धोवें और मुलट्ठी का चूर्ण घी में मिलाकर लगावें और ठण्डे या गरम पानी में कटिस्नान करावें। हर आठवें दिन १-१ मस्से पर यह प्रयोग करें। पहले दाईं ओर के, फिर बायें, फिर पिछले और सबसे अन्त में अगले मस्सों पर इस प्रकार क्षार लगावें। अग्निवृद्धि के लिए स्नेह का प्रयोग करें।

क्षारसूत्र--थूहर के दूध में हल्दी का चूर्ण डालकर मिलादें। इसमें भिगोकर धागे को धूप में सुखादें। इस प्रकार प्रतिदिन करें। सात बार

ऐसी भावना देने पर क्षारसूत्र तैयार हो जायगा (भाव० चक्र भै०र०)। यद्वा स्ट्रौंग आयोडीन, टैनिक ऐसिड आदि से सूत्र को भावित करलें। इस सूत्र से इस तरह बांधें कि धीरे-धीरे कसा जा सके। इससे धीरे-धीरे मस्से कट जाते हैं। क्रम यहां भी वही है--दायां-बायां-पिछला-अगला।

सूचीवेध--इसका अर्थ है, क्षारद्रव्यों को पिचकारी (सिरिंज) के द्वारा मस्से में डालकर मस्से को सुखा या मुर्झा देना। इसके लिए विशेष प्रकार की 'पाइल्स सिरिंज' काम में आती है। इस सिरिंज के पिस्टन पर अंक लगे होते हैं और सूई पर भी कर्णिका लगी होती है, ताकि वह ज्यादा भीतर न जा सके। समभाग जल और ग्लिसरीन में शुद्ध कार्बोलिक ऐसिड का १० प्रतिशत विलयन बना लें, इसकी ५ से २० बून्द मस्से के केन्द्र में डाल दें। ५ प्रतिशत घोल भी बरतते हैं। यदि २० प्रतिशत घोल हो तो २ से ६ बूंदें डालें। बादाम के तैल में ५ प्रतिशत घोल बना कर प्रति सप्ताह एक-एक मस्से में १ से २ सीसी (१से २ माशा) डालना ठीक है, इससे मस्सा चमड़े की तरह सख्त और सफेद हो जाता है। मस्से की सूजी हुई शिरा के चारों ओर १ औंस बादाम-तेल में २० ग्रेन कार्बोलिक ऐसिड और १ ग्रेन मैन्थोल की ५ सीसी (५ माशे) का सूचीवेध उत्तम है। सूचीवेध से शिरामें रक्त का थक्का बन जाता है और व्रण भर जाता है। आजकल कुनीन यूरिया हाइड्रोक्लोर के ५ प्रतिशत घोल का भी अधःश्लैष्मिक तन्तु में सूचीवेध दिया जाता है, और बड़ा लाभ होता है।

### अग्निकर्म

इसका भी शुष्कार्श में ही प्रयोग होता है, जब मस्से खुरदरे-स्थिर-ऊंचे और कड़े होते हैं (सुश्रुत)। इसकी दो विधियां हैं--अग्नि द्वारा या विद्युत् के द्वारा। पूर्वोक्त प्रकार से ही मस्से को देखकर और पोंछकर दोनों में से किसी भी उचित विधि से दाहकर्म करना चाहिए। ठीक तरह से दग्ध होने पर दाह गहरा नहीं होता, रंग पके ताड़ जैसा होजाता है और रक्तस्राव भी बन्द हो जाता है। तब मधु और घृत का लेप करके वंशलोचन-पिलखन की छाल-लालचन्दन-गेरू-गिलोय इनके चूर्ण को घी के साथ मिलाकर वहां लेप करें। मल-मूत्र-रोध हो जाय तो कोसे जल से कटिस्नान करावें और कोसे जल से यवक्षार दें। बस्ति आदि में जलन हो तो शतधौत घी से प्रलेप करें। व्रणशोधनार्थ त्रिफला-क्वाथ में शुद्ध गूगल को १ से ४ रत्ती की मात्रा में डाल कर दें। ज़ख्म भरने पर पिप्पल्यादि-तैल से अनुवासन-बस्ति देकर अग्निदीपक ओषधियों और घृत का सेवन करावें।

### शस्त्रकर्म

शुष्कार्श में यदि मस्से बहुत बड़े, बाहर को निकले हुए, खूब आध्मात, वृन्तमय, उभरे हुए और क्लेदयुक्त हों तो शस्त्रकर्म कराया जाता है (सुश्रुत)। इसके दो रूप और प्रयोजन हैं--रक्तस्रावण और अर्शःकर्तन (चरक)। यदि मस्से सख्त और सूजे हुए हों तो शस्त्र या जोंक से इस संचित रक्त को निकाल देना चाहिए (भाव० भैषज्य०)। रक्तार्श में भी दूषित रक्त को निकालने के लिए शस्त्र, जोंक, सुई या कूची (त्रिकूर्चक) को बरतना चाहिए (चरक अ०हृ०)। यदि मस्से में खून का थक्का हो तो सीधा चीरा देकर उसे निकाल भी दिया जाता है।

शस्त्रकर्म का द्वितीय रूप है, अर्शःकर्तन। इसकी अनेक विधियां हैं। मुख्यतः वे दो प्रकार की हैं--प्रथम तो वे जिनमें मस्सों को काट दिया जाता है और ऐंठन देकर रक्त वाहिनी को बन्द कर दिया जाता है और द्वितीय वे जिनमें मस्सों की समूची भूमि को ही काट कर अलग कर दिया जाता है।

इन क्षार-अग्नि और शस्त्रकर्म में तथा यन्त्र-प्रयोग में बहुत अधिक सावधानी रखनी चाहिए, अन्यथा बड़े भयंकर उपद्रव खड़े हो जाते हैं। (सुश्रुत। चरक।)।

### उपद्रवों की चिकित्सा

अर्शोरोग के उपद्रव अनेक प्रकार के हैं-- वद्धगुद (चरक), अतिसार, मलबन्ध, प्रवाहिका-ग्रहणी, अतिरक्तस्राव, पाण्डु, गुदभ्रंश, शूल, उदावर्त (वाग्भट) इत्यादि। यहां हम केवल गुदभ्रंश और उदावर्त को ही लेंगे। अन्य उपद्रवों की चिकित्सा सामान्य है।

उदावर्त (वाग्भट) में सामान्यतः पिप्पल्यादि-अनुवासन दिया जाता है। कल्याणक्षार (हृदय) उपयोगी है। स्निग्ध वर्तियां और बस्तियां भी यथायोग बरतनी चाहिएं। (हृदय) और मलबन्ध की चिकित्सा (अनुलोमक) करनी चाहिए। त्रैलोक्यतिलक (र०र०समुच्चय) उत्तम योग है।

गुदभ्रंश में धीरे से सावधानी के साथ इसे यथास्थान स्थापित कर देना चाहिए। सामान्यतः रोगी को रात को सोने से पूर्व इसे अवश्य यथास्थान स्थापित कर लेना चाहिए, न कि सुबह सारे कामों से पहले। बिन्दाल के कषाय से शौच करना चाहिए। पिच्छा-बस्ति से लाभ होता है (हृदय) चांगेरीघृत सर्वोत्तम योग है (भैषज्य०)। चव्यादि-घृत, ह्रीवेरादिघृत आदि योग भी दिये जाते हैं (योग०)।

पाण्डु के लिए लोह के योग देने चाहिएं। यह अर्शोरोग की संक्षिप्त चिकित्सा है।

---

# बसन्त ऋतुचर्या

शीत शरीर वालों में शैत्य के कारण हेमन्त में संचित कफ बसन्त ऋतु में उष्णता को पाकर प्रकुपित हो जाता है और अनेक कफज रोगों को पैदा करता है। अतः अम्ल, लवण, मधुर, स्निग्ध, गुरु पदार्थों, द्रव बहुल पदार्थों और दिवास्वप्न (कफकारक आहार विहार) को त्याग दे। वमन, शरोविरेचन, निरूह, तीक्ष्ण कवलग्रह, व्यायाम, अंजन, धूम का प्रयोग करके संचित कफ का निर्हरण करें। नियुद्ध (कुश्ती) अध्वगमन (पैदल भ्रमण), शिलानिर्घात जैसे व्यायाम हितकारी हैं। षष्टिक, यव, मूंग, नीवार, कोद्रव अन्नों को लाव या विष्किर पक्षियों के मांस रस से या मूंग कुलथी के यूष से देवें। बसन्त में पटोल, नीम, बैंगन, तिक्तकों से भोजन करें। मधु, आसव, अरिष्ट, सीधु, माध्वीक, माधव का सेवन करे। सुखोष्ण जल का प्रयोग करे। तीक्ष्ण, रूक्ष, कटु, क्षार, कषाय, द्रवरहित, यव-मुद्ग का सेवन करें। उत्सादन, स्नान, प्रमदा, कानन का सेवन करें। (सु.उ.अ.६४।३२-३९)

---

# बालपक्षाघात : पोलिओमाइलाईटिस

श्री बृजमोहन जायसवाल

कई रोग ऐसे होते हैं जिनका कारण अतिसूक्ष्म वाइरस (विषाणु) होते हैं। विषाणु से उत्पन्न होने वाला रोग "पोलियो–माइलाइटिस" भी है। जिस का कारण 'पोलियो–वाइरस' है। अब तक तीन प्रकार के पोलियो-वाइरस का पता चल चुका है। अतः अब पोलियो को आसानी से रोका जा सकता है। लेकिन अभी तक ऐसी कोई औषधि नहीं है कि एक बार पोलियो का आक्रमण हो जाने पर वह ठीक हो सके। अतः रोग होने से पहले ही "एण्टी पोलियो वैक्सीन" देते हैं।

यह बहुत ही भयानक कष्टदायक होता है। विशेष रूप से बालकों में होता है। क्योंकि इस रोग में शरीर के किसी भी अंग या पूरे ही शरीर का पक्षाघात हो जाता है अतः इसको 'बाल पक्षाघात' भी कहते हैं। बालकों की अपेक्षा बालिकाओं को अधिक होता है। यह वाइरस के कारण फैलता भी है इसलिये इसे छूत का रोग भी कहते हैं। एक परिवार में किसी बालक को होने पर दूसरे बालकों को भी हो सकता है।

डाक्टरों का मत है कि इसका वाइरस गले में पलता है और रक्त द्वारा मस्तिष्क में पहुंचता है तथा वहां पर यह "ग्रेमेटर" को नष्ट करता है। और अंगों की क्रिया को नष्ट करके उस अंग को क्रियाहीन बना देता है यह इस बात पर निर्भर करता है कि 'ग्रेमेटर' का कितना भाग नष्ट हुआ है।

कुछ का मत है कि ये वाइरस खाद्य पदार्थों या पेयपदार्थों के द्वारा आंत्र में पहुंचकर वहां के स्नायुओं के द्वारा मस्तिष्क में पहुंचकर वहां पर मस्तिष्क में स्थित ग्रेमेटर को दूषित करते हैं और उसे नष्ट कर देते हैं। अतः मल में इस वाइरस (Virus) की उपस्थिति भी मिल सकती है। यह रोग उन बालकों में विशेष रूप से होता है जो पहले ही से काफी कमजोर हों। रोग उत्पन्न होने से पहले बालकों को दूध आदि से द्वेष रहने लगता है। थोड़ा सा चलने पर भी उसको कमजोरी के कारण पसीना आ जाता है। बच्चा अधिक चिड़-चिड़ा होता है, और वह बहुत अधिक रोता-चिल्लाता है। उसको कोष्ठ-बद्धता, विबंध (कब्ज) रहने लगता है। उसके मल में अत्यन्त दुर्गन्ध आती है, और मल कठोर रूक्ष हो जाता है। रोगी को कुछ न कुछ ज्वर अवश्य ही रहने लगता है। लक्षण प्रबल हो जाने पर रात्रि को उसको अचानक ही ज्वर कभी भी १०५° फा० तक हो जाता है। इस अवस्था में बालक को आक्षेप आने लगते हैं। उसको प्रलाप होता है। वह चिल्लाता है, गर्दन को सीधा ही रखता है, सिर में अत्यन्त पीड़ा होती है, रोते-रोते बच्चा बेहोश भी हो सकता है। ऐसी अवस्था में बच्चे का इलाज शीघ्र ही कराना चाहिए। अन्यथा बच्चे की मृत्यु भी हो सकती है।

रोगी का सिर उठाने से वह सिर को नहीं उठा सकता, तथा वह अपनी ठोढी को छाती से नहीं लगा सकता। यदि उसके सिर को उठाया जाये तो पूरा शरीर ही तख्ते के समान खड़ा हो जाता है। पैरों को मोड़ने पर बच्चा चिल्लाता है। रात को ज्वर होने के बाद अगले ही दिन उस रोगी का कोई न कोई अंग पक्षाघात ग्रस्त हो जाता हैं और रोगी अपने किसी भी अंग से हाथ धो बैठता है। यही इस रोग का सबसे अधिक दुष्परिणाम है। अधिकतर पैरों का पक्षाघात ही पाया जाता है। किसी-किसी रोगी के उस अंग की प्रत्यावर्तनक्रिया (Reflex) बिल्कुल ही नष्ट हो जाती है। यदि बच्चे को सुई चुभाई

जाये, तो वह अपने उस अंग को नहीं हटा सकता या वह अंग चेष्टा नहीं कर सकता, क्योंकि अंग की संज्ञता का लोप हो जाता है। लेकिन कई बालकों में संज्ञता (सेन्सेशन) तो रहती है किन्तु उस अंग की प्रत्यावर्त्तन क्रिया (रिफलेक्स) नष्ट हो जाती है। यदि बालक में संज्ञता है तो वह ठीक हो सकता है। और यदि उस में संज्ञता नहीं है और प्रत्यावर्त्तन चेष्टा भी नहीं है तो वह अंग जिसमें पक्षाघात हुआ है पतला पड़ने लगता है तथा साथ ही छोटा पड़ जाता है। तब केवल सर्जरी का ही सहारा लेना पड़ता है। अर्थात् वह आपरेशन से ही ठीक हो सकता है।

कभी कभी पोलियो तथा मस्तिष्कावरणशोथ (मेनिनजाइटिस) में विभेद करना कठिन हो जाता है। लेकिन इस में काफी अन्तर होता है। मेनिनजाइटिस में मुख्यतः रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणु मेनिन्जोकोकाई हैं। इस के कई प्रकार हैं। इस में भी प्रारम्भ में ज्वर रहता है और ज्वर के बाद त्वचा में छोटे-छोटे दाने निकलते हैं और कुछ ही दिनों में लुप्त हो जाते हैं। इस रोग में ग्रीवा में तीव्र पीड़ा होती है। बच्चा अपनी गर्दन सीधी ही रखता है। जब कि पोलियो में सिर में दर्द होता है और बच्चा सिर हिला भी नहीं सकता। मस्तिष्कावरणशोथ (मेनिनजाइटिस) को "गर्दन-तोड़ बुखार" भी लोकभाषा में कहते हैं। इसके बाद भी कोई न कोई अंग क्रियाहीन हो सकता है। लेकिन पोलियो में यह अधिक मिलता है। मेनिन्जाइटिस में कटिवेधन (Lumbar Puncture) करते हैं तथा उसमें से मस्तिष्कसुषुम्नाद्रव (सेरिब्रोस्पाइनल द्रव) को निकालते हैं जिससे उस द्रव का टेन्शन कम हो जाता है, और रोगी को शान्ति मिलती है। इस द्रव का परीक्षण करने से पता चलता है कि इस में मेनिन्जोकोकाई हैं। इस प्रकार से कभी-कभी पोलियो और मेनिनजाइटिस में विभेद करना कठिन हो जाता है, यदि पोलियो में लम्बर-पन्चर कर दिया जाये तो रोगी शीघ्र ही मर जाता है। अतः निदान भी निश्चय पूर्वक करना चाहिए कि यह पोलियो है या मेनिन-जाइटिस !

चिकित्सा—इसका संक्रमण होने के बाद इसकी कोई विशेष चिकित्सा नहीं होती। जो अंग क्रियाहीन हो जावें उनकी चिकित्सा कर के उनमें क्रियाशीलता उत्पन्न करना ही हमारा सिद्धान्त रह जाता है। ताकि वह अंग पूर्णतया कार्य करने लगे और बालक अपंग न हो जाये। चिकित्सा करते समय अधोलिखित बातों को अपनाना चाहिए।

(१) सर्वप्रथम बच्चे का स्वास्थ्य ठीक रखने का प्रयत्न करना चाहिए और उसको ऐसे पदार्थ खाने के लिए देने चाहिएँ जिससे उसका स्वास्थ्य अच्छा रहे। भोजन में जीवनीय तत्व अधिक हों।

(२) इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि उसको विबंध न हो, क्योंकि एक बार पोलियो का संक्रमण हो जाने के बाद आंत्र की गतिशीलता कम हो जाती है। जिससे उसको विबंध की शिकायत रहती है। इस अवस्था में बच्चे को 'लिक्विड-पेराफीन' या 'एगरोल' दूध में मिला कर दें। गाय के दूध को पीपल के साथ उबाल कर बालक को पिलाना चाहिए।

(३) बच्चा रात को सोते-सोते चिल्लाता है क्योंकि उसके पैरों में कभी-कभी चींटी के काटने के समान दर्द होता है और जब बच्चा करवट लेता है तो वह करवट न ले सकने के कारण चिल्लाता है। इस अवस्था में उसको सोते समय 'लारजेक्टिल' शामक औषधि दें, ताकि वह आराम

हो सके। लेकिन ऐसी औषधियों का अधिक प्रयोग करने पर बच्चे के मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पड़ता है, और उसका मस्तिष्क दुर्बल हो सकता है। इसलिए इसका अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस रोग में एक और बात महत्वपूर्ण है जिसके द्वारा बच्चे को रोग से छुटकारा मिल सकता है। क्योंकि इस रोग में मांसपेशियों की शिथिलता हो जाती है। ऐसी अवस्था में केवल 'फिजियोथैरेपी' ही काम में लायी जाती है जिसके अन्तर्गत तीन बातें आवश्यक हैं।

१. व्यायाम—यह एक महत्वपूर्ण क्रिया है जिसके द्वारा मांसपेशियों को कार्य करने का अवसर प्राप्त होता है। उन में रक्त संचार बढ़ता है। यदि बच्चा छोटा है तो उसे फर्श पर लिटा दें और पेट के बल चलने के लिये प्रेरित करें। और उसका जो अंग गतिहीन हो गया है उस अंग की गति कराएं। कम से कम ऐसा दिन में दस बार करें। यदि बच्चा थोड़ा बड़ा है तो उसे हाथ से पकड़ कर चलाने का प्रयत्न करें। उसको किसी गाड़ी द्वारा चलने का अभ्यास कराएं। ऐसा सुबह शाम दोनों समय करना चाहिए।

२. अभ्यंग—जो अंग मारा गया है उस अंग में अभ्यंग करना चाहिए। अभ्यंग अधिक जोर से नहीं करना चाहिए, इससे वहां के कोषाणु नष्ट हो जाने का भय रहता है। अतः मालिश धीरे-धीरे करें। आयुर्वेद में कई तेलों का प्रयोग किया गया है। जैसे महामाष तेल, महानारायण तेल, महालाक्षादि तेल, ये वातनाशक होते हैं, तथा साथ ही साथ बल को भी बढ़ाते हैं। महामाष (आभिष) का प्रयोग बहुत अच्छा है। यदि अभ्यंग प्रातः धूप में किया जाये तो उत्तम है, वैसे प्रातः-सायं दोनों समय अभ्यंग करना चाहिए।

३. सेक—पक्षाघात तथा वातरोगों के लिए यह भी एक महत्वपूर्ण तरीका है जिसके द्वारा उस स्थान पर गर्मी पहुंचाई जाती है। यह कई प्रकार से किया जा सकता है। साधारणतया रूई से या कपड़े से सेक कर सकते हैं। इससे वहां पर रक्तसंचार बढ़ेगा और उस अंग को शक्ति मिलेगी। आजकल सेक करने के लिए अनेक यंत्र प्रयोग किये जाते हैं।

औषधि चिकित्सा में आयुर्वेदीय चिकित्सा-क्षेत्र में अनेक वातनाशक औषधियों का ही प्रयोग कराया जाता है। क्योंकि आयुर्वेद में इस व्याधि को वातव्याधि के अन्तर्गत माना है।

आयुर्वेद में बृहत् वातचिन्तामणि का प्रयोग मात्रानुसार कराया जाता है। सामान्य स्वास्थ्य वृद्धि की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। इस के लिए मांसरस आदि का प्रयोग बच्चों में अल्प मात्रा में कर सकते हैं। यदि वह अंग जो मारा गया है या पतला पड़ गया हो तो मांसरस का सेवन अति लाभदायक होता है। क्योंकि आयुर्वेद में कहा है कि मांस धातु से मांस धातु बढ़ती है। इसी सिद्धांत के अनुसार मांसरस का सेवन किया जा सकता है।

ऐलोपैथिक चिकित्सा करते समय भी सामान्य स्वास्थ्य वृद्धि की ओर ध्यान दें। अर्थात् पेशियों की शिथिलता दूर करने के लिए उसे विटामिन बी-कम्पलेक्स देना चाहिए। आजकल ट्राइरेडिसोल एच० आदि देते हैं (सूचीवेध द्वारा)। साथ ही अन्य जीवनीय पदार्थों का सेवन कराना चाहिए जिससे उसका स्वास्थ्य अच्छा बना रहे।

एण्टी-पोलिओ-वैक्सीन—क्योंकि यह रोग एक बार हो जाने पर इसको रोका नहीं जा सकता, अतः अच्छा यही रहता है कि रोग का आक्रमण होने से पहले ही बच्चे को "पोलिओ वैक्सीन"

दिला दें और रोग से बचे रहें। यह वैक्सीन शहर के प्रत्येक बड़े अस्पताल से उपलब्ध हो सकती है। यदि किसी को पोलियो का आक्रमण हुआ है तो उसके ठीक हो जाने पर १४-१५ दिन तक भी उसके पास अन्य बच्चों को नहीं आने देना चाहिए। क्योंकि यह छूत की बीमारी है। अतः शीघ्र ही फैलती । जिसको पोलियो का संक्रमण हुआ है उसका जूठा भी अन्य बच्चों को न दें, तथा उसके मल-मूत्र आदि को भी दूर फेंकना चाहिए। और उसमें जीवाणुनाशक चीजें डाल देनी चाहिए।

यह रोग बच्चों को अपंग विकलांग कर देता है। अतः इस रोग के उत्पन्न होने के बाद ईश्वर ही उनका रक्षक होता है।

---

# हेमन्त, शिशिर की ऋतुचर्या

(सु० उ० अ० ६४,२१ से ३१)

हेमन्त ऋतु शीतल, रूक्ष, मन्द सूर्यताप होता है। हेमन्त की शीतलता से वायु के शीतगुण की वृद्धि होकर शरीर में वायु प्रकोप की सम्भावना रहती है। शीतसंस्पर्श से कोष्ठस्थ अग्नि अन्दर पिण्डीभूत होकर रस को शीघ्र सुखाती है, अतः स्निग्ध अन्न हितकारी है। प्रचुर घृत, तैल का सेवन करें। उष्ण भोजन करें। शरीर पर अगुरु का लेप करे। तीक्ष्ण पानों को पीयें। देह पर तैलाभ्यंग करके सुखोष्ण वारिकोष्ठ में अवगाहन करे। अंगारों से पूर्ण अंगीठी रख कर कौशेय आस्तरण बिछा कर उष्ण वस्त्रों को ओढ़ कर गर्भगृह में सोवें। अगुरुधूपयुक्ता पीनोरुजघनस्तनी स्त्री का आलिंगन करके, वृष्य वाजीकरण औषध सेवन करके मैथुन करें।

मधुर, तिक्त, कटु, अम्ल, लवण, क्षार, तिल, माष, शाक, दधि, इक्षुविकृति, सुगन्धि नवीन शालिधान्य का सेवन करें। प्रसह-क्रव्याद-बिलेशय-आनूप-औदक-प्लव पादी प्राणियों का मांस सेवन करें। स्वच्छ मद्यों को पीयें। पुष्टिकारक द्रव्यों का सेवन करें।

दिवास्वप्न, अजीर्ण का त्याग करें। चरक मत से लघु वातल आहार विहार, अल्पाहार प्रवात, उदमन्थ का त्याग करें।

शालीनता की सौम्य मूर्त्ति
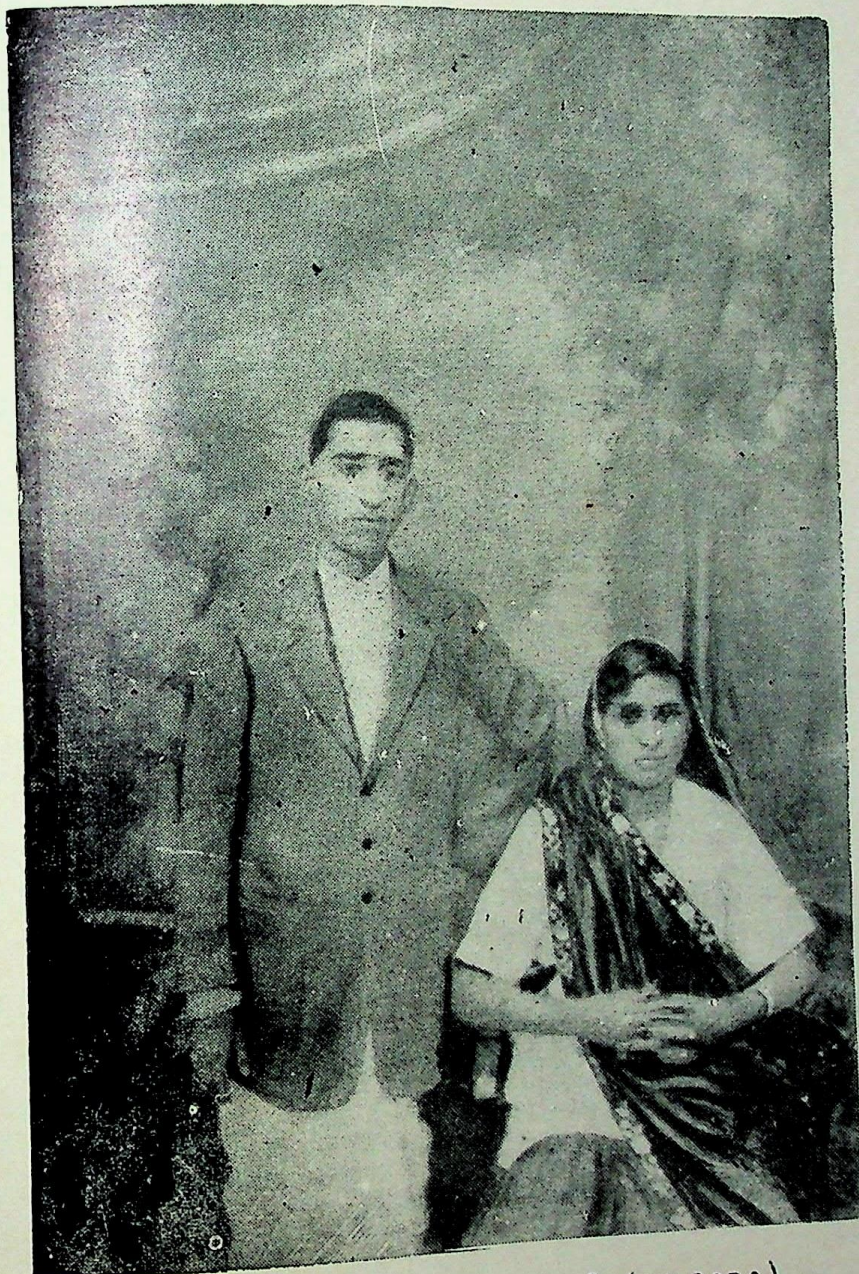
आचार्य वैद्य धर्मदत्त और उनकी धर्मपत्नी (सन् १६२६)

# फिरंग रोग

**[SYPHILIS]**

श्री अमरनाथ त्रिपाठी

आजकल इस विनाशकारी रोग का अत्यन्त प्रकोप है। पहले इसकी गणना बहुत ही भयंकर श्रेणी के रोगों में होती थी। परन्तु आजकल यह चिकित्सा की दृष्टि से साध्य हो गया है। यह एक संसर्गज रोग है, फिरंग रोग से ग्रस्त के साथ मैथुन करने से यह अन्य में फैलता है। इस रोग के प्रसार में मैथुन, आलिंगन, चुम्बन ९५ से ९८ प्रतिशत तक कारण है। इसके अतिरिक्त फिरंग रोग से ग्रस्त रोगी के कपड़े पहनने, उनके द्वारा प्रयोग में लाई जूठी चम्मच, चाय के कप, सिगरेट पाइप के प्रयोग से भी यह एक से दूसरे में आ जाता है। उपरोक्त कारण आगन्तुक कारण हैं। इसके अतिरिक्त यह एक ऐसा भयंकर रोग है जो पीढ़ी दर पीढ़ी तक अपने विनाशकारी चंगुल से ग्रस्त किए रखता है जिसे जन्मज (कन्जेनिटल-सिफलिस) कहते हैं।

कारण—इस रोग का कारण एक प्रकार का जीवाणु है जिसे 'स्पाइरोकीटापैलिडा' या 'ट्रेपोनेमा-पैलिडा' कहते हैं। जो त्वचा और श्लैष्मिक कला द्वारा शरीर में प्रवेश करते हैं और लसीका द्वारा रक्त में पहुंच जाता है। मैथुन के समय बालों की रगड़ से या अन्य कारणों से शिश्न में क्षत हो जाने से यह जीवाणु वहां अन्दर प्रवेश करता है।

लक्षण—लक्षण की दृष्टि से फिरंग रोग का वर्गीकरण चार अवस्थाओं में किया गया है। मैथुन या जीवाणु संक्रमण के बाद रोग को प्रकट होने में कुछ समय लगता है जिसे 'इन्क्यूवेशन पीरियड' कहते हैं, जो ६ सप्ताह का होता है। इसके पश्चात् एक कठोर व्रण सा बन जाता है जिसे हार्ड सेंकर (Hard Chancre) कहते हैं। यहीं से प्रथमा अवस्था प्रारम्भ होती है।

प्राइमरी सिफलिस—

जीवाणु-संक्रमण के ६ सप्ताह बाद प्रायः पुरुषों के शिश्नमणि, शिश्नमणि त्वचा, और स्त्रियों के भग या गुदपीठ पर एक छोटा सा कठोर दाना निकल आता है कभी कभी यह दाना ओष्ठ, अंगुली, स्तन तथा गुदा पर भी निकलता है। यह दाना (सैंकर) बटन की तरह कड़ा, गोल और दर्द रहित होता है। धीरे-धीरे यह बढ़ कर फूट जाता है और वहां पर एक व्रण बन जाता है। यह व्रण स्पर्श में कड़ा होता है इसी लिए इसे 'हार्ड सैंकर' कहते हैं। इस में किसी प्रकार का रक्तस्राव, पूयस्राव, अथवा पीड़ा नहीं होती है। सिर्फ थोड़ा सा लसीकास्राव होता है। यदि लसीकास्राव की परीक्षा सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा की जाय तो "ट्रेपोनेमा पैलिडा" नामक जीवाणु दिखाई पड़ते हैं।

'हार्ड सैंकर' प्रायः ७० प्रतिशत रोगियों में एक ही होता है। व्रण उत्पत्ति के एक या दो सप्ताह बाद लसीका ग्रन्थियां (लिम्फ ग्लेन्डस) बढ़ कर कठिन हो जाती है। कुछ दिन बाद यह व्रण लुप्त हो जाता है और एक व्रणचिन्ह (स्कार) छोड़ जाता है, प्रायः स्कार नहीं रहता है। व्रणोत्पत्ति के दो से तीन सप्ताह के बाद सीरोलेजी टेस्ट (वासरमैन टेस्ट) निगेटिव से पाजिटिव में बदल जाता है। यह ट्रेपोनेमा पैलिडा की वृद्धि का सूचक एक महत्वपूर्ण चिन्ह है। इसी आधार पर प्रथमावस्था के दो विभेद किए गए हैं।

(१) प्राइमरी सीरोपौजिटिव सिफलिस।

(२) प्राइमरी सीरो निगेटिव सिफलिस।

इस प्रकार प्रथमावस्था का निश्चय ट्रेपोनेमा-

पैलिडा की लसीकास्राव में उपस्थिति तथा लिम्फग्लेन्ड की सूजन से किया जाता है ।

सेकेन्डरी सिफलिस —

हार्ड सैंकर (कठिन व्रण) की उत्पत्ति के छह सप्ताह बाद द्वितीयावस्था प्रारम्भ होती है । इस अवस्था में फिरंग विष समस्त शरीर में व्याप्त हो जाता है । शरीर पर कई प्रकार के दाने निकल आते हैं । शरीर पर चकते (रैसेज), कण्ठशोफ (सोरथ्रोट), आकार में बढ़े हुए लिम्फग्लैन्ड, बुखार ये कई प्रकार की शारीरिक विकृतियां पैदा हो जाती हैं । रैसेज सबसे पहले उदर प्रदेश में निकलते हैं । ये रंग में लाल ताम्र की तरह होते हैं । बीस-बाइस दिन बाद कम हो जाते हैं ये रैसेज कई प्रकार के होते हैं । यथा–

१. मैक्यूलर (Macular), २. पैपुलर (Papular), ३. पस्चुलर (Pustular), ४. पिगमेन्टेड (Pigmented) । इन रैसेजों में किसी प्रकार की खुजलाहट तथा दर्द नहीं होती है । कण्ठशोफ के लक्षण होने पर गले में दर्द, निगलने में कठिनाई, तथा आवाज में भारीपन आ जाता है । उपरोक्त प्रकार के रैसेज प्रायः उन स्थानों पर होते हैं जहां श्लैष्मिक कला होती है और बाह्य त्वचा श्लैष्मिक कला से मिलती है, जैसे भग, ओष्ठ, गुदा पर निकलते हैं । जो लोग सिफलिस से ग्रस्त आदमी के द्वारा गुदा मैथुन कराते हैं, उनकी गुदा के चारों तरफ छोटे-छोटे मस्से निकल आते हैं जिन्हें 'कौन्डीलोमा' कहते हैं । इस के अतिरिक्त द्वितीय अवस्था में वंक्षण प्रदेश के अतिरिक्त सभी लिम्फग्लैन्डस बढ़कर कठिन हो जाती हैं । यकृत, प्लीहा भी आकार में बढ़ जाते हैं । ज्वर, शिरोवेदना, अस्थिवेदना, सन्धिवेदना, पान्डुता, भार का घटना, कनीनिकाशोफ (आइराइटिस), अभिष्यन्द दृष्टिमन्दता, उपद्रव भी रोगी में उत्पन्न हो जाते हैं ।

टरसियरी सिफलिस—

यदि समुचित चिकित्सा न की जाय तो तीसरी अवस्था उत्पन्न होती है । फिरंग रोग की यह अवस्था बहुत दुष्प्रभाव करने वाली होती है । बहुत दिनों से छिपा फिरंग रोग इस अवस्था में भयंकर दुष्प्रभाव के साथ प्रकट होता है । यह लगभग ५० प्रतिशत व्यक्तियों में ही होता है । रोगी के तीन-चार वर्ष तक पूर्णतया स्वस्थ रहने पर भी इस रोग का प्रकोप पुनः होता पाया गया है । इस अवस्था के प्रकोप में रोगी की स्वाभाविक शक्ति तथा आयु भी महत्वपूर्ण है । क्योंकि यह तृतीया अवस्था बालकों, वृद्धों, कमजोर व्यक्तियों में प्रायः होती है । अतः यह आवश्यक है कि फिरंग रोग से ग्रस्त हर रोगी की सीरोलोजीकल टेस्ट अवश्य करते रहना चाहिए । यदि टेस्ट पौजिटिव (अस्त्यात्मक) हो तो चिकित्सा को तब तक जारी रखना चाहिए जब तक टेस्ट नकारात्मक न हो जाय ।

इस अवस्था को मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया गया है ।

१. नोड्यूलर सिफलाइड (Noduler Syphilids)
२. गम्मेटा सिफलाइड (Gummeta Syphilids)
३. स्क्वैमस सिफलाइड (Squaneaus Syphilids)

इस अवस्था में शरीर में बहुत सी गांठों का निर्माण हो जाता है जिन्हें गम्मेटा कहते हैं । ये गम्मेटा मुख तथा नाक की श्लेष्मिक कला, यकृत, प्लीहा, हृदय, मस्तिष्क या किसी भी स्थान पर इस ग्रन्थि का निर्माण हो सकता है । ये गम्मेटा हड्डी की पेरीआस्टियम् (पर्यस्थिकला) में विशेष कर बनते हैं । जैसे कठोर तालु (Hard Palate) तथा लम्बी अस्थियों में । कठोर तालु में इस ग्रन्थि के बनने से छेद हो जाता है जिससे व्यक्ति

की आवाज में और खाने पीने की क्रिया में विकृति आ जाती है। नाक के पर्दे के आक्रान्त होने पर नाक नीचे को दब जाती है जिसे 'सैडिल नोज़' कहते हैं। मस्तिष्क या सुषुम्ना आक्रान्त होने पर पक्षाघात हो जाता है। ज्ञानेन्द्रियों के आक्रान्त होने पर वे अपने कार्य को करने में असमर्थ हो जाती हैं। इसी प्रकार यदि रक्त संवहन संस्थान आक्रान्त होता है तो धमनी खरता (आरटीरियो स्क्लीरोसिस) के कारण वे रक्तवेग को सहन करने में असमर्थ हो जाती हैं। अन्ततोगत्वा फट जाती हैं। महाधमनी तथा एओर्टिक वाल्व मुख्य रूप से आक्रान्त होते हैं। इसका सबसे बुरा प्रभाव सेन्ट्रल नर्वस सिस्टम् पर पड़ता है। जिससे पक्षाघात तथा उन्माद के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

## कन्जेनिटल सिफलिस (जन्मज फिरंग)

ऐसे व्यक्ति जिनकी सुचारु रूप से चिकित्सा नहीं हो पाती उनकी सन्तानें भी सिफलिटिक होती हैं। फिरंग रोग से गर्भ में ग्रस्त बालक पहले तो जीवित पैदा ही नहीं होता। इस लिए बार बार गर्भपात अथवा मृत सन्तान की उत्पत्ति करने वाली स्त्री को चाहिए कि वह अपना सीरोलोजिकल टेस्ट अवश्य करा लें। यदि फिरंग रोग से ग्रस्त सन्तान उत्पन्न हो जाती है तो दो सप्ताह से बारह महीने की सन्तान कुछ निम्नलिखित विकृतियों से ग्रस्त रहती हैं। जैसे उन के मुंह की श्लैष्मिक कला आक्रान्त रहती है जिससे निगलने में बच्चे को कठिनाई होती है, रोने चिल्लाने पर आवाज फटी हुई सुनाई पड़ती है। गुदा के चारों तरफ कौन्डीलोमा मिलते हैं। वह बूढ़े की शक्ल का दिखाई पड़ता है, क्योंकि झुर्रियां होती हैं। त्वचा पर कई प्रकार के रैसेज होते हैं। अन्त में वह सूखे रोग से ग्रसित होकर मर जाता है। पांच वर्ष से अधिक आयु के बच्चे में अन्धता, प्रायः श्रवण नाड़ी की क्षीणता से बहरापन, अस्थिनिर्माण में विकृति, जन्म से ही मुख में दांतों का पैदा होना, दांत बीच से कटा होना (हचिन्सनस टीथ)।

## चिकित्सा—

१. रक्षात्मक–फिरंग रोग की चिकित्सा शीघ्र करनी चाहिए। हम पहले ही कह चुके हैं कि यह रोग अधिकतर सहवास से उत्पन्न होता है। वेश्याओं तथा बाजारू औरतों के साथ जो लोग सम्भोग करते हैं वे इस रोग से ग्रसित हो जाते हैं। क्षणिक आनन्द के लिए मनुष्य जीवनभर के लिए एक अभिशाप ले लेता है। इतना ही नहीं वह अपनी पुश्त दर पुश्त को इस रोग से ग्रसित कर देता है। अतः मनुष्य को इस प्रकार के दुष्कर्म नहीं करने चाहिए। मैथुन के पश्चात् जनेन्द्रिय को भली प्रकार धो लेना चाहिए, फिर १ : २००० मरक्यूटिक-पोटैशियम-आयोडाइड या १ : २००० आक्सीसाइनाइड-आफ-मरकरी के घोल से धोना चाहिए।

यदि किसी स्थान पर इन्फेक्शन की शंका हो तो शीघ्र ही उपरोक्त घोल से धोकर उस स्थान पर ३३ प्रतिशत कैलोमल आइन्टमेन्ट को रगड़ना चाहिए और २४ घन्टे तक लगा हुआ छोड़ दें।

चिकित्सकों को चाहिए कि फिरंग रोग से ग्रस्त रोगी की चिकित्सा में प्रयुक्त यन्त्रशस्त्रों को भलीभांति कीटाणु विहीन कर लेना चाहिए। सिफलिस के रोगी के लिए प्रयुक्त इन्जेक्शन की सूई को फैंक देना चाहिए। बहुत ही सुरक्षात्मक उपाय करना चाहिए।

## क्यूरेटिव ट्रीटमेंट—

सिफलिस से ग्रस्त रोगी की चिकित्सा में एक बहुत ही महत्वपूर्ण पहलू है कि एक औषधि न

देकर बल्कि साथ ही कई एन्टी सिफलिटिक ड्रग्स का प्रयोग करना चाहिए। इस काकारण यह है कि ट्रेपोनेमा पैलिडा में यह विशेषता होती है कि वह अपनी दशा दवा के अनुकूल बनाता जाता है। परन्तु कई दवाएं साथ प्रयोग करने पर वह ऐसा नहीं कर पाता।

सिफलिस की चिकित्सा के लिए प्रयुक्त होने वाली औषधियां निम्न हैं--

(१) आर्सेनिकल प्रिपरेशन (२) मरक्यूरियल प्रिपरेशन (३) प्रिपरेशन आफ विस्मथ (४) पेन्सिलीन (५) अन्य एन्टीवायोटिक (६) आयोडाइड।

जब से पेन्सिलीन का आविष्कार हुआ, यही रामवाण औषधि हो गयी है। प्रारम्भ में वेन्जाइल पेन्सिलीन १०००००० यूनिट ८-८ घन्टे पर अथवा प्रोकेन पेन्सिलीन ६०००००० यूनिट प्रतिदिन दें। १०००००० प्रोकेन पेन्सिलीन तथा ३००००० यूनिट वेन्जाइल पेन्सिलीन साथ देने से और लाभ होता है। ऐसा १४ दिन तक देना चाहिए। कई रोगियों में पेन्सिलीन से प्रतिक्रिया हो जाती है। ऐसे रोगियों को एरिथ्रोमाइसीन ५०० मिलि ग्राम हर ६ घन्टे बाद १० दिन तक देना चाहिए। प्रतिक्रिया को समाप्त करने के लिए प्रतिदिन कैलसियम् ग्लूकोनेट १० सी० सी० शिरामार्ग से दें। इसके साथ एन्टीहिस्टामिनिक ड्रग तथा प्रेडिनीसेलोन ५ मि०ग्रा० प्रतिदिन दें।

इसके अतिरिक्त २ प्रतिशत आइल में प्रोकेन पेन्सिलीन तथा एल्यूमिनियम् मोनोस्टिएरेट की ६००००० यूनिट (प्रत्येक की) अवस्थानुसार प्रतिदिन या २, ३ दिन बाद इन्जेक्ट करने से अति लाभ होता है।

अन्तिम अवस्था-- इस में चिकित्सा थोड़ी भिन्न हो जाती है। सर्वप्रथम आयोडाइड प्रिपरेशन दिन में ३ बार देते हैं। प्रथम इसकी मात्रा ५, ५ ग्रेन ३ बार, फिर प्रतिदिन ५ ग्रेन बढ़ाते हुए ६० ग्रेन प्रतिदिन तक हो जाने पर बन्द कर देते हैं। इसके साथ प्रोकेन पेन्सिलीन ५००००० यूनिट प्रतिदिन से प्रारम्भ करना चाहिए तथा ६००००० यूनिट प्रतिदिन १४ दिन तक देना चाहिए। अथवा फोर्टीफाइड वेन्जाइल पेन्सिलीन एक से दो मेगा यूनिट प्रतिदिन १४ दिन तक दें। इसके बाद १० सप्ताह तक विस्मथ का कोर्स देना चाहिए, इन्जेक्सन विस्मथ .०२ ग्राम हर हफ्ते नितम्ब पर दें। इन इन्जेक्सन को देने के बाद अच्छी तरह रगड़ देना चाहिए। कई लोग आर्सेनिक प्रिपरेसन अधिक पसन्द करते हैं। इस के लिए सालवारसन (N. A. B.) का प्रयोग करते हैं।

कन्जेनिटल सिफलिस की चिकित्सा में वेन्जाइल पेन्सिलीन ६००० यूनिट प्रति पौन्ड शारीरिक भार के अनुसार १५ दिन तक।

# जातकर्म संस्कार

डाक्टर श्री कान्तिकृष्ण 'अपूर्व' एम० ए०, आयुर्वेदालंकार

सद्योजात शिशु के प्रथम श्वासग्रहण नाल-छेदन, नेत्ररक्षा तथा अन्य रक्षाकर्म के लिए जो कर्म कराये जाते हैं उन सब कर्मों का समावेश जातकर्म संस्कार में किया जाता है।

जन्म के बाद शिशु योनि से बाहर आने पर शीघ्र ही श्वासग्रहण की चेष्टा करता है। शिशु को प्रथम श्वास-ग्रहण में सुविधा हो सके—इसलिए शिशु के मुख, ओष्ठ, जिह्वा, तालु, कण्ठ को स्वच्छ अंगुलि में विशोधित रूई लपेट कर उससे साफ करें, ताकि कण्ठ में यदि कोई रुकावट हो तो वह दूर होकर प्रथम श्वासग्रहण में सुविधा हो सके। कभी-कभी कण्ठ में श्लेष्मा अत्यधिक गहराई तक भरा होता है, जो अंगुलि की पहुंच से दूर होता है। इस अवस्था में उसे निकालने के लिए चरक ने सैंधव तथा घृत से शिशु को कफ का वमन कराने के लिए कहा है। सैंधव को घृत में मिला कर कण्ठ में लगाने से कफ पतला हो जाता है जिसको निकालने में सुगमता हो जाती है। पाश्चात्य मत से शलाका में विशोधित रूई लपेट कर उससे शिशु के कण्ठ के रुके हुए कफ को साफ करते हैं। शिशु को पैर से उठा कर सिर को नीचा करने से भी कभी-कभी श्लेष्मा स्वयं बाहर आने लगता है जिसे स्वच्छ शलाका में या स्वच्छ अंगुलि में विशोधित रूई लपेट कर उससे बाहर निकाल सकते हैं। फिर यदि शिशु के मुख पर जरायु हो तो भी श्वासग्रहण में बाधा हो सकती है। अतः जन्म के तुरन्त बाद शिशु के मुख पर यदि जरायु लिपटा हो तो उसे साफ करना चाहिए। प्रसव के कारण पैदा हुए क्लेश को नष्ट करने के लिए शिशु के मुख पर बलातैल से पिचु को सिक्त करके रखा जाता है।

फिर नेत्र-रक्षा के लिए शिशु के नेत्रों की स्वच्छता पर भी ध्यान देना चाहिए। अपत्यमार्ग में से गुजरते समय शिशु की आंखों में दूषित योनिस्राव का कुछ संयोग हो जाता है। यदि दूषित स्राव से नेत्रों की रक्षा न की जाय तो दूषित स्राव के कारण आंखों में शोथयुक्त लालिमा पैदा हो जाती है, जिसे नवजात नेत्राभिष्यन्द (आप्थैल्मिआ निओनेटोरम) कहते हैं, जिसका अन्तिम दुष्परिणाम अन्धता होता है। अतः पहले विशोधित रूई के पिचु से आंखों को पोंछे। फिर टंकणाम्ल घोल (बोरिक लोशन) से आंखों को धोते हैं। फिर सिलवर नाइट्रेट घोल आधा प्रतिशत की बूंद दोनों आंखों में डालते हैं। शिशु की आंखें एक दो दिन के लिए लाल हो सकती हैं, परन्तु जीवन भर के लिए आंखें सुरक्षित हो जाती हैं।

इस प्रकार कण्ठ-शुद्धि तथा नेत्रप्रक्षालन के समय तक शिशु इन क्रियाओं को न सह सकने के कारण प्रायः जोर से चिल्लाता है जिससे उसके स्वस्थ होने का आभास मिलता है। कभी-कभी कष्ट-प्रसव या निजी दौर्बल्य के कारण शिशु नहीं रोता। उस अवस्था में चरक ने शिशु के कर्णमूल के पास अश्मसंघट्टन करने, शीतोदक, उष्णोदक से शिशु के मुख पर छींटे देने, कृष्णकपालिका शूर्प से जोर से हवा करने के लिए कहा है ताकि इन क्रियाओं से शिशु में प्राणों का प्रत्यागमन श्वासग्रहण करने के कारण हो जाए। इन क्रियाओं को करने से शिशु का मन चौंक जाता है और सहसा चौंकने के साथ ही शिशु अकस्मात् श्वास-ग्रहण भी करता है। कर्णमूल में अश्मसंघट्टन, तथा कृष्णकपालिका शूर्प के द्वारा हवा करने से

जहां शिशु का मन सहसा चौंकता है वहां शिशु के मन में अज्ञात त्रास भी पैदा होता है जिससे शिशु सहसा श्वासग्रहण का प्रयत्न करता है। सुश्रुत जातकर्म के लिए कहते हैं कि तुरन्त पैदा हुए शिशु के मुख पर से जरायु को हटा कर, सैंधव युक्त घृत से कण्ठ को स्वच्छ करके, शिशु के सिर पर घृतयुक्त पिचु को रखें।

अब शिशु के नाल पर ध्यान दें। शिशु के नाल-छेदन-विधि को 'नाड़ीपरिकल्पन' कहते हैं। शिशु का जन्म होने के बाद जब वह प्रथम श्वास-ग्रहण करता है, तब शिशु के फुप्फुसों में रक्त परिमाण में अधिक जाने लगता है और जन्म से पहले श्वासप्रश्वास की क्रिया करने वाली अपरा में अब रक्त की मात्रा कम जाने लगती है। कुछ क्षणों में रक्तसंचार की स्थिति में परिवर्तन हो कर नाल में रक्तसंचार बिलकुल बन्द हो जाता है, जिसका ज्ञान नाल में स्पन्दन बन्द होने से होता है। अतः नालछेदन के लिए नाल में बन्धन तब लगायें, जब नाल का स्पन्दन सर्वथा बन्द हो जाय। शिशु जन्म के बाद जातकर्म करने में जितना समय लगता है, उतने समय में नाल का स्पन्दन स्वयमेव बन्द हो जाता है। चरक ने अश्मसंघट्टन आदि जातकर्म के बाद नाड़ी-कल्पन करने को कहा है। यदि योनि से बाहर आने के तुरन्त बाद शिशु का नाड़ीकल्पन किया जाय तो शिशु आठ तोले रक्त से वंचित हो जाता है क्योंकि नालस्पन्दन बन्द होने के समय तक अपरा से शिशु के शरीर में आठ तोला रक्त प्रविष्ट होता है।

नालछेदन से पूर्व नाल में दो बन्धन लगाते हैं। एक बन्धन शिशु की नाभि से दो इंच दूर और दूसरा बन्धन स्त्री के भग से तीन इंच दूर, इस प्रकार दो बन्धन लगाते हैं। चरक ने दो बन्धनों का उपयोग करने को कहा है। सुश्रुत, अष्टांग-हृदय, अष्टांगसंग्रह में एक ही स्थान पर नाल में बन्धन का विधान बताया है। शिशु की नाभि के पास नाल में एक बन्धन की जरूरत होती है। क्योंकि यदि यह बन्धन न लगाया जाय तो नाल-छेदन के बाद उससे रक्तस्राव होने का भय होता है। दूसरे बन्धन की उतनी जरूरत नहीं भी होती, और यदि न भी लगाया जाय तो कोई हानि नहीं। दूसरे बन्धन का स्तेमाल रक्तस्राव की सम्भावना को दूर करने के लिए, और यमल गर्भ में रक्तस्राव को रोकने के लिए किया जाता है। नाल में बन्धन के लिए विशोधित क्षौमसूत्र, तथा दृढ़ कार्पाससूत्र का उपयोग चरक ने बताया है। इन दोनों बन्धनों के बीच में से नाभि के पार्श्व-वर्त्ती नाल के बन्धन से डेढ़ इंच दूर नाल को काटना चाहिए। नालछेदन के लिए प्रयुक्त शस्त्र स्वर्ण, रजत, लौह से निर्मित होने चाहिएं और अत्यन्त विशोधित किये जाने चाहिएं ऐसा चरक ने आदेश किया है। नालछेदन करने पर यदि रक्तस्राव न रुकता हो तो प्रथम नालबन्धन के पास एक अन्य बन्धन भी लगाना चाहिए।

नालछेदन के बाद शिशु की नाभि से संलग्न नाल प्रायः पांचवें दिन नाभि से स्वतन्त्र हो जाती है। कभी-कभी पन्द्रह दिनों तक भी नाल नाभि से अलग नहीं होती। उस अवस्था में नाल को इस प्रकार सुरक्षित रखें कि वह शीघ्र सूख जाय, और मल-मूत्र से दूषित न हो सके, और उसे बलात् खींचे नहीं, शिशु की छिन्न नाल की सुरक्षा के लिए व्रणित नाल को किसी स्वच्छ मृदु वस्त्र की तीन इंच चौड़ी, चार इंच लम्बी, कुछ मोटी तथा मध्य में छिद्रयुक्त तह बना कर इस छिद्र में व्रणित नाल को रख कर उस वस्त्र की तह को नाभि पर रखें, और बाद में उस पर नाल को रख कर तथा टंकणाम्ल (बोरिक एसिड) का

अवचूर्णन करके नाल के ऊपर से उदर के चारों ओर पट्टी बांध दें। नाभि से जब तक व्रणित नाल सूख कर अलग न हो जाय तब तक इसी प्रकार से उसे सुरक्षित रखें। नाड़ी परिकल्पन की इन प्रक्रियाओं में मलिनता होने से पूयजनक कीटाणुओं के द्वारा संक्रमण हो कर, व्रणित नाभि-नाल का पाक हो कर नाभिपाक भी हो सकता है। अष्टांगसंग्रह ने नालछेदन के बाद शिशु की नाभि पर कुष्ठ तैल या क्षीरिवृक्षकषाय या सर्वगन्धोदक से सेचन करना बताया है। कुष्ठ में उत्पत तैल होता है जो जीवाणुओं को नष्ट करता है, और पूयोत्पादक जीवाणुओं को भी नष्ट करता है। सुश्रुत का मत है कि जातकर्म करने के बाद शिशु की नाभि से नाल को आठ अंगुल नाप कर वहां पर सूत्र से बांध कर उसके आगे से नाल को काटे, फिर उस व्रणित नाल को शिशु की ग्रीवा में सूत्र से ठीक तरह बांध दे ताकि व्रणित नाल लटक कर दूषित तथा जीवाणुसंक्रमित न हो सके।

अब व्रणित नाल वाले शिशु को जीवाणु संक्रमण से तथा ग्रहों के आक्रमण से बचाने के लिए शिशु की देहशुद्धि के लिए, तथा वायुमण्डल की शुद्धि के लिए 'रक्षाकर्म' का विधान है। मधु तथा घृत के साथ सुवर्ण को घिस कर अनामिका अंगुली से शिशु को चटाये। शिशु को बला तैल से अभ्यंग करके सन्दोहण, क्षीरिवृक्षकषाय जल से, सर्वगन्धयुक्त जल से (चातुर्जातक, कपूर, कंकोल, अगुरु, कुंकुम, लवंग), प्रतप्त स्वर्ण रजत को बुझाये जल से, कपित्थपत्रकषाय से—दोष काल शक्ति को देख कर स्नान कराये। गर्भावस्था में गर्भोदक के सम्पर्क में शिशु अधिक काल तक रहता है। गर्भोदक से रक्षा के लिए शिशु के देह पर एक चिकना द्रव्य उल्ब (वर्निक्स केज़ीओजा) होता है, जल से यह नहीं घुल पाता है। तैल से यह शीघ्र विलीन होता है। अतः सारे शरीर पर बला तैल का अभ्यंग करना बताया है। १०० फा० उष्ण जल से स्नान कराना उचित है। पाश्चात्य मत से भी शिशु को स्नान से पहले जैतून तैल की मालिश करने के लिए कहा गया है, स्नानार्थ जल को द्रोणी में दो-तीन इंच तक भर लें, ताकि शिशु के मुख में पानी नहीं भर सके। मुख, सिर, देह को साबुन मल कर भी धोया जा सकता है। स्नान निर्वात स्थान में कराये ताकि शीत वायु नहीं लगे।

सुश्रुत कहते हैं कि स्नान के बाद शिशु को क्षौम वस्त्र में लपेट कर क्षौम वस्त्र से आच्छादित शय्या पर सुलाये। फिर पीलु, बेर, नीम, फालसा इनकी टहनियों से हलकी-हलकी हवा करे, जिससे मक्खी, मछर से रक्षा हो सके। शिशु के सिर पर ब्रह्मरंध्र स्थान पर, तैल का पिचु रखे। शिशु को रक्षोघ्न धूप से धूपित करे निम्बपत्र, सरसों, नमक घृत – इनके धूम्र को रक्षोघ्न बताया गया है। शिशु के हस्त, पाद, शिर, मस्तक, ग्रीवा में रक्षोघ्न द्रव्य बांधें। वचा, कुष्ठ, हिंगु, सर्षप, लशुन, जटामांसी, तुलसी, द्रोणपुष्पी को रक्षोघ्न कहा है। शिशु के गृह में तिल, अलसी, सरसों को बिखेर देवे, शिशु-गृह में 'अग्निहोत्र' करे। शिशु की परिचर्या 'व्रणित' की तरह करे – क्योंकि शिशु की नाभि नालछेदन के कारण व्रणित होती है। चरक कहते हैं कि शिशु-गृह के दरवाजों पर खैर, बेर, पीलु, परुषक की शाखाओं को लटका कर रखें। नामकरण से पूर्व तक दोनों समय 'तण्डुलबलिहोम' कराये। सूतिकागार में काल का विचार करके खण्डित तण्डुल सहित तिन्दुक की लकड़ी को जला कर इस प्रकार से अग्नि को पैदा करे ताकि वहां धुआं न हो। इस प्रकार दस-बारह रात तक स्त्रियां घर में गीत-स्तुति-वादित्रों के द्वारा नवजात शिशु की रक्षा करें। अथर्ववेद के ज्ञाता ब्राह्मण शिशु के लिए मंगलकर्म, शान्तिकर्म करें, ताकि शिशु की रक्षा ग्रहों से हो सके।

० ० ०

# Peptic ulcer : A Psychosomatic Disease

# पक्विव्रण : एक मनःशारीरिक रोग

डाक्टर श्री राजेन्द्रकुमार, आयुर्वेदालंकार, एम० ए०

सामान्यतः रोगों की उत्पत्ति के दो अधिष्ठान माने गये हैं, (क) शारीरिक, (ख) मानसिक। शरीर में विकृतिजन्य (Pathological) परिवर्तनों के कारण जो रोग होते हैं, उन्हें शारीरिक रोग (Somatic disease) कहते हैं। जो रोग मानसिक कारणों से उत्पन्न होते हैं उन्हें मानस रोग (Psychological disease) कहते हैं। परन्तु जिन रोगों का अधिष्ठान शारीरिक, मानसिक दोनों हो उसे मनःशारीरिक रोग (Psychosomatic disease) कहते हैं।

पेपटिक अलसर आमाशय तथा ग्रहणी की अन्तःश्लैष्मिक कला में उत्पन्न होने वाले व्रण को कहते हैं। पेपटिक अलसर अन्ननलिका के निचले भाग में, आमाशय, तथा ग्रहणी में, और क्षुद्रान्त्र के प्रारम्भिक भाग (Jajunum) में उत्पन्न हो सकता है। पेप्सीन के द्वारा पैदा होने के कारण इसको पेपटिक अलसर कहते हैं।

भोजन को जब मुख के द्वारा निगलते हैं, तो वह अन्ननलिका द्वारा आमाशय में पहुंचता है, आमाशय उदरगुहा में बांयी ओर स्थित एक अर्द्ध-चन्द्राकार थैली होती है, यहां पर भोजन का पाचन होता है। आमाशय में उत्पन्न आमाशयिक रस (Pepsin) में हाइड्रोक्लोरिक एसिड की मात्रा सबसे अधिक होती है। यहां पर प्रोटीन पर क्रिया होकर वह पेप्टोन (Peptones) में परिवर्तित हो जाता है। इसके पश्चात भोजन आगे बढ़ता है, और आमाशय के मुद्रिकाद्वार (Pyloric end) से होता हुआ ग्रहणी में पहुंचता है, यह छोटी आंतों का प्रारम्भिक भाग है जिसकी रचना अंग्रेजी के 'सी' के आकार की है। वहां पर पैंक्रियाज से आये हुए अग्न्याशयिकरस (Pancreatic juice) तथा पित्ताशय से पित्तनलिका द्वारा आये पित्तरस के द्वारा भोजन का परिपाक होता है।

आमाशय तथा ग्रहणी की रचना मुख्यतः गोल, लम्बे, तिरछे, तीन प्रकार के पेशीसूत्रों से हुई है। आमाशय के मुद्रिका द्वार (Pyloric end) पर गोलाकार सूत्र अधिक होते हैं, और हार्दिक द्वार (Cardiac end) के पास तिरछे पेशीसूत्रों की अधिकता होती है। आमाशयगात्र पर लम्बे गोल पेशीसूत्र अधिक होते हैं जो कि अन्ननलिका से निरन्तर हैं। इन पेशीसूत्रों के संकोच विकास से जो क्रिया उत्पन्न होती है उसे पुरःसारणगति (Peristalsis) कहते हैं। पुरःसारणगति के द्वारा भोजन के परिपाक में सहायता होती है, और आन्त्र में भोजन आगे बढ़ता जाता है।

हेतु सम्प्राप्ति--(१) लगभग १० प्रतिशत रोगियों में वंशपरम्परा से उन के आमाशय में हाइड्रोक्लोरिक एसिड अधिक उत्पन्न होता है। इन रोगियों के आमाशय में अम्लता क्षारीयता को सम रखने वाला श्लैष्मस्राव (Mucusjuice) कम उत्पन्न होता है। इस लिए आमाशय की श्लैष्मिककला पर पेपसिन तथा हाइड्रोक्लोरिक एसिड का प्रभाव अधिक पड़ता है। इनमें तीक्ष्ण अग्नि होती है। ये तीक्ष्णाग्नि प्रकृति के होते हैं। इन लोगों में भोजन के बाद आमाशय शीघ्र खाली हो जाता है। क्योंकि इनके आमाशय में पाचक रस की अधिकता होती है। आमाशय की गति भी अधिक तीव्र होती है।

(२) दांत, टौन्सिल, नासा, कण्ठमार्ग, या

(१) पंडित देवराज विद्यालंकार (सपत्नीक) श्रीमती विद्यावती देवी (२) आचार्य धर्मदत्त जी वैद्य (सपत्नीक) श्रीमती सावित्री देवी, (३) पं० यज्ञदत्त विद्यालंकार (सपत्नीक) श्रीमती अमरदेवी, (४) रामपाल कपूर
(सन् १९२४)

आन्त्रपुच्छ (Appendix) में स्थानीय विकृति होना। क्योंकि इन स्थानों का पूयद्रव्य आमाशय में जाने से विक्षोभक प्रभाव करके आमाशय शोथ पैदा कर सकता है।

(३) चाय, कौफी, तम्बाकू, शराब का अधिक प्रयोग।

(४) अचार, चटनी, मसाले, सिरका, अम्ल, मिर्च, (पित्तकारक) उष्ण, तीक्ष्ण, तथा विदाही, तले हुए द्रव्यों का अधिक मात्रा में सेवन करना। ये द्रव्य पाचकरस को, तथा आमाशयगति को बढ़ाने वाले होते हैं।

(५) मानसिक चिन्ता, क्रोध, मानसिक तनाव की स्थिति का होना (Vagus Stimulation)। तीक्ष्णाग्नि प्रकृति के लोग शीघ्र ही चिन्तित, क्रोधित, व्याकुल हो जाते हैं, अतः उनको यह रोग प्रायः होता है। यह रोग मृदु रूप में हो तो मनोवेगों का उत्पत्ति होने से तीव्र हो जाता है।

(६) पक्तिव्रण रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में चार गुना अधिक होता है। शायद पुरुषों को आर्थिक संकटों के कारण मानसिक व्याकुलता अधिक होती है। ग्रामों की अपेक्षा शहरों में यह रोग ज्यादा पाया जाता है। मध्यम आयु में २५ से ५० वर्ष की आयु में धीरे-धीरे अज्ञात रूप से यह शुरू होता है। चिरस्थायी अजीर्ण के लक्षणों के रूप में बना रहता है।

चिन्ह तथा लक्षण—पक्तिस्थलव्रण के बिल्कुल प्रारम्भ में रोगी को लम्बे समय से अजीर्ण (Dyspepsia) की शिकायत रहती है। आमाशय में भारीपन मालूम होता है, कब्ज को शिकायत रहती है। धीरे-धीरे आमाशय में अम्लता की मात्रा बढ़ती है (Hyperchlorhydria), जिस से आमाशय तथा ग्रहणी में सूजन हो जाती है। इस स्थिति को आमाशयशोथ, ग्रहणीशोथ कहते हैं। इस में पहले तो विदग्धाजीर्ण (Hyperchlorhydria) के लक्षण भोजनोत्तर उदरशूल, पैत्तिकशूल, पित्तछर्दि, अम्लोद्गार, दाह होते हैं। जब अम्लरस की मात्रा अधिक बढ़ने से क्षत हो जाता है, तब पक्तिव्रण के अन्य लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं। किसी किसी रोगी में रक्तवमन प्रथम लक्षण होता है।

पक्तिस्थलव्रण के रोगी में सामान्य लक्षण उदरशूल है। उदर, वक्ष, कण्ठ प्रदेश में जलन होती है। इस लक्षण को अम्लपित्त कहते हैं। पेट में हल्का दर्द बना रहता है, भोजन के बाद दर्द बढ़ जाता है (पक्तिशूल)। भोज्यपदार्थ तथा क्षत की स्थिति (Location) के अनुसार दर्द भोजन के आधे घण्टे बाद से लेकर तीन घण्टे बाद तक प्रारम्भ होता है (परिणामशूल)। यदि भोजन में भारी, शीघ्र न पचने वाले, तथा उष्ण, मिर्च वाले पदार्थ अधिक होते हैं तब दर्द जल्दी प्रारम्भ हो जाता है। यदि व्रण आमाशय के ऊपरी भाग हार्दिक द्वार के पास हो तो भी दर्द अपेक्षाकृत जल्दी शुरू हो जाता है। आमाशयिक व्रण में जलनयुक्त तीव्र दर्द पेट के ऊपर बांयी ओर होता है। यदि ग्रहणीक्षत हो तो दर्द कुछ दाहिनी ओर होता है, यह दर्द पीठ तथा कमर की ओर भी संचार करता है। एक घंटे या कुछ अधिक देर बाद क्षारद्रव्य (Alkalies) लेने से या वमन होकर हाइड्रोक्लोरिक एसिड बाहर निकल जाने से दर्द में आराम आ जाता है।

इसके अतिरिक्त उबकाई, उल्टी, भोजनोपरान्त पेट में भारीपन, डकारें, हृदय में जलन, जीभ का मैला होना तथा कभी-कभी जलन के साथ आंव के दस्त आना ये लक्षण भी होते हैं (विदग्धाजीर्ण)।

उदर की त्वचा पर स्पर्श करने से भी दर्द

होता है (Tenderness)। कभी-कभी भूख अधिक लगती है, परन्तु दर्द के भय से रोगी ठीक से भोजन नहीं करता है। अतः दुर्बलता काफी बढ़ जाती है।

मनोवैज्ञानिकों तथा चिकित्सकों ने पक्वित स्थलव्रण और मनोवेगों के बीच एक निश्चित सम्बन्ध का अध्ययन किया है, अनेक रोगियों में यह देखा गया है कि उनके आमाशय में भारीपन, शूल, उबकाई और पेट से रक्त का आना लक्षण चिंता, क्षोभ (Irritation), व्याकुलता (Stress) आदि मानसिक संवेगों के उपस्थित होने पर बढ़ जाते हैं। रोगी इन संवेगों से रोग बढ़ जाने की स्थिति से परिचित होते हैं। अनेक बार यदि रोगी इन संवेगों के प्रति सतर्क रहता है तो लक्षण नहीं बढ़ने पाते। परन्तु मनोवैज्ञानिकों का यह मत है कि रोगी प्रायः संवेगों के प्रति जागरूक नहीं रहता। इसके साथ ही चिकित्सकों तथा मनोवैज्ञानिकों का विश्वास है कि चिन्ता या मानसिक व्याकुलता से पक्वितस्थल व्रण उत्पन्न हो सकते हैं। यदि पक्वितव्रण का रोगी सदा चिन्तित रहता है तो उसको कष्ट बढ़ जाता है। चिन्ता की स्थिति में आमाशय तथा ग्रहणी की श्लैष्मिक कला की रक्तवाहिनियां आकार में कुछ फैल जाती हैं, तथा उक्त अंगों में पाचक स्राव भी अधिक पैदा होने लगता है। इन के परिणाम-स्वरूप आन्त्र में तरंगगति भी बढ़ जाती है। यहां पर यह भी देखा गया है कि भय, विषाद, आत्म-ग्लानि (Depressive emotions) की स्थिति में आमाशय का बल (Tone) कम होकर तरंगगति भी कम हो जाती है। जब कि चिन्ता की अवस्था में आमाशय की पेशियों में उत्तेजना बढ़कर तरंग-गति बढ़ जाती है। आमाशय में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की अधिकता तथा रक्तवाहिनियों के आकार में फैलाव के कारण आमाशय की कला प्रभावित होने लगती है। तीव्र मनोवेग क्रोध से (Aggressi-veemotion) आकृति लाल हो सकती है तो आमाशय में भी रक्तगति बढ़कर उसमें भी लालिमा हो जाती है, जिससे बाद में क्षत पैदा हो जाता है।

संवेग तथा आमाशयपच्यमानाशयिक क्रिया-(Gastroduodenal Function), विशेष गुणों वाले व्यक्तियों का, और विशेष प्रकार की संवेगों का प्रभाव आमाशय तथा पच्यमानाशय की क्रिया पर क्या पड़ता है, इसका अध्ययन यहां किया गया है, कुछ व्यक्तियों के व्यक्तिगत जीवनवृत्तान्त तथा उनके गुणों की परीक्षा एक बड़े मनोवैज्ञानिक ने की है।

परीक्षा के लिए पक्वितव्रण के ३० रोगी लिए गये, जिन्हें एक्सरे तथा शल्यकर्म द्वारा निदान किया गया था, जिसमें से २५ रोगियों की ग्रहणी में क्षत था, पांच रोगियों को आमाशयक्षत था, इनमें से २७ रोगी पुरुष तथा ३ महिलाएं थीं। इनकी आयु १६ से ४५ वर्ष के अन्दर थी। दो रोगियों की आयु ४५ वर्ष से अधिक परन्तु ६४ वर्ष से कम थी। इनके अतिरिक्त ३ रोगी आमाशयशोथ तथा ग्रहणीशोथ के थे तथा १३ स्वस्थ व्यक्ति भी परीक्षार्थ लिए गये थे जिनके आमाशय या ग्रहणी में कोई विकृति नहीं थी।

उक्त रोगियों के व्यक्तित्व, गुण, प्रतिक्रियाओं में भिन्नता थी। उनमें से कुछ रोगी अत्यन्त सामाजिक तथा बाह्य प्रवृत्तियों वाले थे। दूसरे प्रकार के रोगी अन्तःप्रवृत्ति के गम्भीर तथा अधिक मननशील थे। पुरुष रोगी शारीरिक विकार के लक्षणों की शिकायत किया करते थे, जिन लक्षणों में पेट के ऊपरी भाग में दर्द तथा उबकाई प्रमुख थे। उन्होंने चिन्ता, मानसिक तनाव अन्य संवेगात्मक कठिनाई, तथा व्यक्तित्व से सम्बन्धित या

अनुकूलता (Adjustive) की कठिनाइयों का कभी संकेत नहीं किया, वे व्यक्ति अपने जीवन में सफल तथा ठीक प्रकार से समयानुकूलित (Adjusted) प्रतीत होते थे, परन्तु फिर भी उनके व्यक्तिगत जीवनवृत्तान्त से यह पता लगता था कि उनके स्वाधीनतापूर्ण विचारों के पीछे अत्यन्त पुरानी चिन्ताएं, या विफलता, या निराशा के भाव उनके मानस पटल पर छाये हुए थे। उन की मानसिक प्रतिक्रियाएं क्रोध, ईर्ष्या, स्वयं को अपराधी पाकर स्वयं को धिक्कारने लगना तथा आत्मग्लानि से युक्त थीं। आम तौर पर पक्तिव्रण के उन रोगियों में क्रोध ईर्ष्या व चिन्ताओं की पृष्ठभूमि में पश्चाताप तथा स्वयं को अपराधी समझकर धिक्कारने आदि की मानसिक प्रतिक्रियाएं विद्यमान थीं।

आगे खोज करने से पता चला कि पक्तिव्रण के रोगियों के मानसिक तनाव या चिंता के लिए भिन्न-भिन्न परिस्थितियां उत्तरदायी हैं। उनमें से कुछ लोगों को पारिवारिक भार, या मित्रों में उचित सम्मान नहीं मिलने के कारण मानसिक सूनापन सा अनुभव होता है। कई पुरुष अपनी पत्नी के अनुचित व्यवहार या अपने प्रति पत्नी द्वारा उदासीनता का व्यवहार, सहवास की अनिच्छा, इन कारणों के कारण परेशानी का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार पति के अनुचित व्यवहार के कारण महिलाओं में भी चिन्ता उदासीनता तथा असंतोष के भाव थे।

उपरुग्ण उपलब्धियां (Clinical Findings)—उपरोक्त पक्तिस्थलव्रण के तीस सभी रोगियों की उन बातों में, जिस समय रोग का प्रारम्भ होता है, और रोग की पुनरावृत्ति होती है, और जो आमाशय–पच्यमानाशय गत लक्षण होते हैं, और जो रासायनिक संवेगात्मक प्रतिक्रियाएं होती हैं, परस्पर सम्बन्ध स्पष्टतया स्थापित किया जा सकता है। पक्तिस्थलव्रण के लक्षण तब तक उत्पन्न नहीं होते जब तक रोगी प्रतिकूल वातावरण की स्थिति में नहीं पहुंच जाता, या एक सीमा तक मानसिक खिचाव की स्थिति में नहीं पहुंच जाता। इसलिए रोगी का जब जब मानसिक तनाव कम होता जाता है तब तब रोगी में आमाशयपच्यमानाशयगत लक्षण भी कम हो जाते हैं, और जब किसी कारण से मानसिक तनाव बढ़ जाता है, तब लक्षण भी बढ़ जाते हैं।

**परीक्षण के तौर पर पैदा किए गए संवेगात्मक और आमाशय पच्यमानाशयगत परिवर्तन:—**

मनोविज्ञान प्रयोगशाला के अन्दर कृत्रिम रूप से निराशा, क्रोध, असंतोष, चिन्ता, अपराध आदि के मानसिक संवेग उत्पन्न करके पक्तिस्थलव्रण के रोगियों तथा स्वस्थ मनुष्यों में परीक्षण किए गये और आमाशयिक क्रिया पर उन संवेगों का जो प्रभाव होता है उसका अध्ययन किया गया है।

इस प्रयोग के लिए २६ व्यक्ति लिए गये। इनमें से ९ रोगी ग्रहणीव्रण के थे। एक रोगी आमाशय व्रण का था, और तीन रोगी आमाशय-ग्रहणीशोथ के थे। शेष १३ व्यक्ति साधारण स्वास्थ्य वाले थे। इन पर कुल १६५ अवलोकन किए गये जिनमें से ८९ अवलोकन ग्रहणीव्रण के रोगियों पर, ४ अवलोकन आमाशय व्रण के रोगियों पर, १२ अवलोकन आमाशयग्रहणीशोथ के रोगियों पर, तथा शेष ६० सामान्य व्यक्तियों पर अवलोकन किया गया।

परीक्षण विधि:—१२ घन्टे के लंघन के बाद सब व्यक्तियों को प्रातःकाल बुलाया गया। रोगी को आराम से बिठाकर उसके पेट में नाक द्वारा एक रबर नलिका डाल दी गई। ५ से १० मिनट के बाद आमाशय से रस निकाला जाता था।

बांयें हाथ की अंगुली में एक थर्मामीटर लगाकर रखते है। ताकि १ से ५ मिनट के अन्तर से उस का तापक्रम नापा जा सके। इस सम्पूर्ण विधि को ब्रन्स्विक (Brun swick) महोदय ने प्रारम्भ किया।

अवलोकन का समय लगभग १।। घंटे से दो घंटे तक लगता था। अन्त में आमाशयिक रस को माप लेते हैं तथा उसमें हाइड्रोक्लोरिक एसिड म्यूकस व पित्त की मात्रा को अलग नापते हैं।

उपरोक्त परीक्षण के समय यद्यपि व्यक्तियों को अत्यन्त आराम की अवस्था में रखा गया। फिर भी वे अपनी व्यक्तिगत समस्याओं के कारण असुविधा महसूस करते थे, और उन्हें समझाने पर कुछ आराम आता था। अधिकांश व्यक्तियों में प्रारम्भ में आमाशय की अवस्था कुछ बिगड़ गई। परन्तु शीघ्र ठीक भी हो गई। पुनः कुछ समय के विश्राम के पश्चात् उनसे दो प्रकार से साक्षात्कार किया गया। प्रथम प्रकार के साक्षात्कार में रोगियों पर उन्हीं प्रकार के मानसिक चिंता आदि संवेगों–को पैदा किया ताकि उन संवेगों की अवस्था में आमाशय–ग्रहणी गत परिवर्तन का अध्ययन किया जा सके।

दूसरे प्रकार के साक्षात्कार में उन्हें मानसिक सान्त्वना दी गई जिससे उनके आमाशयगत अस्वाभाविक परिवर्तन समाप्त होकर आमाशय सामान्य अवस्था में आ गये।

परिणामः––स्वस्थ तथा रोगी व्यक्तियों के आमाशयिक रसों में हाइड्रोक्लोरिक एसिड की मात्रा व्यक्तिशः भिन्न-भिन्न थी। परन्तु मानसिक संवेगों की अवस्था में हाइड्रोक्लोरिक एसिड की मात्रा पर्याप्त बढ़ गई थी। हाइड्रोक्लोरिक एसिड की मात्रा बढ़ने के साथ तरंगगति (Peristalsis) पर भी प्रभाव पड़ा। कम समय के लिए कभी अधिक समय के लिए तरंग गति बढ़ गई, परन्तु प्रत्येक बार हाइड्रोक्लोरिक एसिड की वृद्धि से तरंग गति नहीं बढ़ती थी।

प्रथम प्रकार के साक्षात्कार के परिणाम द्वितीय प्रकार के साक्षात्कार के परिणामों से सर्वथा भिन्न थे। ज्योंही रोगी को सान्त्वना देकर उन के मानसिक उद्वेग को कम किया गया, त्योंही या तो हाइड्रोक्लोरिक एसिड की बढ़ी हुई मात्रा तुरन्त कम हो गई, तथा आमाशय में एसिड की उत्पत्ति भी रुक गई। परन्तु इन परिवर्तनों में भी व्यक्तिशः भिन्नता थी।

जब रोगी में मनोद्वेग की स्थिति उत्पन्न की जाती है उस समय आमाशय में हाइड्रोक्लोरिक एसिड बढना, आमाशय की गति का बढ़ जाना, स्थानीय रक्तवाहिनियों की आकृति फैल जाना, और श्लैष्मिक कला पर रक्त का बढ जाना आदि लक्षणों के अतिरिक्त रोगी वक्षस्थल पर जलन तथा उदरशूल की भी शिकायत करने लगता है।

उपरोक्त परीक्षणों के आधार पर हम निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि आमाशयव्रण की उत्पत्ति मानसिक उद्वेगों से भी होती है। मानसिक संवेग तथा आमाशय–व्रण का सम्बन्ध अभिन्न है।

चिकित्सा :–आमाशय व्रण और ग्रहणी व्रण दोनों की चिकित्सा समान है। चिकित्सा के तीन विभाग किए जा सकते हैं। (१) भोजन, (२) मानसिक विश्राम, (३) औषधियां।

(१) भोजन :–(अपथ्य) आयुर्वेद में चरक संहिता के अनुसार परस्पर विरुद्ध अन्न (दूध+मछली, दूध+अचार, दूध+दही), विषम भोजन (विषम समय तथा विषम मात्रा में खाना) रूक्ष, तिक्त, कषैले, गुरुपाकी अन्न, मद्य, दाल, नमक, तिल, उड़द, संधान की हुई खट्टी चीजें, बर्फ, शीतल पदार्थ, तथा अजीर्ण में भोजन इनका त्याग करना चाहिए। इनके अतिरिक्त धूप में चलना,

रात्रि जागरण, शोक, क्रोध, व्यायाम, मैथुन, मलों के वेगों को रोकना, पित्तकारक आहार विहारों का सर्वथा त्याग करें।

(पथ्य) मुख्यतः पित्तस्राव तथा अम्ल रस को कम करने वाले आहार का सेवन करना चाहिए। गेहूं, मांड, घी, तथा गुड़, मिश्री, और ठण्डे दूध के साथ खावें। यव मण्ड को दूध के साथ सिद्ध कर घी और खांड के साथ खावें। परवल के पत्तों का यूष बनाकर उसमें चने का सत्तू मिलाकर खावें। परवल, सहिजन, करेला, बैंगन, पके आम, मुनक्का काला नमक, चिरोंजी, बथुआ, हींग, सौंफ, सोंठ, लहसुन, लौंग, एरण्ड तैल, गौ मूत्र, उबाल कर (ठण्डा किया) जल और नीबू यह सब सेवन करने योग्य हैं।

पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति के अनुसार पांच छह औंस दूध में सोडियम साइट्रेट १० से १५ ग्रेन की मात्रा में मिला कर १-१ घंटे बाद देना चाहिए। उसके पश्चात क्रमशः अरारोट साबूदाना कस्टर्ड, उबले हुए आलू, पपीता, गोभी, देना चाहिए। जब इतना पचने लगे तब क्रमशः बिस्कुट, टोस्ट, बारीक चावल देना चाहिए, तथा मांसाहारियों को उबले अण्डे, और उबली मछलियां देनी चाहिए।

(२) मानसिक विश्राम :-- पाश्चात्य चिकित्सकों के अनुसार रोगी को ५ से ८ सप्ताह क पूर्ण मानसिक शारीरिक विश्राम देना चाहिए। आयुर्वेद के अनुसार भी उपरोक्त अपथ्य पदार्थों में मानसिक वेगों से रोगी को बचाकर रखने का आदेश दिया गया है।

(३) औषधि:-- पक्तिस्थलव्रण में मुख्यतः अम्लरस को उदासीन करने वाली औषधियां प्रयोग की जाती हैं, ( ludrox, Gelusil, Aluminium Sodium silicate. mag-oxide) आयुर्वेद में कामदुधा रस, स्वर्ग सूत शेखर रस, लीला-विलास रस, अविपत्तिकर चूर्ण, आंवले का मुरब्बा, पेठे का मुरब्बा उपयोगी माने गये हैं।

मनः शारीरिक रोगों के लिए जहां पर विभिन्न प्रकार की औषधियों का प्रयोग आवश्यक है वहां मनोवैज्ञानिक चिकित्सा भी अत्यन्तावश्यक है। मनोवैज्ञानिक गण इस प्रकार की मानसिक रोगों की चिकित्सा को मनोविश्लेषण पद्धति (Psycho analysis) द्वारा सफलतापूर्वक करते हैं।

मनोविश्लेषण पद्धति द्वारा हम रोगी के मानसिक तनाव को, जिसके प्रति वह अचेतन है, उसे दूर कर सकते हैं। इस प्रकार रोगी के मन की जटिल समस्याओं को दूर कर देने से मानव शरीर में होने वाले समस्त तनाव भी कम हो जाते हैं। शारीरिक मानसिक तनाव के शान्त होने से मनोदैहिक विकार (रोग) समाप्त हो जाते हैं।

---०---

# त्रिदोष कार्य पर प्रकाश के बिना रोगों की रोकथाम असंभव

श्री वैद्य किशोरदास भागीरथ गुप्ता (डाक्टर गुप्ता) ए. सी. एण्ड डी. सी. (बम्बई)

किसी भी रोग की उत्पत्ति और वृद्धि का कारण तो दोष प्रकोप है। उसी को सप्रयोग सिद्ध करके जब तक यह सिद्धान्त वैज्ञानिकों की दृष्टि में नहीं लाई जावेगी, तब तक रोगों की रोकथाम के सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध होवेंगे। कारण, दोषप्रकोप तो काल्पनिक और बुद्धिगम्य विषय होने से उसको दृष्टिगम्य बनाना असंभव है। तथापि उसको अथवा उसके परिणामों को प्रयोग-सिद्ध कर दिखाना ही आज के इस विज्ञान युग की महानतम अनिवार्यता है। इसलिए वैज्ञानिकों ने जिस प्रकार अपनी काल्पनिक (१) लोहचुम्बकीय और (२) गुरुत्वाकर्षक शक्तियों का परिणामों का प्रयोग सिद्ध कर दिखाया है, ठीक वैसे ही हमें भी कुछ करना ही होगा।

इस प्रकार दोषों की कल्पना को प्रयोग सिद्ध नहीं कर दिखाने का जो एक परिणाम है वह तो अत्यन्त ही स्पष्ट हो चुका है; जिसके कारण वे दन्तरोगों की उत्पत्ति को रोकने में तो सर्वथा निष्फल सिद्ध हो चुके हैं। इतना ही नहीं, बल्कि उन्हीं दन्तरोगों पर आधारित शारीरिक रोग जिनमें कैन्सर और हृदय विकार का समावेश है, उनकी रोकथाम करना भी तो अब उनके लिए असम्भव सा ही बन गया है। इसीलिए श्री डाक्टर जीवराज मेहता एम०डी० आदि को, अ०भा० डेन्ट्ल कान्फरेन्स के १७वें अधिवेशन के उद्घाटन समय, अहमदाबाद में तिथि २८-१२-६१ को, दन्तरक्षा सम्बन्धी उपायों की शीघ्रातिशीघ्र शोध करने और उनको प्रचार में लाने की सलाह देनी पड़ी इसीलिए उसके भीषण परिणामों की कीमत चुकाने के भय की आगति पर भी वे प्रकाश डालना नहीं भूले, जिसका शब्दशः उद्धरण निम्न प्रकार है--

"Our habit of oral hygiene is, I fear, being neglected in the blind imitation of western methods. The price that would be paid for such imitation would be, I fear very heavy, if the problem is not taken in hand early. I would therefore, request the learned teachers assembled at this conference to consider this problem and advocate atfer careful study, the methods of oral hygiene on which such great insistance was laid by our fore fathers. If this effects the prevenion of even 50 percent of dental diseases, your profession will have rendered considerable service to the country and humanity in general—Dr. J. N. Mehta.

सारांश यह कि यदि दन्तरोगों की रोकथाम नहीं की जा सकती है तो कैन्सर जैसे भीषण रोग को उत्पन्न होने से रोकना भी असम्भव है। इस प्रकार इस विषय में तो अमेरिका के दन्तविज्ञान संशोधक डाक्टर बेसिल जी. बिब्बो आदि की जो शोध हैं, वे भी अपरोक्ष में डाक्टर मेहता के उक्त कथन की समर्थक ही हैं। उक्त शोध जिन पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं उनकी नकलें गुजरात आयुर्वेद युनिर्वसिटी की ओर से उसकी सिंडीकेट के सदस्यों के विचारविनिमयार्थ भिजवाई जा चुकी है। किन्तु फिर भी उस विषय के मर्म को अब तक कई वैद्य महानुभाव समझ ही नहीं पाये हैं और समझे भी तो कैसे? कारण उसके लिए तो तलस्पर्शी ज्ञान आवश्यक है। इसलिए वैद्य समाज की जानकारी के लिए यहां कुछ स्पष्टता, प्रथम भाग के प्रारम्भिक उद्धरण सहित, करना हम अपना परम पुनीत कर्तव्य समझते हैं--

As laboratory rescarch becomes more and more complex it tends to become further and further seperated from clinical observa-

tion, treatment or prevention. This is unfortunate, because if the seperation between laboratory and clinic becomes complete, it is certain that no practical progress will be made towards the prevention of disease of any sort.

संशोधकों ने जो कुछ भी ऊपर कहा है उसीसे सम्बन्धित एक यह भी है; जिसकी स्पष्टता पत्रिका के दूसरे भाग में Differances between cariogenicity of foods वाले शीर्षक के नीचे प्राप्त होती है जिसमें लेबोरेटरी ने तो कृमिदन्त का कारण Calcium का अभाव ठहराया है, जब कि दूध जैसे Calcium की प्रचुर मात्रा वाले खाद्य पदार्थ का भोजन में प्रयोग करते हुए प्रत्यक्ष में तो कृमिदन्त के प्रमाण की वृद्धि ही घटित हुई है, जो बात वस्तुतः लेबोरेटरी की शोध से बिलकुल भिन्न ही नहीं सर्वथा उलटी है, यथा—–

"The same is true of compounds of foods containing high level of milk solid or milk" i.e. the less compounds of foods containing high level of milk solid or milk produce less enamel discalcification and less caries than do more of them.

इस प्रकार कृमिदन्त के सम्बन्ध में जो आकाश-पाताल का अन्तर मिला, ठीक वही बात मुंह के कैंसर के सम्बन्ध म भी तो घटित हुई पाई गई, जिसकी स्पष्टता "टाटा मेमोरियल अस्पताल' बम्बई के भूतपूर्व डायरेक्टर और विश्वविख्यात कैन्सरान्वेषक श्री डाक्टर व्ही. आर. खानोलकर द्वारा लिखित और इन्डियन कैन्सर रिसर्च सैन्टर परेल-बम्बई द्वारा प्रकाशित पुस्तक A look at Cancer के पृष्ठ ५७ पर निम्न प्रकार प्राप्त होती है—–

It has been shown that a high caloric diet "increase the chances of developing cancer" It has also been shown that there is a deficiency or inadequate absorption of certain vitamins in some types of cancer particularly of the mouth and oesophagus.

सारांश मुखगत रोग कृमिदन्त होवे या कैन्सर ही क्यों नहीं होवे, उसमें लेबोरेटरी की शोध तो प्रत्यक्ष में प्राप्त स्वानुभवों से सर्वथाविपरीत परिणाम ही दिखाती है और चिकित्साविज्ञान के अन्वेषकों को जिस उस रोग से बचने-बचाने के लिए अपने स्वानुभवों से बिलकुल ही उलटी दिशा में उन्हें बलात् लिवाये जा रही है, जब कि आयुर्वेद तो प्रत्यक्ष में प्राप्त स्वानुभवों को उनका मूल कारण और लेबोरेटरी की शोध को उसी का स्थानिक परिणाम ठहराता है। क्योंकि उसके सिद्धान्त के अनुसार रोगों के कारण की उत्पत्ति का मूल स्थान तो आमाशय से आरम्भ होकर पक्वाशय का सम्पूर्ण भाग याने मुख्य पचनतंत्र है जहां तीनों ही दोषों की क्रमशः उत्पत्ति और प्रकोप हुआ करता है, यथा—–

**दोष बल प्रवृत्ता य आतंक समुत्पन्ना मिथ्याहाराचार कृताश्चतेऽपि द्विविधाः—आमाशय समुत्था, पक्वाशय समुत्थाश्च । . . . . त एते आध्यात्मिकाः (सु. सू. शा)**

अर्थात् आमाशयादि में प्रकुपित होने वाले कफ, पित्त वात आदि दोष आध्यात्मिक सूक्ष्मता वाले हैं, इसलिए वे जब तक "स्थानसंश्रय" अवस्था को किसी धातु के आश्रय में प्राप्त नहीं होते, तब तक तो बुद्धिगम्य ही बने रहते हैं और स्थानसंश्रय के बाद भी जब वे अपने आश्रयस्थान वाली धातु को विकृत बना डालते हैं तब ही दृष्टिगम्य हुवा करते हैं । इस प्रकार धातुओं को वैकारिक बना उनमें दोषप्रकोप को स्थानसंश्रय प्राप्त करा देने के कार्य में अन्य बाह्य अथवा स्थानिक कारण भी अवश्य सहायक हुआ करते हैं, जिसकी स्पष्टता श्री आचार्य सुश्रुत ने निम्न प्रकार की है—–

**प्रकुपितानां हि दोषानां**
**शरीरे परिधावताम् ।**
**यत्र संग ख वैगुण्यात्**
**व्याधिस्तत्रोपजायते ।। (सु. सू. शा)**

इस प्रकार लेबोरेटरी की शोधों ने वैज्ञानिकों को जिन जिन कारणों की प्राप्ति कराई है, वे सभी रोगों की उत्पत्ति के स्थान में पैदा होने वाले ही हैं, जो शरीर भर में इधर उधर दौड़ते हुए दोषप्रकोप को उसके आश्रय की प्राप्ति कराने में या तो सानुकूलता पैदा कर देने वाले अथवा फिर दोषप्रकोप के स्थानसंश्रय के बाद धातुओं की विकृति के कारण पैदा होने वाले हैं। इसीलिए सुश्रुत के टीकाकार और उभयशास्त्रज्ञ श्री डाक्टर भास्कर गोविन्द घाणेकर एम.बी.बी एस., आयुर्वेदाचार्य जिस निश्चय पर पहुंचे उसी का शब्दश: उद्धरण निम्न प्रकार है--

"इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐलोपैथी का रोगक्रम स्थानसंश्रय से प्रारम्भ होता है। इससे पहले नहीं। इसलिए आयुर्वेदीय व्याधितत्त्वपरिज्ञान की दृष्टि से ऐलोपैथी के चिकित्सक पूर्ण वैद्य न होकर अधूरे ही रहते हैं। अतः यदि उनके द्वारा स्थानसंश्रय की अवस्था के पहले रोग का निदान न हो सके तो आश्चर्य की बात नहीं।"

इसीलिए कृमिदन्त की उत्पत्ति के जो भी कारण वैज्ञानिकों को अब तक प्राप्त हुए हैं, वे सभी स्थानिक अर्थात् लालास्थान में प्रकुपित दोषों द्वारा स्थानसंश्रय कर लिए जाने के पश्चात् के हैं। यही एक ऐसा प्रबल कारण है, जिसकी वजह से लार में पैदा होने वाली उस विकृति को न तो वे उत्पन्न होने से रोक सकते हैं और न उत्पन्न हुई हुई को नष्ट करने में ही सफल हो सके हैं, जिसकी स्पष्टता भी उक्त शीर्षक के अन्तर्गत, मेगज़ीन के दूसरे भाग में, निम्न प्रकार है--

Many attempts to reduce the cariogenicity of sugar, by adding a substance to it which would prevent fermentation in the mouth have been made but to date none of the additives meets the reguired standard of effectiveness, test, cost and safety needed to justify their practical use.

सारांश यह है कि शक्कर के कारण प्रथम मुंह में पैदा होने वाली चिकनाहट और बाद में होने वाली अम्लता तथा उसके छह मास पश्चात् उत्पन्न होने वाले कृमिदन्त की रोकथाम में वे जिस प्रकार सम्पूर्णतया निष्फल सिद्ध हुए हैं, उसका कारण भी अत्यन्त स्पष्ट है। क्योंकि शक्कर जैसे मधुररस प्रधान द्रव्य के कारण आमाशय में जो कफ पैदा होता है उसी को कटुतिक्त कषायादि रसों के ज्ञान के अभाव में शमन करना सर्वथा असम्भव है, जिससे उसका प्रकोप भी अवश्यम्भावी है। इस प्रकार कफप्रकोप से प्रभावित जठराग्नि की मन्दता और उससे प्रभावित रसधातु की विदग्धता भी अवश्य संभवनीय है। इस प्रकार विदग्ध रसधातु के कारण उत्पन्न होने वाले अम्लतत्त्व (Acidity) यदि उसी के माध्यम से लार में पहुंच कर अपना आश्रय ग्रहण कर लेती है तो वह स्वाभाविक जैसी ही बात है।

इस प्रकार जिन अम्लतत्त्वों की उत्पत्ति मुंह में होती है, उसका मूल कारण तो आमाशय आदि में ही होता है। ऐसी अवस्था में उनकी उस उत्पत्ति को अन्य किसी भी प्रकार रोकना यदि सर्वथा असंभव सिद्ध हो तो यह अस्वाभाविक भी नहीं है; जबकि आयुर्वेदानुसार तो उत्पन्न हुवे उन अम्लतत्त्वों को समूल नष्ट कर डालना बहुत ही सरल काम है। क्योंकि दोषप्रकोप को नष्ट करना संप्राप्ति के काल में जितना सरल है, उतना रोग की उत्पत्ति के बाद तो हो ही नहीं सकता यथा—

**संचये-पहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः।**
**ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तरः॥**
सु. सू. २१

कृमिदन्त आदि की उत्पत्ति में आमाशय आदि मुख्य पचनतंत्र को जबावदेह ठहराने के लिए

जब तक केवलमात्र पथ्यकारक आहार के प्रयोगों का आश्रय नहीं लिया जावेगा, तब तक लेबोरेटरी द्वारा शोधे गये स्थानिक कारण कैलशियम के अभाव को गौण या मूल कारण जनित "स्थानिक परिणाम" ठहराना भी तो सर्वथा असंभव है। क्योंकि स्थानसंश्रय की अवस्था तक की दोषगति और कार्यादि आधुनिकों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि से परे हैं तो उसी दोष-प्रकोपके स्थानसंश्रय के बाद का और धातु-विकृति के पहिले का कार्य भी अवश्यमेव अदृश्य होना चाहिए, और है भी। कारण अति पौष्टिक आहार (High coloricdiet) का रक्त गत प्रवाह भी स्थानसंश्रय के बाद जब अभाव (Defficiency) में ही परिवर्तित हो जाता है तो उसका कोई ठोस कारण अवश्य है, और वह है कफपित्त प्रकोप को करने वाला "विरुद्धाहार" जो कीटाणु और उनके विषजन्य रोगमात्र की उत्पत्ति में भाग लेने वाली रक्तदुष्टि के प्रमुख तीन कारणों में भी प्रथम है, यथा--

**"विरुद्धाजीर्णशाकद्यैः शोणितोत्था भवन्ति हि"**

सु. उ. ५६

आचार्य सुश्रुत ने रक्तदुष्टिजन्य कीटाणुमात्र के उत्पादक विरोधी गुणी जिस आहार को प्राथमिकता दी है, उसी का सविशेष गुण यह है कि वह दोषप्रकोप तो अवश्य कर डालता है, मात्र उसको शरीर बाहर निकाल रोगरूप में प्रगट होने देने में ही बाधक बन जाता है; जिससे स्थान संश्रय के बाद का उसका कार्य अत्यन्त ही मन्दगति वाला होता है, जिसका कारण उसका स्रोतोरोध कारक गुण स्वयं ही है। इस प्रकार जो स्रोतोरोध होता है, वही स्थानसंश्रय के स्थानगत वातदोष को भी प्रकुपित कर डालता है, जिससे उसी स्थान को पोषण पहुंचाने वाले रक्त के प्रवाह में पोषकतत्त्वों का अभाव पैदा होना स्वाभाविक है। इस प्रकार इस अभाव को ही लेबोरेटरी ने अपनी प्रत्यक्षदर्शी शोध में सिद्ध कर दिखाया है। इसीलिए आयुर्वेद के इस सिद्धान्त के आधार पर हम लेबोरेटरी की शोध को गौण और स्वानुभवजन्य प्रत्यक्ष प्रमाणों को प्रधान याने मूल कारण ठहराते हैं। मछली और दूध के विरोधी गुणी संयोग के चरकोक्त उदाहरण पर उसकी स्रोतोरोधकारकता की तथा स्रोतोरोध के वातप्रकोप गुण की स्पष्टता यहां दी जाती है, जिससे आधुनिकों द्वारा अत्यन्त ही स्तुत्य ठहराये गये उक्त संयोग की मन्द विष जैसी भीषणता का पता चल सके।

**न मत्स्यान्पयसा सहाभ्यवहरेत्, उभयं ह्येतन्मधुरं मधुर विपाकात् महाभिष्यन्दि, शीतोष्णत्वाद्विरुद्धवीर्यं विरुद्ध वीर्यत्वात् शोणित प्रदूषणाय महाभिष्यन्दित्वात् मार्गोपरोधायचेति। च. सू. २६**

**यत्किंचिद्दोषमुत्क्लेश्य भुक्तं कायान्न निर्हरेत्।**
**रसादिषु अयथार्थं वा तद्विकाराय कल्प्यते॥**

**सु सू. २०**

**निवारस्त्रिपुटः सतीनचणक···मार्गस्यावरणं।**
**व्यवायकृशता···शरीरमरुतो दुष्टेऽमी हेतवः॥**

**भा. प्र.**

## आयुर्वेद की शुद्धता की पुकार भी निरर्थक

उपरोक्त सब ही गम्भीरतम परिस्थितियों का मननपूर्वक विचार करते हुए यह बात अत्यन्त ही सुस्पष्ट हो जाती है कि किसी भी रोगकारण की उत्पत्ति के मूल स्थान की दृष्टि से आमाशयादि के वास्तविक महत्त्व को और दोष प्रकोप की मौलिकता को जब तक सप्रयोग सिद्ध करके नहीं दिखाया जावेगा, तब तक आयुर्वेद की शुद्धता की पुकार पुकारमात्र ही रहेगी। क्योंकि उससे उस शास्त्र की शुद्धता याने मौलिकता की रक्षा करना-कराना तो सर्वथा असम्भव है, और वह भी औषधिचिकित्सा के क्षेत्र में तो निश्चित रूप से। उस

चिकित्सा के क्षेत्र में तो प्रायः सभी चिकित्सापद्धतियों का पदार्पण है। मात्र, आहार चिकित्सा ही एक ऐसी है जिसमें किसी का भी लेशमात्र चंचुप्रवेश होना असंभव है और वहीं ऐसे कार्य में अपना अद्वितीय महत्वपूर्ण कार्य भी सप्रयोग सिद्ध कर दिखा सकती है।

इसी एक दृष्टिकोण को लेकर ऊपर निर्दिष्ट संप्राप्तिकालीन दोषों की आहारचिकित्सा ही परमोपयोगी सिद्ध हो सकती है। वैसे भी औषधि-चिकित्सा की अपेक्षा आयुर्वेद में तो पथ्य को ही अद्वितीय महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसलिए भी उसी के महत्व को सप्रयोग सिद्ध कर दिखाना ही आज के युग की अनिवार्य आवश्यकता है। अर्थात् एक पंथ और दो काज संपन्न करने की शक्ति आज उसी आहारचिकित्सा में विद्यमान है। कारण, आधुनिक आहारशास्त्र की दृष्टि तो एक पक्षी और अपूर्ण भी है; जबकि प्राचीन आहार-शास्त्र केवल द्विपक्षीय ही नहीं, शाश्वत सत्य और पूर्ण भी है; जिससे परिवर्तन के लिए उसमें लेशमात्र भी अवकाश नहीं है। कारण षड्रसात्मक आहार सिद्धान्त के मूलाधार भी तो वे ही पंचतत्व हैं, जो इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचनामात्र-अणुपरमाणु तक में अपनी व्यापकता रखते हैं। इसीलिए षड्रस सिद्धान्त स्वयं अपने आप में आध्यात्मिक सूक्ष्मता-वाला और बुद्धिगम्य है। वह जितेन्द्रिय गम्य भले ही होवे, परन्तु कम से कम दृष्टिगम्य तो नहीं है। क्योंकि शतप्रतिशत चर्बी-घी में मधुररस तो अवश्य है, मात्र कार्बोहाईड्रेट्स ही नहीं है; जब कि स्थूल दृष्टि से $CH^2O$ और मधुररस की पृथ्वी और जलतत्त्व प्रधान रचना तो समानान्तर पर आ जाती है। यही एक ऐसा प्रबल कारण है जिसने कैन्सर जैसे भीषण रोग तक आहारप्रयोग में आधुनिकों को निष्फल ठहराया है; जिसकी स्पष्टता भी उसी पुस्तक A Look at Cancer के पृष्ठ ५७ पर ही डा० खानोलकर को इस प्रकार करनी पड़ी है—

The relationship of diet to cancer is yet obscure. It has been shown that a high caloric diet increase the chances of developing cancer in elderly men and experimental animals. A reduction of such diet has no appreciable efiect on cancer, once it has started to grow......although we know of many causes of cancer, we are still unable to point out one specific cause, which could account for all types of cancer spontaneously arising in man.

सारांश कृमिदन्त की रोकथाम में उसकी संप्राप्तिकालीन आहारचिकित्सा कर जिस प्रकार शतप्रतिशत सफलता प्राप्त की जा सकती है, ठीक वैसे ही ल्यूकीमिआ जैसे चल कैन्सर में भी पथ्यकारक आहारचिकित्सा के अद्वितीय महत्व को अवश्य सप्रयोग सिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि ल्युकेमिया जैसे सद्योमारक रोगकी उत्पत्ति तो उसी रक्तधातु के आश्रय में हुआ करती है जिसका आश्रित पित्त दोष स्वयं भी है। साथ ही उसे रक्तार्बुद या तत्सम रोग ठहराया गया होने से उसकी उत्पत्ति में मांसाहार की प्रधानता को कारण ठहराना भी तो शास्त्र सम्मत है। इसीलिए पित्त की प्रधानता में कफ की सविशेष करने वाले गोमांस को उसका प्रमुख कारण ठहराना भी तो शास्त्रसंगत है। इतना ही नहीं बल्कि हाई कैलोरीक डाइट ने जब सब ही प्रकार के कैन्सर को बढ़ाया है, तो गोमांस का समावेश भी तो उसी में है।

इस प्रकार गोमांस का सेवन ल्युकेमिया जैसे भीषण और सद्योमारक रोग का उत्पन्न कर्त्ता होने से ही तो उसका आहारगत प्रयोग निषिद्ध ठहराया गया है। सब वेदादि शास्त्रों में जो गोवध बंदी की आज्ञा है, उसका वास्तविक कारण तो मानव-

प्राणीमात्र के आरोग्य हित की रक्षा करना ही है। इसलिए वेदादि शास्त्रों की शाश्वत सत्यता और पूर्णतादि को प्रकाश में लाने के लिए–प्राचीन शास्त्रोक्त आहार जैसे सर्वस्पर्शी विषय में–आज के इस युग में षड्रस सिद्धान्त की स्थापना करने की महान् आवश्यकता है, जिससे कैन्सर और हृदय विकार आदि आधुनिक चिकित्साविज्ञान की प्रगति के परिणामस्वरूप वृद्धिगत होने वाले रोगों की उत्पत्ति की तो कम से कम अवश्यमेव रोकथाम की जा सके; जिसके लिए तो डाक्टर खानोलकर जैसे विश्वविख्यात अन्वेषक को भी अपने आहार प्रयोग सम्बन्धी दीर्घकालीन अनुभवों के अन्त में उपरोक्त स्पष्टता करना पड़ी है।

डाक्टर खानोलकर ने हाईकैलोरिक डायट के प्रमाण को कम करते हुए कैन्सर के रोगियों पर जिस उद्देश्य से प्रयोग किए उसमें उन्हें किसी भी प्रकार की सफलता प्राप्त न होने का एकमेव कारण षड्रस सिद्धान्त की अनभिज्ञता ही है। क्योंकि कैलोरी के प्रमाण को कम करने के लिए उसी खाद्य वस्तु का प्रमाण घटाना जरूरी नहीं बल्कि उसी के वर्ग की अन्य ऐसी वस्तु के ज्ञान की आवश्यकता है जिसमें मधुर रस की प्रधानता न होकर उसके स्थान पर कषाय रस की प्रधानता होवे। इस दृष्टि से विचार करने पर मांस वर्ग में केवल काले हरिन का मांस ही ऐसा है जिसमें गोमांस से सर्वथा विपरीत गुण है। इसीलिए गोमांसगत कैलोरी की अधिकता तो ल्युकेमिया को बढ़ायेगा ही, जब कि काले हरिन का मांस उसी को घटाते हुए समूल नष्ट भी कर डालेगा। यही एक ऐसा प्रबल कारण है जो काले हरिन के मांस की परमोपकारकता को, गोमांस की परम हानिकारकता को सप्रयोग सिद्ध कर सकता है।

**एणेयं मृगमांसानां पथ्यत्वे श्रेष्ठतमः भवति।**
**गोमांसं मृगमांसानां अपथ्यतमत्वे निकृष्टतमः भवति॥**
**च. सू. २५**

इस प्रकार आधुनिकों के वर्गीकरण के अनुसार एक ही वर्ग की दो दो वस्तुएं जब परस्पर विपरीत परिणाम दिखा देंगी तो उनकी सात्त्विक रचना का सिद्धांत स्वयं उनके लिए एक महान जटिल समस्या निर्माण कर देगा; जिसका हल तो केवलमात्र आयुर्वेद का रससिद्धाँत ही कर सकेगा। इस प्रकार यह कार्य भी शुद्धायुर्वेद के समर्थक गुजरात राज्य को ही सम्पन्न करना चाहिए। क्योंकि ऐसी दिङमूढ़ बनाने वाली घटना तो हृदयविकार के कारण की शोध में पहिले भी घट चुकी है जिसकी स्पष्टता विश्वस्वास्थ्य संघ की रिपोर्ट में प्रकाशित हुई होने से उसी का संक्षिप्त व्यौरा इस प्रकार है कि––

फ्लोरेन्स युनिवर्सिटी के हृदय रोग विशेषज्ञ डा० बी० लेघी सिरोला को जब यह ज्ञात हुवा कि सोमाली लैन्ड और केनिया की सरहद के वासी ऊंट के पालकों में चर्बी का सर्वाधिक उपयोग होता है तो वे हृदय रोग की तलाश में अपने अद्यतन यांत्रिक साधनों के साथ वहां जा पहुंचे और वहां के उन वासियों में से २०० लोग ऐसे चुन निकाले जो दिन भर में भूख या प्यास लगने पर ऊंटनी के दूध का उपयोग किया करते थे। इस प्रकार नित्य-प्रति उनके आहार में ३-४ लिटर दूध का उपयोग होता था और ऊंटनी के दूध में तो गोदुग्ध से दुगुनी चर्बी का प्रमाण होता है। इतनी अधिक प्रमाण में चर्बी का उपयोग करने वालों में भी जब हृदय रोग का कोई एक लक्षण तो क्या, रक्त की तरलता में भी कोई कमी नहीं मिली तो उसके आश्चर्य का तो कोई पारावार ही नहीं रहा और सहसा उसके मुंह से निकल पड़ा कि––"चर्बी के अतिसेवन से हृदय विकार होने का सिद्धान्त ही गलत है"।

इस प्रकार उक्त आश्चर्य का वास्तविक कारण तो ऊंटनी के घी का "कटु" विपाक है जब कि गाय के घी का विपाक तो मधुर है। इसलिए उन दोनों का परस्पर विपरीत कार्य भी अवश्यम्भावी है।

इसलिए उक्त सब ही बातों की गहराई में उतर कर उसको सप्रयोग सिद्ध किए बिना तो आयुर्वेद की शुद्धता के हृदय से चाहने वाली सरकार के लिए भी शास्त्र की शुद्धता की रक्षा असम्भव है। क्या गुजरात राज्य की सरकार गृहविज्ञान के नाम पर दी जाने वाली आधुनिक आहारशास्त्र की शिक्षा में आवश्यक परिवर्तन कर सकती है? यदि नहीं तो रोगों के प्रतिबन्ध के लिए छहों रसों का नित्योपयोग अपरिहार्य है इसको अमलीजामा भी कैसे पहिना सकती है? अर्थात् उसके लिए भी निम्नलिखित शास्त्रसिद्धान्तों को अमल में लाने के लिए जिस सुव्यवस्थित प्रचार-प्रसार की अनिवार्य आवश्यकता है उसकी पूर्ति करना सर्वथा असंभव है। यथा--

**'नित्यं सर्वरसाभ्यासो," "सर्वरसाभ्यासो बलकराणां श्रेष्ठम्"** (चरक)

इसलिए मानवी शरीर में रोगप्रतिकारक शक्ति के संरक्षण और निर्माण कार्य में षड्रसात्मक आहार का अद्वितीय महत्व है।

सारांश,

वास्तविक अमली स्वरूप तो षड्रस सिद्धान्त में ही समाया हुआ है जिसको सप्रयोग प्रकाश में लाये बिना तो आयुर्वेद की शाश्वत सत्यता पर किसी को भी विश्वास होना सर्वथा असम्भव है।

---

# स्नान से लाभ

निद्रा, दाह, श्रम का नाश होता है। स्वेद, कण्डू, तृष्णा नष्ट होती है। हृदय के लिए हितकर है। शरीर को निर्मल करता है। इन्द्रियों को क्रियावान करता है। तन्द्रा, आलस्य, जड़ता को दूर करता है। मन को प्रसन्न करता है। पौरुष को बढ़ाता है। रक्त को निर्मल करता है। अग्नि को बढ़ाता है। उष्ण जल से सिर को धोना आंखों के लिए सदा हानिकर है। शीतल जल से शिरः स्नान आंखों के लिए हितकर है। कफ तथा वायु के प्रकोप में रोग के बलाबल को जान कर कोष्ण जल से शिरः स्नान पथ्य रूप में ही करे। अतिशीतल जल से या शीतकाल में शीतल जल से स्नान कफ तथा वायु को प्रकुपित करता है। अति उष्ण जल से या उष्णकाल में उष्ण जल से स्नान पित्त तथा रक्त को कुपित करता है।

अतिसार, ज्वर, कर्णशूल, वातव्याधि, आध्मान, अरोचक, अजीर्ण में तथा भोजन कर लेने पर स्नान नहीं करे। (सु.चि. २४, ५७-६२)

---

# श्वास रोग

डाक्टर रामदयाल कपूर, एम.बी.बी.एस., हरिद्वार

श्वास-रोग एक ऐसा रोग है जिस का कारण प्राचीन समय से लेकर अबतक ठीक प्रकार से समझा नहीं जा सका। इसलिए इसकी चिकित्सा में भी अत्यन्त कठनाई होती है।

पाश्चात्य देशों में चिकित्सक लोग भिन्न-भिन्न दृष्टियों से इस की खोज में लगे हुए हैं, यहां तक कि केवल दमे की चिकित्सा के लिए चिकित्सालय खुले हुए हैं जहां इस रोग की चिकित्सा होती है। भारत में इस प्रकार का चिकित्सालय अभी तक कोई नहीं है, जहां परीक्षण के लिए केवल श्वास रोग की चिकित्सा होती हो।

इंगलैण्ड में सन् १९२७ में एक आस्थमा रिसर्च कौन्सिल स्थापित हुई और उसका कार्य अभी तक चल रहा है। यह संस्था रोगियों तथा अन्य लोगों के दान से चलती है, और भिन्न-भिन्न चिकित्सालयों में अन्वषकों को इससे वेतन मिलता है।

सब दमे के रोगी केवल एक प्रकार की चिकित्सा से अच्छे नहीं होते। किसी को कोई चिकित्सा लाभ करती है और किसी को कोई। परन्तु कुछ रोगी ऐसे होते हैं जिन को किसी चिकित्सा से लाभ नहीं होता। इसका कारण यह है कि दमे का असली कारण अभी तक मालूम नहीं हो सका।

दमे का रोग उस प्रकार से रोग नहीं माना जाता जैसे मलेरिया, प्लेग, हैज़ा आदि। परन्तु यह एक प्रकार का लक्षण है जैसे सिरदर्द, पेटदर्द जो अनेक भिन्न-भिन्न कारणों से हो सकते हैं, और जैसा कारण हो वैसा इलाज किया जाता है। इसी तरह दमे के भी भिन्न-भिन्न कारण होते हैं और कारणानुसार उसका इलाज करना चाहिये। निदान मालूम करके जब इसका इलाज किया जाता है तो यद्यपि जड़ से इस रोग को उखाड़ फेंकना तो अभी तक असंभव है, परन्तु बहुत हद तक रोगी को लाभ पहुंचाया जा सकता है, जिस से वह अपना जीवन पहले की अपेक्षा अधिक आराम से व्यतीत कर सकता है।

**दमे का मूल कारण**--आयुर्वेदिक ग्रन्थों में जैसे भिन्न-भिन्न रोगों के लिए वात, पित्त, कफ प्रकृति मानी जाती है वैसे ही दमे के रोग के लिए एक विशेष प्रकार की प्रकृति होती है। सब स्वस्थ व्यक्तियों में शरीर के द्रव पदार्थों की रासायनिक रचना (Chemical constitution) एक समान नहीं होती परन्तु आपस में उनमें थोड़ा-थोड़ा भेद होता है।

आस्थमा रिसर्च कौंसिल के प्रधान डाक्टर हर्स्ट का मत है कि यद्यपि इन सूक्ष्म भेदों के रहते हुए भी पूर्ण स्वास्थ्य रह सकता है, परन्तु यह भेद किसी व्यक्ति में किसी विशेष रोग की प्रवृत्ति होने का मूल कारण होते हैं, जिससे उस व्यक्ति में जन्म से ही अथवा पैतृक रूप से ही किसी विशेष रोग में ग्रस्त होने की प्रवृत्ति होती है। इसी तरह दमे के रोगी में भी उसके रक्त के अन्दर जो लवण आदि पदार्थ होते हैं उनके न्यूनाधिक हो जाने से उस रोगी में इस रोग की प्रवृत्ति हो जाती है। इस को श्वास प्रवृत्ति (Asthma diathesis) कहते हैं।

इसी डाक्टर के मतानुसार मेडुल्ला में श्वास-केन्द्र के दो भाग होते हैं एक वागस से, और दूसरा सिम्पैथैटिक से सम्बन्ध रखने वाला, जिनका प्रभाव श्वासनालियों (Bronchi) की मांसपेशियों तथा स्राव की ग्रंथियों पर होता है, और जो स्वास्थ्य में समतुलित (Balanced) रहते हैं। परन्तु यदि रक्त की विशेष प्रकार की रचना के कारण वागस सम्बन्धी भाग अधिक प्रधान हो जावे

(Vagotonia) तो विशेष प्रकार के उत्तेजक कारण जो एक स्वस्थ व्यक्ति पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते, वही कारण ऐसी अवस्था की उत्पत्ति में दमे के लक्षण पैदा कर देते हैं। अर्थात् श्वास की नालियों का संकुचित हो जाना, वहां रक्त का अधिक आजाना, और ग्रंथियों में से श्लेष्म का स्राव अधिक मात्रा में निकलने लगना। ये सब वागस नर्व के काम हैं।

श्वास प्रवृत्ति में, अर्थात्, श्वास रोग में रक्त की रासायनिक रचना में क्या विशेषता होती है इस विषय पर खोज जारी है। डाक्टर ओरियल ने यह सिद्ध किया है कि दमे के दौरे की अवस्था में तथा दौरे के बाद रोगी के रक्त तथा मूत्र में कुछ विशेष परिवर्तन हो जाते हैं। उसने देखा कि दौरे की अवस्था में मूत्र में एक प्रोटिओज़ से मिलता जुलता पदार्थ निकलता है। यदि इस पदार्थ का पर्याप्त मात्रा में किसी रोगी में सूचीवेध (Injection) किया जावे तो दमे का दौरा उठ खड़ा होता है, और यदि थोड़ी-थोड़ी मात्रा में सूचीवेध किया जावे तो रोगी को डिसेन्सिटाइज़ किया जा सकता है, अर्थात् दौरे को उठने से रोका जा सकता है, और रोगी का दमा अच्छा हो जाता है।

प्रोफेसर मीडोवेल ने रक्तपरीक्षा से मालूम किया है कि रक्त में केल्सियम, पोटाशियम तथा कार्बन डायोक्साइड का समतुलन बहुत महत्व रखता है। पोटाशियम की मात्रा किसी में कम होती है और किसी में अधिक, और यदि रक्त में एड्रिनलीन सूचीवेध द्वारा दिया जावे तो रक्त में थोड़ी देर के लिए पोटाशियम की मात्रा ५० प्रतिशत से भी अधिक बढ़ जाती है। यह पोटाशियम यकृत से आता है। रोगी को पोटाशियम के लवण खिलाने से भी लाभ होता है। इससे यह पता चलता है कि सिम्पेथैटिक नर्वस सिस्टम पर रक्त के पोटाशियम का बहुत प्रभाव है। आमाशय द्वारा पोटाशियम किन किन अवस्थाओं में अधिक प्रविष्ट (Absorb) होता है इस पर भी परीक्षण किये जा रहे हैं। यह देखा गया है कि सोडियम के लवण तथा कुछ विटामिन्स इसके प्रवेश में सहायता देते हैं। कार्बन डायोक्साइड के बारे में देखा गया है कि यह सिम्पेथैटिक नर्व को उत्तेजित (Stimulate) करता है और एड्रिनलीन के स्राव को अधिक करता है। इसलिए यदि दौरे के समय रोगी को कार्बन डायोक्साइड सुंघाया जावे तो लाभ होता है। इसके सुंघाने के लिए विशेष यन्त्र भी बनवाये गये हैं।

डाक्टर डी. सिल्वा ने यह परिणाम निकाला है कि यदि सिम्पेथैटिक नर्वस सिस्टम को उत्तेजित किया जावे तो रक्त में पोटाशियम की मात्रा बढ़ जाती है। इस लिए एड्रिनलीन की तरह ही पोटाशियम का भी श्वासनलिका की मांसपेशियों पर प्रभाव होता है। डाक्टर ब्रे ने देखा है कि बहुत से दमे के रोगियों के आमाशय रस में उद्रहरिकाम्ल (Hydrochloric acid) की मात्रा कम पाई जाती है (Achlorhydria), और रक्त में क्षारीयता (Alkalinity) अधिक होती है (Alkalosis)। यदि उन्हें उद्रहरिकाम्ल औषध के रूप में पिलाया जावे या उन्हें ऐसा भोजन दिया जावे जिससे अम्ल पैदा हो (Ketogenic) तो उन्हें लाभ होता है।

दमे के रोगी के रक्त में इयोसिनोफ़िल्स (Eosinophils) की संख्या भी अधिक पाई जाती है। यहां तक कि इस प्रकार के श्वेताणु (Leucocytes) उसकी थूक में भी पाये जाते हैं: अन्तःस्रावी ग्रन्थियों (Ductless glands) का भी रक्त की रचना पर प्रभाव पड़ता है। थकावट से रक्त में एड्रिनलीन की कमी हो जाती है और इसलिए दमे का दौरा उठने की संभावना होती है, क्योंकि

सिम्पैथैटिक नर्वस सिस्टम को काम करने के लिए पर्याप्त एड्रिनलिन नहीं मिलती और वागस के कार्य का प्रभुत्व हो जाता है। एड्रिनलीन की कमी के कारण कई दमे के रोगियों का रक्तचाप कम होता है और बहुत से रोगियों के रक्त में ग्लूकोज की मात्रा भी कम हो जाती है (Hypoglycaemia)। कई स्त्रियों में मासिक-धर्म से पहले या बाद में दमे के दौरे उठते हैं क्योंकि उस समय रक्त की रचना में कुछ परिवर्तन आ जाता है।

यह भी देखा गया है कि ४००० से ६००० फीट की ऊंचाई के स्थानों में यह रोग नहीं होता। जो रोगी ऐसे ऊंचे स्थानों पर जाकर रहने लगते हैं उनको यह रोग नहीं होता, परन्तु जब वे फिर मैदान में आकर रहने लगते हैं तो फिर से रोग हो जाता है। इसका कारण यह है कि इतने ऊंचे देशों में जाने से उनके रक्त में कुछ परिवर्तन पैदा हो जाते हैं जिससे वे उत्तेजनायें जो पहले हानिकारक थीं अब रोगी पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकतीं। कई दमे के रोगी जो हवाईजहाज चलाने का काम करते हैं वे भी बताते हैं कि वायुयान को इतनी ऊंचाई पर लेजाने से उन्हें पहले से अच्छी तरह सांस आने लगता है। ६००० फीट से अधिक ऊपर जाने से दमे का रोग फिर से शुरू हो जाता है। अधिक ऊंचाई पर जाने से रक्त में क्या क्या परिवर्तन हो जाते हैं जब इसका पता चल जावेगा तो इस रोग की चिकित्सा में भी आसानी हो जावेगी।

रोगी के आचार-व्यवहार, भोजन और उसकी परिस्थितियों में परिवर्तन करने से रोगी के रक्त की रचना में परिवर्तन किया जा सकता है।

अब उन कारणों का वर्णन किया जाता है जिनका एक स्वस्थ व्यक्ति पर कोई प्रभाव नहीं होता। परन्तु एक ऐसे व्यक्ति में जिस में उपरोक्त श्वास प्रवृत्ति हो यह रोग का कारण होते हैं।

(१) The psychological factors अर्थात्

मानसिक प्रभाव :—

दमे के कारणों तथा चिकित्सा में मानसिक प्रभाव का बड़ा महत्व है; दमे के दौरे में आशा या आत्म-प्रेरणा (Autosuggestion) का बड़ा हाथ है। जब रोगी को विशेष स्थानों या परिस्थितियों में दौरा उठता हो तो रोगी यह आशा करने लग जाता है कि इन परिस्थितियों में उसे अवश्य दौरा उठेगा। इसी प्रकार यदि उन परिस्थितियों को बदल दिया जावे तो उस बदले हुए स्थान में आते ही मानसिक प्रभाव के कारण कई बार उनका यह रोग शांत रहता है। इसी प्रकार किसी नई प्रकार की चिकित्सा से भी कई बार मानसिक प्रभाव के कारण, कि उसको इससे अवश्य लाभ होगा, उसका रोग शांत हो जाता है। रोगी को इसलिए हमेशा यह विश्वास दिलाते रहना चाहिए कि वह अमुक चिकित्सा से अच्छा हो जावेगा। डाक्टर का व्यक्तित्व इस रोग की चिकित्सा में बहुत महत्व रखता है। सम्भवतः औषध या सूचीवेध की अपेक्षा इसका प्रभाव अधिक होता है और यह निर्णय करना कठिन है कि अमुक प्रकार की चिकित्सा में चिकित्सक के व्यक्तित्व का कितना हाथ है। जो रोगी यह समझते हैं कि एड्रिनलीन के सूचीवेध से उनका दौरा रुक जावेगा उन्हें यदि स्रवित जल (Distilled water) या लवण जल (Normal saline) का सूचीवेध बिना बताये दे दिया जावे तो आधे से ज्यादा रोगियों का दौरा ठीक हो जाता है।

किसी प्रकार का मानसिक कष्ट (Nervous tension), घरेलू झगड़े, या मस्तिष्क पर किसी प्रकार की चिन्ता (Anxieties), मानसिक संघर्ष (Sex conflict Psychic conflict) जैसे लैंगिक संघर्ष तथा निराशा और भय ये सब भी दमे का कारण

होते हैं। अधिक कार्य, थकावट, भावुकता (Emotions) तथा मानसिक-आघात (Nervous shock) भी सहायक कारण होते हैं।

यह रोग वातिक प्रकृति के परिवारों (Neuropathic families), में पाया जाता है, अर्थात् जिन परिवारों में Migraine (आधा सीसी), Epilepsy (अपस्मार) तथा हिस्टीरिया आदि रोग हों। रोगी स्वयं भी प्रायः भावुक प्रवृत्ति (Emotional type) का होता है तथा औसत दर्जे के आदमियों से अधिक बुद्धिमान होता है।

(२) Reflex exciting causes अर्थात् शरीर के किसी दूसरे भाग में उत्तेजना के उठने से दमे का रोग प्रक्षेपित रूप से हो जाता है। प्रक्षेपक कारणों में नाक का महत्व सबसे अधिक है। ब्रोडी तथा डिसेन ने प्रदर्शित किया है कि नासा-फलक (Nasal septum) के विशेष भागों को यदि Probe (सलाई) से छुआ जावे तो (Bronchial spasm) श्वास नालियों की पेशियों का संकोच हो जाता है। इन स्थानों को श्वासोत्पादक स्थान (Asth mogenic areas) कहते हैं। रात को रोगी करवट पर सोता है और उसकी फूली हुई टर्बिनेट अस्थि नाक के बीच की दीवार से छूने लगती हैं तो दमे का दौरा उठ जाता है। नाक के छेद, में (Polypi) अंकुर तथा Deflected septum से भी तंगी हो जाती है। कई लोगों का मत है कि उपरोक्त नाक के विकार दमे से पहले नहीं परन्तु बाद में उसके कारण हो जाते हैं और दमे की चिकित्सा में यदि नाक के आप्रेशन किये जायें तो दमे को अधिक लाभ नहीं होता परन्तु टर्बिनेट को काटने से जब ठंडी हवा नाक में से जाती है तो दमे के रोगी को लाभ के बजाय हानि पहुंचती है।

नाक के अतिरिक्त अन्य स्थानों के संक्रमण (Focal infection) जैसे ब्रोंकाइटिस, टोन्सिलाइटिस, एडिनोयड्, साइनस, संक्रमण, पूरित क्षयजन्य श्वास ग्रन्थियों (Healed tulcerculosis of Bronchial glsnds) आदि तथा स्त्रियों में गर्भाशय तथा बीजकोष के विकार भी दमे के प्रक्षेपक कारण होते हैं।

दूसरा मुख्य प्रक्षेपक कारण आमाशय तथा आन्त्र हैं। यदि आमाशय और मलाशय भरे हुए हों तो भी दमे का दौरा उठने लगता है अर्थात् जब महाप्राचीरिका (Diaphragm) पर अधिक अन्तरुदर (Intra-abdominal) दबाव पड़ता हो, क्योंकि महाप्राचीरिका और आमाशय दोनों वागस नर्व के क्षेत्र हैं। वमन या विरेचन या साधारण वस्ति आदि से पेट को खाली कर देने से दमे का दौरा आसानी से बन्द किया जा सकता है, और हानिकारक शामक औषधियों की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिए रोगी को सोने से पहले खूब पेट भरकर भोजन नहीं खाना चाहिए और ना ही वायु पैदा करने वाले पदार्थ खाने चाहियें।

(३) Allergy––ऐलर्जी का शब्द वान-पिर्कट ने ट्युबर्कलीन के सम्बन्ध में बनाया था, परन्तु अब यह शब्द अन्य वस्तुओं के लिए भी प्रयुक्त होते हैं जिनका कि स्वस्थ व्यक्ति पर तो कोई प्रभाव नहीं होता। परन्तु कुछ व्यक्तियों में वही पदार्थ उसी मात्रा में हानिकारक लक्षण पैदा कर देता है, अर्थात् कुछ व्यक्ति उस पदार्थ के लिए हाइपरसेन्सिटिव होते हैं। इस अवस्था को ऐलर्जी कहते हैं, और उस पदार्थ को ऐलर्जन कहते हैं। यह ऐलर्जी या तो जन्म से होती है (Congenital) अथवा बाद में किसी रोग के कारण शारीरिक तन्तुओं को हानि पहुंचने से भी हो जाती है (Acquired)। एलर्जी चार प्रकार की हो सकती है––Ingestion अर्थात् खाद्य पदार्थों से, Inhalation अर्थात् श्वास के द्वारा पदार्थों के अन्दर जाने से, Contect

अर्थात् त्वचा को छू जाने से, तथा Injection अर्थात् त्वचा में चुभ जाने से। पहले यह समझा जाता था कि केवल प्रोटीन ही ऐलर्जी पैदा करते हैं परन्तु अब यह देखा गया है कि प्रोटीन से भिन्न पदार्थ भी कई बार यह प्रभाव रखते हैं। खाद्य पदार्थों में दूध, अंडा, गेहूं, चावल, दालें तथा औषधियां शामिल हैं।

श्वास रोगी पर भोजन कई प्रकार से प्रभाव डाल सकता है--एलर्जी के कारण रोगी इसे सहन न कर सकता हो; आमाशय में अफारा कर देने से प्रक्षेपक कारण बन जाता हो; अपचन के कारण अर्धपक्व पदार्थ रक्त में प्रवेश कर जाते हों; या पाचन शक्ति की विकृति के कारण रोगी को वह भोजन अनुकूल न होता हो।

श्वास द्वारा जो चीजें रोगी में ऐलर्जी पैदा करती हैं वह बहुत सी हैं। – जानवरों की गंध या उनके ऐपीथीलियल सेल्स जैसे पक्षी, मुर्गी, कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा, भेड़, बकरी, चूहा, खरगोश, गिनी-पिग, हिरन, बन्दर आदि पालतू जानवर। सब प्रकार की धूल – घर की धूल, पंख, ऊन, रेशम, मोल्ड्स, फंगाई, सुगन्धित द्रव्य, धुवां, (जैसे गंधक का धुवां), मानवीय केश, डेन्ड्रफ तथा फूलों के पराग, विन्ड पोलिनेटेड तथा क्रौस पोलिनेटेड दोनों प्रकार के फूलों के पराग।

स्पर्श से ऐलर्जी के उदाहरण :--

विशेष–वस्त्र, रासायनिक अथवा भौतिक द्रव्य जैसे फूल, साबुन, मुखलेप (Cosmetics) आदि हैं। आपने देखा होगा कि बिच्छू-बूटी आदि बनस्पतियों के छू जाने से भी सारे बदन पर खुजली उठने लगती है। कई रोगियों में केवल ठंडी हवा लगने से आंखों में खुजली, छींकें, और दमे का दौरा उठ खड़ा होता है।

क्रिमि द्वारा परागित पुष्पों से तो रोगी को बचाया भी जा सकता है परन्तु विन्डपोलिनेटेड से बचाना कठिन है, यहां तक कि उसके कमरे के दरवाजे खिड़कियां अधिकतर बन्द रखनी पड़ती हैं। सूचीवेध द्वारा ऐलर्जी में रक्तद्रव, वनस्पतियां, काटने वाले प्राणी (Bites) और डंक मारने वाले (Stings) शामिल हैं, जैसे भिड़, जूं, खटमल आदि के डंक।

यह जानने के लिए कि किस-किस वस्तु के लिए रोगी हाइपरसेन्सिटिव है त्वचापरीक्षा, (Skin test) का प्रयोग होता है। यह अमेरिका में सन् १९१९ के लगभग पहले पहल प्रयुक्त किये गये। इसमें त्वचा को खुरच कर (Scarification) या Intradermic method द्वारा वस्तुओं के सत्व प्रविष्ट किए जाते हैं। बाजू से सामने का पृष्ठ तथा पीठ, पेट आदि पर कई जगह ऐसा किया जाता है। जिस-जिस वस्तु के लिए रोगी सेन्सिटिव होगा वहां वहां धप्पड़ उठ आते हैं, जो २४ घंटे तक रहते हैं, परन्तु इन परीक्षाओं में यह कमी है कि नकारात्मक परिणाम (Negative reaction) से आप यह नहीं कह सकते कि रोगी उस वस्तु के लिए ऐलर्जिक नहीं है। रोगी प्रायः एक से अधिक वस्तुओं के लिए सेन्सिटिव होता है।

जिन जिन चीजों के लिए रोगी सेन्सिटिव हो उन उन वस्तुओं से रोगी को बचना चाहिए अथवा उन वस्तुओं के सत्व के सूचीवेध द्वारा रोगी को डीसेन्सिटाइज किया जा सकता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि उपरोक्त तीन प्रकार के कारणों, मानसिक प्रक्षेपक तथा एलर्जिक से इस रोग का उत्पन्न होना भी, जैसा ऊपर कहा जा चुका है रक्त की रचना पर निर्भर है जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में बदलती रहती है जैसे स्वास्थ्य की भिन्न-भिन्न अवस्थायें अजीर्ण, मासिकधर्म, गर्भावस्था, अन्य रोगों का आक्रमण, मानसिक

अवस्थायें (Emotions & excitement), थकान, जल-वायु तथा स्थान का परिवर्तन, परिस्थितियों (Enviroumènts) तथा स्थान की ऊंचाई (Altitude) में परिवर्तन। कई रोगी शुष्क वायुमण्डल में अच्छे रहते हैं और कई आर्द्र वायुमण्डल में। कई शहर में अच्छे रहते हैं कई गांव में। आस्थमा के अतिरिक्त अन्य एलर्जिक रोग ये हैं—हे फिवर, पेरोक्सिज्मल राइनोरिया, दद्रु (Eczema) शीतपित्त (Urticaria), डरमेटोग्राफिया, आधासीसी (Migraine), तथा लॅरिन्जिसम स्ट्रिडुलस।

चिकित्सा—दमा रोग के कारण ऊपर विस्तार से कहे जा चुके हैं। कारण मालूम करके रोग की चिकित्सा करने से अधिक लाभ हो सकता है।

थकावट तथा भय, शोक आदि मानसिक कारणों से रोगी को बचना चाहिये। प्रक्षेपक कारण जैसे नाक के रोगों का इलाज वैक्सीन द्वारा हो सकता है। पेट को भोजन से अधिक नहीं भरना चाहिये और मलबन्ध का ध्यान रखना चाहिये।

रोगी को एक डायरी रखनी चाहिये जिसमें वह लिखता रहे कि किन किन कारणों के बाद उसे दौरे उठते हैं और उसे चाहिये कि उन चीजों से बचे। ठन्डी हवा से रोगी को बचना चाहिये और यदि हो सकता हो तो कुछ समय के लिए पहाड़ पर वास करना चाहिये। रोगी का कमरा उसके बाहिर चले जाने के बाद झाड़ना चाहिये।

रोगी का भोजन हलका होना चाहिये और उसके भोजन में ऐसी चीजें नहीं होनी चाहियें जिससे उसको दौरा उठता हो। यदि किसी पालतू जानवर के सम्पर्क में आने से दौरा उठता हो तो उससे बचना चाहिये। एलर्जी के अन्य कारण भी ऊपर कहे जा चुके हैं।

दौरे के समय एड्रिनलीन आधा सी.सी. का सूचीवेध किया जाता है। कई बार गले में एड्रिनलीन (१:१०००) का स्प्रे करने से दौरा रुक जाता है। यह स्प्रे करने के लिए ओटोमाइजर का प्रयोग होता है। यदि दौरा बहुत तीव्र हो तो ऐड्रिनलीन का निरन्तर प्रयोग होता है अर्थात् बूंद बूंद करके ऐड्रिनलीन का सूचीवेध करते हैं, जब तक कि दौरा बन्द नहीं हो जाता इसके बाद सूचीवेध की सूई त्वचा के अन्दर ही रहने दी जाती है और रोगी के पास भरा हुआ सिरिंज पड़ा रहता है। आध घंटा, एक घंटा, या दो चार घंटे बाद जब भी दौरा दुबारा उठने लगे रोगी या उसके परिचारक उसे दो चार बून्द का सूचीवेध कर देते हैं।

कई रोगियों में इफेड्रीन या स्यूडोइफेड्रीन खिलाने से लाभ हो जाता है,परन्तु यह हलके दौरे में ही कार्य करते हैं और कई रोगियों को हानि भी पहुंचाते हैं। कई औषधियां धूम्रपान द्वारा भी दी जाती हैं जैसे शोरा, स्ट्रमोनियम, आदि। यद्यपि ये दौरे को कुछ कम कर देती हैं, परन्तु अधिक प्रयोग से जीर्णश्वासप्रणालीप्रदाह या एम्फीजीमा पैदा करती हैं। दमे के रोगी के लिए मार्फिया का प्रयोग निषिद्ध है।

दौरे के बाद—पोटाशियम आयोडाइड तथा सोमल (Arsenic) का प्रयोग किया जाता है।

आजकल दमे के लिए विशेष प्रकार की श्वास की व्यायामों का प्रयोग किया जाता है। यह देखा गया है कि गायकों में दमा नहीं होता। साधारण श्वासपूरक व्यायाम (Inspiratory Breathing exercises) दमे के लिए हानिकारक होती हैं। दमे के लिए रेचक व्यायाम (Expiratory Breating exercises) होनी चाहियें, अर्थात् नाक से थोड़ा अन्दर को सांस लेकर अधिक से अधिक समय तक मुख से लम्बा प्रश्वास (Expiration) करना चाहिये। यह व्यायाम, परिगणन, सीटी बजाना,

(शेष पृष्ठ २२६ पर)

# अर्श : एक पीड़ादायक रोग

श्री नेत्रपालसिंह

निरुक्ति--

अरिवत् प्राणान् शृणाति हिनस्ति ।।

जो शत्रु के समान प्राणों को कष्ट दे उसे अर्श कहते हैं। हिंसार्थक शृ धातु से अर्श शब्द की सिद्धि होती है।

सम्प्राप्ति--

दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि संदूष्य विविधाकृतीन्।
मांसाकुरापानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि ताञ्जगुः ।।
(वा० नि० अ० ७)

दोष जब त्वचा, मांस, मेद को दूषित कर के गुदा, नासिका आदि में अनेक आकृति वाले मांसाकुर को उत्पन्न कर देते हैं, तब इन्हें अर्श कहते हैं।

चरक ने भी त्वचा, मांस, मेद को ही अर्श का दूष्य अधिष्ठान माना है। यथा--

'सर्वेषां चार्शसामधिष्ठानं मेदो मांसं त्वक् च'।
(च० चि० अ० १४)

आचार्य सुश्रुत के अनुसार -- असंयमी लोग जब वात, पित्त, कफ-रक्त के प्रकोपक कारणों का सेवन करते हैं। तो एक, दो या तीनों दोष, रक्त दोष प्रकुपित हो कर धमनी के द्वारा गुदा में आश्रय करके मांसप्ररोह को उत्पन्न कर देते हैं। जिन लोगों को मन्दाग्नि तथा कोष्ठबद्धता रहती है, उनमें ये विशेषतया पाये जाते हैं।

आधुनिक मत गुदसिराओं के उभार को अर्श मानता है, सेविल महोदय का मत है--

**"Haemorrhoids or Piles are varicose rectal veins. This varicosity forms a swelling of variable size which may be altogether within the anus ( Internal-piles ) or partly internal and partly external."**

पाश्चात्य मत से हेतु--

**(1) Portal obstruction is itself a cause of Piles.**

उदरगत अर्बुद आदि के दबाव या यकृत में शोथ होने से प्रतिहारिणीसिरा में अवरोध होने पर अर्श की उत्पत्ति होती है।

(२) विबन्ध का अधिक रहना भी अर्श का कारण है। विशेष रूप से स्त्रियों में।

(३) अत्यधिक मद्यपान से भी प्रतिहारिणी सिरा में अवरोध होने से अर्श की उत्पत्ति होती है।

(४) एक स्थान पर अधिक देर तक बैठ कर काम करना अथवा विलासिता के कारण व्यायाम की कमी से भी अर्श होता है।

(५) शीतल स्थान पर अधिक देर बैठने से गुद के अधोभाग की सिराओं के संकुचित हो जाने से अर्श की उत्पत्ति होती है।

सामान्य लक्षण--

(१) मल में रक्त की उपस्थिति। (२) मल त्याग के समय पीड़ा, जो मल त्याग के पश्चात् भी कुछ काल तक बनी रहती है। (४) गुदा के चारों ओर लालिमा हो जाना। (५) सार्वदैहिक लक्षण --शिरो वेदना, मूर्च्छा, शरीर शैथिल्य, मल में रक्त अधिक निकल जाने के कारण रक्ताल्पता भी हो जाती है।

भेद--

पृथग्दोषैः समस्तैश्च शोणितत् सहजानि च।
अर्शांसि षट्प्रकाराणि विद्याद् गुदवलित्रये ।।

वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, शोणितज तथा सहजभेद से छह प्रकार के अर्श गुदा की तीन वलियों में होते हैं। गुदा की लम्बाई ४।। अंगुल होती है। इस में ऊपर से नीचे क्रमशः

प्रवाहणी, विसर्जनी, संवरणी नाम की तीन वलियां होती हैं।

(१) प्रवाहणी १॥ अंगुल है।

(२) विसर्जनी १॥ अंगुल है।

(३) संवरणी १ अंगुल है।

हेतु वातार्श--

(आहार)–कषाय, कटु, चरपरे, तिक्त, रूक्ष, शीत तथा लघु पदार्थों का सेवन। अल्प भोजन (प्रमिताशन) विषमाशन, मद्य का अति सेवन।

(विहार)–अत्यधिक मैथुन, लंघन, शीतदेश, शीतकाल, अधिक व्यायाम का सेवन करना, प्रवात का सेवन।

(मानस)--शोक।

हेतु पित्तार्श--

(आहार)– कटु, अम्ल, लवण तथा उष्ण, तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन।

(विहार)– अग्नि व आतप का सेवन, उष्ण देश तथा उष्ण ऋतु का सेवन।

(औषध)– विदाही, तीक्ष्णता, उष्णता गुण-भूयिष्ठ औषध के सेवन से, मद्य के सेवन से।

(मानस)– क्रोध, ईर्ष्या।

श्लैष्मिकार्श हेतु--

(आहार)– मधुर स्निग्ध शीतल आहार, लवण अम्ल, गुरु पदार्थ का सेवन।

(विहार)– व्यायाम का सर्वथा परित्याग, दिवास्वप्न, सदा अधिक गुदगुदे बिस्तर पर बैठने व लेटे रहने का स्वभाव (आस्यासुख), पूर्वी वायु का अधिक सेवन। शीत देश, शीतकाल का सेवन।

(मानस)– सदा चिन्तामुक्त रहना।

द्वन्दजार्श हेतु--

दो दोषों के प्रकोपक हेतु मिलकर इसको उत्पन्न करते हैं।

त्रिदोषजार्श हेतु--

तीनों दोषों के प्रकोपक हेतु मिलकर इसको उत्पन्न करते हैं।

पूर्व रूप--

विष्टब्धाजीर्ण, आध्मान, कुक्षि का फूलना, उदर में गुड़गुड़ शब्द होना, डकार अधिक आना, टांगों में पीड़ा, कोष्ठबद्धता, पाण्डु रोग, ग्रहणी।

दोषज लक्षण--

१– वातार्श–(स्थानिक)–मस्से सूखे (स्राव रहित), चुनचुनाहटयुक्त होते हैं। मुरझाये हुए, वर्ण में मटियाले (घूसर) हल्के लाल, स्पर्श में कठिन, पृथक् पृथक् होते हैं। खुरदरे (खर), स्वरूप में सूक्ष्म तनु होते हैं।

(सार्वदैहिक)–सिर, पार्श्व, कटि, जंघा तथा वक्षंण में पीड़ा होती है। मलावरोध, गांठदार अल्प मल, त्वचा, नख, मुख, नेत्र, मूत्र-मल काले पड़ जाते हैं। गुल्म, प्लीहा, उदर रोग, अष्ठीला रोग भी हो सकते हैं।

२–पित्तार्श (स्थानिक)–पैत्तिकअर्श का अग्र-भाग नीला, शेष भाग लाल, पीलावर्ण का होता है। अल्परक्त स्राव, आमयुक्त, छोटे, कोमल तथा लटके हुए मस्से होते हैं। शुक जिह्वा के समान, वर्ण में यकृतखण्ड के समान। पतला, नीला, उष्ण, पीत रक्त वर्ण का। आमयुक्त मल।

(सार्वदैहिक)–दाह, पाक, ज्वर, स्वेद, तृष्णा, मूर्च्छा, अरुचि आदि सार्वदैहिक लक्षण होते हैं। त्वचा, नख, मूत्र, मुख, मल हरे पीले वर्ण के हो जाते हैं।

३–श्लेष्मार्श (स्थानिक)–कफज अर्श के मस्से मोटी मूल वाले, घने पृथु, अल्प पीड़ायुक्त, श्वेत वर्ण के, अधिक उठे हुए, स्थूल, चिकने, कठोर, गोल, भारी व दृढ़ होते हैं।

(सार्वदैहिक)—कास, श्वास, मिचली, लाला-प्रसेक, अरुचि, पीनस, मूत्र कृच्छ, सिर में भारीपन, शीतज्वर आदि । कफयुक्त मल प्रवाहण करने पर निकलता है । त्वचा, नख, मुख, दांत, मल-मूत्र पाण्डुवर्ण हो जाते हैं ।

४- सन्निपातज—त्रिदोषयुक्त लक्षणों वाले होते हैं ।

५-रक्तार्श-(स्थानिक)— मस्से पितार्श के समान, वटशुङ्ग, गुञ्जा या प्रवाल के समान लोहित, अत्यधिक रक्तस्राव होता है ।

(सार्वदैहिक)- रक्तक्षयजन्यव्याधियां । बल उत्साह व ओज हीन हो जाते हैं । सब इन्द्रियां व्याकुल हो जाती हैं ।

चिकित्सा—

दुर्नाम्नां साधनोपायाश्चतुर्धा परिकीर्तिताः ।
भेषज क्षार शस्त्राग्नि साध्यत्वादाद्य उच्यते ।।

अर्श रोग को नष्ट करने के लिए चार प्रकार की चिकित्सा की जाती है ।

(१) औषध चिकित्सा, (२) क्षार पातन, (३) शस्त्रद्वारा छेदन, (४) अग्नि द्वारा दाह ।

औषध चिकित्सा—

अर्शोघ्न लेप, (भै० र०)- थूहर के दूध में हल्दी का चूर्ण मिलाकर उसका अर्श के अंकुरों पर लेप करने से अर्श नष्ट होते हैं ।

हरिद्रादि लेप, (भै०र० )- हरिद्रा चूर्ण, कड़वी तोरई के पत्ते, बीज अथवा जड़ का चूर्ण बराबर बराबर लेकर सरसों के तेल के साथ घोट कर गुदा में या मस्सों पर लगायें ।

अर्शीना प्रलेप, (योगी फार्मेसी)—बाह्य प्रयोग के लिए यह सर्वोत्तम लेप (आइन्टमैन्ट) है । इसके योग द्रव्य ये हैं—

निर्गुन्डी स्वरस ३.५०%, निम्बवसा २५.०% महामरिचादि तैल १०.०%, कम्पिल्ल २.० %, तिलसार १०.० %, कपूर ६.०%, काशीसादि तैल २५.००%, मक्षिका सिक्थ ७.०० महिषी मूत्र २.५०%, कज्जली २.००%, शुद्धमनः शिला १.०%, हरित विजया स्वरस ५.०% ।

इसके गुणधर्म प्रयोग ये हैं—

यह शिराओं की शक्ति (टोन) को बढ़ा देता है जिससे उनका संकोच (कन्जेशन) कम हो जाता है । यह रक्त को रोकने में सहायक होती हैं । यह अन्टीसेप्टिक भी हैं ।

प्राणदा वटिका (भै०र०), पञ्चानन वटी (भै०र०)

अर्शीना पिल्ज- (योगी फार्मेसी), आभ्यंतर प्रयोग के लिए यह अति उत्तम योग है । यह 'योगी फार्मेसी' द्वारा तैयार किया गया है । योग द्रव्य ये हैं—

| | |
|---|---|
| दारूहरिद्रा घनत्व | ३२.०५% |
| निम्बफल मज्जा | १८.०५% |
| महानिम्बफल मज्जा | १६.०५% |
| नागकेशरसार | .०५% |
| अरिष्टत्वक् | २.५०% |
| तृणकांत पिष्टी | ६.१०% |
| स्वर्ण माक्षिक भस्म | ५.०% |
| शुद्ध गुग्गलु | १५ २०% |

इसमें करंज, त्रिफला, मूलक सूरणकन्द, काकजंघा की भावना देते हैं ।

इसके गुणधर्म प्रयोग ये हैं—

शिराओं की शक्ति (टोन) को बढ़ा कर यह संकोच को (कन्जेशन) कम करता है । यह वाहिनी संकोचक होने के कारण रक्तरोधक है, शोथघ्न है । अतः यह द्वितीय संक्रमण से बचाता है । विबन्ध को दूर करता है । यह यकृत क्रिया को बढ़ा कर भोजन की पचन क्रिया को बढ़ाता है ।

सेवनविधि–१ से २ गोली दिन में तीन बार दही, मठ्ठा, फलस्वरस या ठंडे पानी से लें। स्थानिक रूप से अर्शोना प्रलेप का प्रयोग करें। चिकित्साकाल– एक से दो मास है।

आसव–

| | | |
|---|---|---|
| दन्त्यरिष्ट | (भै०र०) | अर्शोधिकार |
| द्राक्षासव | (यो०र०) | ,, |
| अभयारिष्ट | (भै०र०) | ,, |

चूर्ण–

| | | |
|---|---|---|
| धतूरा चूर्ण | (भै०र०) | ,, |
| रक्तार्श चूर्ण | (भै०र०) | ,, |

रस–

| | | |
|---|---|---|
| तीक्ष्णमुखो रस | (भै०र०) | ,, |
| रसगुटिका | (भै०र०) | ,, |
| अर्श कुठार रस | (यो०र०) | ,, |

क्षार पातन (क्षार सूत्र)– थूहर के दूध में हल्दी के चूर्ण को सीसे की नली में मिला कर उसमें कपास के सूत्र को कई बार भावित करें। अर्श पर बान्धने से मस्से नष्ट हो जाते हैं।

सम्यक्क्षार दग्ध– क्षार से जलने पर यदि जामुन के समान वर्ण हो तो सम्यक् दग्ध समझें।

----०---

( पृष्ठ २२२ का शेष )

## श्वास-रोग

आदि की होती हैं। इन से महाप्राचीरिका तथा उदरमांसपेशियों का व्यायाम होता है। और यह ठीक प्रकार से कार्य करने लगते हैं। दमे के रोगी में छाती की मांसपेशियां अधिक कार्य करती हैं और महाप्राचीरिका कम कार्य करती है, जिससे छाती की आकृति विकृत हो जाती है और छाती का ऊपर का भाग निचले भाग की अपेक्षा अधिक चौड़ा हो जाता है।

दमे की चिकित्सा एक्सरे और अल्ट्रा वायोलेट किरणों से भी की जाती है।

# अन्तरिक्षायुर्वेद

## Space Medicine or Aviation Medicine

श्री गोविन्द जोशी, आयुर्वेदमहाविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

इस ब्रह्माण्ड में सौरमण्डल तथा उसमें यह पृथ्वी ऐसे स्थान पर स्थित है कि जिस से इस पृथ्वी पर जीवन सम्भव हो पाया है। ऊष्मा जल, तथा वायु ये तीन वस्तुएं जीवन को जीवित रखने में प्रमुख हैं। ०–१००° शतमान की उष्णता जल को द्रवावस्था में स्थिर रखती है। ऊष्मा की तीक्ष्णता मन्दता पर रासायनिक क्रियाओं की द्रुतता मन्दता निर्भर है। उच्च तापमान पर चेतन पदार्थों के मूलभूत घटकों कार्बन एवं हाइड्रोजन अणुओं के मध्य स्थित बन्ध (Bonds) विदीर्ण हो जाते हैं, तथा हीन तापमान पर रासायनिक क्रियाएं अति मन्द हो जाती हैं। पूर्वोक्त उष्णतामान जो ऊष्मा के सम्यक् योग को पृथ्वी पर बनाए रखता है उसका अक्षय स्रोत जगदाधार सूर्य है।

यह जीवनप्ररस (Protoplasm) का आधार तथा जीवनानुप्राणिनी रासायनिक क्रियाओं का उत्पत्तिस्थान जलीय माध्यम है, साथ ही यह उत्सर्जनीय मल पदार्थों का उत्सर्जन-माध्यम तथा शरीरोतापनियामक भी है। मानवशरीर द्वारा प्रतिदिन फुफ्फुस एवं त्वचा से लगभग एक लिटर जल वाष्प के रूप में उत्सर्गित होता है।

पृथ्वी के चारों ओर वायु का आवरण है, जो सूर्य तक फैला है, जैसे जैसे पृथ्वी से दूरी बढ़ती है, वैसे वैसे वायु विरल हो जाती है। क्योंकि पृथ्वी की केन्द्राकर्षण शक्ति कम हो जाती है। पृथ्वी पर वातावरण जीवनसहायक दो मुख्य कार्यों को सम्पन्न करता है एक तो यह प्राणियों के श्वसनार्थ प्राणवायु प्रदान करता है तथा सम्पीडन (Pressure) के द्वारा शारीरिक द्रव पदार्थों को सामान्य शारीरिक उत्ताप पर क्वथित होने से रोकता है। दूसरे अन्तरिक्ष रश्मियों, विषावत सौररश्मियों को शोषित कर तथा उल्काओं से प्राणियों की रक्षा कर पृथ्वीतल को जीवोध्वंसीपरिणामों से सुरक्षित रखने में कवच का कार्य करता है।

इस प्रकार पृथ्वी की परिस्थितियां जीवन के लिए सहायक तथा रक्षक हैं। यहां अनेक प्राणी रहते हैं। किन्तु उनमें एक ऐसा भी प्राणी है जो प्रकृति के नियमों तथा रहस्यों को जानने की जिज्ञासा पहले से ही रखता आया है, और उसने इन रहस्यों को कुछ अंश तक जाना भी है। आकाश में उड़ते पक्षियों की ओर देखकर उसके मन में सहस्राब्दियों पूर्व आकाश में विचरण करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। इतना ही नहीं दिन में सूर्य तथा रात्रि में अगणित ग्रह नक्षत्रों को जगमगाते देख वहां पहुंचने की जिज्ञासा भी उठी, जिसे उसने पूर्ण भी किया। इसका ऐतिहासिक प्रमाण इन वैदिक मन्त्रों में सुरक्षित है–

परिद्यावा पृथिवी सद्यइत्वा परिलोकान्परि दिशः
ऋतस्य तन्तुंविततं विचृत्य तदभवत् तदपश्यत्
तदासीत ॥ (यजु० ३२-१२)

परिविश्वा भुवनानि परिआयम् ॥
अथर्व० २-१-५)

इस तथ्य को पाश्चात्य अन्तरिक्ष-विद्या-विशारद सहर्ष स्वीकार करते हैं, जिसका प्रमाण यह है–

The Idea of Human flight can be found in the Hindu vedas of 2000 B. C. and Samskrit Bhagwata.

*(Space medicine, by Ursula T. slager)*

अन्य प्रमाणों तथा विमानशास्त्रीय ग्रन्थों के अवलोकन मे यह पता चलता है कि व्योमयानों के निर्माण, उन में प्रयुक्त होने वाले विविध यन्त्रों, तथा सफल व्योम यात्राओं का वर्णन प्राचीन भारतीय वांगमय में मलता है। स्वयं विमान की निरुक्ति इसका बोध कराती है। जैसे लिखा है—

देशाद्देशान्तरं तद्वत् द्वीपाद्द्वीपान्तरंतथा।
लोकाल्लोकान्तरं चापि यो म्बरे गन्तुमर्हति।
सविमान इति प्रोक्त खेटशास्त्र विदांवरैः॥
(बृहद् विमानशास्त्र)

पश्चिमी राष्ट्रों ने कुछ वर्षों से अन्तरिक्ष यात्रा को सतत प्रयत्नों द्वारा सफल बनाया है। प्रयत्न काल में वहां आयुर्विज्ञान की एक नवीन शाखा का जन्म हुआ, जिसे उन्होंने स्पेस मेडिसिन नाम दिया। किन्तु इस विषय पर पहले से ही अति सुसयत रूप में अन्तरिक्षायुर्वेद नामक शाखा वैज्ञानिक तथ्यों से पूर्ण है,

## अन्तरिक्षायुर्वेद का अर्थान्वाख्यान

जो शास्त्र मानव तथा उसके चहुं ओर स्थित वातावरण के मध्य प्रकृत सम्बन्धों का, और व्योम यात्रा के समय अन्तरिक्ष के विभिन्न विभागों से गमन करते समय अन्तरिक्ष वातावरण द्वारा मानव शरीर पर होने वाले विभिन्न असात्म्येन्द्रियार्थ संयोगों का, और इनके प्रति मानवीय शरीर द्वारा की गई विभिन्न प्रतिक्रियाओं का ज्ञान कराता है, और उनसे स्वस्थ व्योमयात्रियों के स्वास्थ्य का रक्षण करने तथा इन असात्म्येन्द्रियार्थ से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा का विधान जिसमें है, वह शास्त्र अन्तरिक्षायुर्वेद कहाता है।

पृथ्वी पर बने वातावरण को लक्ष्य में रखकर देश, काल, यात्रानुसार प्राकृतिक नियमों के आधार पर चिकित्सा करने का विधान तो सम्प्रति आयुर्वेद में है। अतः व्योमयात्रा के समय सम्पर्क में आने वाली विभिन्न वातावरणीय परिस्थितियों का उल्लेख करना है। समुद्रतल से तीन-किलोमीटर (सहस्रमान) की ऊंचाई पर समुद्रतट का एक अनभ्यस्त निवासी प्राणवायु की कमी का अनुभव करता है, तथा पन्द्रह किलोमीटर की ऊंचाई पर प्राणवायु का पूर्ण अभाव हो जाता है। प्रथम ऊंचाई पर प्राणवायु अल्पता तथा द्वितीय ऊंचाई पर प्राणवायुअभाव की स्थिति के कारण मृत्यु हो जाती है। अतः यात्रियों को अपने साथ प्राणवायु का भंडार रखना होता है। विभिन्न ऊंचाईयों पर वायु की विरलता या घनता वातावरणीय सम्पीड पर आधारित होती है, तथा यह सम्पीड उष्णता एवं घनता Density के अनुसार परिवर्तित होता है। अतः विभिन्न ऊंचाइयों पर पाई जाने वाली वातावरणीय सम्पीड (Atmospheric pressure) की ह्रास-वृद्धि अहोरात्र के अष्ट प्रहरों, ऋतुओं, मेघमालाओं, वातावरणीय गतिविधियों, वायुमिश्रित जलीय वाष्प की मात्राओं एवं सौरक्रियाओं (Solar activity) के आधीन है।

## वातसम्पीड की ह्रास-वृद्धि के प्रभाव

## ( Effects of Increase and Decrease of Atmospheric Pressure )

### (१) दुर्वातता (Dysbarism)

पांच सहस्रमान की ऊंचाई पर वातसम्पीड के ह्रास हेतु दुर्वातता नामक स्थिति उत्पन्न होती है, जिसमें शारीरिक द्रवद्रव्यों में घुली हुई नत्रजन (Nitrogen) आदि शरीरक्रिया की दृष्टि से अक्रिय वायुएं (PhysioologicallyInert gases) प्रवरसन्तृप्ति के फलस्वरूप द्रवद्रव्यों (रक्तादि) से बुद्‌बुदों के रूप में बाहर निकल आती हैं, और

अति भयंकर परिणाम उत्पन्न करती हैं। वातावरण में नत्रजन वायु ७८.०८४ प्रतिशत की मात्रा में पाई जाती है, और यह रक्त एवं अन्य जलीय द्रव्यों में घुली रहती है। मेद, मज्जा आदि स्नेह प्रधान ऊतकों में यह अन्य ऊतकों की अपेक्षा पांच-छह गुना अधिक घुलनशील है। अतः स्थूल व्यक्तियों में नत्रजन अधिक मात्रा में घुली होती है, जिसके फलस्वरूप ये व्यक्ति कृशों की अपेक्षा दुर्वातता से अधिक ग्रस्त हो जाते हैं। वायु के बुद्‌बुद् मुख्य रूप से शरीर के ऐसे ऊतकों में, जिन्हें स्वल्प परिणाम में रक्त की पूर्ति होती है, उन में पाए जाते हैं। जैसे मेदधातु, कण्डराएं, पर्यस्थीऊतक (Periosteal Tissues) जिनसे बिना घुली नत्रजन रक्त की कमी के कारण निष्कासित नहीं होती। ये बुद् बुद् कभीकभी रक्तवाहिनियों में भी पाये जाते हैं, जिससे धमनीरोध जैसी अवस्थाएं उत्पन्न हो जाती हैं।

### मध्यकर्णीय वातिक प्रदाह एवं वातिक विवरप्रदाह
### (Aerotitis Media and aero Sinusitis)

यह स्थिति वातसम्पीड की कमी के कारण मध्यकर्णगुहा तथा बाह्य वातावरण में होने वाली विषमता से उत्पन्न होती है। कंठरोगों से पीडित व्यक्तियों में जब पटह-पूरणिका पूर्ण या अर्ध रूप से अवरुद्ध हो जाती है, जिस से मध्यकर्ण एवं बाह्य वातावरण के सम्पीड में सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता और उसके फलस्वरूप कर्णपटह (Tympanic membrane) विदीर्ण हो जाता है। प्रत्यक्ष शारीर में इसे निम्नलिखित शब्दों द्वारा प्रदर्शित किया है—"तस्याः (पटहपूरणिकायाः) **प्रयोजनं मध्यकर्णस्य बाह्यवायुना पूरणं, येन विना बहिर्वायुभारपीडिता पटहकला द्रुतं निर्भिद्येत। निर्भिद्यते एव हि सा कंठरोगेषु श्लेष्मस्रावावरूद्धेऽस्मिन् वायुमार्गे**"। यह स्थिति पृथ्वी पर उत्पन्न होने के कारण '**बहिर्वायुभार-पीडिता पटहकला द्रुतं निर्भिद्येत**' लिखा है। किन्तु आकाश में स्थिति इससे पूर्ण विपरीत होती है। वहां मध्यकर्ण गुहा में वायुभार अधिक होता है तथा बाहर कम होता है। अतः कर्णपटह इस आन्तरिक वायुभार के कारण विदीर्ण हो जाता है।

पारद की ३-५ सहस्रिमान (3-5 mm.of Hg) सम्पीडभिन्नता में कर्णपटह स्वल्प उत्फुल्लित होता है, जिस से कर्णाध्मान की अनुभूति होती है, जब यह सम्पीडभिन्नता पारद के ६० सहस्रिमान से अधिक हो जाती है तब भयंकर कर्णशूल कर्णनाद की उपस्थिति होती है। इस से अधिक सम्पीडभिन्नता में कर्णशूल तीव्र पीड़ाकारक हो उपकर्णग्रन्थि (Parotid gland) को भी ग्रस्त कर लेता है। बधिरता, भ्रम (Vertigo), कर्णनाद भी इसके मित्र बन जाते हैं। सामान्यतया कर्णपटह पारद की १०० से २०० सहस्रिमान सम्पीड भिन्नता पर विदीर्ण होता है।

### क्वथनन् (Ebullism)

२० सहस्रमान की ऊंचाई पर वातसम्पीड इतना कम हो जाता है कि सामान्य शारीरिक उत्ताप (37°C, 98.6° F) पर शरीरगत जल क्वथित हो उठता है। इस स्थिति को क्वथनन् कहा जाता है। वातसम्पीड की इतनी कमी वाले स्थान में पहुंने पर ३०--४० सेकंड के पश्चात् **शाखाओं** से शोथ प्रारम्भ होकर सिर की ओर प्रसर्पण करता है। मुख में बुद्‌बुदों से पूर्ण लालाप्रसेक की सम्प्राप्ति होती है, तथा जलवाष्प की निर्मिति के फलस्वरूप सर्वशरीर की त्वचा रोटी की तरह फूल कर गुब्बारा बन जाती है। मुख्य रूपसे उदक-ह्रास के लक्षण प्रगट होते हैं। नेत्रवर्त्म (Conjun-

ctiva)तथा महास्रोतस् से वाष्प निकलती है। मस्तिष्क में शोथ की सम्प्राप्ति होती है। पारद के ३० सहस्रिमान वातसम्पीड के वातावरण से दो मिनट या उससे अधिक समय का सम्पर्क प्रायः घातक है। किन्तु, ६० सेकंड से कम समय में यदि प्रतिकार किया जाए तो पूर्ण स्वस्थता प्राप्त हो सकती है।

### ध्वनिशून्य लोक—

जैसे जैसे वातसम्पीड कम होता है, वैसे वैसे वातघनता भी कम होती है, जिस के फलस्वरूप वायु के अणु परस्पर दूर हो जाते हैं। शब्दवहनार्थ एक विशिष्ट वातघनता की आवश्यकता होती है। यदि वायु के अणुओं के मध्य का अन्तर शब्दवीचि के अन्तर से अधिक हो जाए तो किसी भी प्रकार का शब्द सुनाई नहीं देगा। अन्तरिक्ष में यह स्थिति १३० सहस्रमान की ऊंचाई पर उत्पन्न होती है।

इन भयंकर परिणामों का मूल कारण एकमात्र वातसम्पीड है। अतः ऐसे स्थानों में पूर्णतः बन्द यानों में पूर्णतः कृत्रिम रूप से पृथ्वीतलीय वातसम्पीड उत्पन्न किया जाता है, जिससे निदान का परिवर्जन होकर स्वास्थ्य की रक्षा होती है।

### तमिस्र लोक

जैमिनि ब्राह्मण (१।२६१) में तमिस्रलोक का अधोलिखित वर्णन है—

**"यथा ह वै कूपस्य खातस्य गम्भीरस्य पर तमिस्रम् इव ददृश एवं हवै शाश्वत् परस्ताद् अन्तरिक्षस्य असौ लोकः। तत् कः तद् वेद् यदि तत्रास्ति वा न वा"।**

अर्थात्—जिस प्रकार निश्चय ही कूप के गहरे गढ़े के नीचे घना अन्धकार जैसा दीखता है। इसी प्रकार निश्चय ही अन्तरिक्ष के निरन्तर परे वह तमिस्र लोक है। तो कौन इसे जानता है, यदि वहां ऐसा है वा नहीं है?

इसका उत्तर शतपथ ने दिया—

**"अयं वै लोको गार्हपत्यः। इममेव तं लोकं संस्कृत्य समारोहन् (देवाः)। ते तम् एव अनतिदृश्यम् अपश्यन्"। (शतपथब्राह्मण ७।१।२।१)।**

अर्थात्—क्योंकि गार्हपत्य बनाकर देव इस पर चढ़े। यह निश्चय ही पृथिवी लोक गार्हपत्य लोक है। इसी उस लोक को पूरा बनाकर (वे देव ऊपर चढ़े)। उन्होंने अन्धकार ही, जिस में से कुछ दिखाई न दे, देखा।

तथा मैत्रायणि संहिता में **"तपोवै स्वर्ग लोकम् अन्तरा तिष्ठति (३।३।४)।**

अर्थात् अन्धकार निश्चय ही स्वर्गलोक के मध्य में ठहरता है।

इस से यह सिद्ध हुआ कि प्राचीनों ने स्वर्ग (सूर्यलोक या अन्य अन्तराल) और पृथिवी के मध्य स्थित एक अन्धकार पूर्ण स्थान को देखा था। अब आधुनिक विज्ञानवादी भी इस मतसे पूर्ण सहमत हो गए हैं, आकाशीय तमिस्रलोक का ३० सहस्रमान (किलोमीटर) से प्रारम्भ होता है, तथा १६० सहस्रमान पर पूर्ण तमिस्र की उपलब्धि हो जाती है। यहां प्रकाशकिरणें आकाश से गमन तो करती हैं। किन्तु प्रसृत दिवसप्रकाश का प्रभासन तभी होता है जब प्रकाशरश्मियों का विकिरणवायु कणों द्वारा हो (Light rays travels through vaccum, but diffuse day light illumination occures only if light is scattered by particles of Atmosphere)

३० सहस्रमान पर आकाशदीप्ति की अर्हा ३ सहस्रमान ऊंचाई की आकाशदीप्ति से १/३० भाग ही रह जाती है। १२० सहस्रमान पर यह दीप्ति समुद्रसंतल पर प्रकट होने वाली ज्योत्स्ना-

पूर्ण शुभ्र रात्रि की दीप्ति के समान, तथा १५० सहस्रमान पर आकाशदीप्ति अमावस्या की रात्रि के समान होती है। प्रसृत प्रभासनाभाव के फलस्वरूप दिन के समय ग्रह नक्षत्रों का दर्शन होता है, तथा कोई भी प्रभासित पदार्थ कृष्णाकाश के सन्मुख अति दीप्त भासता है। दीप्ततम तारों का दर्शन तो ३० सहस्रमान पर ही दिन में हो जाता है। किन्तु इन से चतुर्थांश दीप्ति के तारे १२० सहस्रमान पर दर्शन देते हैं। आकाश में प्रभासित पदार्थ पूर्णतः कृष्ण पृष्ठभूमि के समान देखा जाता है जो अति कष्टदायक है। आकाश में किसी पदार्थ की अतिदीप्ति उसके अधिक प्रभास के फलस्वरूप कष्ट नहीं देती, अपितु प्रभासनहीन पृष्ठभूमि के कारण कष्ट पहुंचाती है। यह स्थिति अतिदीप्ततम व्यतिरेक को उत्पन्न कराती है। ऐसा समझा जाता है कि आकाशीय अन्धकार के सामने ९२.९ फुटकण्डल (1000lux) से अधिक शक्ति का प्रभासन असह्य होगा। परिपार्थिवीय (Circumterrestrial) अन्तरिक्ष में प्रभासनशक्ति १४ हजार फुट कण्डल होती है। अन्धकारपूर्ण अन्तरिक्ष के सामने सूर्यप्रकाशित पृथ्वी का व्यतिरेक(Contrast) या किसी अन्य लघु पदार्थ का व्यतिरेक निश्चित ही असह्य होगा। प्रभासन की सुसह्य स्थितियों का उपलब्ध होना आकाश में तब तक सम्भव नहीं जब तक शनिग्रह के सञ्चारमार्ग से समीपता रखने वाली सूर्य की दूरी पर नहीं पहुंचा जाए। शनि-सञ्चार मार्ग (Orbit of saturn) तथा सूर्यान्तरीय अन्तराल से सूर्य द्वारा प्रभासित किसी पदार्थ को देखने में मानव समर्थ होगा। अतिप्रभासित पदार्थों को देखने से दृष्टि पर अति बुरा प्रभाव पड़ता है। यह चक्षुरिन्द्रिय का अतियोग है, तथा तमिस्रका सेवन मिथ्यायोग है। अतः इससे दृष्टि विनष्ट होगी। जैसे—

**रूपाणां भास्वतां दृष्टिर्विनश्यत्यतिदर्शना त्।**
**दर्शनांच्चातिसूक्ष्माणां सर्वशश्चाप्यदर्शनात्।**
**द्विष्टभैरव बीभत्स दूरातिश्लिष्टदर्शनात्।**
**तामसानां च रूपाणां मिथ्या संयोग उच्यते।।**
(च० शा० अ० १, श्लो० १२२-१२३)

अतः इन अतियोग तथा मिथ्यायोगों से रक्षणार्थ विमान के वातायनों के अन्दर की ओर विशिष्ट प्रकार के पर्दों को लगाने का विधान पाश्चात्यों ने किया है। प्राचीनों ने विशिष्ट प्रकार के कपाटों का विधान किया है। जैसे—

**यन्त्रुपवेशनार्थं सामग्रीसंस्थापनाय च**
**यथा संकल्पितं कर्ता तथैव विधिवत् क्रमात्।।**
**कुर्याच्चित्र विचित्राणि गृहाण्यस्मिन् दृढानि हि।**
**यथा दृश्यं परेषां स्यात् तथावरणकीलकैः।।**
**कवाटान् स्थापयेत् तद्वद् वातायनमुखानपि।**
**सर्वत्रगृहमध्येष्टदिक्षु शास्त्रानुसारतः।।**
**कील संचालनेनाशु गृहसम्भ्रमणं यथा।**
**भवेत् तथावृत्त चक्रकीलकान् स्थापयेत् क्रमाद्।।**
**प्रसारण तिरोधानं चक्राणां प्रभवेत् यथा।**
**तथा कील संन्धानं कृत्वापश्चान् यथाक्रमम्।।**
**चक्राणि स्थापयेद् द्रोणी द्वय मध्यस्थ सन्धिषु।**
(वृहद् विमानशास्त्र, त्रिपुरोथप्रकरण)

## उष्णता का प्रभाव

सूर्य निरन्तर विद्युत-चुम्बकीय रश्मिमालाओं को निस्रवित करता है। रश्मियों का वर्गीकरण सामान्यतया उनके छन्द दैर्घ्य (Wave length) के अनुसार विभिन्न वर्गों में किया गया है। जैसे वितन्तूतरंगें (Raidio waves) औष्म्यांशु (Heat padiation), प्रकाश किरणें (Visible light) (X-Rays), इ रश्मियां (Gamma क्ष किरण Rays)। यह वर्गीकरण इसलिए किया गया है कि विभिन्न छन्ददैर्घ्यों की रश्मियां (Radiations of differentwave length) विभिन्न पदार्थों को प्रभावित करती है।

भारतीय वांगमय में सूर्य को सहस्ररश्मि कहा जाता है। इन सहस्ररश्मियों का (१) वृष्टि-सर्जना (अमृता), (२) हिमसर्जना (चन्द्रा, तथा (३) घर्मसर्जना इन तीन प्रकारों में वर्गीकरण किया है। ब्रह्मांड पुराण, पूर्वभाग में उसका निम्नलिखित वर्णन है–

**तस्य रश्मि सहस्रं तु वर्षशीतोष्ण निस्रवम्।**
**तासां चतुःशता नाड्यो वर्षन्ते चित्रमूर्तयः॥**
**चन्दनाश्चैव साध्याश्च कूतनाऽकूतनास्तथा।**
**अमृता नामतः सर्वा रश्मयो वृष्टि सर्जनाः॥**
**हिमोद्‌गताश्च ताभ्योऽन्या रश्मयस्त्रिशताः पुनः।**
**दृश्या मध्याश्च बाह्याश्च ह्लादिन्यो हिमसर्जनाः॥**
**चन्द्रास्ता नामः प्रोक्ता मिताभास्तु गभस्तयः।**
**शुक्लाश्च कुहकाश्चैव गावो विश्वभृतस्तथा॥**
**शुक्ला नामतः सर्वा त्रिशता धर्मसर्जनाः॥**

अतः प्राचीनोक्त रश्मि विभाग निम्न प्रकार है–

सूर्य रश्मि सहस्र

| १ वृष्टिसर्जना (अमृता) (४००) | २ हिमसर्जना (चन्द्रा) ३०० | ३ घर्मसर्जना (शुक्ला) (२००) |
|---|---|---|
| १ चन्दना | १. दृश्या | १. शुक्ला |
| २. साध्या | २. मध्या | २. कुहका |
| ३. कूतना | ३. बाह्या | ३. गावः |
| ४. अकूतना | ४. ह्लादिन्यः | ४. विश्वभृतः |

यह विभाग तो विस्तृत रूप से किया गया है। किन्तु प्रमुख रूप से सात रश्मियों को ग्रह-योनयः कहा है। वह निम्न है–

**रवे रश्मिसहस्रं यत् परांग मया समुदाहृतम्।**
**तेषां श्रेष्ठाःपुनः सप्त रश्मयो ग्रहयोनयः॥**
(वायुपुराण ५३।४४)।

इन श्रेष्ठ रश्मियों के नाम इस प्रकार हैं:–

(१) सुषुम्न, (२) हरिकेशः, (३), विश्वकर्मा, (४) विश्वश्रवा, (५) संपद्वसुः, (६) अर्वावसुः, (७) स्वराट्।

इस प्रकार सूर्य रश्मियों का प्राचीन अर्वाचीन मत से समास रूप से वर्णन हुआ। अब वे अन्तरिक्ष तथा वायुमण्डल के विभिन्न विभागों में उत्ताप की विभिन्न मात्राओं को कैसे उत्पन्न करती है, यह देखें।

पृथ्वीय वातावरण का तापमान पृथ्वी द्वारा ग्रहण की गई सूर्यरश्मियों की वातावरण के विभिन्न विभागों में शोषित हुई रश्मियों तथा पृथ्वी, मेघों एवं वातावरण द्वारा किए गए रश्मि-परावर्तन की मात्रा पर आधारित होता है। ५० सहस्रमान की ऊंचाई पर प्रजारक वायु (ozone-gas) पारजम्बुरश्मियों को शोषितकर वातावरणीय तापमान में विशिष्ट वृद्धि करती है। सौर औष्म्यांशुओं (Infrared Rays) का शोषण

वातावरणीय प्रांगारद्विजारेय ($CO_2$) वायु तथा जलवाष्प द्वारा होता है। जलवाष्प की अधिक मात्रा सौर औष्म्यांशुओं के २५ प्रतिशत भाग को शोषित कर सकती है। वातावरणीय तापमान केवल सौररश्मियों को शोषित करने वाले रासायनिक वायुघटकों पर ही अवलम्बित नहीं है, अपितु इस पर न्युद्वहन प्रवाहों (Convection-Currents) का भी प्रभाव है। ऋतुओं, तथा पूर्वान्ह-मध्यान्ह-अपरान्हादि कालों तथा अक्षांशों का सुस्पष्ट प्रभाव तापमान के ह्रास-वृद्धि में कारण है। इसीलिए ताण्ड्य ब्राह्मण में कहा है :—

"तस्माद् यथर्तुरादित्यस्तपति"

सम्प्रति आधुनिकों में प्रचलित वातावरण के विभिन्न विभागों का विभाजन उन की उत्ताप मात्रा पर आधारित है। उन्होंने वातावरण को पांच मण्डलों में विभाजित किया है। वे निम्न हैं :—

(१) परिवर्तमण्डल (Tropo Sphere) (२) समतापमण्डल (Stratosphere), (३) माध्यमिक मण्डल (Meso sphere), (४) चण्डमण्डल (Thermo Sphere), (५) वहिर्मण्डल (Exosphere)

(१) परिवर्तमण्डल—यह पृथ्वी के सम्पर्क में स्थित वातावरण मण्डल है। सामान्यतया यह समुद्र सन्तल से प्रारम्भ होता है, तथा आकाश में १२ सहस्रमान की ऊंचाई पर समाप्त होता है। इस ऊंचाई की वृद्धि के साथ तापमान की कमी पायी जाती है। साथ ही विभिन्न विभागों से आर्द्रता की विभिन्न मात्राएं एवं ऊर्ध्व न्युद्वहनप्रवाह (Convection current) इसकी विशेषता है। अतः इनके विभिन्न स्थानों पर केवल इस के तापमान में ही पर्याप्त परिवर्तन नहीं होते, किन्तु इस का विस्तार भी इन तथ्यों के अनुसार भिन्न भिन्न स्थानों पर परिवर्तित होता है, जैसे ध्रुवों पर इस का विस्तार ९ सहस्रमान की ऊंचाई तक है, तो विषुववृत्त (Equator) पर १६. ८ सहस्रमान तक है। वस्तुतः इस मण्डल में तापमान की ह्रास-वृद्धि ऋतुओं, दिन के पूर्वान्ह-मध्यान्ह तथा अपरान्हादि कालों एवं अक्षांशों के आधीन है। आधुनिक विद्वानों द्वारा वर्णित उपर्युक्त वाक्य को सुश्रुत मत से देखिये—तत्र पूर्वान्हे वसन्तस्यलिंगं, मध्यान्हे ग्रीष्मस्य, अपरान्हे प्रावृषः, प्रदोषे वार्षिकं, शारदमर्धरात्रे, प्रत्युषसि हैमन्तमुपलक्षयेत्। एवमहोरात्रमपि वर्षमिव शीतोष्ण वर्ष लक्षणं दोषोपचय प्रकोपोपशमैर्जानीयात्॥ (सु०सू०६।१४)।

(२) समताप मण्डल (Stratosphere)—उस का विस्तार १२ से २० सहस्रमान तक है। यह मण्डल न्युद्वहन प्रवाहों से (from Convection currents) रहित तथा आर्द्रता की बिल्कुल स्वल्प मात्रा से युक्त है। इस का तापमान लगभग—५५ अंश शतांश है।

(३) माध्यमिक मण्डल (Mesosphere)—इस का विस्तार २० सहस्रमान से ८० सहस्रमान तक है। इस मण्डल के क्षेत्र में ध्रुवों पर ६० सहस्रमान तथा विषुववृत्त पर ५० सहस्रमान की ऊंचाई तक तापमान की मात्रा समताप की मात्रा से बढ़कर ८० शतांश हो जाती है। इस से ऊपर की ऊंचाईयों पर तापमान पुनः कम होना प्रारम्भ हो जाता है, तथा ८० से ८५ सहस्रमान की ऊंचाई पर तापमान घटकर केवल—७५ शतांश रह जाता है। मण्डल के प्रथम भाग में हुई तापवृद्धि का कारण प्रजारक वायु (Ozone-gas) है, जो पारजम्बुरश्मियों को (Ultra Violet-Rays) विशेष रूप से शोषित करती है। माध्यमिक मण्डल के तापमान पर ऋतुओं तथा अक्षांशों का प्रभाव तो पड़ता है। किन्तु दिन के पूर्व-मध्य तथा अपरान्हादि कालों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मण्डल में आर्द्रता का उल्लेखनीय अंश पाया जाता है। जल के उदजारल व्यूहाणुओं (Hydroxyl

molecules) के फलस्वरूप ७० सहस्रमान की ऊंचाई के समीप अवरक्त-प्रचूषण-रेखायें (Infrared absorption lines) उत्पन्न होती पायी गयी हैं। ८०सहस्रमान की ऊंचाई पर हिमकरों के सूक्ष्म कणों से युक्त (या रहित) नक्तकाश मेघों (Noctilucent clouds) का अस्तित्व पाया गया है।

(४) चण्डमण्डल (Thermosphere)—यह अति उष्ण मण्डल है। इस की सीमा ८० सहस्रमान से ५५० या १००० सहस्रमान तक है। इस की सीमा दिन, ऋतु तथा अक्षांशानुसार घटती बढ़ती है। ध्रुवों पर १२० सहस्रमान, एवं १८० सहस्रमान के मध्य तापमान अति तीव्रतम हो जाता है (२८०० अंश प्रकेवल (OK) तक), तथा विषुववृत्त पर १५० से २०० सहस्रमान के मध्य पहले की अपेक्षा तापमान बिल्कुल कम हो जाता है। (१००० अंश प्रकेवल) इस मण्डल के क्षेत्र को प्राचीन आचार्यों ने कूर्म नाम दिया है जिस का वर्णन निम्न :—

तदुक्तं ऋतुकल्पे—

महाक्षोणी त्रयं पश्चात् कोटीनामेक विंशतिः।
लक्षाणां पंचसहस्रं सहस्राणां तु षोडश ॥३॥
पश्चादेकोनविंशत् संख्याकान् सूर्य मरीचयः।
प्रसरन्ति विशेषेणादिते ग्रीष्माख्य गर्भतः ॥४॥
तेषां वर्ग विभागस्तु वाल्मीकि गणिते क्रमात्।
पंचकोट्यष्ट सहस्रं सप्तोत्तरशतं स्मृतम् ॥५॥
तेषां एकैक वर्गेथ विभागाश्शतधा कृताः।
तेषु द्वितीयवर्गस्थ विभागेषु यथाक्रमम् ॥६॥
त्रिपंचदशमौष्म्यांशुमेलनं ग्रीष्म मध्यमे।
यदाभवति ग्रीष्मोष्मा कूर्मान्तं व्याप्यते स्वयम् ॥७॥
पश्चात् कच्छप प्रम्लोच शक्त्याकर्षणतः क्रमात्।
कुलकाख्या जायते काचिच्छक्तिर्ज्वलनवत्स्वतः ॥८॥
तत्संयोगो यदि भवेत् व्योम्नि यान पथिक्रमात्।
भस्मीकृतं भवेद् व्योम यानमत्यन्त शीघ्रतः ॥९॥
तदपाय विनाशार्थं कुण्टिणी शक्तियन्त्रकम्।
संस्थापयेद् यान कन्ठे सम्प्रदायतः ॥१०॥

(बृहद्विमानशास्त्र,यन्त्रप्रकरण)

(५) बहिर्मण्डल (Exosphere)—चण्डमण्डल की परिसमाप्ति के पश्चात् (५५० या १००० सहस्रमान पर) यह प्रारम्भ होता है। यहां का तापमान समताप मण्डल के समकक्ष है। इस क्षेत्र में वायु के कण वायवीय अवस्था में नहीं रहते, अपितु स्वतन्त्र रूप से विचरण करते हैं। इसके पश्चात् अन्तरिक्ष में सौर रश्मिजाल की सघनता के फलस्वरूप तापमान अधिक रहता है। इस के अतिरिक्त सौर रश्मियों की प्रचण्डता सौर मण्डल की विभिन्न दिशाओं में विभिन्न रहती है। यह स्थिति नैऋत्यकेन्द्रमार्ग में विशेष रूप से पायी जाती है। अतः आचार्यों ने कहा है :—

तदुक्तं क्रियासारे—

ईषाद्ण्डस्य नैर्ऋत्यकेन्द्रमार्गौविशेषतः।
ये सूर्य किरणास्सम्यक् प्रसरन्ति विशेषतः ॥४४॥
ते सर्वेऋतुभेदेन शक्त्यावर्तपतन्ति हि।
तत्रत्यशक्तिसंयोगात् किरणेषु विशेषतः ॥४५॥
आविर्भवन्ति वेगेन ज्वालास्सर्व विदाहकाः।
तज्ज्वालासन्धिकेन्द्रेषु विमानसंचरेद् यदि ॥४६
तत्क्षणादेव तद्वेगाद् भस्मीभवतिनान्यथा।
अतस्तत्परिहाराय रौद्रीदर्पणयन्त्रकम् ॥४७॥
यानस्याधः केन्द्रदेशे स्थापयेद् विधिवत् क्रमात्।
तस्माद् विमान संरक्षणं भवेदिति निर्णीतम् ॥४८॥

(बृहद् विमानशास्त्र,यन्त्रप्रकरण)

इस प्रकार हमने यह देखा कि पृथ्वीलोक से दूसरे लोक की ओर गमन करते समय उष्णता की किन किन मात्राओं का आकाश में कहां कहां सामना करना होगा। अब हम उष्णता से उत्पन्न होने वाले विभिन्न शारीरिक रोगों तथा उन से सुरक्षित रहने के प्राचीन उपायों का अध्ययन करें।

### उष्णता का शरीर पर प्रभाव

आयुर्वेद मतानुसार अग्नि ही शरीर में पित्तान्तर्गत रह कर कुपित अकुपित अवस्थाओं में शुभाशुभ कर्मों को उत्पन्न करती है। जैसे,

अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभशुभानिकरोति ।।" (च०सू०१२(२१)

अतः उष्णता के अधिक सेवन से वही लक्षण उत्पन्न होते हैं, जो प्रकुपित पित्त के हैं। क्योंकि "न खलु पित्त व्यतिरेकादन्योग्निरुपलभ्यते" शास्त्रकथित प्रकुपित पित्त के नानात्मज विकार निम्न हैं :--

"पित्तविकारांश्चत्वारिंशदत ऊर्ध्वमनु व्याख्यास्याम---ओषश्च, प्लोषश्च, दाहश्च, दवथुश्च, धूमकश्च, अम्लकश्च, विदाहश्च, अन्तर्दाहश्च, अंसदाहश्च, ऊष्माधिक्यंच, अतिस्वेदश्च, अंगस्वेदश्च, अंगगन्धश्च, अंगावदरणंच, शोणितक्लेदश्च, मांसक्लेदश्च, त्वग्दाहश्च, त्वगवदरणंच, चर्मदलनंच, रक्त कोठश्च, रक्तविस्फोटश्च, रक्तपित्तंच, रक्तमण्डलानिच, हरितत्वंच, हारिद्रत्वंच, नीलिकाच, कक्षाच, कामलाच, तिक्तास्यताच, लोहितगन्धास्यताच,पूतिमुखताच, तृष्णाधिक्यंच, अतृप्तिश्च, आस्यविपाकश्च, गलपाकश्च, अक्षिपाकश्च, गुदपाकश्च, मेढ्रपाकश्च, जीवादानंच, तमः प्रवेशश्च, हरित-हारिद्र नेत्रमूत्रवर्चस्त्वचं–इति चत्वारिं–शत् पित्तविकाराः पित्तविकाराणामरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः ।।"

उपरिलिखित लक्षणों का आधुनिक विद्वानों ने पूर्ण अनुमोदन किया है। अब विमानशास्त्रियों द्वारा दिए गए लक्षण, जो आधुनिक विद्वानों द्वारा अनुमोदित हैं, उन्हें देखिए--

विस्तृतास्य क्रियायन्त्र--

विस्तृतास्य क्रियायन्त्र कथ्यतेत्र यथाविधिः ।।१७

कूर्म दिग्गज भू मेघ विद्युद्वारूण शक्तयः ।
यदा पद्ममुखे सम्यंग् मेलयन्ति परस्परम् ।।१८
तदा विषम्भरीनाम काचिच्छक्ति प्रजायते ।
सा भित्वा भूमुखं पश्चादत्यन्तोष्ण स्वभावतः ।।
लिकत्रिशत वेगेनोड्डीयोड्डीयाति वेगतः ।
धावत्यूर्ध्वखमाश्रित्य व्योम यानं यथाविधि ।।२०
व्याप्य यान पथं पश्चाद् विमानं स्व शक्तितः ।
तत्रस्थ सर्व लोकाना मंध शक्ति निमेषतः ।।२१
विभज्य तत्क्षणात् तस्मिन्नुदगारं कुरूते क्रमात् ।
बुद्धिमांद्य शिरोबाध ज्वरदाह विरोचनाः ।।२२
सम्भवन्ति विशेषेण तत्क्षणात् तद्विकारतः ।
तद्विलयाय विधिवद् यन्त्राद्यैशशास्त्रतः क्रमात् ।।
उद्धरेत् तद्विनाशार्थं व्योमयाने यथाविधि ।
विस्तृतास्य क्रियायन्त्रमिति शास्त्र विनिर्णयः ।।
तस्माच्छास्त्रोक्त विधिना विस्तृतास्य क्रियाभिधम् ।
यन्त्रमत्राति संक्षेपात् प्रसंगत्या निंरूप्यते।।२५।।

उपरिलिखित श्लोकों में श्लोक क्रमांक २१, २२ में जो प्रभाव बतलाया है, वह पूर्ण सत्य है। क्योंकि सामान्य स्थिति में स्वस्थ व्यक्ति के मध्यकाय तथा शिरोगुहा के अवयवों का तापमान ३७० शतमान रहता है। यदि प्रभापात (Sun stroke) या अन्य किसी कारणवश शरीर के इन अवयवों का तापमान बढ़ जाए तो प्रथम बुद्धिमान्द्य (Mental Inefficiency) की स्थिति उत्पन्न होती है। विशेषतः यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जब मस्तिष्क का तापमान ३८० शतमान हो जाए। इस के पश्चात् जब मस्तिष्क का तापमान एक घण्टे में बढ़ कर ३९० शतमान हो जाये तो दो घण्टों बाद मूर्छा उपस्थित हो जाती है। यह स्थिति तीन घण्टों तक बनी रहे तो मृत्यु हो जाती है। ऊष्माधिक्य के परिणामस्वरूप मस्तिष्क मस्तिष्कमूलपिण्डों (Basal-ganglia) धम्मिल्लक

(Cerebellum) के नाड़िकोषाओं (Nerve cells) का विनाश हो जाता है। किन्तु उत्तापनियामक केन्द्र को कोई क्षति नहीं पहुंचती। मस्तुलुंग (Brain) का तापमान जब ४१-४२ अंश हो जाता है, तब मस्तुलुंग (Brain) उपतप्त हो विनाश को प्राप्त होता है, तथा शरीर के अन्य अवयवों की कोषाएं भी इस तापमान पर क्षतिग्रस्त हो जाती हैं। और भी देखिए :—

उक्तं हि खेट विलासे—

ग्रीष्मे पंच शिखाशक्तिर्वसन्तेसौरिकाभिधा।
वायव्याग्नेय केन्द्राभ्याभीषादण्डस्य वेगतः ॥८०॥
जायते सूर्यकिरण संसर्गादूष्म रूपतः।
तयोः पंच शिखा शक्तिर्विषद्वय विराजिता ॥८१॥
अग्नि सोमात्मिका सौरि समशीतोष्ण रूपिणी।

उसके पश्चात् हमें यहां अभीष्ट पंचशिखाशक्ति तथा मरिका शक्ति का वर्णन अधोलिखित रीति से है :—

तथा पंच शिखा शक्ति विषरूपादि गृघ्निका।
स्थावरं जंगमं व्याप्य तद्धातून् सप्त शोषयेत् ॥८८॥
तथैव मरिका नाम शक्तिरन्या स्वभावतः।
स्थावरे काण्ड वल्कांश्च हृत्कोषान् पंच जंगमे ॥८९॥
संकोचं कुरूतेसम्यक् तेन पुष्टि विनाशनम्।
अतः पंच शिखा वेगं संशुष्णं च विशेषतः ॥९०॥
नाशयित्वा विमानस्थ यन्तृणामूष्म भाजिनाम्।
सुखशैत्याल्हाद हर्ष प्रदानार्थं यथाविधि ॥९१॥
विमानस्यांगयन्त्रेषु पुष्पणी यन्त्रमुच्यते।

भाव यह है कि पंचशिखा तथा मरिका शक्ति के फलस्वरूप सप्तधातुओं का शोषण एवं पंचहृत्कोषों का संकोच होता है। इस का अर्थ यह है कि ऊष्माधिक्य से स्वेदोद्रेक के कारण शरीर में उदकह्रास (Dehydration) की स्थिति उत्पन्न होती है, जिस से सप्तधातुओं का शोषण हो जाता है। क्योंकि समग्र शरीर का ७५ प्रतिशत जलीय भाग होता है, तथा इस से समग्र शरीरावयवों में संकोच (Cramps) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

पुष्पणी यन्त्र किस क्रिया से उष्णता से तपते विमान यात्रियों को शीतल वायु द्वारा सुख पहुंचाता है उस का वर्णन निम्न है :—

तच्छक्ति यन्तृणां ग्रीष्म विष शक्ति निमेषतः ॥१३४
विहृत्य सुखसंतोषमधोबृध्यादिकान् क्रमात्।
प्रयच्छतो विशेषेण मकरन्दामृतं यथा ॥१३५॥
ततश्शतार पंकभ्रमणं तन्नया प्रकाशयेत्।
तेन वायु विशेषेण प्रादुर्भूय यथासुखम् ॥१३६॥
व्योम यानस्थ यन्तृणां सर्वेषामुपरिस्वतः।
मन्दं मन्दं प्रसरति मन्द मारुतवत् क्रमात् ॥१३७॥
तेन सौर्योष्ण सन्तापो निश्शेषं नाशमेधते।
मणिद्रावक पंकेभ्यो व्योम यानस्थ यन्तृणाम् ॥१३८॥
सुखशैत्याल्हाद हर्षा एवं सम्भवन्ति स्वतः।
देहस्य सप्तधातुनां भवेत् तस्माच्छुचिर्बलम् ॥१३९॥
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन दक्षिण केन्द्रके।
स्थापयेद् पुष्पणियन्त्रं शास्त्रोक्त विधिनादृढ़म् ॥१४०
तदधःस्थापयेत् पश्चात् तत्र घन्टार कीलकम्।
सौरि पंचशिखोत्पन्न शक्तयो विषरूपका ॥१४१॥
घन्टारकीलकमुखात् भवेयुर्बाह्यखेत्यम् ॥१४२॥

चिकित्सा—

ऐसे तो आचार्यों ने इन अवस्थाओं से सुरक्षित रहने के लिए विशेष यन्त्रों का उल्लेख किया है। किन्तु यदि दुर्भाग्यवश किन्हीं कारणों से यान का कोई कक्ष क्षतिग्रस्त होकर बाहरी अत्यधिक उष्ण-वातावरण के सम्पर्क में आ जाए तो उस से रुग्ण यात्रियों की चिकित्सा आवश्यक है। यान चिकित्सा-कक्ष में जैसे ही चिकित्सक को यह पता लग जाए कि अमुक कक्ष में यात्री रुग्ण है, वह तुरन्त वहां पहुंचकर उन को चिकित्सा कक्ष में ले जाए तथा शीघ्र प्रकुपित पित्त के जय का निम्नलिखित उपक्रम प्रारम्भ कर दे :—

तं (पित्तविकारं) मधुरतिक्तकषायशीतैरूपक्रमैरूपक्रमेत स्नेह विरेचनप्रदेह परिषेकाभ्यंगादिभिः पित्तहरैर्मात्रां काले च प्रमाणीकृत्य । विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलमपकर्षति, तत्रावजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गताः पित्तविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा ऽग्नौ व्यपोढे केवलमग्निगृहं शीतं भवति तद्वत् ।

(च० सू० २०।१६)

यहां विरेचन को पित्तहर उपक्रमों में प्रधानतम माना है । इस का कारण यह है कि पाचकाग्नि का स्थान आमाशय से पक्वाशय तक है । इस भाग की ऊष्मा शरीरगत सर्व अवयवों की ऊष्मा का नियमन करती है । क्योंकि "स्वस्थानस्य कायाग्नेरंशाधातुषु संस्थिताः । तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातु वृद्धिक्षयोद्भवः ।" आमाशय से लेकर पक्वाशय तक का तापमान जानने के लिए गुदा के तापमान को देखना चाहिए । अतः गुदा का तापमान शरीरगत अवयवों की ऊष्मा का ज्ञान कराने में अति सहायक है । आधुनिक विद्वान् इस तथ्य का निम्न शब्दों में समर्थन करते हैं ।

The Rectal Temprature is usually considered representative of the temprature of the deeper structures, and body temprature usually referes to rectal temprature.

Space medicine
By Ursula T. Slager, M.D.

विरेचनयोग्य व्यक्ति को यदि विरेचन दे, प्रवृद्ध पित्त का निर्हरण कर दिया जाए, और साथ ही पक्वाशय में हिमशीत जल की आस्थापन बस्ति दी जाए, तो शरीरगत अन्य अवयवों की ऊष्मा भी कम हो जाती है । अतः आचार्य द्वारा कथित उपक्रमों का निःसन्देह होकर प्रयोग करें । इसके अतिरिक्त चरक विमान स्थान ६।१७ में कहे पित्तावजयन के उपायों में से जो विमान में उपलब्ध हो सके उन का प्रयोग भी निःसन्देह करना चाहिये । वे उपाय निम्न हैं :—

तस्य (प्रकुपित्तस्य पित्तस्य) अवजयनं—सर्पिष्पानं, सर्पिषा च स्नेहनम्, अधश्च दोषहरणं, मधुरतिक्त कषायशीतानां चौषधाभ्यवहार्याणामुपयोगः, मृदुमधुर सुरभिशीतहृद्यानां गन्धानांचोपसेवा, मुक्तामणिहारावलीनां च परमशिशिरवारिसंस्थितानां धारणमुरसा, क्षणेक्षणेऽग्र्य चन्दनप्रियंगु कालीयमृणाल शीतवात वारिभिरूत्पलकुमुदकोकनद सौगन्धिक पद्मानुगतैश्च वारिभिरभिप्रोक्षणं, श्रुति सुखमृदुमधुरमनोतुगतानां च गीतवादित्राणां श्रवणं, श्रवणं चाभ्युदयानां, सुहृद्भिः संयोगः, संयोगश्चेष्टाभिः स्त्रीभिः शीतोपहितांशुकस्रग्धारिणीभिः, निशाकरांशु शीतलप्रवात हर्म्यवासः, शैलान्तरपुलिनशिशिरसदन वसनव्यजन पवन सेवनं, रम्याणां चोपवनानांसुखशिशिरसुरभि मारूतोपहितानामुपसेवनं,सेवनं च पद्मोत्पलनलिन कुमुदसौगन्धिक पुण्डरीकशतपत्रहस्तानां सौम्यानां च सर्वभावानामिति (च०वि० ६।१७) ।

**शैत्य का प्रभाव**

व्योमयात्रा के समय जब व्योमयान सूर्य से अत्यधिक दूर स्थान पर पहुंच जाता है । वहां वातावरण के बिल्कुल कम तापमान से सम्पर्क होता है जिस से शैत्य का प्रादुर्भाव होकर जीवन दुष्कर हो जाता है, ऐसा नव्य प्राचीन दोनों विद्वानों का मत है :—

प्राचीन विद्वानों का कहना है कि आठ ग्रहों तथा आठ नक्षत्रों (भा) की शक्तियां कार्तिक मास की पूर्णिमा को महावारूणी शक्ति से आकृष्ट होती है, तथा आकाशकक्षा परिधिकेन्द्रों में यथाक्रम १३७वें रेखामार्ग में जलपिंजूलिका शक्ति के आकर्षणवश अत्यन्त वेग से आकाश में व्याप्त हो जाती है । इन के परस्पर संघर्ष से भयंकर

हिमोद्रेक की उत्पत्ति हो कर वह तीन विभागों में विभाजित हो जाता है। वह इस प्रकार है :—

(१) शीतरसरूपवात, (२) सीकराकार-शक्ति, (३) वातशीतरस प्रवाहिकशक्ति। जब विमान इस केन्द्र रेखामार्ग में पहुंचता है, तो शीतवायुधारा को प्रवाहित करने वाली शक्ति स्ववेग से विमान की सर्वशक्ति को अपकर्षित कर देती है, तथा शीतरसरूप वायु अपनी शक्ति से विमानस्थ यात्रियों के बल को खींच लेती है, तथा तृतीय सीकराकार शक्ति विमान को आवृत कर अदृश्य कर देती है। इस प्रकार तीनों शक्तियों द्वारा बल का अपकर्षण होने से विमान गिर जाता है। यात्रियों की प्राणहानि होती है और विमान का अदृश्य होना तो अत्यधिक कष्ट को उत्पन्न कर देता है। अतः इस के परिहारार्थ शक्त्युद्गम नामक यन्त्र विमान नाभि के केन्द्र में दृढ़ रूप से संस्थापित करे। ऐसा खेटविलास नामक ग्रन्थ में लिखा है।

अतिशैत्य के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाले लक्षण प्रकुपित कफ के लक्षण हैं जिन का अनुमोदन आधुनिक विद्वानों ने किया है वे निम्न हैं—

श्लेष्मविकारांश्च विंशतिमत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यामः, तद्यथा–तृप्तिश्च, तन्द्राच, निद्राधिक्यं च, स्तैमित्यं च, गुरूगात्रता च, आलस्यंच, मुखमाधुर्यं च, मुखस्रावश्च, श्लेष्मोद्गिरणं च, मलस्याधिक्यंच, बलासकश्च, अपक्तिश्च, हृदयोपलेपश्च कण्ठोपलेपश्च, धमनी प्रतिचयश्च, गलगण्डश्च, अतिस्थौल्यंच, शीताग्निताच, उदर्दश्च, श्वेतावभासताच, श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्वंच, इति विंशतिः श्लेष्मविकाराः श्लेष्मविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृतमा व्याख्याता भवन्ति। (च०सू० २०।१७)

अकस्मात् शैत्य का सम्पर्क होने से प्रथम हृदयगति द्रुत हो जाती है। किन्तु तुरन्त ही यह स्थिति हृदयगति की मन्दता में परिणत हो जाती है। हृदयगति की मन्दता का प्रारम्भ तब होता हैं, जब गुदा का तापमान ३७अंश शतमान से घटकर ३४अंश शतमान हो जाए। ३०अंश शतमान गुदतापमान पर हृदयालिन्दों का (Heart-Atria) तथा २७अंश शतमान पर हृदयनिलयों का (Ventricals) तान्त्वीभवन (Fibrillation) हो जाता है। २० अंश शतमान से नीचे के तापमान पर रक्त अतिपिच्छिल हो जाता है, रक्तसंवहन की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। अतः कफ दूषित रक्त का "ईषत् पाण्डूकफाद् दुष्टं पिच्छिलं तन्तुमद्घनम्। (च०सू०१४।३१)।" "धमनीप्रतिचयश्च (Occultion of blood vessels)"आचार्य कथित यह लक्षण प्रत्यक्ष की कसौटी पर खरा उतरता है। रक्त की अत्यधिक सान्द्रता के फलस्वरूप हृदयोपलेप भी प्रत्यक्ष है। शैत्य के सम्पर्क में आई शाखाओं में हुए परिवर्तन धमनीप्रतिचय (Vascular Occlution) तथा धनास्रिता (Thromosis) से हुए परिवर्तनों के समान ही हैं। धमनीप्रतिचय के फलस्वरूप कुणपता (Necrosis) तथा कोथ (Gangrene) की उत्पत्ति होती है। शैत्य के चिर सम्पर्क से त्वक् काठिन्य (Sclerosis of skin) तथा अपोषण के कारण स्वेदग्रन्थियां क्षयग्रस्त हो जाती हैं (Atrophy of sweat glands)। जब गुदा का तापमान ३०अंश शतमान से २६अंश शतमान के मध्य रहता है तब अनवबोध की स्थिति उत्पन्न होती है जिस का वर्णन भगवान सुश्रुत ने इस प्रकार से किया है। "तत्र यदा संज्ञावहानि स्रोतांसि तमोभूयिष्ठः श्लेष्मा प्रतिपद्यते, तदा तामसी नाम निद्रा सम्भवत्यनवबोधिनी, सप्रलय काले, . . . . . . .

(सु०शा०४।३२)।

सम्प्रति आधुनिक विद्वान् शल्यकर्मार्थ इस तामसी निद्रा का प्रयोग कर रहे हैं। वे इस स्थिति को हाइपोथरमिक एनिस्थेशिया कहते हैं। इसे

उत्पन्न करने के लिए हिमशीत बस्तियों के प्रयोग से गुदताप को ३०डिग्री से २७ डिग्री शतमान के मध्य रखा जाता है और साथ ही कृत्रिम श्वासोच्छ्वास कराया जाता है। क्योंकि तापमान की कमी के साथ साथ श्वासोच्छ्वास भी मन्द होता है, तथा २८ डिग्री शतमान पर श्वासोच्छ्वास का पूर्णतया अवरोध हो जाता है। कृत्रिम श्वासोच्छ्वास के कारण तामसी निद्रा की प्रलयकारिणी शक्ति कुण्ठित हो जाती है जिस से अनवबोधग्रस्त व्यक्ति का जीवन सुरक्षित रहता है। जब अनवबोध ( Anaesthesia ) की समाप्ति वांछनीय होती है तब "निद्रा हेतुस्तम सत्वं बोधने हेतुरुच्यते" इस सिद्धान्त को लक्ष्य में रख कर गुदतापमान को शनैः शनैः प्रवृद्ध कर सामान्य अवस्था में लाया जाता है जिस से अनवबोधग्रस्त व्यक्ति पुनः अवबोध-युक्त हो जाता है।

५ डिग्री तापमान से नीचे के तापमान पर कोषाक्षति ( Cell Damage ) की स्थिति उत्पन्न होती है। बहुत से विद्वान् कोषाक्षति का कारण अतिशैत्य के फलस्वरूप कोषाग्रों में उत्पन्न हिम कणों को मानते हैं, किन्तु अन्य विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। इस के लिए वे प्रमाण देते हैं कि नेवलों को तापमान की उस स्थिति में एक घंटे तक रखा गया, जिस से उन के मस्तिष्कगत जल की ६० प्रतिशत तथा अन्य शरीरावयवों के जल की ४०-५० प्रतिशत की मात्रा हिमकरकों में परिवर्तित हो गई। इस के उपरान्त भी हिमदंश (Frostbite) या अन्य किसी क्षति के लक्षण उन में नहीं पाये गये और वे पुनः सामान्य स्थिति में आ गए।

चिकित्सा—

कफावयजन के जो उपाय शास्त्र में बतलाए हैं, तथा उन में से जो विमान में प्राप्त हो सके उन का प्रयोग निःसन्देह हो करें। वे निम्न हैं—

तस्य (प्रकुपितस्य श्लेष्मणः) अवजयनं - विधियुक्तानि तीक्ष्णोष्णानि संशोधनानि, रूक्षप्रायाणि चाभ्यवहार्याणि कटुतिक्त कषायोपहितानि, तथैव धावनलंघनप्लवन परिसरण जागरण नियुद्धव्यवायव्यायामोन्मर्दन स्नानोत्सादनानि, विशेषतस्तीक्ष्णानां दीर्घकालस्थितानां च मद्यानामुपयोगः सधूमपानः सर्वशश्चोपवासः तथोष्णवासः सुखप्रतिषेधश्च सुखार्थमेवेति ।। (च०वि० ६।१८) ।

धावनलंघनप्लवनादि कर्मो का विधान आधुनिकों ने किया है। जैसे—Tolerance to low as well as high temperatures is influenced by clothing, duration of exposure moisture, and ability to exercise,. Men permitted to do work can go through combat missions in air at—400°C". ( Space medicine, by Ursula T. Slager, M. D, ).

### अन्तरिक्ष तथा उच्चवातावरण में उल्काएं तथा धूम-केतु

अन्तरिक्ष में सामान्य प्राणवायु तथा सामान्य वातसम्पीड (Atmospheric Pressure) का अभाव है किन्तु यह रिक्त स्थान मात्र नहीं है। वह मन्द गति विद्युदावेष्टित वायु मेघों (Slowly moving charged clouds of ionised gases) प्रकाश गति से भ्रमण करने वाले पारमाण्विक न्यष्टिकों (Atomic Nuclei) तथा मन्दगामी बृहद् घनपिण्डों (large solid particles) से युक्त है। इन अन्तरलोकीय (Inter planetary) पदार्थों को उन के आकार एवं वातावरण भेदनशक्ति के आधार पर वर्गीकृत किया गया है। उल्काएं, सूक्ष्म उल्काएं तथा धूमकेतु वातकवच का भेदन कर पृथ्वी पर पहुंच जाते हैं। इन की इन जातियों तथा वातकवच भेदन की प्रक्रिया का वर्णन बार्हस्पत्य संहिता में निम्न प्रकार से किया है :—

तारा धिष्ण्यास् तथोल्काश्च विद्युतोऽशनय-स्तथा ।
विकल्पाः पंचधा चैषां परस्पर बलोत्तराः ।।
तत्र शब्देन महता विवरेण विकर्षिणा ।
महा चक्रमिवागच्छेद् आयतांगा नभ स्तलात् ।।
मनुष्य-मृग-हस्ति-अश्व-वृक्ष-अश्मपथि वेश्मसु ।
पतन्त्यशनयोः दीप्ताः स्फोटयन्त्यो धरातलम् ।।

अर्थात्--तारा, धिष्ण्या, उल्का, विद्युत् और अशनि नामक इन के ये पांच प्रकार क्रम से परस्पर अधिक बलवत्तर हैं। आकाश से उन के विकर्षण (Friction) के फलस्वरूप उत्पन्न हुए महाशब्द के साथ किसी महत्चक्र की तरह आयतांग दीप्त अशनियां मनुष्य, मृग, हस्ति, अश्व, वृक्ष, अश्म, पथ एवं गृहों पर गिरकर धरातल को फाड़ देती है।

ये आकार में अति बृहद् तथा हजारों टन वजन की पाई गई है आधुनिक मतानुसार इन से प्रति ३०० वर्षों में एक बार मनुष्य आदि को क्षति पहुंच सकती है। इस के अतिरिक्त पराशर की अति प्राचीन संहिता में औद्दालिकि श्वेतकेतु का निम्न वर्णन है :--

"औद्दालिकी श्वेतकेतुः दशोत्तरं वर्षशतं प्रोष्य भवकेतोश्चारान्ते पूर्वस्यां दिशि दक्षिणाभिनतशिखोऽर्धरात्रकाले दृश्यः। तेनैव सह द्वितीयः प्रजापतिसुनः पश्चिमेन कनामा ग्रहः केतुयुगसंस्थायी युगपदेव दृश्यते। तावुभौ सप्तरात्रदृश्यौ।"

अर्थात्--औद्दालिकी श्वेतकेतुः, ११० वर्ष प्रवास में रहकर भवकेतु के चार (गति) के अन्त में पूर्व दिशा में, दक्षिण की ओर झुकी हुई शिखा वाला अर्धरात्र काल में दिखाई देता है। उस ही के साथ दूसरा प्रजापति-पुत्र पश्चिम दिशा से क- नाम ग्रहकेतु, जो युग स्थायी है, उसी काल में दिखाई देता है। ये दोनों सात रात तक दिखाई देते हैं।

इस प्रकार का स्पष्ट सत्य लेख है। ईसा की गत शती में जब (Halley's Commet) का पश्चिमी विद्वानों को ज्ञान हुआ तो वे बड़े प्रसन्न हुए। किन्तु यहां उनसे हजारों वर्ष पूर्व (लगभग ४ सहस्र से अधिक वर्ष पूर्व) इतना सूक्ष्म वैज्ञानिक ज्ञान उपलब्ध था। खेद का विषय है कि वर्तमान समय में प्राचीन विज्ञान अध्येताओं के अभाववश यह विज्ञान लुप्त हो रहा है।

व्योम यात्रा के समय अन्तरिक्ष में जब इन उल्काओं से सम्पर्क होता है तथा उन से जो अनेक परिणाम उत्पन्न होते हैं उन का वर्णन प्राचीन विमान शास्त्र में निम्न प्रकार किया गया है :--

विद्युद्द्वादशकमुक्तं क्रियासारे--
बाणस्थ धूम केतुनां मण्डलस्याष्टमेन्तरे।
त्रिकोटि सप्तलक्ष त्रिसहस्रद्विशतोपरि ।।१।।
एक विंशति संख्याका वर्तन्ते धूम केतवः।
विद्युगर्भास्तेषु धूमकेतवोष्ट सहस्त्रकाः ।।३।।
महाकालादयो रौद्रा विद्युद्द्वादश लोचनाः।
तेषु द्वादश संख्याका प्रशस्ता धूमकेतवः ।।४।।

अर्थात्–बाणस्थ ? धूमकेतुमण्डल के अष्टम अन्तर पर ३०७०३२२१ धूमकेतु स्थित है उन में विद्युद्गर्भ ८००० धूमकेतु है जिन में महाकालादि बारह रौद्र तथा बृहद् विद्युलोचन है। आधुनिक विद्वान् इस विषय में निम्न विचार व्यक्त करते हैं :--

Where as meteorites may be of cosmic or intergalactic origin, meteoroids almost all members of the solar system, Most meteors are seen at altitudes below 110 km. (70 miles) where their meteoroids are destroyed by atmospheric friction, occasionally, they are seen upto 90 miles. For all practical purposes, however, the atmosphere's protective function against meteoroids ceases at an altitude of 70 miles, Meteorods are not randamly

distributed in space. They occur in definite showers, often associated with the earth's passage. Through a known orbit of a comet or through the region of the asteroids between Jupiter and Mars.

Space Medicine.

द्वादश विद्युलोचन उल्काओं के नाम निम्न हैं—

**धूमकेतवः उक्ताः खेटसर्वस्वे**

१ २ ३
महाकालो महाग्रासो महाज्वालामुखस्तथा ।
४ ५ ६ ७
विस्फुलिंगमुखो दीर्घवातो खंजो महोर्मिकः ॥६॥
८ ९ १० ११
स्फुलिंग-वमनो गण्डो दीर्घजिव्हो दुरोणकः ।
१२
सर्पास्यश्चेति विद्युन्नेत्रोलका द्वादशधास्मृताः ॥७॥

इन उल्काओं की अपनी अपनी क्रमशः पृथक् २ विद्युतें हैं। उन का वर्णन विमानशास्त्रियों ने इस प्रकार से किया है :—

**विद्युद्द्वादशकमुक्तं शक्तितन्त्रे**

१ २ ३ ४ ५
रोचिषि दाहका सिंहि पतंगा कालनेमिका ।
६ ७ ८ ९ १० ११ १२
लता वृन्दा रटा चण्डी महोर्मि पार्वणी मृडा ॥५॥
उल्कानेत्रस्थिता ह्येते विद्युतो द्वादशक्रमात् ।

इन विद्युतों का विसर्गकाल (शरद्), तथा आदानकाल (वसन्त) में सूर्यकिरणों में स्वभावतः अन्तर्भूत हो जाने से क्रमशः संघर्ष होता है, तथा उन से अजगरानाम की कोई शक्ति उत्पन्न होती है, तथा जब विमान आकाशीय २२ वें केन्द्रमुख मध्य में चला जाता है तो वह विमान को अपने वेग से स्तम्भित कर रोक देती है उस का वर्णन इस प्रकार है :—

तेषां विद्युत्सम्मोहास्तु शरद्वासन्तयोः क्रमात् ।
भवन्त्यादित्य किरणेष्वन्तर्भूतास्स्वभावतः ॥८॥
किरणोल्कस्थ शक्तिनां परस्पर विमेलनात् ।
भवेदजगरानाम काचिच्छक्तिर्भयंकरा ॥९॥
खस्थद्वाविंशतिमकेन्द्रमुखमध्ये यदा क्रमात् ।
व्योमयानः समायाति तदाजगरसंज्ञिका ॥१०॥
शक्तिर्यानस्तम्भनं स्ववेगात् तत्र करोति हि ।
तस्मात् तत्परिहाराय विद्युद्द्वादशयन्त्रकम् ॥११॥
विमानस्येशान्य केन्द्रे विधिवत् स्थापयेद् दृढ़म् ।

पूर्व कथित उल्काओं के भेदों का आधुनिक विवेचन तो मैं अधिक नहीं देख पाया हूं किन्तु प्राचीनोक्त महाज्वालामुख, विस्फुलिंगमुख आदि नामों की तरह उन्होंने बृहद् उल्कापात (Large Meteors) को अग्निगोल (Fire balls या bolids) कहा है। १ सहस्रिधान्य (1 mg.) भार का उल्काद्रव्य ३ सहस्रिमान (3 mm.) मोटाई की स्फट्यातु भित्ति (Aluminium hull) को विदीर्ण कर सकता है। इस प्रकार उल्काद्रव्य व्योमान की भित्तियों को शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं। इन की यह क्रिया बृहद् उल्काद्रव्यों से वैसी ही होती है जैसे शतघ्नियों से किसी भित्तिको विदीर्ण किया जाए। साथ ही इन की विद्युतें यानस्थ अन्य द्रव्यों को अयनित् (Ionizod) कर देती हैं। अतः उस से संरक्षण पाने के लिए विद्युद् द्वादशक यन्त्र की व्यवस्था प्राचीन विद्वानों ने की, तथा उन के शतघ्नी समाघातों से रक्षण-हेतु जिस विशिष्ट प्रकार के लोह का निर्माण कर उस से यन्त्रांगों की रचना की उस का वर्णन अवलोकनीय है।

**कुण्डोदर लोहमुक्तं लोहसर्वस्वे:—**

सोमकंचुकशुन्डाल लोहान् शुद्धान् यथाविधि ॥२८७
क्रमात्त्रिशत्पंच चत्वारिंशद्विंशांशतः क्रमात् ।
सम्पूर्य पद्मभूषायां कुण्डेछत्रमुखाभिधे ॥२८८
संस्थाप्य वासुकी भस्रात्सम्यग्वेगाद् यथाविधि ।
षोडशोत्तर सप्तशतोष्णकक्ष्य प्रमाणतः ॥२८९

आनेत्रान्तं गालयित्वा यन्त्रे सम्पूरयेच्छनैः ।
एवं कृते नीलवर्णं सुसूक्ष्मं भारवर्जितम् ।।२९०
द्विसहस्त्र कक्ष्योष्ण वेगसहं सुरूचं दृढम् ।
सहस्त्रध्नि शतघ्नीभिरच्छेयं चाति शीतलम् ।।२९१
भवेत् कुण्डोदरं नाम लोहं कृतवर्गजम् ।
एतल्लोहेन विधिवत् कुर्यात् यन्त्रं मनोहरम् ।।२९२
एतदौष्म्ययन्त्राणां रचनादौ विनिर्णीतम् ।

बृहद् विमानशास्त्र-सुन्दरविमान प्रकरण

अर्थात् सोम,कंचुक,शुण्डाललोहों को यथाविधि शुद्ध करके क्रम से ३०, ४५, २० अंशों में ले । पद्मभूषायन्त्र में छत्रमुख नामक कुण्ड में रखकर वासुकी भस्त्रिका से ७१६ दर्जे की उष्णता से नेत्रपर्यन्त गलाकर धीरे-धीरे यन्त्र में भर दें । ऐसा करने से नीले रंग का भारहीन अतिसूक्ष्म दोसहस्र दर्जे की उष्णता के वेग को सहन करने वाला नील वर्ण का शतघ्नी तथा सहस्रघ्नी तोपों से भी अच्छे अतिशीतल कुण्डोदर नामक लोह बनता है, जिस से मनोहर औष्म्ययन्त्रों का निर्माण करें ।"

इस के अतिरिक्त एक विशेष प्रकार की अभ्रक का भी विधान किया है जो अच्छेद्य एवं अदाह्य है वह निम्न है--

एवं कृते अत्यन्त शुद्धं वैदूर्यसम वर्चसम् ।।१०३।।
अत्यन्त लघुमच्छेद्यंमदाह्यं नाशवर्जितम् ।
भवेच्छुद्धाभ्रकं तेन विमानं कारयेद्दृढ़म् ।।१०४।।

बृहद् विमानशास्त्रः त्रिपुरोथ प्रकरण

**रश्मियों का प्रभाव**

सौरमण्डल की रश्मियों का प्रमुख उद्गम स्थान सूर्य ही है किन्तु ब्रह्माण्ड में स्थित अन्य बृहद् ग्रहों से आने वाली रश्मियों का स्वल्प अंश भी अन्तरिक्ष के सौरमण्डलीय कक्ष में पाया जाता है । इन रश्मियों के विभिन्न प्रकारों का विवेचन पहले "उष्णता का प्रभाव" इस शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है । अब उन से उत्पन्न होने वाले विभिन्न परिणामों का विवेचन यहां किया जा रहा है ।

बृहद् विमानशास्त्र के दर्पणाधिकरण में पिंजुला दर्पण का प्रयोजन बतलाते हुए आचार्यों ने कहा है कि-

सूर्यांशु युद्धात् संजाताश्चत्वारि विषशक्तयः ।
अन्धान्धकार पिंजूष तारपा (नेत्रघ्ना) इति वर्णिता ।।६२।।
अन्धशक्ति र्हन्तिरक्तमन्धकारातु जाठरम् ।
पिंजूषा कृष्णताराग्रप्रभां नेत्रद्वयंतथा ।।६३।।
निहन्तितारपा शक्तिस्स्वकीय विष वेगतः ।।६४।।
पिंजूलादर्पणस्यैवमुक्त्वा नाम विनिर्णयः ।
इदानीं तत्पाकाविधि संग्रहेण निरूप्यते ।।६५।।

अर्थात्--सूर्य किरणों के युद्ध से चार विष-शक्तियां उत्पन्न हुई हैं। (१) अन्ध, (२) अन्धकार, (३) पिंजूष, (४) तारपा (नेत्रघ्ना), इति ।

अन्ध शक्ति रक्त को नष्ट करती है, अन्धकारा जाठरको, पिजूषा कृष्ण ताराग्र की प्रभा (वर्ण) ज्योति को और तारपा (नेत्रघ्ना) अपने विष वेग से दोनों नेत्रों (both retinas) को नष्ट करती है । पिंजुला दर्पण का नाम विनिर्णय इस प्रकार कहकर अब उस की पाकविधि संक्षेप से कही जाती है ।

उपर्युक्त लेख से पाठक ये समझ गए होंगे कि प्राचीन विद्वानों ने सौर रश्मि संघर्ष से चार प्रकार की विषशक्तियों का उद्भव माना है जो शरीर के रक्त, जाठर, नेत्रतारा तथा दृष्टि का विनाश कर देती है । आधुनिक विद्वानों ने प्रथम विभिन्न सौर रश्मियों जैसे वितन्तुतरंगों (Radio waves), औष्म्यांशुओं (Infrared rays), प्रकाश किरणों (light rays), पारजम्बुरश्मियों (Ultra violet rays) क्ष-किरणों (X-rays), तथा इ-रश्मियों (Gammarays) से उत्पन्न होनेवाले विभिन्न परिणामों का उल्लेख किया है । किन्तु

इन विभिन्न रश्मियों से उत्पन्न होने वाले लक्षणों में से बहुत से लक्षण प्रायः प्रत्येक रश्मियों के लक्षणों में बारम्बार उपप्लवित ( over lap ) होते हैं। इस लिए आधुनिक विद्वानों को अगत्या यह कहना पड़ा कि It is not surprising that the biological effects of different types of radiations may over lap and are usually difficult to separate.

अर्थात्–यह विस्मयोत्पादक नहीं है कि विभिन्न प्रकार की रश्मियों के जैविक प्रभाव परस्पर उपप्लवित हो सकते हैं, और सामान्यतया वे दुर्विभाजनीय हैं।

अतः इस लेख से यह समझा जा सकता है कि रश्मि-संघर्षों से विभिन्न शक्तियां उत्पन्न होती हैं। इस के पश्चात् अब आधुनिकोक्त विभिन्न रश्मियों के विभिन्न परिणामों का वर्णन प्राचीनोक्त चार शक्तियों के परिणामों को समझने के लिए आवश्यक है।

**वितन्तु तरंगों के जैविक प्रभाव** (The Biological effects of Radio waves)

सामान्यतया दीर्घ वितन्तुरश्मियां (Long radio) जैविक तथा रासायनिक पदार्थों को प्रभावित नहीं करतीं। किन्तु सूक्ष्म वितन्तु रश्मियां (Short redio waves) जैविक तथा रासायनिक पदार्थों को प्रभावित करती हैं।

इन रश्मियों के सम्पर्क से क्षुद्रान्त्र, आमाशय पित्तकोष, तथा मूत्राशय का तापमान अति प्रवृद्ध हो जाता है, तथा शरीर भार एवं शरीरवृद्धि में कमी पायी जाती है। त्वग्दाह (Skin burn) की स्थिति उत्पन्न हो कर अधिक कष्ट देती है। ऊष्मा के प्रभाव से नेत्रों में लिंगनाश (Cataract) उपस्थित होता है, वृषण उपहत होते हैं। समस्त-शरीरावयवों में अधिरक्तता (Engorgement), फुफ्फुसों में रक्तपित्त की उत्पत्ति के साथ सम्पीडन (Consolidation), मस्तुलुंग (Brain) के नाड़ी-कोषाओं विशेषतः धम्मिल्लक (Cerebellum) के कलसिका कन्दाणुओं (Cells of purkinje) का, वृक्कों की आद्य तथा अन्तिम संवलित नालिकाओं (Proximal and distal convoluted tubules of kidney) के अधिच्छद् कोषाओं (Epithelial Cells) का, यकृत् के कन्दिका केन्द्रीय भागों (Centrilobular area's of liver) का, अधिवृक्क-ग्रन्थीवल्कों का (Adrenal cortex) तथा हृन्मांससूत्रों (Myocardial Fibres) का कष्टसाध्य विनाश हो जाता है। किन्तु आमाशय तथा आन्त्रों की श्लेष्मलकला एवं वृषणों के शुक्रस्रावीस्रोतों के कोषाणुओं का विनाश चिकित्सादृष्टि से सुख साध्य है।

**औष्म्यांशुओं के प्रभाव** (The Effects of Infrared radiations)

इन से उत्पन्न होने वाले लक्षण पैत्तिक ही हैं। इन का स्थानीय प्रभाव मुख्य रूप से नेत्र तथा चर्म पर देखा जाता है। त्वचा रक्तवर्ण युक्त हो पश्चात् रक्तविस्फोटों से ग्रसित हो जाती है। नेत्रों में अभिष्यन्द, कण्डू, दाह, रक्ताधिक्य आदि लक्षण उपस्थित होते हैं, जो पारजम्बुरश्मियों से भी उत्पन्न होते हैं। इन रश्मियों के अधिक सम्पर्क से मानव लिंगनाश से ग्रसित होता है। यह स्थिति विशेषकर कर्मशालाओं में संधान (Welding), ढलाई (Foundry), काच-धमन (Glass blowing) आदि कर्म करने वाले व्यक्तियों में पायी जाती है। यह स्थिति तेजोजल की सघनता के फलस्वरूप उपस्थित होती है। कनीनिकासंकोचिनी (Sphinceter-Pupillae) की प्रशिथिलता एवं कृष्णताराग्रप्रभा (Pigmentation of iris) का विनाश भी उपस्थित होता है। पूर्वलिखित "पिजूषा कृष्णताराग्रप्रभाहनेत्" इस वाक्य के मर्म को यहां समझ सकते हैं।

सूर्य की ओर देखने वाले व्यक्तियों में अन्धता, तिमिर (Scotomata) आदि रोग उपस्थित

होते हैं। अन्तरिक्ष से यदि सूर्य की ओर देख लिया जाए तो १० सेकण्ड में दृष्टिपटल दग्ध हो उठता है, जिस से पूर्ण अन्धता की उपलब्धि होती है। यह स्थिति प्राचीनोक्त तारपाशक्ति से उत्पन्न स्थिति के समान ही है।

आधुनिक चिकित्साशास्त्रियों ने तो इन रोगों को असाध्य माना है। किन्तु आयुर्वेदज्ञ इस के लिए विशेष चिकित्सा का विधान करते हैं। योगरत्नाकर के नेत्ररोग प्रकरण में आए 'त्रिफलादि घृत' का फल बतलाते हुए लिखा है :—

"बहुनाऽत्र किमुक्तेन सर्वान्नेत्रामयान्हरेत् ॥
यस्य चोपहतादृष्टि सूर्याग्निभ्यां प्रपश्यतः ।
तस्मै तद्भेषजं प्रोक्तं मुनिभिः परमं हितम् ॥
मार्जितं दर्पणं यद्वत्परांनिर्मलतां व्रजेत् ।
तद्वदेतेन पीतेन नेत्रं निर्मलतामियात् ॥"

**प्रकाश किरणों का प्रभाव** (Effect of Visible light)

प्रमुख रूप से इन का प्रभाव त्वचा पर होता है, जिस से त्वचा रक्तमण्डल युक्त, एवं विभिन्न रोगों से ग्रस्त हो जाती है। जैसे त्वक्क्षय जन्य रक्तमण्डल (Lupus Erythematosus), रक्तवर्णीय त्वक्शल्क (Pityriasis Rubrapillaris) हस्तिचर्म (Keratosis-follicularis), शुष्कचर्मता (Xeroderma), तीव्रकण्डू, शोथयुक्त रक्तमण्डल, भाद्वेष (Photophobia), उद्विग्नता आदि।

**पारजम्बुरश्मियों का प्रभाव** (The effects of Ultraviolet radiations)

इन के अधिक सम्पर्क से त्वचा पर रक्तमण्डल, एवं त्वक् विस्फोटों की उत्पत्ति होती है, जो लक्षणों में ऊष्माजन्य विस्फोटों से समानता रखते हैं। कृषकादि व्यक्ति जो धूप में अधिक काम करते हैं उन के ग्रीवा, मुखमण्डल, भुजाओं आदि भागों पर कर्कटार्बुद की उत्पत्ति इनसे होती है।

इसी प्रकार क्षकिरणों से रक्तकणों का विनाश, तथा इ किरणों से, विद्युत चुम्बकीय तरंगों से, तथा मारूतरश्मियों (Cosmic-rays) से भी विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। यहां तक की ये वेरबीजों (Genes) को भी विकृत कर देती है।

विभिन्न सौर रश्मियों से उत्पन्न होने वाले रोगों का विवेचन तथा उन से सुरक्षित रहने के लिए विशेष प्रकार के वस्त्रों का विधान प्राचीन आचार्य ने किया है। वह निम्न है।

**"वस्त्राधिकरणम्"**

यन्तृप्रावरणीयौ पृथक् पृथक् ऋतु भेदात् ॥
अ० १ सू० ६।
वस्त्र प्रबोधक पदान्यन्तृणामृतु भेदतः ।
उक्तानि त्रीणि सूत्रेस्मिन् तेषामर्थो विविच्यते ॥१॥
धारणाच्छादन वस्त्र प्रभेदो यन्तृणां क्रमात् ।
सूत्रादिम पदेनोक्तं द्वितीय पदतस्तथा ॥२॥
तेषां संस्कार तद्वर्ण गुणजात्यादयः स्मृताः ।
सूत्र तृतीय पदतः काल भेदो निरूपितः ॥३॥
इत्थं सूत्रार्थमुक्त्वाथ विशेषार्थो निरूप्यते ।
अनन्त सूर्यकिरण शक्ति वैचित्र्य भेदतः ॥४॥
वसन्ता द्याष्षड्तवः प्रभवन्त्यदितेर्मुखात् ।
यजुराण्यके सूर्यानन्तत्व प्रतिपादने ॥५॥
"यद्याव इन्द्रते शतमिति, वाक्याच्छ्रुतिर्जगौ ।
तस्मादनन्त सूर्याणामंशुशक्ति समाकुलात् ।
विषामृत विभागेन भिद्यन्ते ऋतु शक्तयः ॥६॥
छेदिनी रक्तपा मेद (मेध) स्सिराहारादयःक्रमात्।
पंचविंशति संख्याका ऋतुनां विषक्तयः ॥७॥
त्वंग् मांस मेधा मज्जास्थि स्नायु रक्त रसादिकान्।
वेरबीजान् नश्यन्ति ख-पथे यान यन्तृणाम् ॥८॥
तस्मात्तद्वेर बीजादि रक्षणार्थ कपर्दिना ।
ऋतुशक्त्यनुसारेण वस्त्र भेदाः निरूपिताः ॥९॥

प्राचीनोक्त सौर किरणों से उत्पन्न ऋतु शक्तियों (विष शक्तियों) के कर्म आधुनिकोक्त सौर रश्मियों के कर्मों के समान है, तथा इन के दुष्प्रभावों से बचने के लिए आधुनिक विद्वानों

ने विशेष प्रकार के वस्त्रों का विधान किया है। उसी प्रकार प्राचीन विद्वानों ने भी विशेष वस्त्रों का वर्णन किया है।

इस के पश्चात् वस्त्रों को किस विधि से पहना जाए तथा उन के पहनने से क्या लाभ है। उस का वर्णन निम्न प्रकार से है :

अग्निमित्रोक्तविधिना पटजात्यानुसारतः ।
ऋतुधर्मानुसारेण कवचादीन प्रकल्पयेत् ॥२१॥
तत्तत्कालोचितान् वस्त्रकवचादीन् यथाक्रमम् ।
यानयन्तृत्वाधिकारवरिष्टेभ्यो मनोहरान् ॥२२॥
दत्वास्वस्त्ययनं कृत्वा रक्षाकरण पूर्वकम् ।
पश्चात् सम्प्रेषयेद् यानयन्त्रकर्माणिः हर्षतः ॥२३॥
सर्वदोष विनाशस्यात् तत्पट्टैर्बलवर्धनम् ।
मेधोवृद्धिर्धातुवृद्धिरंगपुष्टिरजाड्यता ॥२४॥

इस प्रकार हमने इस प्रकरण में यह देखा कि अन्ध, अन्धकारा, पिंजूषा तथा तारपा शक्तियां, और छेदिनी, रक्तपा, मेधाहारा, सिराहारा आदि अन्य २५ शक्तियां किस प्रकार रक्त, जठर, कृष्ण-ताराग्र प्रभा, दृष्टि, त्वक्, मांस, मेधा, मज्जा, अस्थि स्नायु, रक्त, रसादि शरीर घटकों को नष्ट कर मनुष्य को विकल बना देती हैं।

**चिकित्सा**

रश्मियों के समस्त प्रभाव पित्त को विकृत करते हैं। अतः इन से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा ऊष्मा का प्रभाव नामक प्रकरण में कही गई चिकित्सा पद्धत्यानुसार करें।

**शब्दों का प्रभाव**

चरक शारीर स्थान के प्रथम अध्याय में असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोगों का वर्णन करते हुए आचार्य ने कहा है—

"अत्युग्रशब्द श्रवणाच्छ्रवणात् सर्वशोनच ।
शब्दानां चातिहीनानां भवन्ति श्रवणाज्जडाः ॥
परूषोद्भीषणाशस्ताप्रियव्यसन सूचकैः ।
शब्दैः श्रवणसंयोगो मिथ्या संयोग उच्यते॥११९॥"

"अत्यधिक ऊंचे शब्दों को सुनने से, सर्वथा न सुनने से श्रवणेन्द्रिय जड़ हो जाती है। परूष, भीषण, अशस्त, अप्रिय तथा व्यसन सूचक शब्दों को सुनना श्रवणेन्द्रिका मिथ्या योग कहलाता है।"

व्योमयात्रा के समय विमान में संस्थापित विभिन्न यन्त्रों से तथा उल्काओं के आघातवश, एवं व्योमयान से उत्पन्न हुए उद्गम विस्फोट के फल-स्वरूप विभिन्न प्रकार के शब्दों तथा आवेपों (Sound and Vibrations) की उत्पत्ति होती है।

इस मत से प्राचीन नवीन दोनों ही विद्वान् सहमत हैं, किन्तु इस के अतिरिक्त प्राचीन विद्वान आकाश के अष्टम परिधि केन्द्र में वारूणी वाताशनीयों के शब्दसम्मेलन से श्रोत्रेन्द्रिय विदारक महाघनरव की उत्पत्ति मानते हैं। अब तक आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में यह तथ्य नहीं आया है। आधुनिक विद्वानों द्वारा की गई व्योम यात्राओं का क्षेत्र सम्प्रति सीमित होने से उन्हें अब तक शब्दों से रक्षण करने की उतनी आवश्यकता नहीं पड़ती है, जितनी प्राचीन व्योम यात्रियों को पड़ी थी। किन्तु वे जानते हैं कि उन्हें अन्तरिक्ष में सुदूर यात्रायें करनी पड़ेंगी तब उन्हें इन शब्दों से शरीर रक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध करना ही होगा। प्राचीन विद्वानों ने इन शब्दों से रक्षित रहने के लिए शब्दकेन्द्रमुख नामक विशिष्ट यन्त्र की व्यवस्था की है तो दूसरी ओर युद्ध काल में इस प्रकार के भयंकर शब्दों को कृत्रिम पद्धति से उत्पन्न कर शत्रुवर्ग को नष्ट भ्रष्ट करने वाले महाशब्द विमोहन रहस्य का विधान किया है जिस का सुतराम अवलोकन हम आगे करेंगे।

शब्द स्वरूप का वर्णन करते हुए नामार्थ कल्पसूत्रकार ने लिखा है—"अथ शब्द स्वरूपं

व्याख्यास्यामो श ब द विसर्गाणां सम्मेलनात् शब्द इत्याचक्षते। तत्र शकारो बिन्दुर्बकारोवन्हि-र्दकारोवायुर्बिसर्गश्चाकाश इति निर्णिता भवन्ति ।। स्थावरे जंगमेएतेषां यथा भागं यत्र यत्र शक्तयस्स-म्मिलिता भवन्ति तत्र तत्र चतुरूत्तर त्रिशत शब्द भेदाः प्रभवन्ति । चतुरूत्तर त्रिशत शब्दाः इति हि ब्राह्मणम् ।।

अर्थात्--अब शब्द के स्वरूप का व्याख्यान करेंगे। श, ब, द, विसर्ग (:) के मेल से शब्द कहते हैं। उन में "श" बिन्दु (अणु), "ब", अग्नि, "द", वायु, विसर्ग (:) आकाश यह इस का निर्णय है। इन की शक्तियां स्थावर जंगम में यथा भाग जहां जहां सम्मिलित होती हैं वहां वहां ३०४ प्रकार के शब्द उत्पन्न हो सकते हैं। शब्द ३०४ है ऐसा ब्राह्मण में भी कहा है :--

इन ३०४ शब्दों में कुछ शब्द हैं उन का वर्णन बोधानन्द ने किया है वह लिखता है--

चतुरूत्तर त्रिशत शब्दानां नामनिर्णयः ।
यथोक्तं घुण्डिनाथेन सर्व शब्द निबन्धने ।।१३५।।
तस्मात् संगृह्य नामानि प्रसंगत्यात्रकानिचित् ।
स्फोटादिमहाघनरवान्तान्यत्र प्रकीर्त्यते ।।१३६।।
१ २ ३ ४ ५
स्फोटो रवोऽत्यन्त-सूक्ष्मो मन्दोति-मन्दकः ।
६ ७ ८- ९
अतितीव्रो तीव्रतरो मध्यश्चाति मध्यमः ।।१३७।।
११ ११ १२
महारवो घनरवो महाघनरवस्तथा ।।

अर्थात्--सर्वशब्दनिबन्धन मे धुण्डिनाथ ने ३०४ शब्दों का नामनिर्णय जैसे किया है उन में से प्रसंगवश कुछ संग्रहीत कर स्फोटादि से महाघनरव पर्यन्त कहे जा रहे हैं। वे (१) स्फोट, (२) रव, (३) अत्यन्तसूक्ष्म, (४) मन्द, (५) अतिमन्द, (६) अतितीव्र, (७) तीव्रतर, (८) मध्य, (९) अतिमध्य, (१०) महा रव, (११) घनरव, (१२) महाघनरव हैं।

विद्वानों का कहना है कि शब्द सम्पीड-वीचियां (Compression waves) हैं जो किसी आवेपित पदार्थ (Vibrating source) से उत्पन्न होती हैं। तथा वे वायु, जल, धातु, (metal) ऊतक या अन्य किसी स्थितिस्थापक माध्यम से सम्प्रेषित हो सकती हैं। २० से २०,००० चक्रप्रति विकला (Cycles per Second) के मध्य के आवेपन (Vibrations) मानव-श्रोत्र द्वारा शब्दरूप में श्रवण किये जाते हैं। २० चक्रप्रति विकला से कम आवेपनांक का आवेपन अश्राव्य है। उन से केवल आवेपनानुभूति होती है। २०,००० चक्रप्रति विकला से अधिक आवेपनांक पारस्वनिक (Ultra Sonic) है, तथा उन से उत्पन्न शब्द 'पारस्वन' (Ultra Sound) कहलाता है। आवेपनांकों की सहायता से प्राचीनोक्त द्वादश या ३०४ प्रकार के शब्दों को जाना जा सकता है। विभिन्न शक्ति के शब्द शरीर पर विभिन्न प्रभाव उत्पन्न करते हैं। श्राव्य, अश्राव्य सर्वप्रकार के शब्द शरीर को प्रभावित कर सकते हैं। आवेपों के प्रभाववश शरीरावयव तथा ऊतक स्थानच्युत एवं गतिमान हो जाते हैं। मृदु ऊतक, आंकुचित-कण्डराएं एवं सन्धिबन्ध विदीर्ण हो जाते हैं,और उन के कार्य में व्यत्यय उपस्थित होता है। व्यनुनाद (Resonance) से उत्पन्न हुए औरसिक सम्पीड तथा परिमा (Volume) के महत्परि-वर्तन के फलस्वरूप हृदय एवं फुफ्फुस क्षतिग्रस्त हो जाते हैं।

०.५ से २० चक्रप्रति विकला के मध्य के आवेपांकों (Frequencies) से मानव-हृदय तथा फुफ्फुस प्रभावित हो जाते हैं। प्रथम श्वास-गति मन्द किन्तु पश्चात् द्रुत हो जाती है। हृदयगति की

द्रुतता के फलस्वरूप रक्तोत्पीड (Blood-pressure) प्रवृद्ध हो जाता है। आवेपों से व्यनुनादित (Resonating) हृदय फुफ्फुसों को विदीर्ण कर देता है।

२५ चक्रप्रति विकला के आवेप १५ मिनट में मानवीय आमाशय से रक्तस्राव करा देते हैं। ६० डी बी० या इस से अधिक शक्ति के शब्द आमाशय की पुरःसारण (Peristalsis) क्रियाओं को अवरुद्ध कर देते हैं, तथा लाला एवं पक्तिरस (Gastric-juice) का स्रवण मन्द हो जाता है। ८० से ९० डी बी० के शब्द आमाशय संकोचों में ३७ प्रतिशत की कमी कर देते हैं।

आवेपनों की अनुभूति त्वचागत स्पर्श एवं पीडग्राहकों (Touch and Pressure; Receptors) द्वारा होती है। निम्न आवेपांकों जैसे १८ चक्रप्रति विकला, १० च०प्र०वि० या ३ च० प्र० वि० पर आवेप स्वतन्त्र उद्घातों (Joults) की अनुभूति कराते हैं। उच्च आवेपांकों पर जैसे १५००० च०प्र०वि० पर मृदु स्पर्श की अनुभूति होती है।

१४० डी बी० तीव्रता से उच्च कोटि का श्राव्य आवेप मूर्धा, दन्त एवं नासा, गल, उरस् तथा शाखाओं के (मृदु ऊतकों को प्रकम्पित कर देता है। १७० डी बी० पर शूल उपस्थित होता है। मन्दशक्ति के आवेपों का दृष्टि पर अति स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। ४० और ८० च०प्र० वि० मध्य के आवेपांकों पर अक्षिगोलक व्यनुनादित हो जाता है जिस से दृष्टि अति मन्द हो जाती है।

१०५ डी बी० से ऊपर की शब्द तीव्रता शिरो भ्रम, वमन, आदि लक्षणों को उत्पन्न करती है। १६० डी बी० की शब्दतीव्रता पटहोत्तसंनी पेशी को अतिआकुंचित कर कर्णपटह को विदीर्ण कर देती है।

पारस्वनिक आवेपनों (Ultrasonic Vibrations) से आभ्यन्तरीय व्यनुनाद के कारण कोषाएं उपहत हो जाती है। १६० डी बी० की शब्दतीव्रता मस्तुलुंग में स्थानीय क्षत उत्पन्न कर सकती है जो सूत्रतन्त्रिकाओं को तो विनष्ट कर ही सकती है किन्तु कन्दाणु कोषाओं (Ganglion cells) तथा रक्तवाहीनियों पर इन से कोई प्रभाव नहीं होता। इन तथ्यों को लक्ष्य में रखकर प्राचीन विद्वानों ने शत्रुओं को नष्ट-भ्रष्ट करने की विशेष विधि को प्रयुक्त किया था। वे वैमानिक रहस्य प्रकरण में लिखते हैं—"महाशब्द विमोहन-रहस्योनाम-विमानस्थ सप्तनाल वायुमेकीकृत्य शब्द-केन्द्रमुखे न्तर्धार्य पश्चात् कीलीं प्रचालयेत तद्वेगात् शब्द प्रकाशकोक्तरीत्या द्विषष्टिध्मानकला संघहृण शब्द वन्महाशब्दो जायते तद्रव स्मरणात् सर्वेषां हृदय-कम्पनं भवति किष्कुत्रय प्रमाणकम्पनं यदा भवति तदा स्मृतिविस्मरणं भवति तद्द्वारा परेषां विमोहन क्रियारहस्यम् ॥" बृहद् विमानशास्त्र, विमान रहस्य, क्रमांक २०।

अर्थात्—महाशब्दविमोहनरहस्य विचार—विमानस्थ सातनालों के वायु को एकत्र कर शब्दकेन्द्र मुख यन्त्र में भरकर पश्चात् कीली चलाएं, उस के वेग से शब्द प्रकाशिका में कही रीति के अनुसार बासठ ध्मान कलाओं के संघहृण के समान महा-शब्द उत्पन्न होता है। इस शब्द के श्रवण से सब का हृदय कांप जाता है, तीन किष्कुओं (लगभग ६ फीट) के प्रमाण जितना कम्पन जब होता है तब स्मृति नाश हो जाता है उस के द्वारा दूसरों को विमोहित करने का रहस्य है।

आकाशीय अष्टम परिधि केन्द्र में उत्पन्न होने वाले श्रोत्रविदारक महाघनरव का वर्णन भारतीय विमान शास्त्रीयों ने निम्न प्रकार से किया है :—

वारुणीवाताशनीनां शब्दसम्मेलनात् स्वतः।
आकाशाष्टमपरिधि केन्द्रे त्यन्त भयावहः ॥१३८।
भवेन्महाघनरव श्रोत्रेन्द्रिय विदारकः।
तस्मिन् यान प्रवेशस्स्याद् यदि यानस्थ यन्तॄणाम् ॥

क्षणमात्रेण बाधिर्य भवेत् तच्छब्द वेगतः ।
तस्मात् तत्परिहाराय शब्दकेन्द्र मुखाभिधम्॥१४०॥
व्योमयाने स्थापनार्थं संग्रहेण निरूप्यते ।
आकाशपरिधि मण्डलस्य यथाक्रमम् ॥१४१॥
सप्तोत्तर त्रिशतकेन्द्रा इत्युच्यते बुधैः ।
तेषु सप्ततिमात् केन्द्रात् समायात्यति भीषणम् ॥
वारूणी शक्तिसम्भूत शब्दोऽत्यन्त भयावहः ।
तथैव वातसम्भूत शब्दश्चात्यन्तघोषकः ॥१४३॥
द्वादशोत्तर त्रिशत केन्द्रादागच्छति क्रमात् ।
तथैवाशनिशब्दश्च द्वयशीतिमकेन्द्रतः ॥१४४॥
एतत्छब्दत्रयं सम्यंग् मिलित्वाथ परस्परम् ।
भवेन्महाघनरवस्सर्वं श्रोत्रविदारकः ॥१४५॥
तेन यान प्रयातृणां बाधिर्य प्रभवेदतः ।
एकेक शब्दकेन्द्राभिमुखतस्सुदृढं यथा ॥१४६॥
सन्धारयेच्छब्दोपसंहारयन्त्राण्यथा विधि ।
तेन तच्छब्दोपसंहारो भवेन्नात्र संशयः ॥१४७॥

## आहाराधिकरण

व्योमयात्रियों को किस प्रकार का आहार लेना चाहिए, एतदर्थ आचार्यों ने स्वतन्त्र अधिकरण की रचना कर अपनी सूक्ष्मेक्षिका बुद्धि का परिचय दिया है। आहाराधिकरण के प्रथम सूत्र "आहारः कल्प भेदात्" (अ०१ सू०७) की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार बोधानन्द लिखते हैं––

यन्तृणामाहार भेदनिर्णयार्थं पदद्वयम् ।
सूत्रेस्मिन् कथितं सम्यक् तदर्थस्सम्प्रचक्षते ॥२५॥
कल्पशास्त्रोक्तरीत्यात्र ऋतुकालानुसारतः ।
यन्तृणामाहार भेदास्त्रिविधा इति निर्णिताः ॥२६॥

तदुक्तमशनकल्पे––

रसवर्गे माहिषीया धान्येष्वाढक शालिकौ ।
मांसेष्वाविक मांस च वसन्त ग्रीष्मयोरिति ॥२७॥
रसेषु गव्य सम्बन्धा धान्ये गोधूम मुद्गकाः ॥
मांसेषु कालज्ञानीयं वर्षाशरद्वतावपि ॥२८॥
रसेष्वजारसाश्चैव धान्येषु यवमुद्गकाः ।
मांसेषु कलविंकाश्च हेमन्तशिशिरे क्रमात् ॥२९॥
विनामिष द्विजातीनां भुक्तिस्समिमितीरितम् ।

यहां तक ऋतुकालानुसार भोज्य द्रव्यों का विधान कर व्योम यात्रियों को किस प्रकार का आहार करना चाहिए इस का विवेचन "तदभावेसत्वं गोलोवा। अ० १ सू०१०।" सूत्र की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं :––

पदत्रयं भवत्यस्मिन्नाहारान्तर बोधकम् ।
तदर्थं सम्प्रवक्षामि समासेन यथा मति ॥४८॥
आहारासम्भवे तेषां तत्सारेण कृतान् मृदून् ।
प्रदद्याद् घननिस्वाकानाहारार्थ यथाविधि ॥४९॥

तदुक्तमशनकल्पे––

आहाराः पंचधा प्रोक्ता देहपुष्टिकराश्शुभाः ।
अन्नकांजिक पिष्टतद्रोटिका साररूपतः ॥५०॥
तेषु श्रेष्ठतरौसत्वगोलान्नविति कीर्तितौ ।

उक्तं हि पाक सर्वस्वे––

धान्याद्याहार वस्तूनां सत्वमाहृत्य यन्त्रतः ।
पाकं कृत्वा पाचनाख्य यन्त्रभाण्डे यथाविधि॥५१॥
उक्ताष्टमेन पाकेन सत्वगोलान् प्रकल्पयेत् ।
सुगन्धं मधुरं स्निग्धमाहारं पुष्टिवर्धनम् ॥५२॥

अर्थात्––इस सूत्र में आहारान्तर का बोध कराने वाले तीन पद हैं उन के अर्थ को यथामति संक्षेप से कहूंगा, अन्य प्रकार के आहार असंभव (व्योम यात्रा काल में) होने के फलस्वरूप उन के सार से बने कोमल घननिस्वाक् (Soft solid Bolls) अर्थात् लड्डुओं को आहारार्थ यथाविधि दें।

अशनकल्प में कहा है कि देह पुष्टिकर आहार अन्न, कांजिक, पिष्ट रोटिका, तथा सार रूप से पांच प्रकार के हैं। उन में सार (सत्व) से बने लड्डू श्रेष्ठतर हैं।

पाकसर्वस्व में कहा है कि धान्यादि आहार वस्तुओं का यन्त्र द्वारा सत्व निकाल कर कढ़ाई में यथाविधि

पाक कर अष्टम भाग पाक से सत्वगोल बनावें यह सुगन्धित, मधुर, स्निग्ध आहार पुष्टि वर्धक है ।

इन कथनों से यह स्पष्ट हो गया है कि व्योम यात्रियों के भोजनार्थ विशेष रूप से घन निस्वाकों (लड्डुओं) का विधान आचार्यों ने किया है । इस का कारण यह है कि अन्तरिक्ष में विमान की विशेष गति तथा कई अन्य कारणों के फलस्वरूप भारहीनता ( Weight lessness ) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिस के कारण अन्न का अन्तः प्रवेश ( Ingestion ) करना अति कठिन हो जाता है । इस स्थिति में सामान्य भोजन पात्र (Utensils) पूर्णतः अनुपयुक्त बन जाते हैं । भोज्य पदार्थ पात्रों से श्लीष्ट हो स्थिर नहीं रह सकता द्रव पदार्थों की स्यन्दन-शीलता समाप्त हो वे सूक्ष्म बिन्दुओं में विभक्त हो जाते हैं । जिस से निगिरण के समय पेय पदार्थ की अपेक्षा वायु की बड़ी मात्रा आमाशय में पहुंच जाती है जो आध्मान की स्थिति उत्पन्न कर देती है । इस स्थिति में घननिस्वाक (अन्य घन पदार्थ भी) सरलतया मुख में रखे एवं चबाये जा सकते हैं अन्यथा अन्नकण काकुद (Soft Palat ) स्थान में प्लवित (Float) हो नासा, श्वासपथ तथा गलगण्हरीय अन्य रन्ध्रों में प्रविष्ट हो सकते हैं । ये घननिस्वाक केवल स्वादकावर्धनकर अरुचि को ही नहीं मिटाते अपितु मनोबल को ऊर्जित करते हैं एवं उद्वेजन (Boredome) का हरण करते हैं ।

व्याख्यात सूत्र से पूर्व आचार्यों ने भोजन काल विधि का "तत्कालानुसारादिति ।" अ० १ सू०९।।" सूत्र द्वारा प्रतिपादन किया है इस की व्याख्या में वृतिकार ने "अहोरात्रप्रभेदेन यन्तॄणां पंचधास्मृतम् ।' अपने इस वाक्य को शौनकसूत्र एवं लल्लकारिका के प्रमाणों द्वारा प्रमाणित किया है वह वर्णन निम्न है--

अथ भोजन काल विधि व्याख्यास्यामः कालाकाल विभागेन गृहिणांद्वावेकमित्येकं मस्करिणां चतुर्धे तरेषां पंचधायानयन्तॄणां यथेच्छं योगिनामिति ।।

अर्थात् – अब भोजन की काल विधि को कालाकाल विभाग से कहूंगा गृहस्थों को दो काल संन्यासियों को एक काल, अन्यों को चार काल, यान यात्रियों को पांच बार तथा योगियों को इच्छानुसार।

यान यन्तॄयों को पांच बार भोजन करना चाहिए यह विधान इसलिए किया गया है कि भारहीनता की अवस्था में यदि एक ही काल (या दो काल) पेटभर भोजन कर लिया जाए तो थोड़ी सी हरकत से उद्गिरण (Regurgitation) हो वमन हो जाती है। केवल इतना ही नहीं उस के अतिरिक्त उदानवायु विकृत हो गम्भीरा हिक्का के लक्षण उपस्थित कर देती है जिस से ऐसे लगता है कि मानों यकृत्, प्लीहा और आन्त्र मुख द्वारा बाहर निकल जायेंगे । अतः भोजन स्वल्प मात्राओं में कई बार लेना चाहिए । लल्लकारिकाकार ने इसलिए विशेष व्यवस्था दी और कहा--

"अन्हि त्रिधा द्विधा रात्रावाकाशे यन्तॄणां क्रमात् ।
पंचधा भुक्तिकालस्य निर्णयः परिकीर्तितः ।।४७।।

अर्थात्--आकाश में यन्तॄयों को (व्योम यात्रियों को) दिन में तीन बार तथा रात्रि में दो बार इस क्रम से पांच बार भोजन करना चाहिए । यह भुक्ति काल का निर्णय किया गया है ।

आधुनिक विद्वान् इस मत से पूर्णतया सहमत है, इस के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय विद्वानों ने आहार विषयक अति विस्तृत विचार किया है, जिसे जिज्ञासु मूल ग्रन्थ में देखें ।

### उपसंहार

इस निबन्ध के प्रमुख आधार ग्रन्थ की चर्चा निबन्ध के प्रारम्भिक भाग में संकेत रूप से की गई

है। उस ग्रन्थ के प्रकाशित होने का अपना एक अनूठा इतिहास है जिसे यहां लिखना असंभव है। इस विषय में केवल इतना ही कथन पर्याप्त है कि वह ग्रन्थ रत्न सन् १९५९ में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली द्वारा आर्यपरिव्राजक श्री स्वामी ब्रह्ममुनि जी महाराज कृत हिन्दी भाष्य सहित प्रकाशित हुआ है।

यह ग्रन्थ रत्न अद्भुत ज्ञान भंडार है तथा इस में आयुर्वेद को समृद्ध करने योग्य विपुल सामग्री है--

(१) इस शास्त्र से सम्बन्धित कई नवीन द्रव्य इस में इतस्ततः बिखरे पड़े हैं। विभिन्न व्यासटिकाओं (Furnaces) भस्त्रिकाओं (Blowers) तथा भूषाओं आदि विषयक नवीन जानकारी जो सम्प्रति उपलब्ध रसग्रन्थों में अनुपलब्ध है, उस का इस ग्रन्थ में सम्यक् प्रकार से दर्शन कर लाभ उठाया जा सकता है। इस के अतिरिक्त अभ्रक विषयक अतिविस्तृत नवीनतम जानकारी अभ्रक की जातियों तथा शोधनविधि से सम्बन्धित है। अभ्रक शोधन में उसे तपाने तथा पुट देने के लिए विद्युत् भट्टियों का प्रयोग तो विस्मयोत्पादक ही है।

(२) वनौषधिविज्ञान से सम्बन्धित कई नवीन वनौषधियों जैसे पार्वणीदारू, आंजिष्ठक वृक्ष आदि का रूप गुण धर्म सहित वर्णन उपलब्ध है, जिस के आधार पर वे मृग्य हैं।

(३) औषधालयों तथा आयुर्वेदानुसन्धान केंद्रों के लिए आवश्यक बहुत से यन्त्रों की रचना विधि भी विस्तृत रूप से इस ग्रन्थ में प्राप्त होती है। उन में से दो यन्त्र उदाहरणार्थ देखे जा सकते हैं :--

(क) गुहा-गर्भादर्श यन्त्र--जो एक्सरेमशीन के समकक्ष है।

(ख) आतपोपसंहार यन्त्र तथा शीतोपसंहार यन्त्र-जिन का प्रयोग वातानुकूलनार्थ किया जा सकता है।

(४) विषविज्ञान से सम्बन्धित (क) वैरूप्य-दर्पणयन्त्र तथा (ख) अपस्मार-धूम-प्रसारण यन्त्र हैं, जिन के अवलोकन से सुश्रुत कल्पस्थान अध्याय ३ में आए--

धूमेऽनिलेवा विष सम्प्रयुक्ते खगाः श्रमार्ताः प्रपतन्ति भूमौ।
कास प्रतिष्याय शिरोरूजश्च भवान्तितीव्रा नयनामयाश्च ॥

इस श्लोक का भावपूर्ण-रूप से अवगत होता है। विमानस्थ वैरूप्य दर्पण यन्त्र द्वारा प्रयुक्त होने वाले तेल विशेष की धूम से शत्रुओं के शरीर को विरूप किया जाता है। उस धूम के प्रयोग से निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं :--

मनोविकारतां नेत्र मान्द्यं देहांगबन्धनम् ॥९२॥
दग्धवृन्ताकवद् देहं ज्वरदाहादि पीडनम्।
करोति तत्क्षणात् सर्वं मूर्च्छिताश्च भवन्ति हि ॥९३

स्वकीय विमानस्थ अपस्मारधूमप्रसारणयन्त्र द्वारा परकीय विमानस्थ शत्रुओं पर अपस्मार धूम का प्रसारण (Spraying of Epileptogenic Gas) करने से जो लक्षण उत्पन्न होते हैं। वे भी अवलोकनीय हैं :--

एक काले चतुर्दिक्षु सर्वतो मुखतः स्वयम्।
व्याप्याथापस्मार धूमः परयानात् समग्रतः ॥
परेषां तत्क्षणात् स्वीयशक्ति प्रधानतः।
करोत्यपस्मारवशान् सर्वान् शत्रून्नसंशयः ॥
तेन सर्वं विमानाग्रात्पतिष्यन्त्यवनीतले ॥

आधुनिक विमान विद्या में अनुपलब्ध एवं अद्भुत यन्त्र भी इस ग्रन्थ के वैभव को प्रकट करते हैं। उदाहरणार्थ--"विद्युद्दर्पण यन्त्र" को देखा जा सकता है।

आकाशस्थ स्थिर विद्युत् एवं तडित् से आकाश से गमन करने वाले विमानों को विनाशकारी क्षति पहुंच सकती है। किन्तु इंजीनियर लोग आज तक

इस समस्या की उपेक्षा ही करते आए हैं। सन् १९६३ में हुई कुछ दुर्घटनाओं ने इंजीनियरों को इस समस्या की पूर्ति करने के लिए बाध्य किया, उन में से तीन घटनाएं इस प्रकार हैं :—

(१) संयुक्त राज्य अमेरिका के एल्कटन नामक स्थान के निकट बोइंग ७०७ विमान का उस के पक्ष में स्थित ईंधन टंकी का तडित् के कारण ज्वलन होने से विनष्ट होना।

(२) वाडन्बर्ग बेस से उड़ाई गई प्रथम दो "मिनिट मैन १" नामक मिसाइलों का स्थिर विद्युत् से जल उठना।

इस समस्या के समाधान हेतु नव्य वैज्ञानिकों ने कुछ परिकल्पनाएं प्रकट की, किन्तु अभी तक इस का कोई हल नहीं ढूंढा गया। परन्तु सहस्राब्दियों पूर्व लिखित इस ग्रन्थ में इस समस्या को लक्ष्य में रखकर एक विशिष्ट यन्त्र की स्थापना विमान में करने का विधान है। आचार्यों ने इस यन्त्र को "विद्युद्दर्पण यन्त्र" इस नाम से सम्बोधित किया। उस की निर्माणविधि का तो यहां वर्णन नहीं किया जा सकता। किन्तु उस के प्रयोजन को यहां लिख देना मैं उचित ही समझता हूं।

विद्युद्दर्पण यन्त्रमुक्तं हि सौदामिनी कलायाम्—

तड़ित्संचलनं वर्षऋतौ मेघेषु पंचधा।
वारुण्यग्निमुखादण्ड महारावणिका इति॥
तेषु वारुण्यग्नि मुख विद्युतावति वेगतः।
मुहुर्मुहुः प्रचलतस्स्वतो मेघेषु वार्षिके॥
पश्चाद्यानस्थ रौद्रयादि दर्पणै स्तावुभावपि।
आकृष्येते स्वभावेन पश्चात् सम्मेलनं तयोः॥
परस्परं भवेत् तस्मान्महानग्निः प्रजायते॥
तेन दग्धी भवेद् व्योम यानस्तत्क्षणतः क्रमात्॥
अतस्तत्परिहारार्थं मुख दक्षिण केन्द्रयोः॥
विमाने स्थापयेद् विद्युद्यन्त्रं सम्यग्यथाविधि॥

अर्थात्—वर्षा ऋतु में मेघों में विद्युत् का संचलन पांच प्रकार का होता है जो (१) वारुणी, (२) अग्नि मुख, (३) दन्ड, (४) महत्, (५) रावणिक है। इन पांचों में से वारुणी तथा अग्निमुख विद्युतें अतिवेगसे मेघों में पुनः पुनः प्रसारित होती है। पश्चात् विमानस्थ रौद्री आदि दर्पणो (विशिष्टयन्त्रों) से ये दोनों आकर्षित होती है। इन दोनों का सम्मेलन होने से महान् अग्नि की उत्पत्ति होती है। जिससे व्योमयान उसी क्षण जल उठता है। अतः इससे बचने के लिए विमानमुख के दोनों दक्षिण केन्द्रों में विद्युत-दर्पण-यन्त्र को लगावें।

———

# सुलभ रोगों की सुलभ चिकित्सा

श्री वैद्य रामनाथ, आयुर्वेदाचार्य

**अन्न मार्ग के रोग--**

(१) मुखशोथ- चमेली, जामुन, नीम के पत्तों, या चमेली दारूहल्दी, या त्रिफला के क्वाथ से कुल्ले करें।

(२) अजीर्ण- (क) अष्टकवटी (लशुन, दोजीरे, गंधक, त्रिकटु, हींग समान की निम्बुरस से बनी गोली)।

(ख) सोंठ, कालानमक, हरड़ छोटी समान का चूर्ण ३ माशे लें।

(३) अम्लपित्त या परिणामशूल-

(क) आंवला, गिलोय, पटोलपत्र, कटुकी, मुलहटी शतावरी, इनमें से किसी का क्वाथ दिन में दो बार लें।

(ख) हरीतकी, आमलकी, धनिया, निम्बपत्र में से किसी के चूर्ण की २-३ माशे की मात्रा २-३ बार लें।

(ग) आंवला, छोटी इलायची, मुलहटी, धनिया, मोथा, चन्दन श्वेत समान भाग के चूर्ण में सर्व तुल्य मिश्री मिला के ३ माशा २ बार लें।

(घ) बादाम रोगन एक चम्मच भोजन से कुछ पहले लें।

(ङ) शम्बूक भस्म या मुक्तापञ्चामृत या नारिकेल लवण या कोई दूसरा क्षार भोजन के बाद लें। (तेल-तिल-माष-अम्ल-मद्य-कटु, तीक्ष्ण, उष्ण गुण-द्रव्य-घृततेल भृष्ट आहार अपथ्य)।

(४) अतिसार- (क) पोदीना, सौंफ, जीरा-श्वेत, छोटी इलायची थोड़ी २ लेकर जल से पीस लें। फिर इस जल को छान कर उस में काला नमक, सैंधव नमक मिला कर थोड़ी २ देर बाद पिलाते जाएं।

(ख) मोथा, धनिया, खस, चन्दन, इनके समान २ मोटे चूर्ण की चाय सी बनाकर उसे ठंडा करके दें।

(ग) अष्टक वटी का सेवन करें।

(घ) रामबाण (रसपारदकज्जली २, मरिच २, लौंग १, जायफल १ भाग) की गोली।

(ङ) सञ्जीवनी वटी (त्रिफला, त्रिकटु, वचा, भल्लातक शुद्ध, वत्सनाभ शुद्ध, अदरक रस से गोली)।

(५) प्रवाहिका (तीक्ष्ण)-(क) हरड़, सौंफ, गुलाबफूल समान, चूर्ण ४-६ माशा ३-४ बार दें।

(ख) ईसबगोल का छिलका १ तोला दिन में कई बार दें।

(ग) भुनी सौंफ को दुगनी चीनी में मिला कर ६ माशा की मात्रा में दें।

(६) प्रवाहिका (जीर्ण)- (क) इन्द्र जौ, बाल बिल्व, सौंफ, जीरा, मोथा बराबर २ का चूर्ण, ईसबगोल सर्वतुल्य। ६ माशा दिन में ३ बार।

(७) रक्तार्श-(क) नागकेसर चूर्ण ३ माशा दिन में ३ बार लें।

(ख) दारूहल्दी, खस, चिरायता समान २ का क्वाथ दिन में दो बार।

(ग) तिल ६ माशा, मक्खन १ तोला मिलाकर लें।

(घ) घृत में दशमभाग फटकरी खील मिला के लगायें।

(८) शुष्कार्श--(क) रसौंत मुसब्बर, गुग्गुलु मूलीबीज समान २, मूली स्वरस से बनी गोली दिन में ४-६ दें।

(ख) घृत में चालीसवां भाग कपूर मिला के लगायें।

(९) मलावरोध- (क) त्रिफला चूर्ण एक चम्मच रात को।

श्री वद्य रामनाथ जी आयुर्वेदाचार्य

वैद्य धर्मदत्त जी के छोटे भाई
श्री धर्मवीर जी लाजपतनगर, देहली ।

(ख) गुलकन्द एक तोला रात को ।
(ग) ईसबगोल छिलका एक तोला रात को ।
(घ) छोटी हरड़, काला नमक समान २ मिला कर आधा चम्मच रात को ।

(१०) कृमि–(क) विडंग, अजवायन, कमीला, पलाश बीज समान २ मिलाकर ३ माशा दिन में एक बार लें ।
(ख) राई १ माशा, हींग १ रत्ती मट्ठे में नमक मिला के लें ।

(११) नासाकृमि–(क) विडंग और हींग का चूर्ण मिला कर नस्य दें ।
(ख) कपूर, तारपीन का तेल मिला के ३-४ बून्द नाक में डालें ।

श्वास मार्ग के रोग —

(१) प्रतिश्याय– (क) गुलबनफशा तथा गुलाब फूल की चाय ।
(ख) व्योषादि चूर्ण (त्रिकटु, त्रिजातक, तालीस-पत्र, जीरा समान २ खाण्ड सर्वतुल्य) ।

(२) कास–(क) दशमूल तथा वासा पंचांग क्वाथ मधु के साथ दो बार दें ।
(ख) बालकों की खांसी में, मोथा, अतीस, काकड़ासिंगी, पिप्पली का चूर्ण या क्वाथ मधु के साथ ।

(३) श्वास–(क) दशमूल क्वाथ मधु मिला कर पुष्करमूल चूर्ण के साथ ।
(ख) अगस्त्य हरीतकी १-२ तोला दो बार लें ।
(ग) सज्जीखार को गर्म कर के १ छटांक पानी में बुझाकर उस पानी को पीलें ।

(४) हिक्का–(क) मयूरपुच्छ भस्म तथा पिप्पली चूर्ण ३-३ रत्ती शहद से चटाएं ।

हृदय रोग —

(१) हृदय शूल– (क) कुरंगशृंग भस्म दो रत्ती दिन में २ या ३ बार मधु से ।
(ख) अर्जुन छाल तथा बलामूल की चाय ।
(ग) चाय में केशर थोड़ी डाल कर दें ।

(२) हृदय दौर्बल्य जनित श्वास शोथ आदि में–
(१) मुक्ता पञ्चामृत या मुक्ताशुक्ति की भस्म दो रत्ती, शृंगभस्म दो रत्ती दिन में दो बार ।
(२) च्यवनप्राश आधी छटांक दिन में ३ बार ।
(३) आंवला या सेब का मुरब्बा ।
(४) जवाहरमोहरा दो रत्ती २ बार ।
(५) पुनर्नवाष्टक क्वाथ (पुनर्नवा-नीम-पटोल, कटुकी दारुहल्दी, हरड़, गिलोय, गोखरु समान २)।
(६) कर्पूर आधी रत्ती, हींग आधी रत्ती मिला कर दें ।
(७) अगस्त्यहरीतकी अवलेह आधी छटांक दो बार दें ।

रक्त रोग—

(१) पाण्डु –(क) कासीस या स्वर्णमाक्षिक या लोह भस्म दो रत्ती शहद से २ बार ।

(२) कामला–(क) कड़वे तूम्बे का स्वरस १-२ चम्मच या उसका चूर्ण दो माशे दिन में एक बार ।

(३) रक्तभार वृद्धि–(क) आमलकी रसायन दो माशा दिन में दो बार ।
(ख) च्यवनप्राश ढाई तोला दो बार ।
(ग) ईसबगोल ६ माशे चीनी के साथ ।
(लवण तथा चाय का परहेज) ।

मूत्र रोग —

(१) वृक्काश्मरी–(क) वरुणछाल, गोखरु, कुलथी, पञ्चतृणमूल समान २ का आधा छटांक क्वाथ या क्षार डालकर एक बार रोज लें ।

(ख) बेर पत्थर या हजरुल यहूद २-३ रत्ती दो बार रोज ।

(ग) मुञ्जमूल क्वाथ लवण के साथ । (चाय, दाल, अन्न कम, दूध अधिक लें) ।

(२) मधुमेह-(क) करेले का या बिल्वपत्र का रस आधी छटांक दिन में एक बार ।

(ख) जिस जल में विजयसार की लकड़ी पड़ी हो पिएं ।

(ग) जामुन की गुठली का चूर्ण ३ माशे जल से रोज लें ।

(३) वृक से पूयस्राव-(क) गोक्षुरादि गुग्गुलु (गोखरु सवा किलो के गाढ़े किए क्वाथ में गुग्गुलु १ पाव, त्रिफलात्रिकटु मिलित १ पाव मिला के गोली बनाएं), पंचतृणमूल (कुश, काश, दर्भ, शर, इक्षुमूल) क्वाथ से दिन में ३ बार दें।

(ख) चन्द्रप्रभा २ गोली, ढ़ाई तोला गोखरु को एक पाव पानी में पका कर दें ।

त्वग्रोग —

(१) पामा (ऐक्जीमा)-(क) मंजिष्ठादि-क्वाथ (मंजीठ, त्रिफला, दारुहल्दी, कुटकी नीम गिलोय) दें, या त्रिफला चूर्ण ३ माशे, गन्धक तीन रत्ती जल से दें ।

(ख) निम्बपत्र रस एक चम्मच १५ दिन दें ।

(ग) शतधौतघृत में दसवां भाग जस्ता, ४० वां भाग कपूर मिला के लगाएं ।

(२) शीतपित्त-(क) हल्दी, दारुहल्दी, गिलो नीम, धमासा समान का क्वाथ ।

(ख) त्रिफला, पिप्पली चारों समान का चूर्ण ३ माशा ३ बार रोज ।

(ग) अजवायन ३ माशा, गुड़ १ तोला मिला के खिलाएं ।

(३) चेहरे की त्वचा के विकार--(क) तेल बेसन, हल्दी, दही मिला के चेहरे पर उबटन करें।

(ख) जातिफल को दूध में पीस कर रात को मुंह पर लेप दें । सुबह धोकर मक्खन लगाएं ।

(ग) मसूर की दाल का आटा दूध में पीस कर रात्रि को मुंह पर लगाएं ।

(४) श्वित्र- (क) बावची के चूर्ण को खदिर क्वाथ की ३-४ भावना देकर उसमें समान हरीतकी चूर्ण मिलाएं । ४ माशा चूर्ण शहद घृत से चाटें।

(५) मण्डल ( Psoriasis ) (क) Kigelia Pinnata D. C. (Bignonioceae family) के फल जो पेड़ पर लटके रहते हैं उनका रस लगाने से यह रोग शान्त होता देखा गया है ।

(६) विपादिका--(क) घी, तेल ४-४ भाग राल, मोम १-१ भाग, तुत्थ १/८ भाग मिला कर बनाई मलहम लगाएं ।

(७) अग्निदग्ध-(क) तिल तेल १०, राल ढ़ाई तोला, सिन्दूर ६ माशे, थोथा ४ रत्ती मिला कर लगाएं ।

(ख) घृत में राल-मोम-मधु हरड़ का चूर्ण मिला कर लगाएं ।

वायु रोग—

(१) आमवातिक शूल--(क) रास्नादिक्वाथ रास्ना, गिलो, गोखरु, पुनर्नवा, सोंठ, अमलतास, हरड़ समान २, एरण्ड तेल के साथ ।

(ख) सोंठ, असगन्ध, बराबर में बराबर चीनी मिलाके १ तोला दिन में दो बार दूध से ।

(ग) लशुन को पीस, हींग थोड़ी मिला कर दिन में दो बार प्रयोग करें ।

(घ) अदरक रस में मधु मिलाकर चाटें ।

(दही, दूध, दाल, खाण्ड, गुड़, शीतगुण आहार अपथ्य ) ।

(२) उरुस्तम्भ-(क) त्रिफला कटुकी चारों समान भाग का चूर्ण दो बार जल से ।

(ख) कायफल १, रेहमट्टी २ भाग मिला कर मलें।

(३) हिस्टीरिया—(क) जटामांसी, हींग, कपूर, अजवायन समान भाग की गोलियां दिन में ८ दें। (बाजरे की रोटी घी से चुपड़ कर दही से दें)।

(४) अपस्मार—(क) वचाचूर्ण आधे से एक ग्राम दिन में दो बार ब्राह्मी शंखपुष्पी की चाय से।

(५) गृध्रसी आदि नाड़ी शूल—

(क) महायोगराज गुग्गुलु दो गोली रास्नादि क्वाथ के साथ दो बार।

(ख) कायफल, लौंग से पके तेल की मालिश।

(६) अर्धावभेदक शिरःशूल (Migraine)

(क) त्रिफला पिप्पली चारों का चूर्ण १ चम्मच दिन में एक बार।

(ख) त्रिफला, गिलो, चिरायता, नीमछाल बराबर बराबर का ढाई तोला क्वाथ एक बार।

(ग) महालक्ष्मीविलास गोली दिन में २ बार।

(घ) बादाम, खोपे, काहू, कद्दू सब के मिले हुए तेल में थोड़ा चन्दन तेल मिला कर सिर पर मलें।

(७) स्मृतिभ्रंश—बादाम रोगन १ चम्मच दिन में दो बार या बादाम पाक।

(८) वाणी सम्बन्धी दोष—वचाचूर्ण दो रत्ती ब्राह्मी पत्र की चाय में घृत मिला कर दें।

(९) शिरोभ्रम—(क) सर्पगन्धा चूर्ण ४ रत्ती दिन में दो बार, (जल अधिक पिएं)।

(ख) शृंग भस्म १ रत्ती, सितोपलादि १ माशा दिन में दो बार शहद से।

(१०) कर्ण बाधिर्य तथा कर्णनाद—

(क) महायोगराज गुग्गुलु २-२ गोली दो बार।

(ख) माषतेल कान में डालें।

(११) कर्णशूल—(क) तेल में हींग मिलाकर कान में डालें।

(१२) अनिद्रता— (क) जटामांसी १, खुरासानी अजवायन आधा ग्राम मिलाके रात को लें।

(ख) बादाम, काहू, कद्दू, खसखस आदि से बना तेल सिर पर मलें।

(ग) बादाम और चारों मगज से बनाया दूध रात को लें।

(१३) धातुनैर्बल्य— (क) मुसलीआदिचूर्ण, मुसली श्वेत ४० तोला, गोन्द घी में भुनी २० तोला, बादाम, चरौंजी, कौंच के बीज ५-५ तोला, जातिफल, जावित्री, लौंग, वालछड़, इलायची छोटी २॥-२॥ तोला, केसर १ तोला, खाण्ड सर्वतुल्य। ६ माशा दिन में दो बार।

नेत्र रोग—

(१) दृष्टि नैर्बल्य—(क) मक्खन में दखनी मिर्च ५ दाने तथा खाण्ड मिलाके लें। या बिटामिन 'ए' का कुछ काल सेवन करें।

(ख) त्रिफला, मुलहटी समान का चूर्ण घृत-मधु के साथ एक समय लें।

(ग) आंवले का प्रयोग।

(२) शोथ पाकयुक्त नेत्र रोग—वासादिक्वाथ (वासा, गिलो, कुटकी, पटोल, त्रिफला दारुहल्दी, चिरायता, नीम) समान का काढ़ा मधु डाल कर कुछ दिन पिलाएं।

(३) मोतिया बिन्द— (क) दोनों नेत्रों पर ४०-५० बार जल के छींटें दें, दिन में एक या दो बार या रात को गाचनी मट्टी की टिक्की दबाकर रोज बांधें।

(ख) शहद का अंजन करें।

केश रोग

(१) अरुंषिका (सेबोरिया)— (क) नीम के काढ़े से सिर धोएं।

(ख) कुष्ठ चूर्ण बारीक पीस कर तेल में मिला कर लगाएं।

(ग) हल्दी, दारुहल्दी, गिलो, नीम, पटोल समान भाग का कढ़ा पिएं।

(घ) सिन्दूरादि तेल (सिन्दूर २ तोला, जीरा-श्वेत ४ तोला, सरसों तेल ३२ तोला, जल ३२ तो० डाल कर तेल बनाएं) लगाएं।

(२) दारुणक (छिलके झड़ना) (क) साबुन से सिर को धोकर त्रिफला जल तथा दही से धोएं। (ख) द्विहरिद्रादि तेल (हल्दी, दारुहल्दी नीम, चिरायता, त्रिफला, चन्दन बराबर के कल्क को १६ गुणा तेल तथा उतने ही जल में मिलाके) तेल लगाएं।

(ग) सिन्दूरादि तेल लगाएं।

(घ) त्रिफलादि तेल (त्रिफला, बालछड़, भांगरा, नीलोफर, सारिवा, सैन्धव के कल्क से १६ गुणा तेल तथा जल में बना तेल) लगाएं।

(३) केशपात (बाल झड़ना)—

(क) जात्यादि तेल (चमेली पत्ररस १ सेर, तिल तेल १ सेर, जटामांसी १० तोला, श्वेत चयन १० तोला, जल ४ सेर तेल बनाएं) लगाएं।

(४) खलित (गंज)— (क) जटामांसी, कुष्ठ, आंवला समान के चूर्ण को दही में मिलाकर उसे सिर पर लगा कर सिर धोलें।

(ख) द्वितीय जात्यादि या जातिपत्री तेल (चमेली-पत्र, करंजपत्र, वरुणत्वक्, कनेर की छाल, चित्रक मूल समान मिलाकर ८ गुणा तेल, जल तेल से दो गुणा मिलाकर तेल बनाएं) लगाएं।

(ग) हाथी दांत की भस्म, दूध में मिलाकर लगाएं

(५) पलित—(क) तृतीय जात्यादि तेल (चमेलीपत्र रस १ सेर, भांग का रस ४ सेर तेल बनाएं) सिर पर लगाएं।

(ख) त्रिफला, मुलहटी चारों समान का आधा चम्मच चूर्ण घृत मधु से दो बार रोज लें।

(ग) चन्द्रप्रभा वटी त्रिफला के साथ लें।

स्वप्न दोष—

(क) आंवला चूर्ण या बलाचूर्ण ३ माशा रात को लें।

स्त्री रोग—

(१) श्वेत रक्त प्रदर—(क) अशोक की छाल या शतावरीमूल क्वाथ को दूध के साथ दें।

(ख) लोध्रचूर्ण या लाक्षाचूर्ण को ३ माशे की मात्रा में दूध से लें।

(ग) वासास्वरस को मधु के साथ दें।

(घ) घी में भुने बब्बूल के गोंद को ६ माशे की मात्रा में चीनी के साथ दें।

(ङ) उदुम्बर फल रस १ तोला मधु के साथ।

(च) आंवले का रस १ तोला मधु के साथ या आंवले का चूर्ण दूध से।

(२) कष्टार्तव—(क) मेथी गाजर सोये के बीजों की चाय गुड़ डाल कर पिलाएं।

(ख) मुसब्बर हींग सुहागे समान की घृतकुमारी से बनी गोली ३-३ रत्ती की दिन में ४ बार दें।

(३) गर्भपात का भय—(क) बब्बूल का गोंद घृत में भूना १ तोला, सिंघाड़े का आटा १ तोला दूध से २-३ बार दें।

(ख) गूलर का फल १ तोला चीनी के साथ दें।

—:००:—

प्रकट स्वास्थ्य का अप्रकट रहस्य

# वैयक्तिक स्वस्थवृत्त

आचार्य वैद्य धर्मदत्त विद्यालंकार, सिद्धान्तालंकार

यद्यपि रोगों की चिकित्सा में तथा सामाजिक स्वस्थवृत्त की दिशा में पिछले कुछ वर्षों में आश्चर्यकारी उन्नति हुई है, तथापि वैयक्तिक स्वास्थ्य की दिशा में उतनी उन्नति नहीं हो पाई। हृदय रोग (हार्ट अटैक) घटने के स्थान पर उत्तरोत्तर बढ़ रहा है।

अमरीका जैसे उन्नत देश में भी लगभग दस लाख व्यक्ति प्रति वर्ष इस हृदयरोग से मृत्यु को प्राप्त होते हैं। पक्षाघात तथा दिमाग की रक्त-वाहिनी फटने (स्ट्रोक या अपोप्लेक्सी) से भी वहां प्रतिवर्ष दो लाख व्यक्ति मृत्यु के ग्रास होते हैं। इग्लैण्ड जैसे देश में भी प्रतिवर्ष एक लाख व्यक्ति हार्ट अटैक से ग्रस्त होते हैं। इस हृदयरोग से तथा पक्षाघात से कुल मिलाकर, वहां जितनी मृत्यु होती हैं उतनी किसी दूसरे रोग से नहीं होतीं। भारत में भी आज से पचीस वर्ष पहले हार्ट अटैक से जितनी मृत्यु होती थी आज उससे दो गुणा हो गई है। पहले यह हृदयरोग पचास वर्ष की आयु से ऊपर के लोगों में होता था अब पैंतीस-चालीस वर्ष की आयु के व्यक्तियों में भी देखा जाता है।

## मेदो वृद्धि --

हार्ट अटैक, पक्षाघात तथा दिमाग की रक्त-वाहिनी का प्रधान कारण शरीर में चर्बी का बढ़ जाना (मेदो वृद्धि) है। तीस वर्ष की आयु में जब शरीर का आकार और बल अपने पूर्ण उत्कर्ष पर होते हैं, तब वह भार की दृष्टि से भी अपनी पूर्णता पर होता है। उसके बाद यदि आदमी का भार स्थिर रहने के स्थान पर दो चार किलो बढ़ने के बदले पन्द्रह बीस किलो बढ़ जाए, तो ऐसे व्यक्ति को उपर्युक्त रोगों के होने की आशंका रहती है। इसी लिए यदि तीस-पैंतीस वर्ष की आयु में आदमी या औरत का बोझ बढ़ता जा रहा हो, तो उसे सावधान हो जाना चाहिए। शरीर को सबसे अधिक कैलोरीज घी, दूध, खाण्ड और अन्न से मिलती हैं इसलिए इनकी मात्रा को उसे कम कर देनी चाहिए। फलों तथा सब्जियों से कम कैलोरीज मिलती है, भोजन में इनकी मात्रा बढ़ा देनी चाहिए ताकि पेट तो भर जाए पर भार न बढ़े।

प्रायः देखने में आता है कि तीस वर्ष की आयु के बाद आदमी पैदल चलना छोड़कर सवारी पर ही चलने लगता है, शारीरिक श्रम का परित्याग कर देता है। साथ ही वह अपने आहार की मात्रा को बढ़ा लेता है। आहार में ली गई जो कैलोरीज शरीर में खर्च नहीं होतीं वे फैट में परिवर्तित हो कर शरीर के वसामय सेलों (एडिपोजटिशु) में जमा हो जाती हैं। साथ ही वे रुधिर के अन्दर 'कोलिस्टिरोल' के रूप में अपनी सामान्य मात्रा प्रतिशतक १५०-१६० मिलिग्राम से अधिक हो जाती हैं। रक्त में बढ़ा हुआ फैट रक्तवाहिनियों की अन्दर की तह में बैठने लग जाता है जिससे उनका अन्दर का स्रोत (ल्यूमन) तंग हो जाता है और अंगों को रक्त की मात्रा जितनी मिलनी चाहिए उतनी नहीं मिलती। यदि हृदय की पेशियों को रक्त देने वाली (कौरोनरी आर्टरी) सूक्ष्म धमनियों का स्रोत तंग हो जाए तो हृदय को रक्त कम मिलता है जिससे श्रम करने पर जब उसे रक्त की आवश्यकता तो अधिक होती है और उतना उसे मिलता नहीं है तो उसमें दर्द सा होने लगता है। जब हृदय के एक भाग को

रक्त सर्वथा ही नहीं मिलता तो वह मृत सा हो जाता है और उसमें भारी दर्द होता है इसी को हार्ट अटैक या 'स्पष्ट हार्ट अटैक' कहते हैं।

स्पष्ट हार्टअटैक तो अन्त में होता है। बहुधा प्रारम्भ में अस्पष्ट या साइलेन्ट हार्ट अटैक हुआ करता है। अर्थात् हृदय की किसी एक सूक्ष्मतर धमनी में पहले अवरोध होता है। उसमें अवरोध होने पर हृदय में सहसा निर्बलता आ जाती है। जिससे आदमी के माथे पर ठण्डा पसीना आजाता है, छाती के नीचे पेट में हलका सा दर्द होता है, जी मचलाता है, उल्टी की प्रवृत्ति होती है या हो जाती है, और रोगी का मन भयभीत सा हो जाता है। ऐसे मृदु हार्ट अटैक के समय रोगी को यह भ्रम हो जाना स्वाभाविक है कि उसका पेट खराब है, बहुधा चिकित्सक भी इसे पेट में गैस समझ कर हार्ट अटैक की उपेक्षा कर देता है। परन्तु यदि रोगी का ब्लडप्रेशर देखा जाए तो वह बढ़ा हुआ मिलता है। रक्त में कोलिस्टिरोल की परीक्षा की जाए तो वह भी १६० मि० ग्राम प्रतिशतक से अधिक मिलता है। ई०सी०जी० की परीक्षा से तो निश्चय हो जाता है कि यह मृदु हार्ट अटैक ही था। इस प्रकार मेदोवृद्धि इस रोग का प्रधान कारण है।

मेदोवृद्धि होने पर रक्तवाहिनियों की दीवारों में फैट बैठ जाने से वे मोटी हो जाती हैं उनमें रक्तभार बढ़ जाता है। उन में रक्त-भार की वृद्धि से हृदय के सामने अवरोध बढ़ जाता है जिससे वह धीरे-धीरे फेल होने लगता है। अर्थात् हृदय में दर्द तथा उसके फेल होने का प्रधान कारण अनुचित मेदोवृद्धि है।

बड़ी आयु में होने वाले गोडों में दर्द अर्थात् "आस्टियोआर्थाइटिस" तथा मांसशूल अर्थात् 'फाइब्रोसाइटिस' या 'पेनिकुलाइटिस' का कारण भी मेदोवृद्धि है। इन रोगों में भी यदि फैट, खाण्ड तथा अन्न की मात्रा को भोजन में कम कर दें और फल सब्जी का प्रयोग करें तो लाभ होता है। जो लोग श्रम नहीं करते उन्हें अपने भार के प्रत्येक किलो के पीछे २५-३० कैलोरीज से अधिक आहार नहीं लेना चाहिए। अर्थात् भार ६० या ७० किलो हो तो दिन में १८०० या २००० कैलोरीज तक का भोजन ही पर्याप्त होता है। भार को कम करने तथा उससे होने वाले रोगों से बचने के लिए निम्बाष्टक (नीमपत्र, त्रिफला, अजवायन, सोंठ, सोडा, सैन्धा नमक समान भाग) ४-६ माशे रोज लिया जा सकता है[1]।

## शर्करा सम्बन्धी स्वस्थवृत्त —

कुछ अन्वेषक लोग तो श्वेतचीनी (सुक्रोज) को हार्ट अटैक का प्रधान कारण बताते हैं। उनका कथन है कि दिमागी काम करने वाले आसनशील व्यक्तियों की आहार में ली हुई श्वेतशर्करा का बहुतसा भाग जब शरीर में खर्च नहीं होता तो वह फैट के रूप में परिवर्तित होकर शरीर में मेदोवृद्धि, रक्तभारवृद्धि तथा रक्त में 'कोलिस्टिरोल' की वृद्धि का कारण बनता है। श्वेत खाण्ड शरीर को बहुत अधिक कैलोरीज देती है। उदाहरणतया जहां १ छटांक सेब २८ कैलोरीज, १ छटांक सन्तरा २२, १ छटांक टमाटर ८, १ छटांक पालक १२, १ छटांक आलू ४० कैलोरीज शरीर को देते हैं, वहां एक छटांक श्वेत खाण्ड २३२ कैलोरीज शरीर को देती है।

---

१ मेदस्यतीवसंवृद्धे सहसैवानिलादयः
विकारान्दारुणान्कृत्वा नाशयन्त्याशुजीवितम्।
अतिमात्र मेदस्विनो मेदएवोपचीयते नेतरेधातवः,
तस्मादायुषोह्लासः। चरक। सूत्रस्थान।२१।

इसलिए शारीरिकश्रम न करने वाले व्यक्तियों में उसका फैट के रूप में शरीर में जमा हो जाना स्वाभाविक है ।

आज से पचास वर्ष पहले आदमी जितनी श्वेत चीनी का प्रयोग करते थे आज उससे दस-गुणा प्रयोग कर रहे हैं । आज से ५० वर्ष पूर्व वे जितना शारीरिकश्रम करते थे आज उसका दशमांश कर रहे हैं । पहले कालों में गुड़, लाल-शक्कर, या शहद का प्रयोग अधिक होता था, श्वेत चीनी का प्रयोग बहुत कम देखने में आता था । शहद एक छटांक ली जाए तो एक तो वह अति सुपच होती है, दूसरे वह १८० कैलोरीज ही शरीर को देती है । अतः यह शंका होनी भी स्वाभाविक है कि वर्तमान काल में हृदय रोग, रक्तभारवृद्धि, मधुमेह आदि रोगों की वृद्धि हुई है उसका कारण श्वेत शर्करा का अति प्रयोग है।

इन रोगों के अतिरिक्त श्वेत शर्करा का प्रयोग अजीर्ण, पेप्टिक अल्सर, या अम्लपित्त, तथा जोड़ों में दर्द का भी प्रधान कारण है । इन रोगों को भी अब शर्कराजनित रोग कहने लगे हैं। क्योंकि श्वेतशर्करा का कुछ अंश तो लीव्यूलोज ( *Laevulose* ) या फ्रक्टोज ( *Fructose* ) बनकर आंत में से विलीन हो जाता है । कुछ अंश आमा-शय तथा आंत में विदग्ध या फर्मेन्ट भी हो जाता है । जिसके परिणाम रूप में वहां एसिड और गैस उत्पन्न होते हैं । इसलिए यदि पेट में पहले ही एसिड अधिक हो, आंत में गैस भी अधिक हो तो खाण्ड के प्रयोग से इन रोगों में और वृद्धि होती है । स्पष्ट है श्वेत खाण्ड आमाशय तथा पक्व-शय दोनों के लिए विक्षोभक है ।

श्वेत खाण्ड के अति प्रयोग से आंत में आक्जेलिक एसिड की उत्पत्ति भी होती है । रक्त द्वारा इसके मूत्र में जाने से मूत्र में कैलसियम आक्जेलेट उत्पन्न हो जाता है, जिस के कारण मूत्र लग कर आता है या उस में पथरी का निर्माण होने लगता है। मूत्र मार्ग में आक्जेलेट्स के विक्षोभ के रहने से स्वप्नदोष भी अधिक होता है। श्वेत खाण्ड के अति प्रयोग से युवावस्था में मुंह पर कीलें अधिक निकलती हैं । मुंह अधिक चिकना चिकना रहता है । खाण्ड के अधिक प्रयोग से बालों की जड़ों में चिकनापन भी रहता है तथा 'सेबोरिया' रोग या अरुंषिका रोग भी होता है । जिससे बाल गिरने लगते हैं । खाण्ड न खाने वालों के बाल ऐसे नहीं गिरते ।

खाण्ड के अति प्रयोग से दांतों में कीड़े लग जाने (*Caries*) या मसूड़ों के फूल जाने, पायोरिया रोग होने का भय भी रहता है । खाण्ड का अति सेवन करने से रक्त में 'एसिडिटी' बढ़ती है तथा उससे मांस में दर्द होने या आमवातिक शूल होने की आशंका भी रहती है । आमवात में खाण्ड को बन्द कर देने से लाभ होता है ।

अतः शरीर को स्वस्थ रखने के लिए खाण्ड का प्रयोग स्वल्प मात्रा में ही करना चाहिए । बालकों और युवकों को अधिक खाण्ड लेने की आदत से बचाना चाहिए । मुख के स्वाद के लिए शहद, मुनक्का, खजूर, सक्करीन आदि मीठों का प्रयोग किया जा सकता है । श्वेत चीनी की अपेक्षा तो गुड़ और लाल शक्कर भी बेहतर है। प्राचीन कालों में लोग इन्हीं का प्रयोग करते थे, तथा इसका कारण भी है कि इन में क्रिस्टेलाइन शूगर के साथ बहुत सा भाग नानक्रिस्टेलाइन शूगर का भी होता है जो अधिक सुपच है, तो भी साधारणतः सभी शर्कराओं का प्रयोग स्वल्प मात्रा में करना स्वास्थ्य के लिए हितकर प्रतीत होता है ।

## तमाखू सम्बन्धी स्वस्थवृत्त—

कुछ अन्वेषक लोग तमाखू को ही हार्ट अटैक का प्रधान कारण बताते है। वे कहते हैं, कि जो आदमी एक पैकेट भी सिगरेट रोज पी लेता है। उसे भी कुछ काल बाद हार्ट अटैक होने की आशंका रहती है।

तमाखू (निकोटिन) लेने से शरीर में 'एड्रिनलीन' की उत्पत्ति अधिक होती है। और उसके कारण रक्तवाहिनियों में संकोच की प्रवृत्ति होती है जिससे रक्तभार में वृद्धि होती है और इसके परिणाम स्वरूप हृदय में निर्बलता बढ़ती है। देखने में आता है कि हृदय प्रदेश पर दर्द की शिकायत सिगरेट-बीड़ी पीने से बढ़ती है। हृदय निर्बल हो तो आदमी को आक्सिजन अधिक चाहिए। परन्तु तमाखू के धुएं से उलटा उसे कार्बन मोनो ओक्साइड अधिक मिलता है।

तमाखू पीने से खांसी का रोग भी होता है। खांसी बनी रहे तो उसका तनाव बना रहने से श्वासनालियां तथा फेफड़े के वायु कोष्ठक (*Alveoli*) फैल जाते हैं और वायु से अधिक भरे रहते हैं जिसे 'एम्फाईसीमा' का रोग कहते हैं जिसमें फेफड़ों की 'वाइटलकपैसिटी' अर्थात् हवा को अन्दर लेने तथा बाहर फैंकने की शक्ति कम हो जाती है। इस रोग में फेफड़ों के अन्दर प्रेशर बढ़ा रहता है जिसके परिणामरूप में हृदय निर्बल हो जाता है। गर्भिणी स्त्री सिगरेट, बीड़ी पिए तो उसके गर्भस्थ बालक को भारी हानि पहुंचती है।

यह बात भी बहुत कुछ यथार्थ है कि श्वास-नालियों में होने वाले कैन्सर का प्रधान कारण तमाखू पीना है। मुख, जिह्वा, भोजननाली में होने वाले कैन्सर का प्रधान कारण तमाखू खाना है। इस प्रकार स्पष्ट है कि तमाखू मनुष्य के लिए एक संहारक विष है। तो भी देखने में आता है कि तमाखू पीने का व्यसन उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। जिन्होंने विद्यार्थियों को ध्यान से देखा है वे बताते हैं कि १८ वर्ष से नीचे के एक तिहाई युवक सिगरेट, बीड़ी पीते हैं। वे प्राय: शौकिया ही सिगरेट पीने लगते हैं। वे इसे एक शान या बड़प्पन का निशान समझते हैं। इस बात से वे सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं कि यह व्यसन कितने रोगों का कारण है। ना ही उन्हें यह पता होता है कि व्यसन एक वार गले पड़ जाए तो फिर यत्न करने पर भी नहीं उतरता। वे यह नहीं जानते कि दूसरी ओर मध्यमायु या बड़ी आयु के ऐसे सहस्रों लोग हैं जो तमाखू के रोगों से दु:खी होकर इसे छोड़ना चाहते हैं। पर इसके अभ्यस्त होने के कारण इसे छोड़ नहीं पा रहे। सिगरेट, बीड़ी छोड़ना कठिन है तो भी सहस्रों लोग इसे छोड़ने में लगे हैं। अमरीका में १९६६ से १९७० तक एक करोड़ तमाखू पीने वालों ने इसका परित्याग किया है। इधर प्रति वर्ष हजारों नवयुवक शौकिया ही इस व्यसन को अपने गले लगा रहे हैं। सिगरेट बीड़ी के आकर्षक विज्ञापन भी शायद इस वृद्धि का कारण हैं। एक चिकित्सक जब सिगरेट से अनेकों व्यक्तियों को कैन्सर, खांसी, एम्फाईसीमा, पैप्टिक-अलसर आदि से पीड़ित हुआ देखता है तो सहसा उसके मुख से निकल पड़ता है सिगरेट, बीड़ी के विज्ञापन देने वाले नहीं जानते कि वे कितने मासूम लोगों की हत्या का कारण बन रहे हैं।

## आहार सम्बन्धी स्वस्थवृत्त—

इतनी बात तो सर्वसम्मत प्रतीत होती है कि अल्प आहार लेने वाले अधिक आहार लेने वालों से, तथा प्राकृतिक आहार लेने वाले कृत्रिम आहार लेने वालों से अधिक स्वस्थ, चिरायु होते हैं। परन्तु आदर्श आहार क्या है इस विषय में अभी तक सर्वसम्मत मत नहीं मिला। कुछ विद्वान्

कहते हैं कि हार्ट अटैक, रक्तभारवृद्धि, एथिरोस्क्लरोसिस, जोड़ों की दर्द, मधुमेह आदि रोगों से बचने तथा चिरायु होने के लिए फलाहार सर्वश्रेष्ठ है। वे फलों, कच्ची सब्जियों और सूखे मेवों के प्रयोग का विधान करते हैं। फलाहार ही प्राकृतिक भोजन है।

कुछ प्राकृतिक चिकित्सक लोग उपर्युक्त फलाहार के साथ अपक्व अन्न का भी विधान करते हैं। इस श्रेणी के अपक्वाहारी लोग फलाहार के साथ-साथ जल में २-३ दिन रख कर अंकुरित किए गए अन्नों को उसमें नमक, शहद या गुड़ आदि मिला कर उस के लेने का भी विधान करते हैं। इन अपक्वाहारी लोगों का कथन है कि अपक्व फल अन्न आदि के अन्दर अनेक एन्जाइम्स तथा विटामिन्स आदि उपयोगी तत्व रहते हैं जो पकाने से नष्ट हो जाते हैं। इनके नष्ट हो जाने से ये देर से हजम होते हैं तथा अपक्व अन्न स्वयं जीवित होने से हमें जिस जीवन को प्रदान करते हैं पक्व अन्न मृत हो जाने से उस जीवन को प्रदान नहीं कर सकते। ये दोनों प्रकार के लोग अर्थात् फलाहारी और अपक्वाहारी दूध और घी का भी एथिरोस्क्लरोसिस, हृदयरोग, रक्तभारवृद्धि आदि रोगों का कारण होने से—निषेध करते हैं। इन के मत में प्रोटीन्स तथा फैट्स की प्राप्ति के लिए तिल, अखरोट, बादाम, मूंगफली आदि तेल और प्रोटीन्स वाले अपक्व भोजन पर्याप्त हैं।

कुछ लोग अपक्व दूध लेने का भी विधान करते हैं। ऐसे बहुत से लोग हैं जो पक्वाहार का ही विधान करते हैं वे कहते हैं कि मनुष्य सहस्रों वर्षों से पक्वाहार करता आ रहा है इसलिये अब पक्वाहार ही उसे अधिक अनुकूल पड़ता है।

इस प्रकार बहुत संम्भवतः अपक्वाहार तथा पक्वाहार दोनों का मिश्रण मनुष्य का आदर्श आहार प्रतीत होता है। एक ओर अपक्वाहार मनुष्य के लिए आवश्यक है, क्योंकि वे एन्जाइम्स तथा विटामिन्स प्रदान करते हैं, सुपच भी होते हैं। यह भी देखने में आता है कि जो मनुष्य विशेषतः अपक्वाहार पर रहते हैं वे श्रम करने पर भी जल्दी थकते नहीं। उनमें आलस्य बहुत कम होता है। उनको थोड़ी ही निद्रा पर्याप्त होती है। उन्हें मलबन्ध, जोड़ों में दर्द, पथरी, हृदय रोग, अलर्जी सूचक रोग, मधुमेह रोग नहीं होते। प्रत्युत ये रोग हों तो कुछ काल विशेषतः अपक्वाहार पर रहने से ये तथा अन्यान्य अनेक रोग अच्छे होने लगते हैं।

दूसरी ओर साधारण सिकी हुई रोटी, उबले हुए चावल, उबाल कर बनाई सब्जियां, हलका उबला हुआ दूध ये सब अग्निपक्व होने पर भी पेट को अधिक अनुकूल पड़ते हैं तथा पोषक भी हैं। अतः अपक्व और पक्व दोनों प्रकार के आहारों का मिश्रण मनुष्य का आदर्श आहार प्रतीत होता है। घृत, खाण्ड तथा इनके और मावे, मेदे, मिर्च मसालों आदि की सहायता से तल कर बनाए हुए नाना प्रकार के आहार कृत्रिम आहार कहाते हैं। ये सब आरोग्य के शत्रु और आयु को कम करने वाले हैं। जो मीठे फलों और मेवों को खा लेता है, उसे शर्करा की कोई आवश्यकता नहीं है। जो दूध पी लेता है उसे घृत की कोई आवश्यकता नहीं। घृत खाण्ड और अन्य कृत्रिम आहारों को एथिरोस्क्लरोसिस का प्रधान कारण होने से आदर्श आहार नहीं कहा जा सकता। घृत और खाण्ड ये आवश्यक भी नहीं हैं, ये केवल भोजन को रुचिकारक बनाने में सहायक होते हैं। इन का स्वल्प मात्रा में ही प्रयोग करना चाहिए। घृत के प्रयोग से रक्त में 'सेचुरेटेड फैटीएसिड्स' बढ़ते हैं और तिलतेल आदि तेलों के प्रयोग से

'अनसेचुरेटेड फैटीएसिड्स' रक्त में बढ़ते हैं। इस लिए हृदयरोग से बचने के लिए घृत की अपेक्षा तेल अधिक हितकर हैं। अतः सब्जी को तिल, सरसों, मूगफली आदि के तेल से रुचिकर बनाना अधिक अच्छा है। दूध से आवश्यक (असेंशियल) अमीनोएसिड्स मिलते हैं और उससे 'ए' तथा रिवोफ्लेविन विटामिन भी मिलते हैं, अतः उस का लेना जरूरी है। दूध कच्चा पिया जाए तो उसमें अनेक एन्जाइम्स भी मिलते हैं।

मांसाहार के विषय में परीक्षक लोग इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि कैन्सर का रोग जितना मांसाहारियों में होता है उससे बहुत कम शाकाहारियों में होता है। सुश्रुत ने बताया है कि—अत्यन्त मांसपरायण मनुष्य का मांस दूषित होने से मांसार्बुद होता है जो असाध्य होता है।

प्रदुष्टमांसस्य नरस्य बाढमेतद् भवेत् मांसपरायणस्य मांसार्बुदं त्वेतद् असाध्यमुक्तं। सु०नि० ११-१७

चबाने के विषय में यह जो कहा जाता है कि ठोस भोजनों को पीना चाहिए तथा द्रव-भोजनों को खाना चाहिए यह यथार्थ में ठीक है। बहुत से लोग जल्दी में भोजन को निगलते हैं उसे खाते या पीते नहीं। इससे उनकी आंत को अधिक कार्य करना पड़ता है। एक ग्रास को कम से कम बीस बार चबाना चाहिए तभी उसे पिया जा सकता है। नियत समय पर आहार लेने से शरीर का स्वास्थ्य अच्छा रहता है, ऐसा भी विद्वानों का मत है। चरक ने तो कहा है—

'काल भोजनमारोग्य कराणां श्रेष्ठम्' (सू०२५)

## व्यायाम सम्बन्धी स्वस्थवृत्त—

ऊपर कहा गया है कि आहार में इकाइयां अधिक लीजाएं और उनका खर्च शरीर में कम हो तो शेष इकाइयां शरीर में फैट या मेदा के रूप में जमा हो जाती हैं जिससे मेदोवृद्धि हो जाती है। शरीर के आदर्श भार से आदमी का भार अधिक हो तो जान लेना चाहिए कि मेदोवृद्धि हो गई है। साधारणतया ३५-४० वर्ष की आयु में सामान्य ऊंचाई के आदमी का भार एक मन बीस-पचीस सेर से अधिक नहीं होना चाहिए। इससे अधिक हो तो सावधान हो जाना चाहिए तथा व्यायाम के द्वारा उसे कम करना चाहिए। क्योंकि घृत दूध और खाण्ड ये अधिक कैलोरीज देने वाले भोजन हैं, इनकी मात्रा कम कर देनी चाहिए। साधारणतया लोग २५-३० सौ कैलोरीज का भोजन प्रतिदिन करते हैं इनमें से २० सौ कैलोरीज तो दैनिक कार्यों में खर्च हो जाती हैं शेष कैलोरीज खर्च करने के लिए मनुष्य को व्यायाम करना आवश्यक है। एक उठक-बैठक में एक कैलोरीज खर्च होती है। एक मील समतल भूमी पर धीरे-धीरे चलने से ५० कैलोरीज खर्च होती हैं। आधा घण्टा साधारण व्यायाम करने से १०० कैलोरीज खर्च होती हैं। अतः साधारण भोजन करने वाले व्यक्ति को दिन में एक समय ४ मील का भ्रमण तथा दिन में एक बार आधा घण्टा व्यायाम करना आवश्यक है।

वर्तमान काल में सवारी गाड़ियों के बढ़ जाने से चलने फिरने का काम कम रह गया है। पहले जो काम बाहुओं द्वारा होते थे वे अब यन्त्रों द्वारा होने लगे हैं, जिससे बाहुओं का श्रम भी कम हो गया है। इस प्रकार वर्तमान काल का व्यक्ति प्राचीन काल के व्यक्ति की अपेक्षा बहुत कम श्रम करता है। दूसरी ओर, पहले कालों में आहार अधिक सादा था अब वह अधिक कृत्रिम हो गया है। इसी कारण हृदय रोग आदि अनेक रोगों में वृद्धि हुई है।

जंघाओं तथा बाहुओं में ही शरीर की बड़ी-बड़ी मांस पेशियां हैं, इनकी व्यायाम से इनकी मांस

पेशियां संकुचित होती हैं। उनके संकुचित होने से इनकी रक्तवाहिनियां भी संकुचित होती हैं तो रक्तप्रवाह में हृदय को सहायता मिल जाती है। इस प्रकार व्यायाम से हृदय की सहायता ही होती है। हृदय स्वयं मांस है। व्ययाम से जब शरीर के मांस बलवान् होते हैं तब हृदय भी बलवान् होता है।

ग्रीवा की व्यायाम से मस्तिष्क को अधिक रक्त मिलता है, जिससे मस्तिष्क रोगों से बचाव होता है। दोनों हाथों और बाहुओं के सहारे लटकने से रीढ़ की हड्डी के रोगों से बचाव होता है।

गहरे श्वास तथा दीर्घ उच्छ्वास लेने से फेफड़ों को अधिक आक्सिजन मिलती है, जिससे उसमें होने वाले श्वास रोग तथा 'एम्फाई सीमा' से बचाव होता है और यदि ये रोग हों तो इन में लाभ होता है।

साधारणतः आदमी छोटे-छोटे श्वास लेता है एक मिनट में १७-१८ बार लेता है। यदि आदमी कन्धों को पीछे की ओर रखे, एक मिनट में केवल ८-१० श्वास ले और उच्छ्वास को भी दीर्घ कर दे और हर समय इसी तरह गहरे श्वास और दीर्घ उच्छ्वास ले तो उसे अपनी शक्ति बढ़ी हुई मालूम होगी, भार उठाने तथा ऊपर की ओर चढ़ने में थकावट नहीं होगी। ऐसा अभ्यास डालने के लिए प्रारम्भ में वह चार तक गिन कर अन्दर श्वास ले और दस तक गिनकर श्वास को बाहर फैंके तो फिर गहरे श्वास प्रश्वास लेने की आदत पड़ जाती है।

इस प्रकार व्यायाम तथा गहरे श्वास प्रश्वास लेने से शरीर में बढ़ी हुई मेदा 'आक्सिडाइज' हो जाती है और हृदयरोग, रक्तभारवृद्धि, मधुमेह, आस्टियोआर्थाइटिस आदि रोगों से रक्षा होती है। कहा भी है--

(क) व्यायामः स्थैर्यकराणां श्रेष्ठः।
(च०सू०अ० २५)।

(ख) आरोग्यं चापि परमं व्यायामाद् उपजायते,
न च व्यायामिनं शीघ्रं जरा समधिरोहति।
( सु०चि० ४ )

## मानसिक स्वस्थवृत्त--

अशान्ति, क्रोध, कलह, आवेशपूर्ण वादविवाद, अत्युच्चभाषण, और हर प्रकार का तनाव, हृदय, रक्तवाहिनियों और मस्तिष्क के लिए घातक होता है। कारण कि ऐसे आवेशों के समय एड्रिनलीन (फैटकन्ट्रोलिङ हारमोन्स) की अधिक निकासी होने लगती है जिससे रक्तवाहिनियों में संकोच बढ़ता है, रक्तभार बढ़ जाता है, हृदय निर्बल हो जाता है। रक्त के अन्दर 'फैटीएसिड्स' की वृद्धि हो जाती है। 'एथिरोस्क्लरोसिस' के लिए स्थिति अनुकूल बन जाती है। इसीलिए बहुत से लोग हृदयरोग का प्रधान कारण क्रोध तथा मानसिक अशान्ति को मानते हैं। अतः जो स्वस्थ रहना चाहता है उसे क्रोध, कलह, तथा हर प्रकार के आवेश से बचकर प्रसन्नबदन और परिहासशील रहने का यत्न करना चाहिए।

यह ठीक है कि संसार क्लेश प्रधान है, जीवन संघर्ष और समस्या प्रधान है। हरक्षण विघ्न-बाधाएं और चुनौतियां मनुष्य के सामने आ खड़ी होती हैं। जिधर दृष्टि डालो उधर हलका या भारी तूफान दृष्टिगत होता है। किसी परिवार, संगठन, संस्था व समाज को पास से देखो तो उसमें कुछ न कुछ अशान्ति का वातावरण मिलता है। सर्वत्र अशान्ति के चिन्ह देखने में आते हैं। कारण कि संसार में दुर्जन बहुत हैं जो दूसरों को दुःख देने का काम करते हैं। परन्तु वह जीवन क्या जीवन है जिसमें किसी दुर्जन का कष्ट

अथवा समस्या का सामना न करना पड़े। जीवन वही असली जीवन है जिसमें कदम-कदम पर कठिनाइयां और चुनौतियां आएं और मनुष्य दबे नहीं उनका बहादुरी के साथ सामना करे। दूसरे की दुर्जनता को अपनी सज्जनता से, दूसरे के बैर विरोध को शान्ति से और दूसरे के अपमान को सहिष्णुता से जीते। संसार में वही स्वस्थ और चिरायु रह सकता है जो विपरीत अवस्थाओं में भी शान्त सहिष्णु और अविक्षुब्ध रहे। अतः हर हालत में अपने को शान्त रखने का अभ्यास डालना चाहिए। कहा भी है--

अत्यादानात्, काम-क्रोध मानद्वेष पारुष्य भयशोक चिन्तोद्वेगात् अयथाग्न्यभ्यवहरणादायुषो-ह्रासः। (च०वि० ३)।

हितोपचारमूलं जीवितम्। (च० वि० ३)।

## वृद्धोचित स्वस्थवृत्त--

आयु के १०वें वर्ष तक बाल्यकाल समाप्त हो जाता है। २०वें वर्ष तक युवावस्था समाप्त हो जाती है। ३०वें वर्ष तक जितना बल बढ़ना होता है वह बढ़ लेता है। ४०वें वर्ष तक जितनी बुद्धि या मस्तिष्क की ग्रहण शक्ति बढ़नी होती है वह बढ़ लेती है। ३० से ४०वें वर्ष तक कोई व्यक्ति अपने परम उत्कर्ष पर होता है अर्थात् अपने बल बुद्धि की सीमा पर होता है। अब ४०वें वर्ष के बाद शरीर तथा मस्तिष्क दोनों में क्रमशः ह्रास व (इनवोल्यूशन) की प्रक्रिया आरंभ होने लगती है। दृष्टि शक्ति तो जितनी १० वर्ष की आयु तक होती है उतनी बाद में नहीं रहती, वह तभी से कुछ-कुछ घटने लगती है। श्रवण-शक्ति जितनी २० वर्ष की आयु तक होती है उतनी बाद में नहीं रहती, वह तभी से कुछ-कुछ घटने लगती है। परन्तु शरीर व्यापक ह्रास की प्रक्रिया ४० वर्ष के बाद ही आरम्भ होती है।

इतनी प्रकृति की कृपा है कि ज्ञान, बुद्धि और विवेक की शक्ति ६० वर्ष की आयु तक भी बनी रहती है। ६० वर्ष की आयु के बाद ८० वर्ष की आयु तक इन में भी क्रमिक ह्रास होता जाता है। स्मृति शक्ति पहले जाती है, ज्ञान और विवेक की शक्ति फिर भी बनी रहती है। मानसिक सृजन या उच्च विचारों को उत्पन्न करने की शक्ति ८० वर्ष की आयु तक भी बनी रहती है।

कथन का आशय यह है कि वृद्धावस्था ४०-४५ वर्ष के आसपास आरम्भ हो जाती है। इस आयु के बाद होने वाले ह्रास (इनवोल्यूशन) का अभिप्राय यह है कि शरीर के बनाने वाले प्रधान अंगों के सेलों की संख्या में उत्तरोत्तर कमी होने लगती है। पहले जिस काम को अधिक सेल करते थे, अब थोडे ही सेलों को वह काम करना होता है। इसे ग्रेजुअल 'अट्रोफिक डिजनरेशन' का सिद्धांत कह सकते हैं।

अंगों के सेलों में कमी हो जाने का कारण उनको पोषण पहुंचाने वाली धमनियों की दीवारों का कठोर तथा स्थूल हो जाना है। धमनियों की दीवार में फैट बैठती जाती है, फिर उस में 'फाइब्रोसिस' तथा 'कैल्सिफिकेशन' की प्रक्रिया होकर दीवारें कठोर हो जाती हैं। उनकी मृदुता या लचक घट जाती है। जिससे अंगों को पूरा रक्त नहीं मिल पाता। इस प्रकार 'एथिरोस्क्लरोसिस' वृद्धावस्था का प्रधान कारण है। मेदोवृद्धि, तमाखू आदि विषों के सेवन, मानसिक आवेशों और रक्त में 'सेचुरेटड्फैटीएसिड्स' की वृद्धि से 'एथिरोस्क्लरोसिस' की उत्पत्ति प्रतीत होती है। जान्तव आहारों और स्नेहों के सेवन से इस में वृद्धि होती है तथा वानस्पतिक स्नेहों फलों, सब्जियों और मेवों के सेवन से इस में कमी होती है। फलों, कच्ची सब्जियों, मेवों पर

रहने वाले लोगों में एथिरोस्क्लिरोसिस की प्रक्रिया वैसे नहीं होती जैसे मांस, अण्डा, खाण्ड, घृत, मक्खन, अन्न पर रहने वालों में होती है। फलों और कच्ची सब्जियों के रसों में मनुष्य को वे सब तत्व मिल जाते हैं जो शरीर की रक्षा के लिए आवश्यक हैं। उदाहरणत: सेब एक छटांक में लोहा १ मिलिग्राम, फोस्फोरस ४ मि.ग्रा., कैल्सियम २ मिलिग्राम होता है। उसमें विटामिन 'ए' ३६ यूनिट्स, विटामिन 'बी-१' १२ यूनिट तथा विटामिन 'सी' ५ मिलिग्राम की मात्रा में भी होते हैं। कच्चे टमाटर १ छटांक में लोहा २ मिलिग्राम, फोस्फोरस १२ मिलिग्राम, कैल्सियम ७ मि०ग्राम, विटामिन 'ए' ५०० यूनिट, बिटामिन 'बी-१' ४० यूनिट, विटामिन 'सी' १० मि० ग्राम मात्रा में होते हैं। केले १ छटांक में लोहा २ मि०ग्राम, फोस्फोरस १४ मिलिग्राम, कैल्सियम ३ मि०ग्राम, विटामिन 'ए' १५० यूनिटस, वि० 'बी-१' १० यूनिट, वि० 'सी' ५ मि०ग्रा० होता है। सन्तरा १ छटांक में लोहा ·१५ मिलिग्राम, फोस्फोरस १० मिलिग्राम, कैल्सियम २० मिलिग्राम, वि० 'ए' ३६ यूनिट, वि० 'सी' २४ मि० ग्राम होता है। इसी प्रकार अंगूर १ छटांक में लोहा ·२ मि०ग्राम, फोस्फोरस १० मि०लि०, कैल्सियम ९ मि०ग्राम, वि० 'ए' २४ यूनिट तथा वि० 'सी' १॥ मिलि० होता है। इसी प्रकार किशमिश मुनक्के आदि मीठे मेवों से ग्लूकोज, कैल्सियम, फोस्फोरस, लोहा आदि पर्याप्त मात्रा में मनुष्य को मिल जाते हैं। बादाम, अखरोट, मूंगफली आदि से मनुष्य को प्रोटीन्स और फैट्स पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। गाजर, मूली, शलगम, पालक, बन्दगोभी, अदरक आदि कच्ची सब्जियों के रस में भी मनुष्य को जीवन तथा आरोग्य देने वाले तत्व मिलते हैं। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है जो लोग अन्न को कम करके फलों, सब्जियों, मेवों पर रहते हैं उनमें अथिरोस्क्लिरोसिस की प्रक्रिया नहीं होती। इस लिए यह लोकोक्ति सत्य ही प्रतीत होती है कि 'two apples a day keep the heart attack at boy.' अर्थात् दो सेव रोज ले लिए जाएं तो हार्ट अटैक नहीं होता। देखने में आता है कि जो जातियां जंगलों में रहती हैं, फलाहार पर अधिक निर्वाह करती हैं, उनमें अधिक चिरायु लोग पाए जाते हैं। जो लोग पर्वतों, जंगलों में रहते हैं, चलते फिरते रहते हैं, शारीरिक श्रम करते हैं, वे भी अधिक चिरायु होते हैं। दूसरी ओर कृत्रिम आहार लेने वाले मेदस्वी लोग चिरायु नहीं होते, इकहरे शरीर के लोग ही चिरायु होते हैं। स्थूल काय के स्त्री पुरुष ६५-७० वर्ष की आयु से पहले ही असमर्थ एवं रुग्ण हो जाते हैं। बड़ी आयु के व्यक्तियों में कोई भी स्थूल शरीर का नहीं मिलता। अतः फलाहार के अतिरिक्त न्यून आहार और शारीरिक श्रम भी आयुवर्धक हैं।

वृद्धावस्था के सारे लक्षण जैसे त्वचा का पतला हो जाना, बालों का कम हो जाना तथा निर्वर्ण हो जाना, आंख के लेन्स का कठोर हो जाना जिससे पढ़ने में कठिनता हो जाना, पाचन-शक्ति निर्बल हो जाना, अस्थियों में कैल्सियम कम हो जाना, भंगुर हो जाना, मस्तिष्क यकृत आदि का छोटा हो जाना, शरीर की सर्व रासायनिक तथा भौतिक क्रियाओं का मन्द हो जाना यह सब एथिरोस्क्लिरोसिस के कारण होता है। उसके रोकने या कम करने के उपाय ही वृद्धावस्था को रोक सकते हैं। बहुत से विद्वानों का मत है कि विटामिन 'ए' व 'सी' तथा रिबोफ्लेवीन के अतिरिक्त कैल्सियम, लोहा, फोस्फोरस, आयोडीन (काडलिवर आयल या आयोडाइज्ड टेबल साल्ट) आदि तत्वों से युक्त आहारों के लेने तथा अनसेचुरेटड् फैटीएसिड्स के प्रयोग तथा प्रतिदिन कुछ

मील भ्रमण और मन्द व्यायाम से एथिरोस्क्लिरोसिस की प्रक्रिया को रोका जा सकता या हलका किया जा सकता है। चरक ने 'क्षीरं जीवनीयानां श्रेष्टम् तथा गोक्षीरं क्षीराणां श्रेष्ठम्' (सूत्र २५) कह कर क्षीर को आयुवर्धक कहा है। दूध में वे सभी तत्व हैं जो जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक हैं। उदाहणतः गाय के एक प्याले दूध में लोहा ३ मिलिग्राम, फोस्फोरस ९५ मिलिग्राम, कैल्सियम १२० मिलिग्राम, विटामिन 'ए' १६० यूनिट, विटामिन बी-१ ३० यूनिट, तथा विटामिन 'सी' २।। मिलि० होता है। उसमें रिबोफ्लेवीन भी होता है।

वृद्धावस्था में घृत या मक्खन हितकर है या नहीं इसमें मत भेद है। चरक ने 'क्षीरघृताभ्यासो रसायनानां श्रेष्ठम्' ऐसा कहा है तथा सुश्रुत ने मधुघृताभ्यास को वृद्धावस्था के लिए हितकर कहा है। परन्तु वर्तमान परीक्षक लोग इसे सेचुरेटड फैटीएसिड्स उत्पन्न करने वाला होने से 'एथिरोस्क्लिरोसिस' का कारण बताते हैं। इस लिए उचित यही प्रतीत होता है कि बड़ी आयु में जो लोग गाय का दूध लेते हैं वे घृत का सेवन बहुत ही कम करें। क्योंकि दूध से उन्हें घृत की उचित मात्रा मिल जाती है।

६५-७० वर्ष की आयु के बाद जो दिन भर किसी न किसी कार्य में रत रहते हैं वे दिन भर बेकार रहने वाले वृद्ध लोगों से अधिक चिरायु होते हैं। जो शान्ति से दिन भर किसी शारीरिक या मानसिक कार्य में रत रहते हैं वे उन वृद्ध लोगों से कि जो राजनीतिक या सामाजिक संघर्ष में लगे रहते हैं उनसे अधिक चिरायु होते हैं। अतः वृद्ध व्यक्ति को हर प्रकार के संघर्षमय जीवन से बचना चाहिए।

## जल सम्बन्धी स्वस्थवृत्त--

शरीर का ६५-७५ प्रति शतक भार जल है। अतः मनुष्य को जल पर्याप्त मात्रा में पीना चाहिए। जल अधिक लेने से मल-मूत्र स्वेद खुलकर आते हैं तथा मलबन्ध तथा पथरी होने का भय नहीं रहता।

आंत में पाए जाने वाले कृमि, जिआर्डिआडिसेंट्री, टायफायड, कालेरा आदि रोग जल से फैलते हैं। अतः जल पीने में बड़ी सावधानता बरतनी चाहिए। परदेश में या यात्रा में जल पीना हो तो केवल पाइप का जल लें या उसे उबाल कर लें। वर्तमान काल में पुरानी डिसेन्ट्री का रोग बहुत अधिक फैला हुआ है। अतः बाजारी भोजन लेना भी खतरे से खाली नहीं है।

## वायु सम्बन्धी स्वस्थवृत्त--

मनुष्य का आरोग्य आक्सिजन पर निर्भर है जो खुली हवा में ही मिलती है। इसलिए मनुष्य को सदा खुली हवा में रहने का यत्न करना चाहिए। चाहे कितनी सर्दी हो रात को कमरे का दरवाजा तथा ऊपर के रोशन दान खुले रखने चाहिए। जिनको श्वास रोग, 'एम्फाईसीमा' या फेफड़े का कोई दूसरा रोग है उन्हें भीड़भाड़ से तथा सिनेमागृहों में जाने से बचना चाहिए।

ट्रकों तथा बसों के पेट्रोल इञ्जन तथा विशेषतः डीजल इंजन से जो धुआं निकलता है, उससे शहरों की हवा दूषित हो जाती है, क्योंकि इनके धुएं में एक तो कार्वनमौनोआक्साइड तथा लैडकम्पौण्ड होते हैं जो शरीर पर बिषैला प्रभाव करते हैं। ट्रकों तथा बसों के 'फूअलपम्प' (Fuel pump) तथा 'इंजैक्टर्स' (Injectors) जब ठीक नहीं होते तभी धुआँ अधिक होता है। अतः इनकी मशीनों का चैकिंग ठीक हो तो शहरों

को इस विषैले धुएं के दुष्प्रभाव से बचाया जा सकता है।

शहरों में जो अनावश्यक शोरशराबा या कोलाहल होता है उसका भी शहरियों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः म्युनिसपैलिटी का काम है कि वह शहरों में होने वाले कोलाहल को कम करे। एक तो इससे लोगों की श्रवण-शक्ति मन्द होती है, दूसरे इससे लोगों का नाड़ी-मण्डल अधिक विक्षुब्ध रहने के कारण निर्बल हो जाता है, जिससे शोरशराबे में रहने वाले आदमी की कार्य करने तथा विचारने की शक्ति कम हो जाती है, कोलाहल में रहने से शरीर का रक्तभार भी गिर जाता है। रात को १० बजे के बाद प्रातः ४ बजे तक तो हर तरह के कोलाहल को रोकना चाहिए, अन्यथा निद्रा में विघ्न पड़ने से लोगों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

**प्रजनन सम्बन्धी स्वस्थवृत्त--**

मनुष्य की प्रजननशक्ति एक दिव्य शक्ति है। यह संसार को महापुरुषों के रूप में नाना-विभूतियां प्रदान करती है। मनुष्य में यह शक्ति भगवान का प्रतीक है क्योंकि वे संसार भर के उत्पन्न करने वाले हैं। तभी तो भगवान् ने कहा है कि– "धर्माविरुद्धः कामोऽस्मिभूतेषु भरतर्षभ" (गीता) हे अर्जुन मनुष्य में जो धर्मानुकूल काम है, वह मैं ही हूं। इसलिए मनुष्य को भगवान् की दी हुई इस शक्ति का सदुपयोग करना चाहिए, दुरुपयोग नहीं।

यह शक्ति मनुष्य में १६ वर्ष की आयु से ६०-६५ वर्ष की आयु तक रहती है तथापि २०-२२ वर्ष की आयु तक शरीर और मन की वृद्धि का काल है, इसमें इस शक्ति का खर्च करना शरीर पर कुठाराधात करना है, तथा उधर ४० वर्ष की आयु के बाद या अधिक से अधिक ४५ वर्ष की आयु के बाद जबकि शरीर में ह्रास की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है, इस शक्ति का प्रयोग करना वृद्धावस्था को निमन्त्रण देना है। उच्चविचार रखने वाले पुरुष इस आयु के बाद स्त्री प्रसंग नहीं करते और विचारशील स्त्री भी अपनी ४० वर्ष की आयु के बाद सन्तान होने की अभिलाषा नहीं रखती। असली ब्रह्मचर्य २०-२५ बर्ष की आयु से पहले तथा ४० वर्ष की आयु के बाद प्रजननशक्ति को वश में रखना है। चरक ने कहा है–ब्रह्मचर्य-मायुष्यकराणां भावानां श्रेष्ठम् (सू० २५) अर्थात् जितने भाव आयु की रक्षा करने वाले हैं उनमें ब्रह्मचर्य सर्व प्रधान है।

**आयुवर्धक द्रव्य–**

परीक्षक लोग बताते हैं कि विटामिन्स आयुवर्धक होते हैं, विशेषतः विटामिन 'ए' विटामिन 'बी' कम्प्लेक्स तथा विटामिन 'सी' आयुवर्धक हैं। विटामिन 'ए' जो दूध, हरीसब्जियों तथा गाजर से मिलता है नेत्रों, आंत और श्वास-नालियों की अन्दर झिल्ली को जीवन प्रदान करता है। अस्थियों की वृद्धि में भी सहायक होता है। इस प्रकार यह एक आयुष्यवर्धक तत्व है।

विटामिन 'बी' कम्प्लेक्स में विद्यमान कुछ विटामिन 'कोएन्जाइम' या 'एन्जाइमएक्टिवेटर' होते हैं अर्थात् विटामिन 'बी' ग्रुप के तत्व सेलों के अन्दर ग्लूकोज के पचन में सहायक होते हैं। ये मस्तिष्क तथा नाड़ियों या नर्व की शक्ति के वर्धक होते हैं इसीलिए ये आयुवर्धक होते हैं। ये अनाज, हरीसब्जियों तथा दूध से प्राप्त होते हैं, विटामिन 'सी' सेलों के बीच-बीच में विद्यमान स्नायुतन्तु या कनेक्टिवटिशू के पोषण के लिए आवश्यक होता है। इस प्रकार वह स्वास्थ्य तथा आयु का रक्षक होता है। यह फलों तथा कच्ची सब्जियों के रस से प्राप्त होता है।

चरक ने 'क्षीरं जीवनीयानां श्रेष्ठम्' तथा गोक्षीरं क्षीराणाम् श्रेष्ठम् (सूत्र २५) ऐसा कहा है अर्थात् जीवन देने वाले द्रव्यों में दूध सर्व श्रेष्ठ है। सम्भवतः इसलिए कि उसमें विटामिन 'ए' तथा विटामिन 'बी' दोनों विशेष पाए जाते हैं।

चरक ने जो जीवनीय या जीवनवर्धक औषधियां गिनाई हैं उनमें मुद्गपर्णी, माषपर्णी, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, जीवन्ती तथा मुलहटी का भी उल्लेख किया है।

चरक ने वयःस्थापक औषधियों में गिलोय, हरड़, आंवला, जीवन्ती, मण्डूकपर्णी, शालिपर्णी, रास्ना और पुनर्नवा का उल्लेख किया है तथा ऐसा कहा है कि 'आमलकं वयः स्थापनानां श्रेष्ठम्' अर्थात् वयः स्थापक औषधियों में आंवला सर्वश्रेष्ठ है। इसीलिए हृदय रोग से बचने के लिए आमलकी रसायन (आंवले के चूर्ण को आमलको स्वरस की २१ भावना) त्रिफला रसायन (त्रिफला, मुलहटी, वंशलोचन, पिप्पली समान)। च्यवनप्राश आदि का घृत मधु के साथ प्रयोग किया जाता है। आयुर्वेद में आयुष्य की रक्षा के लिए जीवनीय द्रव्यों, या ब्राह्मी या वृद्धदारू या शिलाजीत से बनी औषधियों का भी प्रयोग किया जाता है। चरक ने जीवनीयघृत (चि० २९) का इसके लिए विधान किया है।

आयु को यत्न से बढ़ाया जा सकता है या नहीं इस विषय में चरक का मत यही है कि आयु: पुरुष कार सपेक्षते' या 'आयुर्युक्ति सपेक्षते' आयु को पुरुषार्थ और युक्ति से दीर्घ किया जा सकता है। माता पिता से प्राप्त प्रकृति चाहे कितनी भी निर्बल हो अर्थात मनुष्य जन्म से दुर्बल भी होतो भी यदि वह आहार व्यवहार, जागरण निद्रा व्यायाम विश्राम आदि में पूरी सावधानी बरतता है, और स्वास्थ्य के नियमों का पालन करें तो वह भी दीर्घायु हो सकता है। कुछ ८० वर्ष की आयु में भी श्रम से थकते नहीं, दूसरे ६०-६५ वर्ष की आयु में ही असमर्थ से हो जाते हैं। इससे पता लगता है वृद्धावस्था आदमी को नहीं मारती जितना रोग मारता है और रोगों को उपाय से रोका जा सकता है। अतः आयु युक्ति और पुरुषार्थ पर निर्भर है, दैव पर नहीं।

आयुर्वेद कालेज, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, के पंचम वर्ष के छात्रों के मध्य आचार्य धर्मदत्त वैद्य (१९७०)

# उपशय : आयुर्वेदीय विहंगम दृष्टि

श्री अम्बिकादत्त मिश्रः, आयुर्वेदाचार्य, जामनगर आयुर्वेद विश्वविद्यालय, (गुजरात)

उपशय-लक्षण--

जिस औषध-अन्न-विहार के उपयोग से रोग-रूपी दुःख से निवृत्ति हो, वह उपशय कहाता है१।

उपशय की परिभाषा--

औषध अथवा अन्न अथवा विहार एकाकी, द्वन्द्व अथवा समस्त रूप में प्रयोग करने पर उत्तर काल में सुख की प्राप्ति अर्थात् दुःखरूपी रोग से निवृत्ति कराता है, वह उपशय कहाता है। इसे व्याध्युपशय भी कहा जाता है२।

गूढ़लिंग व्याधियों के सम्यक् निदानार्थ-रोग निदानार्थ उपशय के छह मुख्यतः और उसके अवान्तर १८ भेद बताये गये हैं। उन सभी भेदों का निर्देश शास्त्र में निम्न प्रकार है :--

(१) हेतु विपरीत औषध।
(२) हेतुविपरीत अन्न।
(३) हेतुविपरीत विहार।
(४) व्याधि विपरीत औषध।
(५) व्याधि विपरीत अन्न।
(६) व्याधि विपरीत विहार।
(७) हेतु व्याधि विपरीत औषध।
(८) हेतु व्याधि विपरीत अन्न।
(९) हेतु व्याधि विपरीत विहार।
(१०) हेतु विपरीतार्थकारी औषध।
(११) हेतुविपरीतार्थकारी अन्न।
(१२) हेतुविपरीतार्थकारी विहार।
(१३) व्याधि विपरीतार्थकारी औषध।
(१४) व्याधि विपरीतार्थकारी अन्न।
(१५) व्याधि विपरीतार्थकारी विहार।
(१६) हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी औषध।
(१७) हेतुव्याधि विपरीतार्थकारी अन्न।
(१८) हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी विहार।३

(१) हेतु विपरीत औषध--

यदि शीतदेश में व्याधि उत्पन्न हुई है, तो रोगी को उष्ण देश में अवस्थान करना चाहिये४। श्रम से उत्पन्न ज्वर में श्रमहर द्राक्षादि का प्रयोग करना चाहिये ५। यदि शीत कारण से कफ-ज्वर की उत्पत्ति हुई हो तो शुण्ठी आदि उष्ण द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये६।

(२) हेतु विपरीत अन्न--

यदि परिश्रम करने से वृद्ध वात के द्वारा वातिक ज्वर उत्पत्ति हुई हो तो मांसरस और ओदन

---

१ (क) औषधान्न विहाराणामुपयोगं सुखावहम्। विद्यादुपशयं व्याधेः। अ.हृ.नि.?
(ख) सुखा वहमिति सुखरोग निवृत्ति लक्षणम्।
(ग) एवंविधा ये औषधान्नविहार भेषजाहाराः तेषामुपयोगम् आचरणं सुखावहं सुखकरं उपशयं विद्यात्–उपशयाख्यं जानीयात्–व्याधेः। मधुकोषः।
घ–उपयोगः सुखानुवन्धः। च.नि.१ सुखानुवन्धः इति सुखरूपोऽनुवन्धः अनुवन्धश्च सुख कारण मित्यर्थः। च.नि.१ चक्रः।

२ औषधस्य वा अन्नस्य वा विहारस्य द्वन्द्वस्य समुदयस्य वा सुखानुवन्धः उपयोगः उत्तरकालं सुखं वध्नाति यः उपयोगः स उपशयः। च. वि. ४। गंगाधरः।

३ हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थ कारिणां चौषधाहार विहाराणाम्–उपयोगः (च.नि.१)

४ तत्रशीतदेशे जातस्य व्याधेरूष्णदेशेद्रवस्थानम्। उष्णदेशेजातस्य शीतेदेशेऽवस्थानमित्येवमुपयोगः।

५ श्रमजे ज्वरादौश्रमहरं द्राक्षादिदशकं औषधम् (च.नि.१ गंगाधरः)

६ शीतकफजे ज्वरे शुण्ठ्यादि उष्णं भेषजम् (च.नि.१ गंगाधरः)

का सेवन आवश्यक होता है१।

(३) हेतुविपरीत विहार--

शास्त्र में दिवाशयन स्निग्धगुणभूयिष्ठ कफ का वर्धक माना गया है। अगर इस प्रकार से वृद्ध कफ के द्वारा कफ ज्वर उत्पन्न हुआ हो तो स्निग्धगुण दिवाशयन के विपरीत रूक्ष गुणात्मक रात्रि जागरण करना चाहिये२।

(४) व्याधि विपरीत औषध--

यथा-अतिसार में स्तम्भन कारक पाठादि। विषाक्त शरीर में शिरीष, कुष्ठ रोग में खदिर एवं प्रमेह रोग में हरिद्रा का प्रयोग३।

(५) व्याधि विपरीत अन्नः--

आचार्य गंगाधर जी ने अतिसार रोग की अवस्था में स्तम्भन कारक मसूर के यूषादि का उदाहरण दिया है।४

(६) व्याधि विपरीत विहारः--

आचार्य ने उदावर्त रोग में प्रवाहण का उपदेश किया है।५ उदावर्त रोग में अपान का अवरोध और विलोम गति होकर अन्त्रों में इतस्ततः घूमना होता है। अतः प्रवाहण रूप विहार के द्वारा विलोमित वायु अनुलोमन गति प्राप्त करता है और रोग की शान्ति हो जाती है।

(७) हेतु व्याधि विपरीत औषध--

यदि शीत हेतु से वृद्ध वात की उत्पत्ति होकर शोथोत्पत्ति हुई हो, तो शीत के विपरीत उष्ण गुण वाला वातशोथ नाशक द्रव्य दशमूल या तद्वद् द्रव्य का प्रयोग करना चाहिए।६

(८) हेतु व्याधि विपरीत अन्न--

शीत कारण से वृद्ध वातजन्य ज्वर में उष्ण गुणात्मक और प्रभावत्वात् ज्वरहर यवागू का प्रयोग करना चाहिये, इसी प्रकार वातकफजग्रहणी रोग में वातकफ और ग्रहणीरोग हर तक्र का प्रयोग आवश्यक होता है।७

(९) हेतुव्याधि विपरीत विहार--

स्निग्धगुणभूयिष्ठ दिवास्वप्न से प्रवृद्ध श्लेष्मा-जन्य तन्द्रा की अवस्था में रूक्ष रात्रिजागरणरूप विहार का सेवन।८

उपशय का हेतुव्याधि विपर्यस्तार्थकारी भेद अपना विशिष्ठ महत्व रखता है। इस अवस्था में प्रयुज्यमान औषध-अन्न-विहार एकाकी अथवा समस्त रूप में हेतु और व्याधि के उत्पादक के समान ही भासमान होते हैं,परन्तु उनका कार्य निदान और व्याधि की वृद्धि में सहायक रूप न होकर हेतु और व्याधि के शामक ही होते हैं।९ शास्त्र में निर्देशित

---

१ श्रमजायामनिल वृद्धौ श्रमजे ज्वरे वा रसौदनः (च. नि.,गंगाधर, चक्रः)।

२ स्निग्ध दिवानिद्राजायां कफवृद्धौ तज्जे च ज्वरे रात्रि जागरणं रूक्षं दिवानिद्रा विपरीतम् (च. नि. १ गंगाधर, चक्रः)

१ अतिसारेस्तम्भनं पाठादि, विषे शिरीषः, कुष्ठे खदिरः प्रमेहे हरिद्रा (गंगाधरः)

२ अतिसारे स्तम्भनं मसूर यूषादि। (गंगाधरः)

३ उदावर्ते प्रवाहणम् (गंगाधरः)

४ शीतगुणतो वृद्धवातशोथे दशमूल उष्णं शीत-हेतु विपरीतं वातशोथ विपरीतं च।

५ शीत निमित्त वृद्ध वातेन ज्वरे यवागू उष्णा ज्वरघ्नी च। उष्ण वीर्यत्वात् वातंहन्ति प्रभावाज्ज्वरं च। मधुकोषः।

६ स्निग्ध दिवास्वप्नजायां कफ वृद्धौतज्जायां तन्द्रायां च तदुभय विपरीतं रूक्षं रात्रि जाग-रणम् (गंगाधरः)।

९ निदानरोगयोर्व्यस्त समस्तयोः विपरीताऽपि कारणरूपाइव भासमाना व्याधिरूपाइव भास-माना हेतु व्याधि विपरीताणामर्थं व्याध्यु-पशम लक्षणं कुर्वन्ति (आ. दर्पणटीका)

विपरीतार्थकारी औषध-अन्न-विहार निम्न प्रकार हैं :—

(१०) हेतु विपरीतार्थकारी औषध——

कटुरसात्मक द्रव्यों के सेवन से उत्पन्न शुक्र क्षय की अवस्था में हेतु और व्याधि-वृद्धिकारक भासते हुए भी वृष्य द्रव्य पिप्पली-शुण्ठी आदि का उपयोग शुक्रक्षय को उपशमित करता है ।१ इसी प्रकार पित्त प्रधान व्रणशोथ की अवस्था में पित्त कारक उष्ण उपनाह का प्रयोग किया जाता है । पित्त ही के द्वारा पाक होना बताया गया है । अतः उष्णोपचार से रक्तसंचार बढ़ जाने से रक्तप्रकोप तथा तज्जन्य पित्तप्रकोप और पाक नहीं हो पाता ।२ साथ ही वृद्धरक्तसंचार के द्वारा स्कन्दित रक्त-स्थानान्तरित हो जाते हैं ।

(११) हेतु विपरीतार्थकारी अन्न——

रूक्ष आहार के सेवन से शुक्र क्षय की अवस्था में रूक्षपुराण गोधूम का प्रयोग वृष्य होने से विप-रीतार्थकारी अन्न के रूप में ग्रहण किया गया है ।३

(१२) हेतुविपरीतार्थकारी विहार——

भय से वृद्ध वातजन्य भयज्वर अथवा कामोद्रेक से उत्पन्न कामज्वर की अवस्था में भय व क्रोध मूलतः वात एवं पित्तकारक लक्षित होते हैं परन्तु प्रभावत्वात् रोग का शमन करता है । इसी प्रकार वातोन्माद में त्रास का देना भी सिद्ध है ।४

(१३) व्याधि विपरीतार्थकारी औषध——

छर्दि रोग में वमनकारक मदनफल का प्रयोग इस प्रकार प्रयोग से दोष का शीघ्र निस्सरण होने से रोग की शान्ति हो जाती है ।५

(१४) व्याधि विपरीतार्थकारी अन्न :——

अतिसार रोग में विरेचनार्थ दुग्ध का प्रयोग । दुग्ध अतिसारजनक होते हुए भी दोष को निकाल कर तद्विपरीत कार्य करता है । वातातिसार में ग्रथित सद्रव को निकालकर वातातिसार रोग का शमन करता है । इसी प्रकार कफज प्रमेहरोग में मधु पुराणगोधूम, यव आदि मधुरत्व के कारण कफज प्रमेहरोग वृद्धिकर दिखते हैं, परन्तु तद्विपरीत कार्य होकर रोगोपशम होता है ।६

(१५) व्याधि विपरीतार्थकारी विहार——

छर्दिरोग में छर्दि के वेग को बढ़ाकर दोष निष्कासनार्थ प्रवाहण करना । उसी प्रकार आमा-शयस्थ दोष को शीघ्र निकालने के लिए अंगुलि-कमल नाल आदि का प्रयोग करना लोक में प्रसिद्ध ही है ।७

(१६) हेतुव्याधि विपरीतार्थकारी औषध——

कटु-अम्ल और उष्णादिक आहार सेवन से वृद्ध-पित्त की अथवा पित्तजरोग की अवस्था में पित्तवर्धक भासमान अम्लरसात्मक आमलकी के प्रयोग से लाभ होना । उसी प्रकार अग्निदग्धावस्था में उष्णगुणयुक्त अगुरु आदि का लेप हेतु और

---

१ कटुरसाति योगजनिते शुक्रक्षये वृष्यं पिप्पली शुण्ठ्यादिकम् ।

२ पित्तप्रधाने व्रणशोथे पित्तकर उष्णोपनाहः (मधुकोषः)

३ रूक्षाहाराति योगजे शुक्रक्षये रूक्ष पुराणगोधूमो वृष्यः (गंगाधरः)

४ भयजायां वातज वृद्धौ भयजे चज्वरे कामः कामजे वा ज्वरे शोक क्रोधश्च वातोन्मादे त्रासनम् । (गंगाधरः) मधुकोषः ।

५ छर्द्यां वमन करकं मदनफलादिकम् (गंगाधरः) मधुकोषः ।

६ क—वातातिसारे विरेचनार्थं क्षीरम्

७ क—कफवृद्धिजे प्रमेहे पुराणमधु यवगोधूमाः (गंगाधरः) ।

ख—छर्द्यां वमनार्थं प्रवाहणम् (गंगाधरः)।

ग—छर्द्या मंगुष्ठोत्पलनालादिना वमनम् (आंतकदर्पणटीका) ।

व्याधि के समान होते हुए भी उसके विपरीत कार्य करता है ।१ विष प्रभाव होने पर–अहिफेन विष की अवस्था में एट्रोपीन, जंगम के लिए स्थावर और स्थावर के लिए जंगम की प्रयोग पद्धति भी इसी प्रकार की है ।२

(१७) हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी अन्न––

मद्यपान से उत्पन्न मदात्ययरोग में मदकारक मद्य का सेवन ।३ यद्यपि मद्य-मद्य समान दिखते हैं, परन्तु माध्वीक मद्य के सेवन से मदात्यय की अवस्था में पिष्टी आदि से निर्मित मद्य का सेवन कार्य में विपरीत अर्थात् रोगशामक होता ही है। माध्वीकमद्य रूक्षगुण वाला होने से वातिक मदात्यय उत्पन्न करेगा, वैसी अवस्था में पिष्ठी द्वारा निर्मित मद्य माध्वीक से बिल्कुल विपरीत होने से (मद्यरूप में समान कार्यकारी दिखते हुए भी) वातिकमदात्यय को शान्त कर देता है ।

(१८) हेतुव्याधि विपरीतार्थकारी विहार––

व्यायाम से उत्पन्न संमूढ़ वात (उरूस्तम्भ) रोग में जलप्रतरण रूप व्यायाम करना ।४ शीत जल और व्यायाम दोनों के द्वारा वात की वृद्धि होकर रोग में वृद्धि होना प्रतीत होता है परन्तु जल की शीतता से शरीर से बहिर्गमन होने वाला ऊष्मा "कुम्भकार पवन न्याय"५ से भीतर ही रह जाता है, किञ्चित मात्र भी बाहर नहीं निकल पाता । शरीरस्थ ऊष्मा के द्वारा पिण्डितरूप मेद और श्लेष्मा पिघल जाता है और व्यायाम उन दोनों को शोषित कर लेता है जिससे वायु आवरण रहित होकर प्रकृतावस्था में अथवा स्वमार्गगामी हो जाता है ।६ अतः इसे उरूस्तम्भ रोग में हेतु व्याधि विपरीतार्थ कारी विहार के रुप में ग्रहण किया गया ।

उपशय और सात्म्यः–

पूर्व में उपशय का लक्षण बताया जा चुका है । उपशय के पर्यायरूप में सात्म्य माना गया है। "विद्यात्-उपशयं व्याधेः" शब्द के पश्चात् "सहिसात्म्य इति स्मृतः" कहने से व्याधि के लिए सात्म्य अर्थ सिद्ध है जैसा कि आतंकदर्पण टीका में कहा गया है––स उपशयो व्याधेरामयस्य सात्म्यमिति स्मृतः ।" रोग के लिए सात्म्य शब्द पर्यायरूप सिद्ध होने पर भी सात्म्यमिति शब्द का उपयोग अन्य कार्य के लिए––शरीर को स्वस्थ बनाकर रखने वाला देश कालादि विचार से आहारद्रव्य का ग्रहण

---

१ क–कटु-अम्लोष्णाहारात् पित्त वृद्धौ अम्लमामलकं पित्तहरम् (गंगाधरः) ।
ख–अग्निप्लुष्टे उष्णोऽगुर्वादिलेपः

२ विषे वा विषम् (मधुकोषः) ।

३ मद्यपानोत्थे मदात्यये मदकारकं मद्यम् (गंगाधरः) ।

४ क–अति व्यायामजे उरूस्तम्भे जल प्रतरणं, स्थला क्रमणं च । (गंगाधरः)
ख–व्यायाम जनित संव्यूढ़वाते जल प्रतरणरूप व्यायामो । (मधुकोषः)

५ कुम्भकार अग्नि की लपटों को आवे (जिसमें खपड़ा भाण्ड पकाया जाता है) के अन्दर ही सीमित रखने के निमित्त बाहर से मिट्टी का दृढ़ लेपन कर देता है। जिससे भाण्ड स्थित जलीयांश वाष्प के रूप में बाहर निकल जाता है और अन्तः स्थित अग्नि भाण्डों को पका देती है। यही लिप्त कुम्भकार पवन न्याय है ।

६ तत्रापि जलस्य शैत्येन बहिरगच्छन् देहोष्मा कुम्भकारपवन न्यायेनान्त पिण्डितौ मेद श्लेष्माणौ विलाययति, व्यायामश्च तौ शोषयति, ततस्तु निरावरणो वायुः स्वमार्ग प्रतिपन्नो भवति । (मधुकोषः)

होता है।१ साथ ही बराबर-सातत्यरूप से सेवन किया जाता हुआ अपथ्यकारक द्रव्य भी विकारोत्पादक नहीं होता तो सात्म्य-अभ्यास सात्म्य अथवा ओकसात्म्य उसे कहा जाता है।२ आत्मा के लिए सुखकर अर्थात् जिससे आरोग्य बना रहे उसे भी सात्म्य शब्द से कहा गया है।३ अतः उपयुक्त वचनों के आधार पर रोगशामक और शरीर को स्वस्थ बनाये रखने वाले औषध-अन्न-विहार के प्रयोग को–सात्म्य शब्द का दोनों अर्थों में ग्रहण होता है। उपर्युक्त दोनों अर्थों में प्रयुक्त सात्म्यशब्द अपना विस्तृत क्षेत्र रखता है। पूर्वक्षेत्र (रोगसात्म्य) का विस्तृत विचार किया जा चुका है। द्वितीय क्षेत्र (शरीरस्वस्थ कारक क्षेत्र) पर प्रकाश डालने का सुअवसर प्राप्त है।

आचार्य चरक ने अपने विमानस्थान के प्रथमाध्याय में सात्म्य के तीन भेदों का निर्देश किया है। यथा (१)प्रवरसात्म्य (२)मध्यसात्म्य (३) अवरसात्म्य।४ प्रवरावरमध्य भेदों के निर्देशन के उपरान्त रसादि भेद से सात्म्य के सात प्रकार बताये हैं।

यथा––(१) मधुरसात्म्य (२) अम्लसात्म्य (३) लवणसात्म्य (४) कटु सात्म्य (५) तिक्त सात्म्य (६) कषाय सात्म्य और अन्त में (७) सर्वरससमन्वित सात्म्य।५

आचार्य ने सर्वरससेवन को प्रवरसात्म्य, एकरससेवन को अवरसात्म्य, और द्विरसादि पंचरस पर्यन्त अर्थात् प्रवरावरमध्य को मध्यसात्म्य माना है।६

प्रवरसात्म्य अर्थात् सर्वरससेवन के प्रकरण में ही आचार्य ने घृत, दुग्ध, तैल, मांसरस–सर्वरससात्म्य वाले व्यक्ति को बलवान, क्लेश सहन करने वाला और अधिक आयु वाला होना बताया है।७ उसी प्रकार अवर सात्म्य-एकरसाभ्यासी जो व्यक्ति प्रायः रूक्षाहारग्रहण करते हैं, वे अल्प बल वाले अल्प क्लेश सहन करने वाले और अल्पायु अर्थात् अल्पकालावधि में ही जीवन लीला समाप्त कर देने वाले होते हैं।८

देशादिभेद से सात्म्य-प्रकार––

आचार्य सुश्रुत ने सात्म्य के नवभेदों को दर्शाते हुए यह स्पष्ट किया है कि वे सात्म्यप्रकृति के विरुद्ध होते हुए भी किसी प्रकार के बाधा-रोगोत्पत्तिविकार उत्पन्न नहीं करते। सुश्रुतोक्त सात्य-भेद निम्न हैं :––(१) देश सात्म्य (२) काल (३) जातिसात्म्य (४) ऋतुसात्म्य (५) रोगसात्म्य (६) व्यायाम सात्म्य (७) उदक सात्म्य (८) दिवास्वप्न सात्म्य (९) रस-मधुरादि सात्म्य। सुश्रुत को नव प्रकार के सात्म्य-भेदों के प्रदर्शन के

---

१ देशानामामयानां च विपरीत गुणं गुणैः। सात्म्यमिच्छन्ति सात्म्यज्ञाश्चेष्टितं चाद्यमेव च। च. सू. ६।

२ सात्म्यं नाम तद्यत् सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते। च. वि. ८।

३ सात्म्यं नाम तद् यत् आत्मनि उपशेते। च. वि १

४ तत्त्रिविधम्–प्रवरावर मध्य विभागेन। च. वि. १

५ सप्तविधं तु रसैकैकत्वेन सर्वरसोपयोगाच्च। च वि. १

६ सर्व रसं प्रवरम्, अवरमेकरसं, मध्येतु प्रवरावर मध्यस्थम्। च वि. १।

७ तत्र ये घृत क्षीर तैल मांसरस सात्म्या, सर्व रससात्म्याश्च ते बलवन्तः क्लेश सहाश्चिरजीविनश्च भवन्ति– (च. वि. च)

८ रूक्ष सात्म्याः पुनरेकरस सात्म्याश्च ये ते प्रायेणाल्य बलाश्च अक्लेशसहाश्चाल्पायुषो अल्पसाधनाश्च भवन्ति। (च. वि. ८)

उपरान्त "प्रभृतीनि" शब्द का प्रयोग किया है जिससे संख्यानिर्देश के अतिरिक्त सात्म्य के अन्य भी प्रकार होने की ओर संकेत मिलता है ।१ यथा—स्वभावसात्म्य, सहज सात्म्य और दोष-सात्म्य आदि ।

आचार्य चक्रपाणि ने सुश्रुत सूत्र ३५ वें अध्याय में उल्लिखित सात्म्य-भेदों पर टीका करते हुए—संक्षेपतः पांच प्रकार के सात्म्य-भेदों का निर्देश किया है । यथाः—(१) देश सात्म्य (२) जाति-सात्म्य (३) ऋतु सात्म्य (४) रोग सात्म्य (५) ओक सात्म्य२ (सु.सू.३५ चक्रः) ।

ऊपर कथित सात्म्यों के प्रकारों में से देश, काल, ऋतु, जाति, रोग, सहज और ओक सात्म्य का क्रमशः वर्णन उपस्थित किया जाता है ।

(१) देश सात्म्यः—

आचार्य चरक ने देशसात्म्य का निर्देश दो स्थलों पर किया है । दो स्थलों पर देश सात्म्य के निर्देशन से दोनों स्थलों के अर्थ अपने-अपने महत्व-पूर्ण हैं । आचार्य चक्रपाणि का कथन है कि सूत्रस्थान के छठे स्थान में "देश सात्म्य" कथन वस्तुतः देशसात्म्य है । क्योंकि उस देश में उत्पन्न मनुष्यों के लिए उत्पन्न देश से विपरीत गुण धर्म वाले आहारादि सात्म्य होते हैं । यथाः—आनूपदेश गुण में स्नेह गौरव आदि होने से उसके विपरीत रौक्ष्य, लाघव गुणयुक्त जांगल मांस, मधु आदि सात्म्य होते हैं ।३ चरक चिकित्सास्थान के ३०वें अध्याय में कथित देश सात्म्य वस्तुतः उस देश में उत्पन्न होते ही जनपदों के लिए जो सेवनीय होते हैं, अथवा सेवन करते हैं, वह आहार विहार उन जनपदों के लिए साधारण सात्म्य हैं ।४ वस्तुतः यह सात्म्य संकेत करता है कि उस देश के आहारादि से विपरीत हो अथवा न हो किन्तु सात्म्य होता है । यह सात्म्य सूत्रस्थान के "देशसात्म्य" से विशेष महत्व रखता है ।

देश द्विविध होता है । यथा—(१) भूमि (२) आतुर ।५ भूमि सात्म्य भी समुदाय और एकदेश भेद से द्विविध होता है । उन द्विविध भेदों का उदाहरण निम्नलिखित प्रकार है । यथाः—

(१) समुदायसात्म्य—

जांगल देश में जो आहारविहार होते हैं । उनके विपरीत आहारविहार आनूपदेश के लिए सात्म्य होते हैं ।

---

१ सात्म्यानितु देशकालजात्युर्त्तुरोग व्यायामोदक-दिवास्वप्नरस प्रभृतीनि विरूद्धान्यपि यान्य-वाध कराणि भवन्ति । सु. सू. ३५

२ सात्म्यं संक्षेपतः पंचप्रकारम्—देशसात्म्यं जातिसात्म्यम्, ऋतुसात्म्यं, रोगसात्म्यं, ओक-सात्म्यं—(चक्रः) (सु.सू.)

३ देशा नामामयानां च विपरीत गुणं गुणैः । सात्म्य मिच्छन्ति सात्म्यज्ञाश्चेष्टितं चाद्यमेव च।। च. सू. ६.५०
देशानामानूपादीनां, स्नेह गौरवादिभिः सह-विपरीत गुणं स्नेहगौरव-विपरीत गुण रौक्ष्यं लाघव युक्तं जांगलमांसमध्वादि । चक्रःच सू. ६.५० ।

४ औचित्याद्यस्य यत् सात्म्यं देशस्य पुरूषस्य च । च चि. ३०.३१५
देश शब्देन चेह देशवाचिनो जना अभि प्रेताः । तेन देशसात्म्य शब्देन तद्देश जातत्वेनैव पुरुषैर्यत् सेव्यते तत् साधारणं सात्म्यं गृह्यते । इदं तु देश विपरीतगुणं भवतु मा भवतु वा, तथापि तद्देश निवासिनामभ्यासेन सात्म्यं तदिह सात्म्यमुच्यत इति विशेषः । च. चि. ३०. ५० चक्रः ।

५ देशस्तु भूमि आतुरश्च । च. वि. ८

(२) एकदेशीय सात्म्य--

वाह्वीक, चीन, पल्लव, यवन एवं शकदेशीय लोगों के लिए मांस, गोधूम, माध्वीय सात्म्य होते हैं।

सिन्धवासियों के लिए दुग्धसात्म्य होते हैं। पूर्ववासियों--विहार, बंगाल, आसाम के लिए मत्स्य सात्म्य होते हैं। अश्मक और अवन्तिका-देशवासियों के लिए तैल और अम्ल सात्म्य होते हैं। मलय वासियों के लिए कन्द, मूल और फल सात्म्य होते हैं। दक्षिण वासियों के लिए पेया सात्म्य होता है। उत्तर और पश्चिम वासियों के लिए मण्ड-मन्थ सात्म्य होते हैं। मध्यदेश-भोपाल, नागपुर बुन्देलखण्ड वासियों के लिए यव, गोधूम, गोदुग्ध-घृत सात्म्य होते हैं।१ उपर्युक्त सात्म्य प्रत्येक देश के लिए विशिष्ट सात्म्य के रूप में ग्रहण किया गया है। देश के अन्दर रहने वाले प्रति व्यक्ति अपने-अपने नियत के आधार पर जिस आहारविहार का अभ्यास करता है उसे वह सात्म्य हो जाता है। इस सात्म्य का नाम पुरुषप्रतिनियत सात्म्य" है।२ पुरुष-सात्म्य प्रायः प्रति व्यक्ति में भिन्न होने के कारण अनेक होते हैं। अतः उदाहरण देना अशक्य है।

देशसात्म्य का दूसरा भेद आतुर शरीरसात्म्य है, पहले कहा जा चुका है। यह आतुर शरीरसात्म्य भी दो प्रकार का (१) सम्पूर्ण शरीर के लिए सात्म्य (२) शरीरावयव के लिए सात्म्य।३

(१) सम्पूर्ण शरीर के लिए सात्म्यः---

सम्पूर्ण शरीर सात्म्य के लिए मधुर रस उदाहरण है। मधुररस शरीर के सभी धातुओं को बढ़ाने वाला होता है।४

(२) अवयवसात्म्यः---

शास्त्र में अनेक ऐसे द्रव्यों की गणना की गई है। जिसका कर्म अवयव विशेष यथा कण्ठ, चक्षु हृदय आदि पर होता है। ऐसे द्रव्यों को कण्ठय, चक्षुष्य, हृद्य आदि नामों से सम्बोधित किया गया है।५

(२) कालसात्म्यः---

काल परिणामी अथवा नित्यग और आवस्थिक भेद से दो प्रकार का होता है। आवस्थिक काल से बाल-युवा-वृद्ध का ग्रहण होता है। नित्यग अथवा परिणामी काल से दिन-रात-पक्ष-मास-तथा ऋतु

---

१ भूमि सात्म्यमपि--समुदायैकदेशभेदेन द्विविधम्। तत्र समुदायस्य यथा--जांगलदेशे यो आहार-विहारौ आनूपदेशे तद विपरीतौ। देशावयवानामपि यथा--वाह्वीकचीनपल्लवादीनां माष गोधूममाध्वीकादिभि सात्म्यम्। सु. सू. ३५ डल्हण।

इसी अंश का उद्धरण चरक चि. ३०.३१५ पर इस प्रकार है---

वाह्वीकाः पल्लवाश्चीना शूलीका यवनाः शकाः।
मांसगोधूममाध्वीक शस्त्र वैश्वानरोचिता॥
अश्मकावन्तिकानां तु तैलाम्लं सात्म्यमुच्यते।
कन्दमूल फलं सात्म्यं विद्यान्मलय वासिनाम्॥
सात्म्यं दक्षिणतः पेया मन्थश्चोत्तर पश्चिमे।
मध्यदेशे भवेत्सात्म्यं यवगोधूम गोरसाः॥

२ पुरुषसात्म्य ग्रहणेन तु यत् प्रति नियत पुरुषस्यैवाभ्यासात् सात्म्यतां याति तत् पुरूष प्रति नियतं सात्म्यं गृह्यते। च. चि. ३०.३१५ चक्रः।

३ आतुर शरीरसात्म्यं द्विविधं समुदायस्यैकं, अन्यदवयवस्य च।

४ तत्र समुदायस्य यथा--मधुरोरसः सर्वधातु वर्धनः।

५ अवयव सात्म्यं यथा चक्षुष्य-केशो-कण्ठयादि द्रव्यम्। सु. सू. ३५ डल्हणे।

का ग्रहण होता है। इस काल में दोषों का स्वाभाविक संचय प्रकोप होता रहता है। अतः इसके अनुसार आहार-विहार के सात्म्य का विचार शास्त्रों में स्वस्थवृत्त-प्रकरण में विस्तृत रूपेण किया गया है।१

(३) ऋतुसात्म्यः—

चरकसंहिता आदि ग्रन्थों में ऋतुओं के लिए निर्देशित अशित, पीत, लीढ़, खादित आहार तथा व्यवाय, व्यायाम, अभ्यंग आदि विहार ही ऋतुसात्म्य कहे गये हैं।२ लेख विस्तार भयात् उन सभी का निर्देश करना अशक्य है। जिज्ञासु-पाठक चरक सूत्रस्थान पांचवां और छठा अध्याय तथा सुश्रुत सूत्रस्थान छठा अध्याय का अवलोकन कर अपनी जिज्ञासा शान्त करें।

(४) जातिसात्म्यः—

जातिसात्म्य भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। यथा–(१) मनुष्य जाति सात्म्य (२) पशु-जाति सात्म्य (३) पक्षी जाति सात्म्य।

मनुष्य जाति के लिए यव गोधूम, माष आदि।

(२) पशुजाति सात्म्यः—

पशुओं में भी शाकाहारी और मांसाहारी भेद होते हैं। (क) मृग गौ आदि के लिए तृण (शाक) सात्म्य होते हैं।

(ख) व्याघ्र, कुत्ता आदि के लिए मांस सात्म्य होते हैं।

(३) पक्षी सात्म्यः—

पक्षी जाति के लिए कीट-पतंग सात्म्य होते हैं।३

(५) रोगसात्म्यः—

रोगसात्म्य की दृष्टि से उपशय के अठारह भेदों में आहार का निर्देश किया जा चुका है। तथापि कुछ रोगसात्म्य के उदाहरण इस प्रकार हैं। यथा–गुल्म रोग में दुग्ध, उदावर्त रोग में घृत और प्रमेह रोग में मधु।४

(६) सहज सात्म्यः—

जन्मतः जो आहार सुखकारक हो उसे सहज-सात्म्य कहा जाता है। यथाः—बालकों को क्षीर सात्म्य होता है।

(७) ओक सात्म्यः—

अपथ्य द्रव्य यद्यपि शरीर के लिए हानिकारक होता है तथापि निरन्तर अभ्यास-सतत सेवन से शरीर के लिए सुखकारक हो जाता है उसे "ओक सात्म्य" कहा जाता है। ओकसात्म्य का दूसरा पर्याय "अभ्यास सात्म्य" है। शास्त्रकारों ने सर्प के शरीर में विष का होना और उसके शरीर में विष प्रभाव नहीं होना, उदाहरण उपस्थित किये हैं।५ इसी प्रकार का उदाहरण अफीम, चाय, गांजा, भांग एवं मदिरा है। अभ्यासवशात् इनकी

---

१ कालो हि नित्यगश्चावस्थिकः। तत्रावस्थिको विकारमपेक्षते, नित्यगस्तु ऋतुसात्म्यापेक्षः च.वि. ८।२२।

२ ऋतुसात्म्यं यथा–ऋत्वभिहितानि पानादि सु.सू. ३५.४० डल्हण।

३ जातिसात्म्यं यथा मनुष्यजातः सात्म्यं शाली-माष गोधूम सात्म्यम्। मनुष्य जाति को पक्वान्न सात्म्य है।
मृगपक्षी जातिनां तृण पतंगादीनां सात्म्यम्। सु.सू. ३५।४० डल्हण।

४ गुल्मीनां क्षीरं उदावर्त्तिनां घृतं, प्रमेहिनां क्षौद्रम्। " " "

५ उपशेते यदौचित्यादोक सात्म्यं तदुच्यते। च.सू. ६।४९।
अपथ्यमपि सद्विकारं न जनयति; औचित्यात् अभ्यासात् अपथ्यमपिहि निरन्तराभ्यासात् विषमिव आशीविषस्यनोपघातकं भवति। च.सू. ६।४९ चक्रः

बड़ी मात्रा भी कुछ हानिकारक नहीं होती। फिर भी असात्म्य द्रव्य होने से इनका क्रमशः त्याग ही करना अच्छा होता है ।१

अब तक उपशय-सात्म्य को द्विविध दृष्टिकोण से विचार किया गया है । अब उपशय-सात्म्य और चिकित्सा में साम्य एवं भेद वस्तुतः है या नहीं ! इसे देखना परमावश्यक है ।

उपशय-सात्म्य और चिकित्सा में साम्य--

पूर्व में बताया जा चुका है कि उपशय का पर्याय सात्म्य माना गया है । यह भी व्यक्त किया जा चुका है कि सात्म्य वह है जो सुखावह या सुख-कारण हो । शास्त्र में सुख को ही आरोग्य माना गया है। वस्तुतः सात्म्य से आरोग्यरूप सुख-स्वस्थता-अनागतबाधाप्रतिषेध एवं व्याधि का शमन होना है । विकार के विपरीत औषधअन्नविहार का प्रयोग चिकित्सा में किया जाता है । जब तक इन का प्रयोग दोष और व्याधि के विपरीत-उपशय-रूप-सात्म्यरूप में नहीं किया जाता तब तक विकार से मुक्ति मिलना असम्भव है । अतः उपशय और चिकित्सा धातुसाम्य की दृष्टि से एक है ।२

उपशय-सात्म्य और चिकित्सा में भेद--

चिकित्सा निदान-रोगज्ञान के पश्चात् प्रारम्भ होती है । जब तक सम्यक् प्रकारेण रोगज्ञान नाम-रूप अथवा उसके घटकों३ का ज्ञान नहीं होता तब तक चिकित्सा कर्म करने पर भी धातुसाम्य क्रियारूप प्रयोजन४ प्राप्त नहीं होता । गूढ़लिंग व्याधि की अवस्था में निश्चयपूर्वक रोगज्ञान के लिए उपशय-सात्म्य और अनुपशय-असात्म्य औषध-अन्नविहार का प्रयोग किया जाता है ।५ यथाः— स्नेह और उष्ण द्रव्यों का प्रयोग वात शमन के लिए किया जाता है ।६ वात दोष शमन से सिद्ध हो जाता है कि यह वातिक है । वात व्याधि और उरूस्तम्भ में वातवत् लक्षण दृष्टिगोचर होने से सम्यक् प्रकार

---

१ उचितादहिताद्धीमान् क्रमशो विरमेन्नरः । च.सू. ७।३६
औचित्याद्यस्य यत् सात्म्यं देशस्य पुरुषस्य च ।
अपथ्यमपि नैकान्तात् तत् त्यजंल्लभते सुखम् ।।
च.चि. ३०।३१५ ।

२ सात्म्यर्थो हि उपशयार्थः । च.वि.१
ख—सात्म्यं नाम यदुपशेते सुखं करोति इत्यर्थः चक्रः ।
ग—योरसः कल्पते यस्य । सुखायैवनिषेवितः ।
व्यायामजातमन्यद् वा तत् सात्म्यमिति निर्दि-शेत् । सु.सू.३५।४० ।
घ—सुखचेहारोग्यम् । यदुक्तं सुखसंज्ञकमारो-ग्यम् ।
तच्चारोग्य रूपं सुखं स्वस्थेऽनागत बाधा-प्रतिषेधेन तथा व्याधिते व्याध्यपनयनेन सा-त्म्येन क्रियते । सु.सू.३५।४० चक्रः ।
च—धातुसात्म्य क्रियाचोक्तं तन्त्रास्य प्रयोज-नम् । च.सू. ११५३ ।

३ विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन ।
नहिसर्व विकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवास्थितिः।।
तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठानान्तराणि च ।
समुत्थान विशेषांश्च बुद्ध्वा कर्म समाचरेत् ।।
च.सू.१८।४४–४६ ।

४ (क) धातुसाम्य क्रिया चोक्तं तन्त्रास्य प्रयो-जनम् । च.सू. १
(ख)प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते ।।
च.सू.९।५ ।
(ग)याभि क्रियाभि जायन्ते शरीरे धातवः समाः, साचिकित्सा विकाराणाम्। च.सू.१६।

५ गूढ़लिंगे व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यांपरीक्षेत् ।
च.वि. ४ ।

६ स्नेहोष्ण मर्दनाभ्यां प्रणश्येत् स वातिकः ।
च.सू. १८ ।

निदान (रोगज्ञान) नहीं होता। अतः स्नेहाभ्यंगपान के द्वारा वातशमन और या वृद्धि को देख कर वात-व्याधि औराया उरूस्तम्भरोग विनिश्चय हो जाता है।१ वातव्याधि में स्नेहसात्म्य और उरूस्तम्भ रोग में अनुपशय अर्थात् असात्म्य होने से शमन और वृद्धि वात की देखी जाती है। अतः उपशय और अनुपशय का प्रयोग रोगज्ञान प्रकरण में होने की वजह से निदानार्थ प्रयोग विशिष्टार्थ हैं।

अनुपशय-असात्म्य विवेचनः—

उपशय-सात्म्य के विवेचन में कहा गया है कि जिस औषधान्नविहार के सेवन से उत्तर काल में स्वास्थ्य की रक्षा, अनागतवाधाप्रतिषेध और रोग की निवृत्ति हो वह सात्म्य-उपशय कहा जाता है। इसके विपरीत स्वास्थ्य को बिगाड़ने वाला, रोगवर्धक औषधान्नविहार अनुपशय-असात्म्य कहा जाता है।२ रोग और दोषवर्धक होने के कारण अनुपशय को हेतु में अन्तर्भाव किया गया है।३ जिस प्रकार रोगादि के लिए उपशय बताया गया है तद् विपरीत कार्यकारी द्रव्यों को रोगादि के लिए अनुपशय-असात्म्य समझ लेना चाहिए।

उपसंहार—उपशय-सात्म्य और अनुपशय-असात्म्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि रोगादि भेद से अनेक प्रकार के सात्म्य और असात्म्य होते हैं। सात्म्य स्वास्थ्यकी रक्षा अनागत वाधाओं से शरीर की रक्षा तथा रोगोत्पन्नावस्था में उनका शमन करता है। अनुपशय तद् विपरीत करता है। गूढ़लिंग की अवस्था में रोगज्ञान में दोनों महत्वपूर्ण अपना पाठ अदा करते हैं। रोग की अवस्था का भी ज्ञान सात्म्य-असात्म्य के द्वारा होता है। सर्वरससात्म्य व्यक्ति बलवान होने के कारण प्रायः आरोग्य रहता है।४ कदाचित उसे कोई रोग हो भी जाय तो वह साध्य होता है।५ इसी प्रकार एकरस-सात्म्य वाले व्यक्ति में अवलता होने से रोग असाध्य की श्रेणी में रहता है। शरीर के लिए असात्म्य द्रव्य अभ्यासात् सात्म्य होने पर रोगावस्था अथवा स्वस्थावस्था में सहसा त्याग नहीं कराया जा सकता। त्याग करा देने पर रोगवृद्धि अथवा रोगोत्पत्ति हो जाती है।६ अफीम ओकसात्म्य की अवस्था में अतिसार व ग्रहणी रोग होने पर अफीम के योग लाभकारी नहीं होते। इसी प्रकार मद्याभ्यासी को आसव-अरिष्ट का कुछ भी प्रभाव नहीं होता। यह चिकित्सकों के लिए विशेष ध्यान देने योग्य बातें हैं। रोगावस्था में पथ्य और अपथ्य का निर्देश किया जाता है। पथ्य भी चिकित्सा का एक पर्याय५—होने से धातुसाम्य-आरोग्य सम्पादन करता है और अपथ्य उस में वाधा डालता है। अतः उपशय-सात्म्य-पथ्य-चिकित्सा एक पर्याय बन जाता है और अनुपशयहेतु-असात्म्य-अपथ्य एक पर्यायरूप में है। ऐसा मेरा मन्तव्य है।

---

६ तत्रोपशयानुपशयज्ञानार्थं स्नेहनम्। स्नेहनात् अनुपशयो भवति उरुस्तम्भे। माधव मधुकोषः उरूस्तम्भे

१ क—अनुशब्देन आपातसुखकरं यन्नोत्तरं कालं सुखं वध्नाति तदुपयोगोनोपशयः।
ख—विपरीतोऽनुपशयो व्याध्यसात्म्यभिसंज्ञितः (अ.हृ.नि१)।

२ अनुपशयस्य निदानेऽन्तर्भावः दोषस्य रोगस्य-वर्धकत्वात्। यथा ज्वरनिदाने (चरक) निदानोक्तानुपशयः विपरीतस्योपशयः इति। मधुकोषः।

३ वलाधिष्टानमारोग्यम् च.चि.३।१४१।

४ वलवत्स्वल्प दोषेषुज्वरः साध्योऽनुपद्रवः च.चि.३।

५ पथ्यंपथोऽनपेतं यद्यच्चोक्तं मनसः प्रियम्। च. सू.२५।
चिकित्सितं व्याधिहरं पथ्यं साधनमौषधम्—च.चि.१।३।
पथ्यं पथिषु स्रोतः सुहितम्— च. चि१।३ गंगाधरः।

# गाजर की पुष्टिकारकता

रमेशचन्द्र त्रिपाठी, बी० एस० सी०, एम० ए० (मनोविज्ञान)

गाजर गरीबों का भोजन तो है ही, इसमें विटामिन ए० बी० सी०, लौह, गन्धक तथा फास-फोरस पूर्ण मात्रा में विद्यमान है। यही नहीं, इसमें 'केरोटीन' नामक तत्व भी पाया जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक इस तत्व की प्राप्ति के लिए गाजर के स्वरस-पान की सलाह देते हैं।

गाजर काफी सस्ता कन्द है और स्वस्थ व्यक्तिओं को इसका अधिक सेवन करना चाहिए। स्वास्थ्यदायक कन्द के रूप में तो यह प्रसिद्ध है ही, आहार सन्तुलन की दृष्टि से भी विशेष उपयोगी है।

## गाजर के भेद, उपज

यह देशी तथा विलायती दो प्रकार की होती है। देशी गाजर विशेष लाल तथा काली एवं विलायती गाजर पीले तथा लाल रंग की होती है। विलायती गाजर देशी गाजर से अधिक उपयोगी होती है और उसका स्वाद भी देशी की अपेक्षा अच्छा होता है। यह नरम भुरभुरी मिट्टी में होती है। भाद्रपद से कार्तिक पर्यन्त बोये जाने के कारण गाजर की खेती में विशेष सिंचाई की जरूरत नहीं पड़ती।

## रासायनिक तत्व

रासायनिक तत्व—गाजर में ८६ प्रतिशत जल १.१ प्रतिशत खनिज पदार्थ, ०.१ प्रतिशत प्रोटीन, ०.१ प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट, ०.०८ प्रतिशत चूना, ०.०३ प्रतिशत फास्फोरस, १.६ मिलीग्राम प्रतिशत ग्राम लोह, २०२० से ४३००इ०यू० विटामिन ए. प्रतिशत ग्राम, ६० इ०यू० विटामिन बी० १ प्रतिशत ग्राम तथा ३ मिलीग्राम विटामिन सी प्रतिशत ग्राम विद्यमान है।

गाजर की पत्तियों में भी ८३.३ प्रतिशत जल २.८ प्रतिशत खनिज पदार्थ, ५.१ प्रतिशत प्रोटीन, ०.१ प्रतिशत वसा, ८.३ प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट, ०.३४ प्रतिशत चूना, ०.११ प्रतिशत फास्फोरस तथा ८-८ मिलीग्राम प्रतिशत ग्राम लोह सुरक्षित है।

## रासायनिक विवेचन

रासायनिक विवेचन——लोह, गन्धक तथा प्रोटीन की प्रचुरता होने के कारण आज भी सर्वश्रेष्ठ लोहप्रदायिनी औषधियों की जगह गाजर का प्रयोग सफल हो सकता है। शरीर में औषधियों से मिलने वाले लोह की अपेक्षा रक्त में शीघ्रता से मिलकर शारीरिक त्रुटियों की पूर्ति करने वाली शक्ति गाजर में भरी पड़ी है। गाजर में प्रोटीन की अल्प मात्रा होने पर भी पूर्ण आहार के गुण हैं। फलशर्करा, चीनी पर्याप्त मात्रा में १० प्रतिशत रहती है। केरोटीन में लाल कण तथा लोह फास्फोरस गन्धक तथा खनिज क्षारों के अतिरिक्त गाजर के रस में पेक्टेन, अलव्यूमिन एवं एक प्रकार का उड़नशील तैल रहता है जो औषधि रूप गुणों का कारण है। इस प्रकार एक उत्तम पौष्टिक कन्द शाक माना जाता है।

## विभिन्न रोग में गाजर

नेत्र तथा कर्ण रोगों के अतिरिक्त नासूर सरीखा भयानक रोग तो इसके सेवन करते रहने से हो ही नहीं सकता। शारीरिक सौन्दर्यवृद्धि करने तथा गुर्दों की जलन मिटाने में भी गाजर अद्वितीय है। प्रातः सायं ३ से ४ छटांक तक गाजर का रस पीने से अम्ल विकार शान्त होता है। उदर तथा आंतों के घाव की तो गाजर रामबाण औषधि है। भयंकर कोष्टबद्धता के निवारण का विलक्षण गुण गाजर में भरा है। जिगर की बीमारियों, पित्त-विकार, पाण्डु रोग, गुर्दे के रोग, मूत्र में रेत आदि रोगों में कच्ची गाजर पका कर इसका

रस विशेष परिमाण में पिलाने से लाभ होता है।

केवल गाजर १५.२० दिन ही खाने से चर्म रोगों में विशेष लाभ होता है और गाजर रस तो खुजली में विशेष उपयोगी है। उबाल कर निकाले हुए गाजर रस में छोटे-छोटे टुकड़े करके मन्दी आंच पर रख कर और उसमें गुड़ मिला कर पीने से स्वादिष्ट लगता है। गाजर पका कर निकाला हुआ रस बच्चों के लिए लाभप्रद है।

रक्ताल्पता घेघा तथा रक्त-विकारों में गाजर उपयोगी है। पके हुए पुराने घाव पर गाजर का गूदा उबाल कर बांधने से शान्ति मिलती है। कच्ची गाजर कुचल कर उसमें आटा मिला कर छालों तथा जलन वाले घावों पर बांध दिया जाय तो अवश्य लाभ होता है। पुरानी संग्रहणी में भी इसका उपयोग लाभप्रद है। इसके बीज कामोदीपक है, पौष्टिक है, नाड़ी को शक्ति देते हैं। गर्भस्राव के लिए भी गाजर के बीज का उपयोग होता है।

गाजर के साथ तनिक सी काली मिर्च का प्रयोग करने से गाजर का भारीपन एवं वायुदोष मिट जाता है। गाजर की जड़ एवं पत्तिओं में अद्भुत गुण भरे हैं, इसकी जड़ स्त्री-दुग्ध में पीसकर नाक से खींचने पर हिचकी मिटती तथा पत्तिओं के दोनों तरफ घी लगाकर उसको गर्म कर रस निकाल कर नाक एवं कान में एक-एक बूंद डालने पर आधाशीशी (दर्द) दूर हो जाता है। गाजर में विटामिन ए० अत्यधिक मात्रा में होने के कारण दूध, काड मछली के तेल तथा लाल पान के तेल के पूरक के रूप में इसकी गणना होती है।

गाय तथा घोड़ों की जाति के पशुओं के लिए भी गाजर में पोषक तत्व है। दूध गाढ़ा, स्वादिष्ट, मधुर करने तथा बढ़ाने के लिए गाय को गाजर खिलानी चाहिये।

## कुछ आवश्यक बातें

बासी गाजर की अपेक्षा ताजा गाजर में सभी गुण सुरक्षित हैं। खुले पात्र में तलने से अथवा घृत में तलने से विटामिन ए० नष्ट हो जाता है। गाजर के बीच का काष्ठमय भाग नहीं खाना चाहिए। रस निकालने के लिए कच्ची गाजर को कुचल कर तथा कपड़े में छान कर रस निकालना चाहिए। इस प्रकार गाजर मनुष्य के भोजन में तथा स्वास्थ्य के लिए उपयोगी सिद्ध होती है।

———

# भारतीय संस्कृति का प्रतीक आयुर्वेद

श्री वासुदेव मिश्र वैद्य, खेतासराय, जौनपुर

यह तो सर्वमान्य है कि आयुर्वेद केवल चिकित्सा विज्ञान नहीं है। रुग्ण व्यक्ति को स्वस्थ कर देना ही उसका कार्य नहीं अपितु वह एक जीवन विज्ञान है, आयु क्या है? चिरकालीन उपभोग उसका कैसे किया जा सकता है? इस बात का समाधान जहां पर हो वही आयुर्वेद है।

आयुर्वेदीय दर्शन में आयु की जो सुपुष्ट व्याख्या की गई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। शरीर, इन्द्रिय, सत्व आत्मा का संयोग ही आयु है। यह संयोग कैसे होता है? कैसे स्थिर रह सकता है? इसी की जानकारी, आयुर्वेद का मुख्य ध्येय है। उक्त संयोग स्थिर रहने में जो व्यवधान आजाता है, उसे रोग की संज्ञा दी गई है। उसे दूर करने में जो प्रयास या युक्ति की जाती है, वही चिकित्सा कही जाती है। इस प्रकार चिकित्सा एक गौण वस्तु है। आयुर्वेद का मुख्य विषय है--आयु-विस्तार।

शरीर द्रव्यों से बना है, द्रव्य नव हैं। पंचमहाभूत, दिक्, काल, आत्मा, मन। केवल भूतात्मक द्रव्यों के अनुशीलन से शरीर का अध्ययन पूर्ण नहीं किया जा सकता। दिक्, काल, आत्मा और मन के गुण कर्म पर भी ध्यान देना पड़ेगा। संयोग, विभाग, परत्वापरत्व आदि शब्दों की उपेक्षा वहीं की जा सकती।

आज के अध्ययनाध्यापन की जो परिक्रिया बन रही है। वह सन्दिग्ध नहीं है—यह नहीं कहा जा सकता। आर्ष साहित्य की गम्भीर गवेषणा बिना एकपक्षीय निर्णय कर लेना कि आयुर्वेद में शल्यतन्त्र, शालाक्य तन्त्र, कौमार भृत्य, प्रसूति तन्त्र का अभाव है जिसको हम माडर्नाइज्ड करने के नाम पर पाश्चात्य जानकारी ग्रहण करके पूर्ण करेंगे।

इसी प्रकार शारीरशास्त्र की भी बात कही जाती है कि आर्ष साहित्य में शारीर ज्ञान के लिए पर्याप्त सामग्री नहीं है। बिना आधुनिक ज्ञान का सहारा लिए आयुर्वेद को पूरा नहीं किया जा सकता। रोगों तथा औषधियों के विषय में भी कहा जाता है कियह रोग तो आयुर्वेद में नहीं है, यथा—टाइफाइड, कालरा, टी. बी. टिटिनेस आदि। जब ये रोग ही नहीं हैं तो इसकी औषधि क्यों रहे? अतः उक्त रोगों की चिकित्सा आधुनिक विज्ञान द्वारा ही सम्भव है। ऐसी धारणा बद्धमूल हो रही है।

जब हम विचार करते हैं कि संस्कृति क्या है? तो अनायास आभास हो जाता है कि जो हमारे जीवन को प्रभावित करे वही संस्कृति है। प्रभावित करने वाली प्रथा संसर्ग से बनती है। संसर्ग से ही संस्कार पड़ता है। आर्य परम्परा में जीवन के मुख्य संस्कार सोलह निश्चित किए गए हैं, जिसमें सर्वप्रथम गर्भाधान आता है। यहीं से जीवन का प्रारम्भ भी होता है। यहीं से आयुर्वेद की शरण में रहना पड़ता है। पश्चात् पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, चूड़ा कर्म, कर्णवेध, उपनयन, विवाहादि अन्त्येष्टि पर्यन्त षोड़श संस्कार आयुर्वेद क्षेत्र के बाहर नहीं हैं।

यदि हम आर्ष साहित्य का गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन करें तो हमें इनकार करने का अवसर न मिलेगा कि भारतीय संस्कृति आर्य संस्कृति अथवा मानव मात्र ही नहीं—प्राणीमात्र की संस्कृति से आयुर्वेद का अविच्छिन्न सम्बन्ध नहीं है। आधुनिकता के प्रवाह में बहते हुए कुछ विचारकों के तर्क हमारे समक्ष इस प्रकार आते हैं कि आर्ष ग्रन्थ

में यह प्रतिपादन किया गया है कि वैद्य को अन्यान्य शास्त्रों, विषयों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इसी आधार पर उनकी घोषणा होती है कि हमें पाश्चात्य विज्ञान की छूट है, और हम आयुर्वेद को एलोपैथी की खोजों से ही परिपूर्ण कर सकते हैं। उन विचारकों से नम्र निवेदन है कि वे तो भ्रम में हैं हीं। कृपया औरों को भ्रम में न डालें ऐसी प्रार्थना है। वैद्य को ज्योतिष, व्याकरण, दर्शन, साहित्य, आदि का अध्ययन करना चाहिए। रोगों की साध्यासाध्यता, उनकी अवधि- वनस्पतियों पर काल एवं नक्षत्रों का प्रभाव, काल की शक्ति उसकी गति, ज्योतिष शास्त्र के माध्यम से ही जानी जा सकती है। द्रव्यों के गुण, कर्म के आधार पर एवं शब्दों की शक्ति, अर्थ व्याकरण से जाना जा सकेगा। उक्त विचारों के कारण कुछ समन्वयात्मक दृष्टिकोण के सुयोग्य विद्वान् शारीर अध्ययन हेतु पाश्चात्य ग्रन्थों से अनुवाद एवं आर्ष साहित्य का मिश्रण करते हुए पूर्व पश्चिम दो दिशाओं को एक दिशा देने का असफल प्रयास करके भ्रमपूर्ण वातावरण प्रस्तुत करने में सहायक हो गए, यथा–धमनी, शिरा आर्ट्री, वेन कह कर आर्ष साहित्य की व्याख्या न करके उनके कर्मो गुणों रचनाओं पर सूक्ष्म दृष्टिपात किए बिना पाठकों के समक्ष निर्णय के लिए जटिल पहेली बना दी। प्रज्ञापराधजन्य जनपदोध्वंसक व्याधियों की उचित व्याख्या न करके "क्रिमीन" वैदिक शब्द को लेकर कीटाणु शास्त्र गढ़ने के चक्कर में पाश्चात्य परिक्रिया पकड़ने में सौकर्य का आभास पाया। स्वास्थ्य विधान के लिए—

नित्यं हिताहार विहार सेवी,
समीक्ष्य कारी विषयेषु असक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावान,
आप्तोपसेवी च भवत्यरोगः।

समीक्ष्यकारी, विषयों की अनासक्ति, दाता समता, सत्य, क्षमावान, आप्तोपसेवी, आदि आध्यात्मिक गुणों के विकास से उदात्त भावनाओं का संचार भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत है। इस प्रकार हम देखदे हैं कि यदि आयुर्वेद को आर्षसाहित्य के आधार पर उसी के मूल को विकसित करने की चेष्टा की जाय तो आज की धूमिल भारतीय संस्कृति निखर सकती है। नहीं तो माडर्नाइज्ड की चकाचौंध में तो हम आयुर्वेद से दूर तो जा ही रहे हैं सर्वहितकारी आपकी संस्कृति को मिटा देने के पाप भागी भी होंगे ऐसी पूरी सम्भावना है।

———

# "तस्मै श्री गुरवे नमः"

आचार्य श्री वैद्य निरंजनदेव आयुर्वेदालंकार, प्रिंसिपल आयुर्वेदिक कालेज, बरेली

आदरणीय गुरुवर श्री वैद्य धर्मदत्त जी महाराज के सन्मान में उनका शिष्यवर्ग तथा गुणग्राही विद्वज्जन एकत्रित होकर प्रशंसागोष्ठी का आयोजन करेंगे, और अभिनन्दन समारोह होगा,—इस सम्वाद से हृदय पुलकित होगया। प्राचीन स्मृतियां जाग उठीं, और मन में अनेक विचार उत्पन्न हुए। सोचने लगा—मैं, उनका अन्यतम कृपापात्र शिष्य, उनके प्रति अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति किस प्रकार करूं ?

यह मेरा सौभाग्य है कि गुरु महाराज के दर्शन मुझे बाल्यकाल में ही प्राप्त हुए, सन् १३-१४ से ही, जब मैं ८-९ वर्ष का था, और वे सम्भवतः १९-२० वर्ष के रहे होंगे।

उन दिनों का गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय कांगड़ी ग्राम के निकट बनभूमि में दुनियां से अलग थलग और शैशव में होता हुआ भी, गौरव गरिमा के कारण असीम और विराट् था। उसकी तुलना आज के किस तपोवन से—विद्याकेन्द्र से—या आचार्य पीठ से की जाय ? उसी हरी-भरी—पुष्पित फलित—महिमामण्डित—विद्याभूमि में उस समय गुरु जी भी एक छात्र होकर ज्ञानोपलब्धि में तल्लीन थे। उनके उस समय की सक्रिय देहमूर्ति का चलचित्र आज भी अन्तःपटल पर आ विराजता है,——प्राचीन युग के ब्रह्मचारियों के समान पीतवसन वेष्टित, कृश, संयत, देहयष्टि—भावोद्दीप्त अरुण मुखमण्डल—विशाल नेत्र—ये सब समन्वित होकर कभी गुरुकुल की 'राम दर्शन' सभा में गुणकीर्तन करते हुए अपनी वाग्मिता प्रकट कर रहे होते, कभी 'सरस्वती सम्मेलन' में संस्कृत सम्भाषण के समय वाक्पटुता का परिचय दिया करते। गुरुकुलभूमि में कहीं ज्ञान चर्चा हो——वाद-विवाद प्रतियोगिता हो—व्याख्यानसभा या कविसम्मेलन हो—उनकी गति सर्वत्र थी। ज्ञानप्राप्ति जहां भी सम्भव हो—वे मधुप के समान—वहीं होते थे। धर्म-दर्शन-अध्यात्म विज्ञान—संस्कृति—साहित्य—इतिहास—सब में उनकी रुचि थी।

गुरुकुल से विद्या तथा व्रत स्नातक हो चुकने पर उन्हें जीवनविज्ञान (आयुर्वेद) के विषय में जिज्ञासा हुई। वे सीधे मद्रास पहुंचे, और ४ वर्ष के गहन अध्ययन अनुभव के उपरान्त मद्रास आयुर्वेदिक कालेज से 'आयुर्वेद भूषण' की उपाधि प्राप्त की। वहां ज्ञानार्जन के साथ उनके द्वारा ज्ञान दान का कार्य भी होता रहा। स्मरण आता है—जब—गुरुकुल के तत्कालीन आचार्य महात्मा मुंशीरामजी (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज) ने एक दिन—गर्व और प्रसन्नता से पुलकित होकर—हम छोटे बड़े छात्रों को सुनाया था कि——चिरंजीव धर्मदत्त के आर्य सभ्यता और वैदिक धर्म पर दिए गये व्याख्यानों ने तो मद्रास में धूम मचा दी है। बाद में महात्मा जी ने उन्हें आयुर्वेद का उपाध्याय (प्रोफेसर) बना कर सीधे गुरुकुल बुला लिया। यहां रहते हुए गुरु जी ने—जयपुर की 'आयुर्वेदाचार्य' परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर ली थी। यह शायद सन् १९१९—२० का समय था।

इसी समय 'गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय' की स्थापना हुई। गुरु जी ने उसकी रूपरेखा—पाठ्यक्रम—समय-विभाग—व्यवस्था—अनुशासन आदि स्थापित किये, और यहीं पर वे आयुर्वेद की शिक्षा देने लगे। छात्रों के दूसरे 'बैच' में प्रविष्ट होने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ। सन् १९२३ से सन् २७ तक पांच वर्षों में—गुरु जी के श्रीमुख से जो ज्ञानामृतवर्षण होता रहा—वही बाद में—हम शिष्यों के

भविष्यजीवन का 'सम्बल' बना। आयुर्वेद महाविद्यालय में पढ़ते समय–द्रव्यगुण, पंचभूत, त्रिदोष, निघण्टु, रसतन्त्र, निदान, चिकित्सा, स्वस्थवृत्त–कोई भी विषय हो–उनके प्रवचन सभी पर गहन गम्भीर और अनूठे होते थे। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि गुरु जी के तत्कालीन व्याख्यान सुनकर इस लेखक को बहुधा ही –त्रेतायुग में अपने शिष्यों को दिये गये भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के आयुर्वेदीय उपदेशों का ध्यान आता था, और वही कल्पना आज भी होती है।

आयुर्वेद के पाठ्यविषय पढ़ाने के अतिरिक्त गुरुजी के गवेषणात्मक व्याख्यान भी उन दिनों अपनी 'आयुर्वेद परिषद्'में हुआ करते थे। सम्भवतः १९२४ में गुरु जी ने ही, विश्रिष्ट एटम की व्याख्या पंचभूत सिद्धान्त के प्रकाश में प्रथम वार प्रस्तुत की थी। उनकी प्रेरणा से 'आयुर्वेद' नामक हस्तलिखित सचित्र पाक्षिक या मासिक पत्र भी हम लोगों ने निकालना आरम्भ कर दिया था, जिसके प्रथम सम्पादक श्री धर्मानन्द जी (वर्तमान डाक्टर धर्मानन्द जी केसरवानी) को बनाया गया था। ये अंक इतने आकर्षक निकले थे कि गुरुकुल के किसी वार्षिकोत्सव पर इसके सब अंक प्रदर्शिनी में से कोई उठा ले गया। वह अंक भी चला गया जिसमें सहपाठी श्री योगेन्द्रपाल द्वारा बनाया हुआ गुरु जी का एक सुन्दर चित्र संलग्न था।

अध्ययन के साथ-साथ छात्रों के क्रियात्मक प्रशिक्षण पर गुरु जी का विशेष ध्यान था। शवच्छेद (प्रथम शवच्छेद के लिए उस समय हम लोगों को अपने सहयोगी छात्र श्री ब्रह्मदत्त जी–बावली निवासी–की कृपा से एक कुत्ते का शव ही प्राप्त हो सका था, बाद में मानव शवों का प्रबन्ध हुआ) बहुधा ही हम छात्रों के साथ वे भी स्वयं शवच्छेद करते थे। शालाक्य के क्रियात्मक के रूप में 'लिंग-नाश' (कैट्रेक्ट) का शस्त्रकर्म उन्होंने अनेक वार सम्पन्न करके दिखाया था। शल्यतन्त्र के क्रियात्मक में भी वे सोत्साह भाग लेते रहे। 'अस्थि मज्जाशोथ' के एक रोगी पर उनका निदान और शस्त्रकर्म आज भी स्मरण आता है। उनके साथ रोगियों को 'सम्मोहन' देने तथा 'शस्त्रकर्मसहायक' रूप में कार्य करने के अवसर इस लेखक को भी अनेक वार प्राप्त हुए।

चिकित्स्य रोगी, यदि दूर ग्राम में हैं तो भी, गुरु जी बड़े उत्साह के साथ उसकी चिकित्सा के लिए चल पड़ते थे। शिष्यों में जो उनके अनुगत हों, और जिनकी ड्यूटी हो, उन्हें तो जाना ही होता था; फिर चाहे रात्रि का सघन अन्धकार हो, या सर्दी गर्मी आंधी वर्षा कुछ भी क्यों न हो।

अन्तिम वर्ष के छात्रों को–बारी बारी से–अन्तरंग चिकित्सालय का उत्तरदायित्व सम्हालना होता था। शीतकाल की एकरात्रि नहीं भूलती। गंगातटवर्ती प्राचीनकलाभवन की इमारत के रोगी-निवास में दो सन्निपात रोगी सांघातिक रूप से ज्वरग्रस्त थे। प्रथम मूच्छितदशा, फिर प्रलाप आरम्भ होगया, और एकाएक दोनों रोगी बिस्तर से निकल भागे। ड्यूटी पर मैं मेरे साथ श्री सत्यपाल (बाद में गुरुकुल के मेडिकल आफिसर डाक्टर सत्यपाल आयुर्वेदालंकार) थे। परिचारक–कार्यवश बाहर भेज देने के कारण –पास में कोई नहीं। अतः हम दोनों रोगियों को पकड़ने भागे। बड़ी कठिनाई से दोनों रोगियों को काबू कर लिया, और जैसे तैसे बिस्तरों में लिटाया। अब औषध कैसे दी जाय? परिचारकों के आने तक गुत्थमगुत्था होती रही, हम दोनों पसीने पसीने हो गये। थोड़ी देर में परिचारकों के लौटने पर हम दोनों का छुटकारा हुआ। ऐसे रोगी पहिले नहीं देखे थे। परन्तु रात्रिचिकित्सा का उत्तरदायित्व था।

अतः दोनों ने माथापच्ची करके औषध निश्चित की, और दोनों रोगियों को पिलादी। सौभाग्य से कुछ ही देर में इस तरफ गुरु जी का दौरा हुआ। तब तक औषध के प्रभाव से दोनों रोगी शान्तभाव से लेट चुके थे। सब हाल सुनकर और रोगियों का भले-प्रकार निरीक्षण करके वे सन्तुष्ट हुए। दोनों रोगी धीरे-धीरे रोगमुक्त होगये। ये दोनों व्यक्ति 'शंकर' और 'लक्ष्मण यती' आज भी जीवित हैं, और इस घटना को भूले नहीं हैं।

गुरु जी के उपरिकथित 'सन्तोष' का हम लोगों पर परिणाम दूसरा ही हुआ। अगले दिन, अधिक उत्तरदायित्व के और भी कठिन कार्य पर जाने के आदेश जारी हो गये। पता चला कि मायापुर वाटिका में स्थित छोटे ब्रह्मचारियों के छात्रावास में रोगियों की चिकित्सा के कार्य पर जाना होगा, और वहां दिनरात १५ दिन ड्यूटी रहेगी। आदेशपालन अनिवार्य था, अतः ठीक समय से ड्यूटी पर पहुंच जाने के लिए तत्काल तमेड़ से गंगापार करके जाना पड़ा। शिक्षाकाल में कठिन परिश्रम करा कर छात्र को अधिकाधिक योग्य बना देना—यह गुरुजी का उद्देश्य रहा करता था। फिर भी आदेशात्मक वाणी उनके मुख से कभी नहीं सुनी गई। उनकी चिरप्रसन्न मुद्रा—कभी कभी का उन्मुक्त हास्य—ये सभी याद आते हैं, वे कभी रुष्ट भी हो सकते हैं इसकी कल्पना नहीं होती, हम लोगों ने उन्हें क्रुद्ध होते नहीं देखा।

आयुर्वेद के अतिरिक्त काव्य साहित्य के आयोजनों में भी गुरु जी सक्रिय भाग लेते थे। अनेक कवि-सम्मेलनों—सभाओं — और वाद-विवाद प्रतियोगिताओं के वे सभापति बनाये जाते थे। उत्तम वक्ता तो वे थे ही, लेखक भी—उनके 'त्रिदोष विमर्शः'—'औषध विज्ञान'— 'आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र' आदि अनेक ग्रन्थ बाद में प्रकाशित हुए। यह बहुतों के लिए आश्चर्य का विषय होगा कि गुरु जी स्वयं कवि थे, और किसी समय गीत भी लिखा करते थे। उनके गीत की कुछ पंक्तियां आज बहुधा याद हो आती हैं —

गैरों के साथ बात में मैं तो लगा रहा,<br>
प्रीतम तो मेरा घर के ही बाहर खड़ा रहा!<br>
वह बार बार द्वार पर आकर चला गया,<br>
औरों में उसका ध्यान ही मुझको नहीं रहा॥

सन् १९२७ में शिक्षा समाप्त कर हमारे बैच के साथी संस्था से विदा हुए। गुरु जी का साहचर्य भी छूट गया। फिर आगे के वर्षों में कभी-कभी गुरु जी के दर्शन वर्ष में १-२ बार ही होते रह सके। हरद्वार महातीर्थ की यात्रा के दो ही उद्देश्य— उन दिनों — हम लोगों के हुआ करते थे,— विद्या भूमि (पुण्यभूमि और गुरुकुलभूमि) के दर्शन, और गुरुवर श्रीमान् आचार्य पण्डित धर्मदत्त जी महाराज के चरणस्पर्श का लाभ।

दूर रहते हुए भी बीच में एक दिन अकस्मात् सुना कि — गुरु जी सहसा गुरुकुलभूमि त्याग कर चले गये, और अब कनखल में निवास करने लगे हैं! सुनकर स्तब्ध रह जाना पड़ा। आयुर्वेद के जिस महाशिल्पी ने, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के देशविख्यात आयुर्वेद महाविद्यालय की एक-एक ईंट जोड़ कर उस संस्था का निर्माण किया — उसे ही विदा हो जाना पड़ा? दैव की विचित्र गति है!

सन् १९५२ में अकस्मात् मेरा और मेरे परिवार का भाग्यचक्र घूमा। गुरुकुल से पत्र आया, एक बाल्यबन्धु भी आकर मिले, अतः गुरुकुल जाकर आयुर्वेद महाविद्यालय में उपाध्याय का कार्य आरम्भ किया। फिर कई वर्ष बाद अध्यक्ष (प्रिंसीपल) पद का उत्तरदायित्व मुझ पर आया। इस समय सह कर्मियों पर दृष्टि गई तो देखा कि

उस विद्याभूमि में ज्ञानवृद्ध अनुभववृद्ध और आयुर्वेद के उद्भट शिक्षकों का तो जैसे एकदम अभाव सा हो गया है। सब छुटभय्ये, या फिर रोटी पानी के धन्धे में लगे रहने वाले व्यावसायिक प्राणी रह गये हैं,–जिन्हें संस्था से कोई लगाव नहीं! सहयोगियों से परामर्श किया, और एक संकल्प लेकर मैं तथा मेरे बाल्य साथी डाक्टर सत्यपाल जी गुरु जी की सेवा में उपस्थित हुए। संस्था में आ जाने के उपरान्त उनके दर्शन करने तो बहुधा जाना ही होता था। इसी बीच पिछली अप्रिय घटनायें भी ज्ञात हो गई थीं। अतः हम लोग बहुत सहमे हुए थे। हमारे प्रस्ताव को सुनकर गुरु जी गम्भीर हो गये– शायद किसी अतीत में जा पहुंचे। फिर उनके मस्तक पर कुछ विचित्र रेखायें उभर आईं– बोले कुछ नहीं। हम लोग उस द्वार को प्रथम वार खटखटा कर चुपचाप खिसक आये। फिर भी अपने प्रयत्नों से विरत नहीं हुए, और उनकी सेवा में बराबर उपस्थित होते रहे। शनैः शनैः हमारे प्रस्ताव के मूल में विद्यमान पश्चाताप और संस्था-हित की भावना उनसे छिपी न रही, और एक दिन दयार्द्र होकर उन्होंने 'चिकित्सामहोपाध्याय' के रूप में गुरुकुल के आयुर्वेद कालेज को अपनी कुछ अंशकालिक सेवा देना स्वीकार कर लिया। तब से अनेक वर्षों तक वे अपना कुछ अमूल्य समय संस्था को प्रदान करते रहे। बाद में शारीरिक अक्षमता और अस्वस्थतावश उस कार्यक्रम की स्वयं ही परिसमाप्ति हुई।

सन् १९६५ में गुरुकुल के सेवाकार्य से निवृत्त होकर जब मैं गुरु जी से विदा लेने गया तो कुछ काल तक वे मौन भाव से देखते रहे। फिर उन्होंने दो-तीन वाक्यों में जो उद्गार प्रकट किए उनसे मैंने अपने को धन्य माना। मुझे विश्वास था कि मैं कहीं भी रहूं – गुरु जी का कृपाभाव–मुझ अकिंचन पर जैसा सदा रहा है वह आजीवन वैसा ही बना रहेगा। भावजगत् में स्थान और काल नगण्य हैं। गुरु शिष्यों के भौतिक देह दूर दूर भी रहते हैं। पर मानसिक एकात्मता का सामीप्य अमिट है।

यह कैसा अविस्मरणीय और सुखद अवसर है कि गुरु जी का अभिनन्दन होने जा रहा है। हम लोग नहीं जानते कि स्वर्ग के देवता कैसे होते हैं, कल्पनाप्रसिद्ध महामानव भी नहीं देखे। पर शायद इन दोनों का ही एक अद्भुत समन्वय – हम लोगों ने अपने विद्यागुरु परम पूजनीय श्री पं० धर्मदत्त जी महाराज में पाया है। गुरुकुल धन्य है जहां ऐसे अनुपम व्यक्ति का निर्माण हुआ। कनखल सौभाग्यशाली है जहां इस प्रकार के वीतराग – दीनबान्धव – महाज्ञानी – शिष्यवत्सल गुरु विश्राम ले रहे हैं। आश्चर्य यह कि इस विश्रान्तिकाल में भी वे अहर्निश ज्ञानसंचय और ज्ञानदान में ही तल्लीन हैं! उन महनीय चरणों में उनके इस अकिंचन शिष्य का मस्तक श्रद्धावनत है।

———

# रीतिकालीन आयुर्वेद विषयक हिन्दी साहित्य

डाक्टर श्री विष्णुदत्त राकेश, एम० ए०, पी-एच०डी०, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

सत्रहवीं शती से १९ वीं शती के मध्य का रीतिकालीन साहित्य काव्य और शास्त्रचिन्तन की विविध प्रशाखाओं की संवर्धना की दृष्टि से महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। रीति साहित्य के शृंगारी काव्य रूप को देखकर आलोचकों ने उसके उपयोगी पक्ष का सर्वथा तिरस्कार किया है। रूप सौन्दर्य, सामन्ती विलासिता, चमत्कारी प्रवृत्ति तथा बहुज्ञता प्रदर्शन की मनोवृत्ति के साथ-साथ इस युग के साहित्य में लोक व्यवहार और विविध शास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन भी प्रचुर मात्रा में हुआ है, यह तथ्य भी नवीन अनुसन्धानों से सम्पुष्ट हो गया है। अतः इस काल के साहित्य को सामाजिक अवनति तथा रुग्ण मनोवृत्ति का परिचायक कह कर सर्वथा हेय घोषित नहीं किया जा सकता। जीवनोपयोगी तथ्यों को ध्यान में रखकर ही इस युग के साहित्यकारों ने राजनीति, कामशास्त्र, शालिहोत्र या पशु चिकित्सा, ज्योतिष, रमल, सामुद्रिक, भोजनशास्त्र, सुरापान, संगीतशास्त्र तथा आयुर्वेद पर उत्कृष्ट कोटि के पद्यात्मक ग्रन्थ लिखे। संस्कृत के प्रामाणिक ग्रन्थों का हिन्दी पद्यानुवाद असंस्कृतज्ञ लोगों के लिए बड़े काम का था। मुद्रणयन्त्रों तथा शिक्षासंस्थानों के अभाव में राज्याश्रय में रहकर कलाकोविदों ने अपनी-अपनी प्रतिभाओं का ज्ञान के विविध क्षेत्रों में उपयोग किया तथा साहित्यिक कृतियों के निर्माण से जनमानस को आकृष्ट करने का प्रयत्न किया। भक्ति धारा के विरुद्ध दरबारीछाया में पलने वाले इस साहित्य में जीवन के ऐहिक पक्ष के विविध रूप मुखरित हो रहे थे। प्रेम और शृंगार के अतिरिक्त जीवन की अन्य आवश्यकताओं से सम्बन्धित ज्ञान-विज्ञान की प्रशाखाओं पर लिखे गए साहित्य की राशि मात्रा में शृंगारी काव्यधारा से नगण्य नहीं है। राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार पंजाब तथा उत्तरप्रदेश के राज्यपुस्तकालयों से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थों के खोजविवरणों से यह तथ्य पूर्ण स्पष्टता के साथ उभर कर सामने आया है।

यों रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध तथा रीतिमुक्त काव्य में भी मृगया प्रशंसा, रत्नपरीक्षा, पक्षीवर्णन, ज्योतिष तथा आयुर्वेद विषयक अनेक तथ्यों की अभिव्यक्ति प्रकारान्तर से हुई है। किन्तु स्वतन्त्र विषय के रूप में उक्त विषयों पर प्रामाणिक रूप से ग्रन्थरचना शास्त्र-विद्या की दृष्टि से अधिक उचित तथा उपयोगी कही जायगी। संस्कृत के मूल कठिन ग्रन्थों के अनुवाद में भावानुवाद की प्रणाली अपनाई गई है। किसी भाषा की अभिव्यक्ति में निहित उसकी निजी विशेषताओं का प्रदर्शन दूसरी भाषा में सर्वथा असम्भव है,अतः वे सारी विशेषताएं इन अनूदित ग्रन्थों में नहीं आ पाईं जिनका भास्वर प्रयोग मूल ग्रन्थों में हुआ है। इस प्रकार अनुवादगत शैथिल्य के रहते हुए भी विषय-बोध की सार्वजनीन सुलभता की दृष्टि से ऐसी कृतियों का महत्व असन्दिग्ध और लोकोपयोगी सिद्ध हो जाता है। प्रस्तुत निबन्ध में हम आयुर्वेद सम्बन्धी ऐसी ही महत्वपूर्ण हिन्दी कृतियों का परिचयात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत कर रहे हैं जो गत दशकों के अनुसन्धानक्रम में हस्तलेखों के रूप में उपलब्ध हुई हैं।

(१) १६६५ वि०में जानकवि ने १०१ दोहों का वैद्यकमति नामक ग्रन्थ लिखा। वैद्यक की शिक्षा देना ही कवि का इष्ट है। वैद्यकमति ग्रन्थ से इस आशय के तीन दोहे उद्धृत किए जाते हैं—

आदि अल्लह को नाम लै, दोम मोहम्मद नाम।
वैद्यक मत को सीख दै,कहत जान अभिराम ।।१

कहत जानकवि यौं लिख्यौ, वैदकग्रन्थन मांहि।
अनुरुचि ह्वै तौ लिख्यौ, वैदक ग्रन्थन मांहि।
सोरह सै पंचालवैं ग्रन्थ कियौ यह जान।
वैदकमति यह नाम है भाख्यौ बुद्धि प्रमान ।।१०१

(२) १७००वि० के लगभग लिखा किसी अज्ञात कवि का अतिसार निदान ग्रन्थ प्राप्त हुआ है। इसमें पहले रोग का लक्षण दिया गया है फिर औषधि का उल्लेख किया गया है। जैसे--

अजीर्ण रसहिं विकार रुख मद मानहीं।
सीतल उष्ण स्निग्ध गमन जल पांन ही ।।
कृमि मिथ्या भय सोक करें बहु खेद ही।
उपजै यूं अतिसार बखान्यौ वैद ही ।।१।।

१९वें छन्द में इस की औषधि लिखी गई है--

आंवा गिटक अरुबिल्व अतीस,ए सब दारु समकर पीस
तदुंल जल चूरण हु खाय, रक्त सकल अतिसार मिटाय

(३) १७२६ वि० में मरोट निवासी रामचन्द्र ने २५२५ छन्दों में शारङ्गधर भाषा का अनुवाद वैद्यविनोद नाम से किया। ग्रन्थ निर्माण के सम्बन्ध में कवि का साक्ष्य है--

सारंगधर अति कठिन है बाल न पावै भेद,
ता कारण भाषा कहूं उपजै ज्ञान उमेद ।।५।।
पण्डित भाषा देखि कै करिस्यै मोकूं हासि।
सारंगधर तो सुगम है यों ही कियो प्रकास ।।७।।
विविध चिकित्सा रोग की करी सुगम हित आंणि।
वैद्य विनोद इण नाम धरि यानै की यो वखाणि ।१०
६ २ ७ १
रस दृग सागर शशि भयौ रितवंसत बैसाख,
पूरणिमा शुभ तिथि भली ग्रन्थ समाप्ति इह भाव ।६९

इसी कवि की दूसरी कृति ५८ वाक्यों की नाड़ी परीक्षा है, जिसमें नाड़ियों की प्रकृति और उनकी रोग निश्चय में महत्वपूर्ण भूमिका का परिचय दिया गया है।

(४) १७२८ वि० में कृष्णानन्द ने ४६ दोहों में गन्धककल्प या आंवलासार की रचना की। इस कृति में शिव पार्वती संवाद के रूप में गंधक की प्रक्रिया तथा उसके महत्व की स्थापना की गई है।

सुन देवी अब कहत हैं, गंधक विध समझाय,
अजर अमर होय जगत में जो कोइ ऐसे खाय ।१।
कृष्णानन्द विचार कैं कह्यौ यहै उपदेस।
गन्धक विधि ऐहैं चुकी पाइए सिद्धि हमेस ।४६।

(५) १७४० वि० की लिखी हुई ९६ पद्यों की एक कृति निजोपाय प्राप्त हुई है इसमें विविध अंगों के रोगों के लक्षण दिए गए हैं। उदाहरण के लिए नेत्रांजन का प्रयोग इस कृति से उद्धृत किया जाता है--

एक पीया अरु आंवरे, दारचीणी से आंनि।
महलोठी मिश्री जु संग सब ही पीस समानि ।६५।
जलसौं गोली बांधिये, गुंजा के परमान।
अंजन करि है नैन कूं, सकल दोष होइहान ।६६।

(६) १७४१ वि० में लक्ष्मीवल्लभ ने १७८ पद्यों की कालज्ञान नामक पुस्तक लिखी। पुस्तक लिखने का प्रयोजन कवि के शब्दों में ही सुनिए--

जग वैद्यक विद्या जिती, कहीं न विद्याऔर।
फलदायक परतखि प्रगट, सब विद्याकौ मोर ।६५।
चंद१ वेद४ मुनि७ भू१ प्रमित संवतसर नभमास।
पूनम दिन गुरुवार युत सिद्ध योग सुविलास ।७०
ऐसे काल ग्यान कौ, कह्यौ पंचम समुदेस,
सुगुरु इष्ट प्रसाद हैं, लिख्यौ अर्थ लवलेस ।७८।

(७) १७५४ वि० में मान कवि ने कवि विनोद की रचना की। इसमें ज्वरनिदान, ज्वर-चिकित्सा, सन्निपात तेरह निदान तथा औषधि विधान प्रस्तुत किया गया है--

संवत सतरह सइ समइ, पैंताले वैसाख,
शुक्ल पक्ष पंचम दिनइ, सोमवार यह भाख ।९।
और ग्रन्थ सब मथन करि, भाषा कहौं बखान,
काढ़ा औषध चूर्ण गुटि करै प्रगट मतमान ।१०।

संस्कृत शब्द न पढ़ि सकै अरु अच्छर सै हीन ।
ताके कारण सुगम ए तातैं भाषा कीन ।२७-९।

इसी कवि ने १७४६ वि० में १९४४ पद्यों का कविप्रमोद नामक बृहत् ग्रन्थ लिखा । इस ग्रन्थ के उपस्कारक ग्रन्थों का उल्लेख कवि के शब्दों में सुनिए--

वाग्भट सुश्रुत चरक मुनि अरु निबन्ध आत्रेय,
खरनाद अरु भेड़ ऋषि रच्यौ तहां सो लेय ।९२।
मन में उपजी बुद्धि यह भाषा कीजै आन ।
सब सुखदायक ग्रन्थ मत भाषा में परधान ।९३।
रोग हरन सब सुख करन सब ही के हित काज ।
और जु भाषा नाव सम कीनौ एह जहाज ।९५।

(८) १७५१ वि० में बीकानेर निवासी लक्ष्मी-वल्लभ ने ३७ पद्यों में मूत्रपरीक्षा की रचना की । इस रचना का आदि पद अप्राप्य हैं । अन्त में कृति, कृतकार तथा कृति-निर्माण के कारण उल्लेख हुआ है--

मूत्रपरीक्षा यह कही लछि बल्लभ कविराज,
भाषाबन्ध सु अति सुगम बाल बोध के काज ।३७।

(९) १७६२ वि० में जोगीदास बीकानेरी ने वैद्यकसार की रचना की । जोगीदास श्वेताम्बर जैन थे । श्रीमन्महाराज जोरावरसिंह के आश्रम में सात अध्यायों में दास कवि ने उक्त ग्रन्थ की रचना की । इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विवरण दृष्टव्य है--

जोरावर महाराज की, उपज लखी कविराय,
भाषा शुभ करि कै कहूं, वैद्यक सार बनाम ।११।
जिनि वह जोसीराम सुत, जानहुं जोगीदास,
संस्कृतभाषा भनि सुनत, भौ भारती प्रकास ।७४।
नयन२ खंड६ सागर७ अवनि१ ऊजल आश्विनमास,
दसम द्यौस कवि दासकहि पूरन भयो प्रकास ।

(१०) १७६४ वि० में शालिनाथ प्रणीत संस्कृत ग्रन्थ रसमंजरी का १० अध्यायों में पद्यानुवाद जैन कवि समर्थ ने किया । यह ग्रन्थ ६३८ पद्यों में क्रमशः रसशोधन, रसमारण, उपरसशोधन, विष लक्षण-परिहार, स्वर्णादिधातु शोधन, वीर्यरोधन, छाया पुरुष लक्षण तथा रस चिकित्सा की प्रामाणिक जानकारी देता है । लेखक का मन्तव्य इस प्रकार है--

शालिनाथ कृत मंजरी, संस्कृतभाषामांहि,
समझिन आवत मूढ़ की, व्याकुल होती है आहि ।८।
ताते भाषा करत है, श्वेताम्बर समरत्थ,
सुगम अरथ सरलता मूरख जन के अर्थ ।९।
संवत सत्रह सै चौंसठि समै,
फाल्गुन मास सब जन को रमै,
बनवाली को आग्रह पाइ,
कियो ग्रन्थ सुमतिन्ह समझाइ ।
रसविद्या में निपुण जु होइ,
जस कीरति पाये बहु लोइ ।४४।

(११) १७४९ वि० में जनार्दन भट्ट ने वैद्यरत्न की इस कृति में सामान्य रोगचिकित्सा की दृष्टि से रोग का लक्षण और उपाय दिए गए हैं--

सत्रह सै उनचास सुदि माघ मास रविवार,
तिथि षष्टी पूरन भयो वैद्यरत्न शृंगार ।

(१२) प्रयाग के दयाराम त्रिपाठी ने १७७९ वि० में वैद्यकविलास की रचना की । ग्रन्थ का विवरण इस प्रकार प्राप्त है--

खंड९ दीप७ मुनि७ मेदनी१ विक्रम साह सुजान,
संवत मुनि साके सुनो सालिबाहिनी नाम ।
सालवाहिनी नाम वेद विधि मुख रच चंदा ।
तूल कै प्रगट पतंग सेत कहत कविंदा ।
दया सुधा सुध ग्रन्थ सिद्धि भृगु खेती आखे,
उदित सयन प्रभु पूजि ग्रन्थ वैदक करि भाखे ।

(१३) १७८५ वि० में ७०० पद्यों में कृपाराम ने नयनदीप नामक ग्रन्थ की रचना उदयपुर नरेश महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय की आज्ञा से की ।

हस्तलेख की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि ग्रन्थ की उपलब्ध प्रति का लेखन १९९४ श्रावण कृष्ण सप्तमी भृगुवार को हुआ। इस ग्रन्थ में नेत्र में उत्पन्न होने वाले विविध रोगों के लक्षण तथा रोगमुक्ति के उपाय लिखे गए हैं। ग्रन्थ-निर्माण के सम्बन्ध में कवि की स्वीकारोक्ति पठनीय है--

नगर उदयपुर प्रगट जग, सेवत नृपति समाज,
तहां रान संग्राम सिंह करत इन्द्र ज्यों राज ।४।
कवि पण्डित बहुतै गुनी, औरै वैद्य समाज,
आग्या करी कृपाल को राजा के महाराज ।१०।
कितै नैन के रोग हैं, बरनों तिन्हें बनाय,
ज्यों निदान लछन सहित, सुश्रुत चरक गनाय ।११।
प्रभु आयस ते ग्रन्थ जिन, विविध सुनाए आंनि,
नयन दीप रचना सरस, भाषा करी बखानि ।१६।

(१४) १८८० वि० में बदायूं निवासी चतुर्भुज-दीक्षित के पुत्र गंगाप्रसाद ने सुबोध नामक आयुर्वेद-ग्रन्थ की रचना की । कायचिकित्सा का पूर्ण निरूपण इस ग्रन्थ में हुआ है। ग्रन्थ का रचनाकाल कवि के शब्दों में इस प्रकार है--

संवत ठारह सै असी, चैतशुक्लतिथि काम,
सोमवार शुभ योग में कियो ग्रन्थ अभिराम ।

(१५) १८८७ वि० में अनन्तराम कवि ने जयपुर नरेश प्रतापसिंह के आदेश से वैद्य विनोद-भाषा की रचना की। डा० मोतीलाल मनोरिया ने इसका रचनाकाल १८८५ वि० दिया है। अधिक विवरण उपलब्ध नहीं होता।

(१६) गोंडा राज्य के आश्रित कवि सुखलाल ने गुमानसिंह की आज्ञा से १८९२ में वैद्यकसार की रचना की। इस ग्रन्थ में भी चिकित्सा के सभी पक्षों पर संक्षेप में विचार किया गया है, वैद्यक सार की प्रति का अन्तिम दोहा है--

संवत लोचन२ रन्ध्र९ वसु८ ससि१ मधुमास विचार
कृष्ण चतुर्दशि सौम्य दिन पूरन वैद्यक सार ।

(१७) बांदा जिले के गौरिहर स्थान के निवासी गिरिधर भट्ट ने १९१२ वि० में भावप्रकाश का पद्यानुवाद किया। किन्तु यह ग्रन्थ भी अविकल अनुवाद न होकर विषय का प्रामाणिक और सारपूर्ण स्वरूप ही स्पष्ट करता है--

यह आसय को पाइ कै, आनन्द भयो निकंट ।
कवि गिरिधर भाषा रचत भावप्रकाश निघंट ।
रासि१२ निरखि ग्रह९ छिति१ असित भादु-
चतुररस चन्द्र,
हरीलक्यादि निघंटु को भाषा करत दुचंद ।

इन कृतियों के अतिरिक्त अन्य गद्य-पद्यात्मक आयुर्वेद विषयक कृतियां भी शोध में प्राप्त हुई हैं। १९०० वि० के लगभग श्रीपति भट्ट कृत ग्रन्थ रोगविनिश्चय का अनुवाद 'रोग उपाय' नाम से हिम्मत खां द्वारा जोधपुर में प्रस्तुत किया गया। १९११ वि० में मथुरा जनपद के निवासी शिवदत्त सनाढ्य ने सादाबाद में वैद्यक भाषा ग्रन्थ की रचना की। १९१२ वि० से पूर्व बाराबंकी के रामनगर निवासी हुलासराम पाठक ने वैद्यविलास का प्रणयन किया। बालतन्त्र भाषावचनिका तथा माधवनिदान भाषा कृतियों के लेखक का नाम और रचना काल अज्ञात है किन्तु इन दोनों ग्रन्थों के हस्तलेख १९०० के लगभग प्राप्त होते हैं। तिब्बिया चिकित्सा पद्धति पर भी दो ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। एक है डेरा इस्माइलखान निवासी दरवेश हकीम का १८७ पद्यों में निर्मित 'प्राणसुख' और दूसरा है मूलकचंद निर्मित "वैद्य हुलास तिब्ब सहावी भाषा।" वैद्य हुलास ५१८ पद्यों का ग्रन्थ है तथा प्राण सुख की नाड़ीपरीक्षाप्रणाली की अपेक्षा विषय की अधिक विस्तृत जानकारी देता है।

अस्तु, कहा जा सकता है कि आत्रेय, चरक, सुश्रुत, वाग्भट, हारीत, भावप्रकाश आदि प्रामाणिक कृतियों को आधार बनाकर सरल भाषा में सुकुमार

मति वाले रसिकों के लिए रीतिकालीन साहित्यकारों ने आयुर्वेद विषयक कृतियां प्रस्तुत की। इससे एक ओर परम्परागत ज्ञानराशि की संरक्षा हुई तो दूसरी ओर हिन्दी साहित्य के आयाम के विस्तार में योग मिला। पद्यात्मक होने से विषय को कंठस्थ करने में सहायता मिली तथा व्रजभाषा की प्रेयसी के मुख से निःसृत विषय की गरिमा से सुरभित रोगलक्षण और निदान की कड़वी औषधि को सहृदय ऐसे पी गया कि जिज्ञासा की प्यास तनिक भी शेष नहीं रही। कदाचित् यही बात ध्यान में रख कर अपभ्रंश के मर्मज्ञ कवि सातवाहन हाल ने गाह सत्तसई में यह गाहा संकलित की होगी—

सुहपुच्छि आइ हलिओ मुह पंक असुरहि पवणणिव्वविअं तह पिअइ पअइ कडुअंपि ओसहं जहण णिट्ठाइ "सुख पृच्छिका या हलिको मुखपंकज सुरभि पवन निर्वापितम् तथा पिवति प्रकृति कटुकमप्यौषधम् यथा न तिष्ठति ४।१७

अर्थात् 'कुशल समाचार पूछने के लिए आई हुई प्रेयसी के मुख कमल की सुगन्धित वायु से शीतल की हुई, प्रकृति से ही कड़वी औषधि को भी हलिक ऐसे पी जाता है कि तनिक भी शेष नहीं रह जाती।

---

# आचार्य वैद्य धर्मदत्त, आधुनिक धन्वन्तरि

डाक्टर सूर्यदेव प्राणाचार्य, आयुर्वेदालंकार, आर्यसमाज मार्ग, गोरखपुर

सन् १९३७ दिसम्बर की घटना है। लेखक उन दिनों श्रद्धानन्द स्मारक हौस्पिटल में हाउस सर्जन का कार्य करता था। एक दिन एक ठिगना, गोरा, पंजाबी नवयुवक आया। उसकी रीढ़ की हड्डियों में वक्रता थी। दाहिना फुफ्फुस-पार्श्व अत्यधिक उभरा हुआ था। रोगी को हल्का ज्वर था। डाक्टरों ने जबाब दे दिया था। रोगी निराश था और हरिद्वार में प्राणत्याग करने के लिए आया था। संयोगवश हमारे चिकित्सालय में आ गया। रोगी की परीक्षा कर मैंने वैद्य श्री धर्मदत्त जी को सूचना दी। वे शीघ्र आये और अत्यन्त गम्भीरता से उन्होंने लगभग ३० मिनट तक रोगी की परीक्षा की। फुफ्फुस उत्स्वेद्य (Pleural Bulging) से सूचिका प्रवेश कर पूय की परीक्षा की गई। अत्यधिक मात्रा में क्षय के कीटाणु विद्यमान थे। परन्तु निष्ठीवन कफ में क्षयकीटाणुओं की अनुपस्थिति थी। रोगी मास से बीमार था। उस समय जीवाणु निरोधी (Anti Biotics) का प्रचलन नहीं हुआ था। चिकित्सा के लिए रोगी से परामर्श करना आवश्यक था।

मैं और श्री वैद्य जी आपरेशन थियेटर में गये उन्होंने कहा "रोग तो बड़ा कठिन है। रोगी जीवन की आशा छोड़ चुका है, परन्तु चिकित्सक को अन्तिम श्वास तक निराश नहीं होना चाहिए।" सर्वप्रथम रोगी के पूय-निष्कासन ( Aspiration ) की व्यवस्था की गई। दूसरे दिन लगभग ३ पौण्ड पूय उन्होंने मेरी सहायता लेकर निकाला। निम्न औषधियां दी गईं।

(१) बसन्त मालती १ रत्ती
पिप्पली चूर्ण—४ रत्ती
कुरंगशृंग भस्म—३ रत्ती
ऐसी–३ मात्रा वासावलेह से

(२) द्राक्षासव—आधा औंस
मृगमदासव—३ बूंद
रसोन सुरा—३० बूंद
जल—आधा औंस

---

ऐसी—२ मात्रा भोजन के बाददोनों समय

(३) सोते समय मधु से देने के लिए—
महामृगांक रस १ रत्ती.

(४) कैल्शियम ग्लूकोनेट १०. सी.सी.
रिडाक्सन .५ सी.सी.

---

सप्ताह में दो वार शिरान्तः सूचीवेध।

१५वें दिन पुनः पूय निष्कासन किया गया। पूय कुछ कम निकला। चिकित्सा चलती रही। लगभग चार मास में चार पांच बार पूय निष्कासन ( Aspiration ) किया गया। रोगी पूर्ण स्वस्थ हो कर चला गया। यह है हमारे श्रद्धेय वैद्य धर्मदत्त जी की चिकित्सा चातुर्य का स्वानुभूत अनुभव!

एक और घटना। श्रद्धानन्द मैमोरियल आउट डोर हास्पिटल में मसूरी के नेत्र-शल्यक (Ophthalmic Surgeon ) डाक्टर बलवन्त राय के लगभग १ हजार रोगियों की नेत्रचिकित्सा कर चुके थे। कैटरैक्ट अधिमांस टिरीजिअम ग्लोकोमा आदि के रोगियों के आपरेशन हो चुके थे। वे मसूरी चले गये परन्तु रोगी आते रहे। माननीय वैद्य धर्मदत्त जी को मैंने सूचना दी। वे आये, उन्होंने उन १० रोगियों को जिनको वार्द्धक्य काच ( Senile cataract ) था, औपरेशन करने की तैय्यारी करने का मुझे

मान्यवर डाक्टर सम्पूर्णानन्द जी, श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी के साथ आचार्य धर्मदत्त वैद्य विराजमान हैं।

आदेश दिया। आपरेशन किये गये। शतप्रतिशत सफलता मिली। उस दिन मैंने जाना कि माननीय वैद्य जी आधुनिक चरक ही नहीं परन्तु धन्वन्तरि भी हैं।

आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व आयुर्वेदीय चिकित्सा शास्त्र एवं पुरातन आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति का समन्वय वैद्य धर्मदत्त जी ने किया था वह लगभग आधी शताब्दी से विद्वानों का मार्ग-दर्शक रहा है। उनका औषधि-विज्ञान राष्ट्रभाषा हिन्दी की १९३४-३५ में एक अनुपम कृति थी। आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त त्रिदोष पर उनकी समन्वयात्मक विवेचना आज भी विद्वानों के लिए मार्गदर्शक है। आधुनिक चिकित्साशास्त्र लिखकर तो उन्होंने आयुर्वेद को इस देश की राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति घोषित करने का मार्ग उद्घाटित कर दिया है। यह बृहद् ग्रन्थ समन्वयात्मक चिकित्सा का अद्यावधि सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। ऋषि धर्मदत्त का चरक प्रतिदिपादित आदर्श वाक्य था--

तदेव युक्तं भैषज्यं, यदारोग्याय कल्पते।
सचैव भिषजां श्रेष्ठः यः रोगेभ्य प्रमोचभेत्॥

आज उनकी हीरक जयन्ती के अवसर पर उनके चरणों में अपने प्रसून अर्पित करता हूं। विश्व नियन्ता उनको चिरंजीवी करें और वे अपने जीवनावधि में ही महान आयुर्वेद को इस पवित्र देश की राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति घोषित होता सुन सकें। एवमस्तु।

———

# श्रीवैद्यधर्मदत्तवरेण्यानां
## ससमरणमभिनन्दनम्

श्रीनरहरिर्भट्टः--वेदान्त-दर्शनाचार्यः-कनखल

अस्माकं भारतीयसंस्कृतिः संसारे सुतरां सुप्रसिद्धेति को नाम मर्त्यो न वेत्ति। संस्कृतेर्मूलं वेदाः। पाश्चात्त्या गवेषका आंग्लविद्वांसोऽपि वेदवेदान्तदर्शनादिविषयान् कार्त्स्न्येनाधीत्य सम्यक् तत्तत्त्वं विदन्ति। तेऽपि किल नस्संस्कृतिं भूयिष्ठं प्रशंसन्ति, संगिरन्ते च भारतीयानां संस्कृतेर्मूलं चत्वारो वेदास्सन्तीति। अत्रत्यविदुषामपि खल्वयं राद्धान्तः सुतरां सर्वत्र विद्वत्सु विलसति।

धर्म्मकर्म्मनिष्ठोऽयं भारतदेशः। धर्मं विरहय्य पदमेकमपि प्रचलितुं नार्हति। धर्म्मश्च वैदिक एवेति निश्चप्रचम्। उपजीव्योपजीवकभावेनैव वेदस्य धर्म्मस्य च प्राधान्यङ्गरीयस्त्वञ्च। अतो वेदमूलिकेयं सनातनार्य्यसंस्कृतिः। वेदाश्चापौरुषेयाः सर्वज्ञादीश्वरात्प्रादुर्भूताः सन्ति। अत्र प्रमाणानि,

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्॥

अथर्व० का०१०।प्र०२३।अ०४।

तस्माद्यज्ञात्सर्व्वहुत ऋचस्सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

यजु०अ०३१।मं०७।

अस्य महतो भूतस्य निश्श्वसितमेतद्।
यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदस्सामवेदोऽथर्ववेदः॥

बृ०उ० २।४।१०।

एतैर्मन्त्रपदैर्हि वेदानामीश्वरादेव प्रादुर्भावश्श्रूयते। अतो वेदा भ्रमप्रमादविप्रलिप्सादिनानादोषातंकविरहिताः। अतः सर्व्वतोभावेन वेदानां सुरक्षा सुतरामावश्यकी। वेदेषु कृत्स्नेषु च संरक्षितेषु भारतीयधर्म्मस्य संरक्षा सम्प्रतिष्ठा च निश्चितैव "छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्" इत्यभियुक्तोक्त्या वेदप्रचारप्रसारे विच्छिन्ने सति तन्मूलकस्य धर्म्मसंस्कृत्यादेरपि विच्छिन्नताऽवश्यम्भाविनी। अतो वेदरक्षणेन सर्व्वमेव रक्षितं स्यात्, तस्माद्वेदा अपि "रक्षन्ति रक्षिताः"। मनुना कण्ठरवेणाभिहितम्--"वेदोऽखिलो धर्म्ममूलम्"। वेदानां गौरवेण गौरवान्वितोऽयं रत्नायमानो भव्यभारतभूभाग इदानीमपि पाश्चात्त्यैर्विद्वत्तल्लजैः सप्रश्रयं समर्च्चितो हि परिदृश्यते। अतो हि भारतीयविदुषां साधीयसी सत्यसन्धेयमद्यत्वेऽप्यनपोदिता दृश्यते यद् "ब्राह्मणेन निष्कारणष्षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति।" याज्ञवल्क्यस्मृतौ लिखितं यत्--

पुराणन्यायमीमांसाधर्म्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदास्स्थानानि विद्यानां धर्म्मस्य च चतुर्दश॥

एतास्सर्व्वाश्चतुर्दशविद्याः, आसु चत्वारो वेदा एव मुख्यत्वेनोपात्ताः। पुराणादीनां वेदार्थावबोधन एवोपयोगः। यो हि विप्रो वेदार्थान्नाभिधत्ते तस्माच्छ्रुतिर्नूनं बिभेति उक्तमत्र--"बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति" इति अतः षडङ्गो वेदोऽध्येतव्य इति। मनुना अप्युक्तं--"वेदोऽखिलो धर्ममूलमिति" तत्र गीतायामपि "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" वाक्यद्वयस्यायमाशयो यद् वेदोऽखिलो धर्म्ममूलमिति। धर्म्मज्ञानं च वेदादेव भवितुमर्हति। अत्र नास्ति विचिकित्सालवोऽपि।

अतो भारतीयसंस्कृतेर्मूलाधाराश्चत्वारो वेदा एव। एतेषामुपवेदा अपि चत्वारस्सन्ति। उपवेदविषये शौनकीयचरणव्यूहपरिशिष्टे लिखितमस्ति--"ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेदो, यजुर्वेदस्य धनुर्वेद उपवेदः, सामवेदस्य गान्धर्ववेदोऽथर्ववेदस्यार्थशास्त्रं चेत्याह भगवान् व्यासः" आर्षग्रन्थे सुश्रुते "आयुर्वेदः अथर्ववेदस्योपवेदोऽभ्यनुज्ञातः। अत्र किमुचितं शास्त्रगवेषका निश्चाययन्तु नाम।

वेदशास्त्रमन्तरा धर्म्मज्ञानं दुश्शक्यं, तथैव

आयुर्वेदशास्त्रमन्तरा शारीरिकं ज्ञानमपि असम्भवमिति प्रत्यक्षसिद्धं हस्तस्थापितामलकवदिति ।

अतः श्रीवैद्यप्रवरधर्मदत्तमहाभागा वेदादिशास्त्राण्यधीत्य तद्विज्ञानं च निखिलं विज्ञाय आयुर्वेदोपवेदमपि कात्स्न्र्यं कण्ठेहत्याधीतवन्त इति ।

अध्ययनक्रमश्चेत्थम्

श्रीवैद्यवरस्य वेदादिशास्त्राणामध्ययनं समस्तं 'गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालये' सम्पन्नम् । सप्तदशाधिकैकोनविंशतिशततमे ख्रीष्टाब्दे (सन् १९-१७) 'विद्यालंकार-सिद्धान्तालंकारयोः' परीक्षामुत्तीर्यायुर्वेदशास्त्रमध्येतुम्मद्रप्रदेशं प्रस्थितः । तदानीमत्रोत्तरप्रदेशे आयुर्वेदाध्ययनस्य काचिद् विशिष्टा व्यवस्था नासीत् । तत्र विद्यालये प्रविश्य त्रिषु वर्षेष्वेवायुर्वेदभूषणपरीक्षामुत्तीर्य प्रशंसाभाक् सञ्जातः ।

मद्रदेशे यत्रायमधीयान आसीत् तत्र प्रिंसिपलपदे श्री पं० बी. गोपालाचार्य्या आसन् । इमे हि देवभाषायां महान्तो विद्वांस आसन् । डा० लक्ष्मीपतिमहोदया 'असिस्टेन्ट' सहायकरूपेण कार्यमनुतिष्ठन्ति स्म । आभ्यां सह वैद्यधर्मदत्तस्य महत्प्रेम सौहार्दञ्चासीत् । परीक्षान्ते ततो व्याघुट्य भूयोऽत्र हरिद्वारे ह्यागत्य निवासमकरोत् । अत्रान्तरे गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयीयोपकुलपतिश्रीस्वामिश्रद्धानन्दवर्य्यैरायुर्वेदाध्यापनार्थं सन् १९२१ एकविंशत्युत्तरैकोनविंशतिशततमे वर्षे आयुर्वेदोपाध्यायपदे सादरं सप्रेम नियुक्तः। सन् १९४० चत्वारिंशदुत्तरैकोनविंशतिशततः सन् १९४३ त्रिचत्वारिंशदुत्तरैकोनविंशतिशततस्य आंग्लमईमासपर्य्यन्तमेष महाभागो गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालये आयुर्वेदमहाविद्यालयस्य 'प्रिंसिपल' पदोपरि वर्षचतुष्टयं यावत्समासीनो ऽभवत् ।

तत्पश्चान्मनागविरम्य स्वकीयं कार्य्यं जीविकां सेवां चोद्दिश्य कनखले पुण्ये तीर्थे प्रारभत् । स्वातन्त्र्येण च चिकित्साप्रयोगद्वारा सर्व्वजनानां सेवां विधातुं संनद्धः । अल्प समय एवैतस्य वैद्यवरस्य प्रभूता प्रख्यातिः सर्व्वत्र समजनि । सुदूरादागत्य रुग्ग्रस्ता जनास्स्वकीयमामयमपाकुर्व्वन्ति स्म ।

एतेषां पितृचरणाः परमधार्म्मिकाः, गुणगौरवशालिनः, शास्त्राचारविचारसमन्वितास्सन्तस्स्वकीयं सर्व्वं समयं सच्छास्त्रस्वाध्यायेन यापयन्ति स्म । पितुर्नामधेयं 'महाशयखुशालीराम' इत्यासीत् । पत्रस्था जनपदस्थास्सर्व्वे सादरं सप्रेम सविनयं 'महाशय' इति शब्दपूर्व्वं नामोच्चारणं कुर्व्वन्ति स्म । असौ महाभागो रेल्वे विभागे 'स्टेशनमास्टर' इति पदे नियुक्तस्सन् कार्य्यं विदधाति स्म । समस्तरेल्वे विभागस्थाः शिष्टा जना आदरातिशयेन तं निभालयन्ति स्म ।

श्रीवैद्यवरस्य प्रतीक्ष्याया मातुः पुण्याभिधानं 'जमुनादेवी' इत्यासीत् । सा गुजरांवाला स्थानस्य वास्तव्या, आकृतया रूपवती वन्दनीया च देवी आसीत् । मातुः सौम्यतामधुरताद्या अनेके गुणाः साक्षात्प्रतीयन्ते स्म । एषा हि विद्वन्नागरवृन्देष्वर्चिता आसीत् ।

श्रीवैद्यवरस्य जन्मभूः, लायलपुरमण्डलान्तर्गतं 'चिन्यौट' इति पत्तनमासीत् । जन्मनाम 'वजीरचन्द्रः' कृतः, दीक्षान्ते 'धर्मदत्त' इति नामकरणमभूत् । एतस्योद्वाहसंस्कारो वैदिकरीत्या जालन्धरजनपदे श्रीमतो माधोरामस्य चिरंजीवया शोभाढ्यया कुमार्या सावित्रीदेव्या साकं १९१९ आंग्लसम्वत्सरस्य ज्येष्ठमासि धर्म्मसमये महता समारोहेण सम्पन्नः ।

श्रीवैद्यप्रवराणां विशेषगुणाः

अयं हि सौम्यस्वभावः, गभीरः, विविच्यकार्य्यकारी, शास्त्रधिषणासमुपेतः, नीतिकुशलः, मितभाषी मधुरभाषी च । एते हि गुणाः स्वभावसिद्धाः सन्ति । अयं हि महान् चिकित्सकः चिकित्सकेषु ये गुणाश्चिकित्साशास्त्रेऽभिहितास्ते सर्व्वे

गुणा अत्र दृश्यन्ते । रुग्ग्रस्तेन रोगिणा साकं कथं व्यवहर्तव्यमिति विषये केचन एव चिकित्सकाः सिद्धा भवन्ति । परमस्मिन्विषयेऽपि अयं सफलोऽवतरति । इत्थं व्यवहारेण रोगिष्वपि प्रशंसाभाग् संजातोऽयं महाभागः ।

अयं हि चिकित्साविषयकविज्ञानस्य सूक्ष्मपरिज्ञाता । शल्यक्रियाचिकित्सायामपि पूर्णतामाधत्ते । नेत्रचिकित्साया अयं सफलचिकित्सकः, नेत्रातंकेन पीडिता मानवाः सुदूरादागत्य स्वकीयां चिकित्सां कारयित्वा स्वस्थीभूय गेहं स्वस्य गच्छन्ति । आयुर्वेदीयचिकित्साशास्त्रिषु वैद्यप्रवरस्य यत्र-तत्र बाहुल्येन प्रशंसा ख्यातिर्वा समाकर्ण्यते ।

इदानीन्तनाः डाक्टरमहाभागाः 'एलोपैथिक'-'होम्योपैथिक' 'चिकित्सा' पथमनुसृत्यामयापाकरणे समर्था जायन्ते । त्रिपथमाकलय्यापि चिकित्साकरणे नितरां नदीष्णोऽयमिति विज्ञवैद्यवरेषु सुतरां ख्यातिमगात् ।

अयं हि वैद्यप्रवरः स्वप्रातिभशक्त्या पञ्चाऽपूर्व्वग्रन्थान् विलिख्य प्रकाशितवान् । तेषु स्वोपज्ञायाः अपूर्व्वपाण्डित्यपरिचयं प्रदाय विद्वच्चिकित्सकेषु महतीं ख्यातिमासादितवान् । सन्दृब्धग्रन्थानाम्परिचयः समासेनात्र प्रदीयते । तथा हि—

१– "ओषधिविज्ञानम्"

श्रीवैद्यवरस्येयमादिमा रचना । १९३४ आंग्लसंवत्सरे विरच्य अनुभूतयोगमाला-प्रेस-इटावा नगरान्निर्गता । अस्मिन् ग्रन्थे ओषधिविज्ञान-विषये बहु मार्म्मिकं कणेहत्यालोडनं कृतम् । तज्ज्ञानां कृत उपादेयम्पुस्तकरत्नमिति विज्ञवैद्यवरैः प्रोच्यते ।

२– "त्रिदोषविमर्शः"

अयं ग्रन्थः संस्कृतभाषायां वर्त्तते । १९३५ आंग्लाब्दे लवपुरे मुद्रितः । अस्य प्रकाशको मोतीलालबनारसीदासश्रेष्ठी वर्तते । अस्मिन् ग्रन्थे समस्ता रोगास्त्रिदोषजन्या इति विषये सूक्ष्मरूपेण विचारितम् ।

३– "आयुर्वेदिक इन्टरप्रिटेशन आफ मैडिसिन" अथवा (चिकित्सायाः आयुर्वेदिक दृष्टिः) अयं हि ग्रन्थ आंग्लभाषायां सन्दृब्धः । १९५२ आंग्लवत्सरे संदानितः । अस्य पुस्तकस्य विशेषतां प्रतिसन्धायोत्तरप्रदेशस्य सर्व्वकारेण पारितोषिकम्प्रदाय बहु प्रशंसितम् ।

४– "आधुनिक चिकित्साशास्त्रम्"

अयं ग्रन्थः किलाकारेण सुतरां बृहद् वर्त्तते । हिन्दीभाषायां मूलम् । १९६६ आंग्लहायने प्राकाश्यं नीतः । अस्यापि मुद्रको बनारसीदासश्रेष्ठी महोदय एवास्ति ।

५– "त्रिदोष संग्रहः"

अयं हि संग्रहात्मको ग्रन्थः । मूलं संस्कृतभाषायामस्ति । अस्य टीका हिन्दीभाषायां विहिता । मुद्रणमस्य चौखम्बा प्रेस वाराणस्यां संजातम् । अस्य पुस्तकस्य महिमानमुपादेयताञ्चाभ्युपेत्य "आयुर्वेदिक एण्ड तिब्बी एकेडमी" संस्थया विशिष्टपुरस्कारेण पुरु सम्मानितमिदम् ।

अपि चैकं धार्म्मिकं पुस्तकं निबद्धं परं तत्सम्प्रत्यमुद्रितमुपावर्त्तते । अस्यापि मुद्रणं क्षिप्रमुपरिष्टाद् भविष्यति । अस्य पुस्तकस्याभिधानं "सदाचार-संहिता" वर्त्तते । अयं ग्रन्थस्सर्व्वसामान्यजनानां कृतेऽतीवोपादेयो भविष्यति । अस्मिन् पुस्तके भारतीयसंस्कृतिविषयमाकलय्य कियत्यावश्यकता 'सदाचारसंहितायाः' एर्तीह वर्त्तत इति सर्व्वं पौर्वापर्य्यविचारानादाय विशकलय्य सरलभाषया पुस्तकमाबद्धम् । पाश्चात्यराष्ट्रेषु कीदृशी 'आचार-संहिता' सम्प्रति दृश्यत इति विषयेऽपि गवेषणात्मको विचारः प्रस्थापितः । पुस्तकं मया आमूलचूडमवलोकितम् । नितरामुपादेयमनुभूतं मया । श्रीवैद्यवरस्याभ्यर्थना कृता, यदस्य मुद्रणं सत्वरं करणीयमिति ।

श्रीधर्म्मदत्तवैद्यवराणां सर्व्वाङ्गपूर्णप्रतिभां

निशम्य आन्ध्रप्रदेशान्तर्गतहैदराबादजनपदस्य "आयुर्वेद एकाडमी" संस्थया ससम्मानं १९६७ आंगल समायां "आयुर्वेदमहोपाध्याय" इति श्रेष्ठतमोपाधिं समर्प्य सम्मानिता इमे ।

एतेषां ह्यनेके सुबोधप्रतिभान्विता अन्तेवासिनस्सन्ति, ये विभिन्नप्रतिष्ठितसुयोग्यस्थानेषु नियुक्तास्सन्तः कार्य्यमनुतिष्ठन्ति । अपि च वैद्यप्रवराणामभिधानं प्रोज्ज्वलं सम्पादयन्ति । तेषु केचन गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयस्यायुर्वेदिकविभागे ऽध्यापनस्य कार्यमापादयन्तश्चिकित्साविभागमपि निभालयन्ति ।

"ग्रन्थलेखनप्रकारः"

आमूलचूडं–'ओषधिविज्ञानं' 'त्रिदोषविमर्शः' 'आयुर्वेदिक इन्टर प्रिटेशन आफ मैडिसिन' 'आधुनिकचिकित्साशास्त्रं 'त्रिदोषसंग्रहः' 'सदाचारसंहिता' इत्येतान् ग्रन्थान् परिशील्यामन्दानन्दसन्दोहेऽहं निमग्नः । ग्रन्थलेखनप्रकारस्तु सुतरां सुन्दरः । यं विषयमधिकृत्य लिखितं स विषयः कणेहत्याटीकितः । वाक्यरचना प्रव्यक्ता, शिष्टा, संयता चाभाति । कुत्रचिच्च प्राचीन-आर्षग्रन्थानाम्प्रमाणानि विन्यस्य स्वस्य ग्रन्थगौरवमधिकमापादितम् । आयुर्वेदविषये सन्दिग्धार्थांश्च विशकलय्याभिहितवान् । समस्तग्रन्थाभिप्रायस्य पौर्वापर्यालोचनयानुमीयते यदक्षरचणानां वैद्यधर्म्मदत्तवरेण्यानां कियत्पाण्डित्यं, गभीराध्ययनं प्रतिभासामर्थ्यञ्च कीदृशं, शास्त्रान्तरे कियान् प्रवेशः, आकरग्रन्थानाम्पर्य्येषणा कियती, समस्तानामायुर्वेदशास्त्राणां समन्वयश्च कीदृशइति ।

अद्य महान्सौभाग्यावसरो यदेतेषामायुर्वेदसेवां निभाल्य तदुपलक्ष्ये भारतस्य विशिष्टायुर्वेदविशारदैः तेषां प्रियान्तेवासिभिश्चाभिनन्दनग्रन्थरत्नं विलिख्य प्रस्तूयते । इदं महत्प्रशस्यमुल्लेखनीयं विद्वज्जनानुमोदितं च शुभकार्य्यम् ।

इदानीं श्रीवैद्यप्रवराः पञ्चसप्ततिवर्षदेशीयाः संजाताः । सम्प्रत्येते वयोवृद्धाः, विद्यावृद्धाः, अनुभववृद्धाः, ज्ञानवृद्धाश्च समजायन्त ।

एतेषां महोपकृतिमाम्नाय नितरां कृतज्ञाः स्म । भूयो वयं तत्रभवतां श्रीमदाचार्यवैद्यधर्म्मदत्तमहोदयानां पाण्डित्यं प्रशंसन्तो दीर्घायुष्यञ्चानिशं कामयमानास्सादरं सप्रेम सप्रश्रयं च श्रद्धाप्रसूनप्रणामाञ्जलिं समर्पयन्तो भृशं प्रसीदामः ।

# वह शहतूत का पेड़

श्रीमती प्रेमलता दीप, सुपुत्री स्वर्गीय डाक्टर राधाकृष्ण ग्रोवर, मिलवांकी, विसकॉन्सिन, अमेरिका

बात बहुत पुरानी है। आज से चालीस साल पहले की। तब मैं एक नन्हीं बच्ची थी, मासूम कोंपल सी। हरद्वार की गंगा के पार कांगड़ी ग्राम के पास एक गुरुकुल था,–थोड़े से परिवार, छोटा सा बसेरा। वहां मेरी एक मौसी थी–और वह भी बहुत सी मौसियों में से एक। और एक थे मौसा, और भी बहुत से मौसाओं में से एक जिन्हें लोग वैद्य जी कह कर पुकारा करते थे, पर पूरा नाम था वैद्य धर्मदत्त जी। कृपा है उस ईश्वर की कि आज भी उनकी छत्रछाया हम पर है और उनकी ७६वीं वर्षगांठ पर मुझे बचपन की कुछ भूली बिसरी बातें याद आ गयीं–तिरते चित्रों की तरह।

मौसा-मौसी का घर, हमारे घर के बगल में था। उनके घर के पिछवाड़े में एक शहतूत का पेड़ था–लंबा और ऊंचा जिसकी पतली पतली शाखाएं, आंगन की दीवार पर झूला करती थीं। मौसी का घर मेरा अपना दूसरा ही घर था। क्योंकि खाना, पीना, खेलना और सोना तो यहीं होता था। घर कब जाती थी जब मां डांटती थी या फिर जब रात गये मेरे स्वर्गीय पिता जी, डाक्टर राधाकृष्ण ग्रोवर जी मुझे सोती को उनके घर से उठा कर लाते। दो चार दस बार डांटने के बाद भी जब मुझ जैसे चिकने घड़े पर कोई असर न हुआ तो पिता जी ने भी "प्रभात" न सही "इस रात फेरी" को अपनी "ड्यूटी" समझ लिया। सो, वह भी चुप हो गये।

शहतूत के पेड़ की ऊंची और पतली शाखाओं को बाहों में लें जब मैं झूलने लगती तो मेरी मौसी का कलेजा मुंह को आ जाता। मेरी पतली दुबली मौसी, बारामदे के कोने पर खड़ी हो, पतली दुबली आवाज़ में मिन्नत करतीं, "प्रेम बेटी, मान जाओ, चोट लग जाएगी, नीचे उतर आओ।" इतरा कर मैं और भी मनचले लगती और जानबूझ कर, मैं और भी पतली सी शाख चुन कर उलटी लटक जाती और देखती कि अब मौसी के चेहरे पर कौनसा भाव दौड़ता है और फिर,–"अब भला कैसे पकड़ोगी मुझे ?" – ऐसा कुछ भाव मेरे चेहरे पर चमकने लगता। वह मिन्नत करतीं, घबरातीं, डांटती और कुछ बस न चलता तो रूठ जातीं। एक दिन कहना नहीं मानी तो सचमुच गिर गयी और ऊपर से मौसी ने मारे दो हल्के से थप्पड़। मार क्या थी, मार का बहाना था कि मैंने तो चिल्लाना शुरू कर दिया, चिल्ला चिल्ला कर तमाम घर सर पर उठा लिया। शोर बहुत और आंखों में आंसू एक नहीं। इतने में, सूखी आंखों की कोरों से देखती हूं क्या कि काम से लौट कर मौसा चले आ रहे हैं। फिर क्या था, तारसप्तक से चिल्लाने लगी। नाटक देख मौसा ने मौसी से पूछा, "बेटी क्यों रो रही है ?" मौसी बोलीं, "मैंने इसे मारा है।" "क्यों ?" मौसा ने चश्मे के अन्दर से झांकते हुए पूछा "कहना जो नहीं मानती।" मौसी ने माथे पर दो नहीं, केवल एक बल डालते हुए कहा। मौसा ने फिर पूछा, "मगर क्या किया है मेरी बेटी ने ?" मौसी ने शहतूत के पेड़ की ओर इशारा करते हुए कहा, "देखो, उऽ ऽ ऽसे चोटी पर चढ़ कर झूलने लगती है, आज गिर गयी न।"

मौसा दो मिनट चुप रहे, न जाने क्या सोचा, मेरी ओर देख कर मुस्कराए, उनको अपने पक्ष में करने के आशय से मैं और भी दम लगा कर चिल्लाई। मौसी की ओर मुंह करके वह बोले, "तो फिर बेटी को शहतूत चाहियें होंगे, तभी तो चढ़ी न। नीचे से ही छड़ी से तुम उसे शहतूत तोड़ कर दे देतीं तो यह पेड़ पर न चढ़ती। क्यों बेटी,

ठीक है न, तुम्हें शहतूत चाहियें थे न ?"

जान बचती देख मैंने फौरन रोने पर लगाम लगाते हुए एकदम "नार्मल" स्वर में कहा, "और नहीं तो क्या, मुझे शहतूत ही तो चाहियें थे वरना मुझे पागल कुत्ते ने काटा है कि मैं पेड़ की चोटी पर चढ़ती।"

मौसा के चेहरे पर हल्की सी मुस्कुराहट थी इस युक्ति पर और चोटी पर चढ़ने के पक्ष में कही गयी बात पर। बोले, "चलो आओ, मैं तुम्हें शहतूत तोड़ दूं, तुम्हारी मौसी को क्या पता कि तुम्हें शहतूत चाहियें, उन्होंने सोचा होगा, तुम शैतानी कर रही हो। शहतूत खाओगी ?" भोला बचपन, समझ न पाया कि प्रत्यक्ष क्या है और परोक्ष में इसका अर्थ क्या है। अपने पक्ष की बात जान, मैंने बड़े जोर से गर्दन हिला दी। फिर मौसा ने शहतूत तोड़े, मौसी ने धोए और हम तीनों ने मिल कर खाए। बालमनोविज्ञान किसे कहते हैं, उस समय तो मैं इसका अर्थ न जान पायी किन्तु आज जब मैं, सात समुद्र पार से मौसा को याद करती हूं तो सोचती हूं, कितनी ममता, कितनी मन की बात समझने की शक्ति है मौसा में।

याद आता है, गंगा पार के उस गुरुकुल में कितना भोलापन था, कितना अपनापन था, निस्वार्थ जीवन था अपने पराए में कोई भेदभाव नहीं था। अब जब अमरीका के व्यस्त जीवन में, आर्थिक समस्याओं में उलझे समाज में रहकर जब मैं उन दिनों को याद करती हूं तो मुझे पृथ्वी आकाश का अन्तर दिखाई देता है। जब होश संभाला तो मालूम हुआ कि यह मेरे मौसा, असली मौसा नहीं हैं और इस तथ्य को मैं स्वीकार नहीं करना चाहती। वह दोनों मेरे मौसा मौसी ही नहीं, मां और पिता के समान हैं। और यहां, रास्ते चलते जब कोई बालक अपने चाचा ताऊ को भी मिलता है तो कहता है "हैलो बाब" या "हैलो जान।" असली रिश्ते भी यहां पराए हैं।

यहां आने से पहले, दो वर्ष पूर्व मैं फिर अपने मौसा से मिलने गयी। लोग कहते हैं, समय बीतता चला जाता है। समय बीतता है या नहीं मालूम नहीं क्योंकि हर रोज़, वही सुबह, वही दोपहर, वही शाम मगर हां, जीवन बहुत आगे बढ़ जाता है। वैसे तो मौसा जी से मैं हर वर्ष मिलने जाती थी मगर यहां आने से पहले जब मैं उनसे मिलने गयी, उसका विशेष महत्त्व था क्योंकि सोचती थी, न जाने अब कब मिल पाऊंगी मैं अपने मौसा मौसी को जिनसे मेरा शैशवकाल संबद्ध है।

तो, जिस दिन, कनखल में मैं उनसे मिलने गयी, उस दिन दशहरा था। मिलते ही मौसा ने सोत्साह मेरी ठुड्डी उठाते हुए कहा, "बेटी, दशहरे का मेला देखने चलेगी ?" समय थम गया, तेज़ी से बढ़ता हुआ जीवन थम गया। कानों में आज फिर वही प्रश्न गूंज उठा, "बेटी, शहतूत खाएगी ?" मन्त्रमुग्ध हो, सर हिला कर मैंने फिर समर्थन किया "हां।" मेरा शैशव लौट आया था। याद आया, वही गंगा के पार का गुरुकुल, मौसी का घर, घर का बरामदा, पिछवाड़े में शहतूत का पेड़, चोटी पर लटकी मैं, मौसी की पतली सी आवाज में डांट और मिन्नत, मौसा का चश्मे से झांक कर मौसी को डांटना और मुझे पुचकारना—कि इतने में मौसा फिर बोले, "तो फिर तू यहीं ठहर, मैं सामने के ग्वाले से दूध ले आऊं, तेरी मौसी खीर बनाएगी और हम मेला देखने चलेंगे।" और इतने में क्या देखती हूं कि मेरे दुबले पतले ७९ वर्षीय मौसा, सोलह वर्ष के बालक की तरह सड़क पर भागे चले जा रहे हैं। आंखों में आंसू छलक आए—दुख के नहीं, उस स्वर्गीय आनन्द के जो भाग्य से ही किसी को मिलता है। नितान्त भोले, ममता के सजीव

मूर्ति–उस क्षण को जब यहां के हंगामें के जीवन में याद करती हूं तो विपरीत दृश्यों का एक चित्र सा खिच जाता है–कहां वह "शान्तिनिकेतन" और कहां यहां का होहुल्लड़, भागमभाग ।

दिन के साढ़े ग्यारह बजे हैं । भारत में रात का यही समय होगा । मेरे मौसा मौसी सो रहे होंगे और मेरे चारों ओर मशीनों की आवाजों से कान फटे जा रहे हैं । खाने की छुट्टी के समय कुछ कम शोर का एक कोना चुन कर, मैं आज अपने अतीत को याद कर रही हूं । याद आता है–

मेरे मौसा, वैद्य धर्मदत्त जी, कितने भोले, कितने अच्छे, कितने शान्त, कितने मधुर हैं । आज के जीवन में मेरे मौसा और मौसी वह शहतूत का पेड़–प्रतीक बन गये हैं मेरे अतीत के, मेरे शैशव काल के–उन अमूल्य क्षणों के जो मुझ से छिन गये हैं, उस जीवन के जो खो गया है, जो दुर्लभ है, मुझ से बहुत दूर हो गया है । मगर संतोष है तो केवल एक का–उन क्षणों की याद, शेष जीवन बिताने का मेरे पास कम से कम एक बहाना तो है । भगवान करे मेरे मौसा सहस्र वर्ष जीएं ।

———
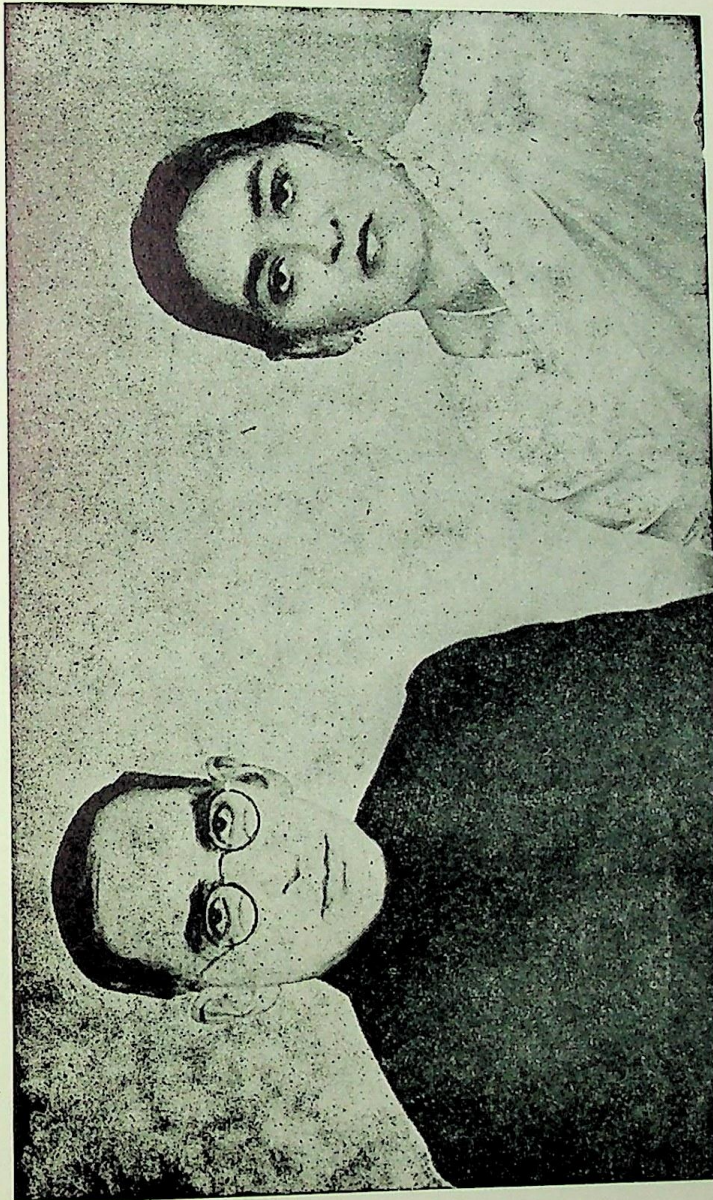
श्री वैद्य धर्मदत्त जी (६४ वर्ष की आयु) पत्नी सावित्रीदेवी के साथ (सन् १९५८)

# कमला फार्मेसी, कनखल, हरिद्वार के
# आचार्य धर्मदत्त वैद्य विद्यालंकार
## की प्रशस्ति में दो शब्द

वैद्य श्री रामनाथ, आयुर्वेदाचार्य

माननीय आचार्य प्रवर ऋषिकल्प स्वाध्याय शील तपस्वी श्री धर्मदत्त जी वैद्य, कमला फार्मेसी, कनखल को कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो नहीं जानता होगा। आप सौम्यमूर्ति, शान्त स्वभाव, अहर्निश-स्वाध्यायशील हैं। आप शिक्षा-दीक्षा समाप्त करने के बाद गुरुकुल कांगड़ी आयुर्वेद महाविद्यालय के अध्यक्ष रहे, सेवानिवृत्त होकर चिकित्सा करने लगे, और आज भी कर रहे हैं। आप कायचिकित्सक के साथ-साथ शल्य-शालाक्य के भी चिकित्सक हैं। आप उभयज्ञ हैं, प्राच्य प्रतीच्य का समन्वय आप में देखा जा सकता है। आपके दर्शन मुझे सन् १९५७ की धन्वतरि त्रयोदशी के दिन श्रीराम औषधालय कनखल में हुए, आप के दर्शन करके मन आकर्षित हो गया। उस दिन से आज तक मन उनमें चिपका हुआ है।

सन् १९६० में स्वर्गीय डाक्टर लक्ष्मीपति जी मद्रास से हरिद्वार पधारे जो श्री वैद्य जी के गुरुओं में से थे, उनके साथ आप आयुर्वेद महाविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी पधारे। वहां उनके भाषण हुए, जिससे उपाध्याय एवं छात्र बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने इच्छा प्रकट की, कि यहां आरोग्य केन्द्र की स्थापना होनी चाहिए। यह भी योजना जन-स्वास्थ्य, ग्राम्य स्वास्थ्य के लिए बनाई गई है।

उस समय गुरुकुल के उपकुलपति श्री सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार थे। उन्होंने अपनी सम्मति दी और सक्रिय भाग भी लिया। आरोग्य केन्द्र की स्थापना गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार में हुई।

अध्यक्ष—निरंजनदेव जी आयुर्वेदालंकार जो उस समय के आयुर्वेद महाविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी के अध्यक्ष थे। मंत्री—रामनाथ वैद्य, सेनानायक—श्री डा० कान्तिकृष्ण जी, परामर्शदाता—श्री धर्मदत्त जी वैद्य। मुख्य सदस्य—डा० अनन्तानन्द जी, अध्यक्ष आयुर्वेद महाविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी हैं।

इस आरोग्य केन्द्र ने अनेक कार्य करना शुरू किया। इसमें सक्रिय सहयोग मुझे श्री धर्मदत्त जी वैद्य का रहा। हरिद्वार, कनखल, ज्वालापुर, जमालपुर, जगजीतपुर, हरिराम इन्टर कालेज, सनातन धर्म हायर सेकेन्ड्री कालेज कनखल में एक दिन नहीं वर्षों सन् साठ से आज तक वैद्य जी अपना व्यय करके गांवों में तथा जहां-जहां कार्यक्रम हुए बराबर साथ देते रहे हैं। उनकी ही कृपा से इस योजना का प्रचार सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, देहरादून, मेरठ के गांवों के प्रधान, उपप्रधान द्वारा गांव-गांव में फैल गया। क्योंकि इसके नियम उद्देश्य की शिक्षा के प्रसारार्थ गांव के प्रधान, उपप्रधानों को शिक्षित करके भेजा जाता रहा। इसके लिए श्री हरिदत्त जी वेदालंकार को भी श्रेय प्राप्त है। उन्होंने इसमें बहुत सहायता की है। यह आरोग्य केन्द्र आज भी जनसेवा कर रहा है, और श्री वैद्यजी का आशीर्वाद प्राप्त है।

आरोग्य केन्द्र की स्थापना के पूर्व आयुर्वेद विज्ञान परिषद् हरिद्वार की स्थापना हो चुकी थी। उसके मासिक तथा वार्षिक अधिवेशन होते हैं। उनमें से कोई मजबूरी से छूट गया हो उसकी मैं

गणना नहीं करता किन्तु ऐसा अधिवेशन कोई नहीं रहा जिसमें वैद्य जी ने सक्रिय भाग न लिया हो और अपने उपदेशों से अमृतपान न कराया हो।

आयुर्वेदविज्ञानपरिषद्, हरिद्वार द्वारा कई रोग निदानशिविरों का आयोजन किया गया जो प्रतिवर्ष होता है। इसमें जो सहयोग श्री धर्मदत्त जी वैद्य देते रहे हैं उसका मैं सदैव ऋणी रहूंगा। छह-छह घन्टे अनवरत बड़े मनोयोग से रोगियों को देखते और रिक्शा का किराया भी नहीं लिया। उनका प्रेम जरा देखिए, उनके हृदय में कितना स्थान है जो इसका द्योतक है।

सन् ७० के रोग निदान शिविर में उन्होंने भाग नहीं लिया उस समय वह यहां से बाहर थे। जब लौट कर आये और पश्चाताप जाहिर करने लगे, और कहने लगे अब की बार मैं लाभ से वंचित रह गया। यह कितनी महानता है कि हम लोग और जनता उनके लाभ से वंचित रह गये न कि वैद्य जी। इससे पाठक समझ गये होंगे कि वैद्य जी में कितने महान गुण हैं।

तीसरा सम्पर्क पंचपुरी वैद्य सभा हरिद्वार से है। सन् ५७ से सन् ६९ तक की त्रयोदशी का मुझे भली प्रकार स्मरण है। क्योंकि मुझे पंचपुरी वैद्य सभा हरिद्वार का सभापति आपने अपने सहयोग से बनवाया और आप बराबर सहयोगी रहे हैं। आज भी समाज कल्याण जनसेवा में आप का सदैव सक्रिय सहयोग रहता है।

आपके अनेक शिष्य गण हैं जो योग्य हैं, और अच्छे अच्छे स्थानों पर कार्य कर रहे हैं।

मैं जगन्नियन्ता भगवान् से प्रार्थना करता हूं कि मान्य श्री वैद्य धर्मदत्त जी शतायु होकर जन कल्याण करते रहें। मैं पुनः आपका हार्दिक अभिनन्दन पंचपुरी वैद्य सभा हरिद्वार और आयुर्वेद विज्ञान परिषद् हरिद्वार, आरोग्य केन्द्र गुरुकुल कांगड़ी की ओर से कर रहा हूं।

## मेरे आदर्श सम्मान्य मित्र और मार्गदर्शक

# वैद्यविशारद कविराज पंडित धर्मदत्त जी विद्या-सिद्धान्तालंकार

## कुछ मधुर संस्मरण

श्री पंडित धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, आनन्दकुटीर, ज्वालापुर

मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूं कि मुझे पुण्यभूमि गुरुकुल कांगड़ी के महाविद्यालय विभाग में सन् १९१८ में अध्ययन के समय गुरुकुल कांगड़ी से ही सुयोग्य स्नातक श्री पं० धर्मदत्त जी विद्यालंकार सिद्धान्तालंकार के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का सुअवसर प्राप्त हुआ जो जीवन भर बना रहा। उन की स्नातक रूप में योग्यता और परिश्रम के विषय में यह बता देना अप्रासङ्गिक न होगा कि गुरुकुल कांगड़ी के हजारों स्नातकों में से केवल दो ही स्नातकों ने विद्यालंकार और सिद्धान्तालंकार की दोनों उपाधियां प्राप्त कीं। दूसरे ऐसे स्नातक श्री पं० विद्यासागर जी थे। छात्रावस्था में उनका मार्गदर्शन मुझे निरन्तर प्राप्त होता रहा और मार्च सन् १९२१ में स्नातक बनने पर भी उनके ही परामर्श से मैंने वैदिक धर्म प्रचारक के रूप में मंगलौर (द. कर्नाटक-अब मैसूर राज्य) को १० वर्षों तक अपना मुख्य केन्द्र बनाया। हमारा विवाह सम्बन्ध निश्चय कराने में प्रमुख हाथ और प्रेरणा उन्हीं की थी। ईश्वर की कृपा से मेरे सैंकड़ों मित्र बने और अब भी हैं किन्तु मैं कविराज धर्मदत्त जी को आदर्श और सन्मान्य मित्रों में प्रथम स्थान देता हूं। उन में "पापान्निवारयति योजयते हिताय, गुह्यं च गूहतिगुणान् प्रकटीकरोति। आपद्गतं न च जहाति ददातिकाले, सन्मित्र लक्षणमिदं प्रवदन्तिसन्तः ॥" इत्यादि भर्तृहरि के श्लोकों में वर्णित सन्मित्र के सब लक्षण पूर्णरूप से विद्यमान हैं ऐसा मैंने सदा अनुभव किया। मुझे इस बात का गर्व है कि मुझे ऐसे एक सन्मान्य देवतास्वरूप ईश्वरभक्त विद्वान् मित्र और मार्गदर्शक के रूप में प्राप्त हुए। मुझे स्मरण है कि सन् १९१८ में गुरुकुल कांगड़ी के महाविद्यालय विभाग के द्वितीय वर्ष में इन्फ्लुएंजा पीड़ितों की सेवा करते हुए जब दुर्भाग्यवश मैं स्वयम् भी बीमार पड़ गया तो मैंने चिकित्सालय से मान्य श्री पं० धर्मदत्त जी का श्रद्धापूर्वक स्मरण-करते हुए (जो उस समय स्नातक बनने के पश्चात् मद्रास के आयुर्वेदिक कालेज में अध्ययन कर रहे थे) उन को पत्र लिखा था जिस में भवभूति के उत्तररामचरित में आये इस श्लोक को उद्धृत किया था। तत् तस्य किमपिद्रव्यं, यो हि यस्य प्रियोजनः ॥ उनके प्रेमपूर्ण पत्रों से मुझे बड़ा आश्वासन सदा मिलता रहा। उनके विशेष सम्पर्क में आने पर ही विद्याध्ययन में विशेष रुचि के साथ मेरी भक्तिभावना का भी उन के सन्ध्यासंगीत तथा अन्य स्वनिर्मित भजनों को सुनकर विकास हुआ यह लिखने में मुझे कोई संकोच नहीं। वे आर्यजगत् के अत्यन्त उच्च कोटि के मधुरभावी संन्यासी और भक्तिशिरोमणि माने जाने वाले स्वामी सत्यानन्द जी के निकट सम्पर्क में रह कर उनके सत्संग से लाभ उठाते रहे। दुर्भाग्यवश जब सित. १९६३ में गुरुकुल पत्रिका का सम्पादन अंग्रेजी संस्कृत हिन्दी कोष का सम्पादन और गुरुकुल महाविद्यालय में वेदाध्यापनादि कार्य करते हुए मैं अत्यन्त चिन्ताजनक रूप से रुग्ण हो गया और वेद के शब्दों में 'यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव' वा मरणासन्न अवस्था में श्री श्रद्धानन्द धर्मार्थ सेवाश्रम में प्रविष्ट किया गया तो सब से अधिक

प्रेम और लगन तथा पूर्ण आत्मीयता के साथ यदि किसी ने मेरी चिकित्सा में वैयक्तिक विशेष रुचि लेकर शीघ्र मुझे रोगमुक्त कर दिया जब कि अन्य कई लोग उस गम्भीर रुग्णता की अवस्था में चिकित्सालय में प्रविष्ट भी करने को तैयार न थे और उनके आग्रह पर ही कठिनता से तैयार हुए तो ये मेरे आदर्श सम्मान्य श्रद्धेय मित्र कविराज पीयूषव्रती: वैद्यशिरोमणि पं० धर्मदत्त जी ही थे जिनके उपकारों को मैं जीवन भर कभी भूल नहीं सकता। यदि मैं शीघ्र स्वास्थ्यलाभ करके इस योग्य हुआ कि सामवेद का सम्पूर्ण अंग्रेज़ी भाष्य कर सका तथा ऋग्वेद के अंग्रेजी अनुवाद के कार्य में प्रवृत्त हुआ जो चल रहा है। तो उस का सब से अधिक श्रेय श्रद्धेय देवतास्वरूप कविराज पं० धर्मदत्त जी को ही है। कुछ स्वास्थ्य लाभ करने पर १४-२-६४ की दैनन्दिनी में मैंने लिखा था "वैद्य धर्मदत्त जी की धीरता और गम्भीरता के आगे मैं नतमस्तक हो जाता हूं। उन्होंने जिस धीरता, गम्भीरता, कुशलता और सच्ची मित्रता तथा निरभिमानिता का परिचय दिया उनसे जीवन-भर के लिए मेरे मन में उन के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गई है। चिकित्सालय से घर जाने पर भी वे सप्ताह में एक बार अवश्य आकर उचित परामर्श देते रहे। हमारे बार-बार यत्न करने पर भी उन्होंने कुछ भी लेने से इन्कार कर दिया प्रत्युत आते हुए फलादि स्वयं लाते रहे। ऐसे निस्स्वार्थ सज्जन आजकल कितने दुर्लभ हैं।

धर्मदत्तो भवान् धन्यो धीरो गम्भीरमानसः।
चिकित्सकः सुकुशलः, सखा मे स्वार्थवर्जितः॥
अवलोक्यगुणान् दिव्यान्, भावत्कान् भुवि दुर्लभान्
न केवलं प्रहृष्टोऽहं, भवामि नतमस्तकः॥
उद्विग्नमानसाजाताः, यदासर्वेचिकित्सकाः।
गाङ्गोह्रदइवाक्षोभ्यः, आसीदेकोभवान् सुधीः॥

ऐसे देवतास्वरूप अपने श्रद्धेय मित्र और मार्गदर्शक के दर्शन और उन का सत्परामर्श समय २ पर प्राप्त करके मैं अब भी गद्गद् हो जाता हूं। वे न केवल पीयूषपाणि वैद्यविशारद कविराज हैं जिन्होंने सैकड़ों सुप्रसिद्ध वैद्यों को तय्यार किया है तथा त्रिदोष विमर्शः (संस्कृत) आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र The theory of Ayurved (अंग्रेज़ी) इत्यादि अत्यन्त विद्वत्ता और परिश्रमपूर्ण ग्रन्थों के द्वारा चिकित्साशास्त्र के सब छात्रों और उपाध्यायों को लाभान्वित किया है किन्तु साथ ही वे सच्चे देशभक्त ईश्वरभक्त उच्च कोटि के कवि हैं और इस लगभग ७६ वर्ष की अवस्था में भी बड़े परिश्रम से हिन्दी और अंग्रेज़ी में धर्मशिक्षा वा नैतिक शिक्षा की ऐसी उत्तम पुस्तक समन्वयात्मक उदार विशाल दृष्टिकोण से तैयार कर रहे हैं जो सबके लिए उपादेय हो और जो नैतिक शिक्षा की पाठ्य पुस्तक के रूप में भारत के समस्त विद्यालयों में इस धर्म निरपेक्ष कहे जाने वाले राष्ट्र में भी निस्संकोच लगाई जा सके। दुर्भाग्यवश अभी उन को इसके प्रकाशक नहीं मिल सके। मैं चाहता हूं कि कोई उत्तम प्रकाशक इस के प्रकाशन का भार ग्रहण कर के उन के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिश्रम को सफल बनाकर पुण्यभागी बने। उनके सब मित्रों और भक्तों को भी उन के इस शुभ संकल्प की पूर्ति में सहयोग देना चाहिए।

अन्त में निम्न प्रशंसांजलि के साथ (संस्कृत में प्रशंसांजलि पृथक् दी गई है) विस्तारभय से मैं इन मधुर संस्मरणों को समाप्त करता हूं।

करते हार्दिक अभिनन्दन॥ ध्रुव

वैद्यराज श्री धर्मदत्तका,
जिन का त्याग तपस्या धन।
दिव्य गुणों से जिन ने जीता,
सब ही सुजनों का मन॥१॥

वैद्यक शिक्षा परम विशारद,
निगमागममर्मज्ञ ।
अति गम्भीर धीर सज्जन वर,
विकसित कुसुम समानन ॥२॥
जिनका ज्ञान चिकित्सा पद्धति,
का असीम अरु अनुपम ।
पर अभिमान रहित है जिनका,
अतिशय पावन जीवन ॥३॥

पर उपकार परायण निशिदिन,
श्रद्धामेधामणिभूषित ।
भक्तियोग का करते रहते,
जो श्रद्धापूर्वक साधन ॥४॥
मधुर स्वभाव मधुर वाणी से,
हरें क्लेश पीड़ित के ।
शीतलता लाता जिन दर्शन,
यथा स्पृष्ट हो चन्दन ॥५॥

# सखा, सुहृत और सत् शिष्य

परिव्राजकाचार्य वेदस्वामी मेधारथी सरस्वती एम० ए०, एल० टी, सामवाचस्पतिः, विद्यालंकारः, पालिरत्नम्
आयुर्वेदशास्त्री ( ब्रह्माः, पर्वयज्ञ-सुधारक परिषत्, आनन्दबाग, कानपुर )

वदनं प्रसाद सदनं, सदयं हृदयं सुधा मुचोवाचः ।
करणं परोपकरणं, येषां केषां न ते वन्द्याः ।।

पूज्य प्रेमी प्रकाण्ड पण्डित धर्मदत्त जी वैद्य का व्यक्तित्व विचित्रताओं से परिपूर्ण है । सदा हंसमुख, शुद्ध हृदय और मधुरभाषी होना साधारण बात नहीं है । मेरा इनका विचित्र ही सम्बन्ध है । पहिले मेरे सखा बने । गुरुकुल कांगड़ी में साथ साथ रहते, खेलते, खाते और खिलाते सुहृत् पक्के बने । मद्रास के आयुर्वेदिक कालेज (गोपालाचार्लू के) में सहपाठी पुनः बने । वहां से आकर आप गुरुकुल कांगड़ी में प्रधानाचार्य आयुर्वेद महाविद्यालय के बने । दैवीगति उलट गई । मैं इनका सर्वप्रथम शिष्य बना । मेरे साथी सिर्फ दो थे । पं० जनमेजय जी (स्नातक) और पंडित नित्यानन्द जी (डाक्टर) । मुझ पर विशेष कृपा थी । क्योंकि पूज्य पिता के आप परम मित्र थे । फिर—भवति भव्येषु हि पक्षपातः" मैं आपके परिवार का भी प्रिय बन गया । आज जो गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी उत्तर भारत की सर्वोपरि संस्था गिनी जाती है । इसके सच्चे संस्थापक आप ही हैं । आपके आदेश द्वारा ही मैंने अपनी कलम से कार्डबोर्ड पर नीली स्याही से लिखकर गुरुकुल कांगड़ी के उत्सव पर एक जगह मेज रख कर ( उस पर केवल तीन औषधियां रखी गईं थी च्यवनप्राश, अभयारिष्ट और भीमसेनी सुरमा) गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी नाम प्रकाशित किया था । औषधविक्रेता थे स्वर्गीय स्नातक जनकदेव जी । इस प्रकार पूज्य पण्डित धर्मदत्त जी वैद्य को ही गुरुकुल कांगड़ी की उन्नति कराने का श्रेय प्राप्त है । फिर तो आप के शिष्यों की शृंखला चल पड़ी है । आपकी पाठन प्रणाली इतनी प्राञ्जल है कि विषय का स्पष्टीकरण शीघ्र हो जाता है । तुलनात्मक चिकित्साप्रणाली का विवेचन तो आप के सिवाय आज तक कोई भी न कर सका । आप अब ७६ वर्ष के हो रहे हैं । मैं भी एक सत् शिष्य (या कहो कुशिष्य) आप का आप के प्रति सच्चे हृदय से भावभीनी शुभाञ्जलि समर्पित करता हूं । मुझे यह भी विश्वास है कि आपका यह आदिशिष्य संन्यासीमण्डल में भी शुभ स्थिति रखकर आपकी सदा गौरववृद्धि करता रहेगा । क्योंकि अथर्ववेद (चिकित्सा विज्ञान) का सेवक संन्यासी होता है अन्त में मेरा परिचय यह है——

आश्रमाणां अहं तुर्यः, वर्णानां अस्मि सत्तमः ।
आथर्वणीर् गीर् वदामि, श्रद्धानन्द समोऽधुना ।।

———

# ॐ नमश्शिवाय

भारत की आयुर्बेद संस्थाओं के विशिष्ट विद्वानों में प्रतिष्ठित आचार्यप्रवर
श्री धर्म्मदत्त विद्यालंकार-सिद्धान्तालंकार-आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेद
ग्रन्थों के लेखक, परम प्रेमास्पद, आदरणीय, कनखल
हरिद्वार वास्तव्य की पुनीत सेवा में
सादर सविनय सप्रेम
समर्पित

# अभिनन्दन-पत्र

श्री मनसाराम व्यास, पुराणाचार्य, व्याख्यानदिवाकर, व्यासभवन, कनखल

"होनहार बिरवान के होत चिकने पात"

इस लोकोक्ति के अनुसार श्रद्धेय श्री आचार्य धर्मदत्त जी का जीवन आदि से ही उज्ज्वलता, उदारता से परिपूरित है। परोपकारप्रियता, मधुरभाषिता, धार्म्मिकता, सत्यप्रियता आपके जीवन के स्वभावसिद्ध अङ्ग हैं। मातृ-पितृ भक्ति से आपका हृदय सतत आप्लावित है। आप अल्प काल में ही लोकप्रिय बन गये।

आपका जन्म लायलपुर मण्डलान्तर्गत चिन्यौट ग्राम में सन् १८९४ के लगभग हुआ। आपका जन्म नाम वजीरचन्द्र रखा गया। आठ वर्ष के पूर्व समय तक मातृ-पितृ संरक्षता में रहने के पश्चात् सन् १९०३ में गुरुकुल कांगड़ी में आपने प्रवेश किया। वेदारम्भ संस्कार के बाद आपका नाम धर्मदत्त रक्खा गया। लगातार १४ वर्ष पर्यन्त अध्ययन करने के बाद सन् १९१७ में आपको विद्यालंकार सिद्धान्तालंकार की उपाधि से विभूषित किया गया।

अध्ययनकाल में—'वेद-संस्कृत-हिन्दी-इतिहास-अंग्रेजी-साइंस' ये आपके प्रिय विषय थे। आर्य सिद्धान्त में अत्यन्त अभिरुचि होने के कारण आपको सिद्धान्तालंकार की विशेष उपाधि उपलब्ध हुई।

स्नातक बनने के बाद आपके मन में चिकित्सा-शास्त्र के अध्ययन की अभिरुचि हुई। परन्तु उन दिनों उत्तर भारत में कोई कालेज न था इस कारण आप सन् १९१८ में मद्रास आयुर्वेद कालेज में प्रविष्ट हो गये।

आपको संस्कृत, अंग्रेजी, साइंस का ज्ञान विशेष रूप से था। इस कारण आपको कालेज के द्वितीय वर्ष में प्रविष्ट कर लिया गया। कुल मिला कर चार वर्षों की पढ़ाई थी। परन्तु आपने अपनी प्रतिभा के कारण अध्ययन तीन वर्षों में समाप्त कर सन् १९२१ में आयुर्वेदभूषण की उपाधि प्राप्त की।

परमाराध्य, श्रद्धेय आचार्य स्वामी श्रद्धानन्दजी ने आपको गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में आयुर्वेदाध्यापन के लिए आयुर्वेदोपाध्याय पद पर सन् १९२२ में सादर मनोनीत किया।

आपने सन् १९४३ तक लगातार योग्यतापूर्वक अध्यापन का कार्य किया। आपकी कुशल अध्यापन शैली तथा शासन-सामर्थ्य को देखकर सन् १९४० से सन् १९४३ मई तक आप गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में आयुर्वेद कालेज के प्रिंसीपल पद पर चार वर्षों तक रहे। इसके अनन्तर आपने

अपना कार्य कनखल में प्रारम्भ किया और स्वतन्त्र रूप से चिकित्साव्यवसाय द्वारा जनता की सेवा में अपना सारा समय व्यतीत करने लग गये।

आपके पिता जी परम आस्तिक, कट्टर आर्य-समाजी तथा अपने ग्राम के लोगों में प्रतिष्ठित व्यक्ति माने जाते थे। इनका नाम महाशय खुशाबीराम था। पूजार्ह होने के कारण नाम के पूर्व महाशय शब्द लगाकर लोग आदरपूर्वक बुलाया करते थे। ये स्टेशन मास्टर थे। रेल्वे विभाग के लोगों में भी आपकी मान्यता प्रचुर रूप से थी।

श्री वैद्य प्रवर धर्मदत्त जी की मातृ श्री का पुण्याभिधान-जमुनादेवी-यह गुजरांवाला की रहने वाली थीं। आपकी सौम्यता मधुरता प्रत्यक्ष अवभासित थी।

श्रीमान् श्रद्धेय वैद्य जी का पाणिग्रहण संस्कार वैदिक रीति से जालन्धर के प्रतिष्ठित व्यक्ति श्री माधोराम जी की चिरञ्जीव सौभाग्यवती कुमारी सावित्रीदेवी के साथ सन् १६१६ के ज्येष्ठ मास में सम्पन्न हुआ था।

आप चिकित्साविज्ञान के विद्वान् हैं। शल्य-क्रिया में भी आप महती योग्यता रखते हैं। नेत्र चिकित्सा के आप सफल चिकित्सक माने जाते हैं। आयुर्वेद के विद्वानों में आपकी विशेष ख्याति है।

आप एलोपैथिक, होम्योपैथिक तथा आयुर्वेदीय त्रिविध शास्त्रों के परिज्ञाता हैं, और तदनुकूल चिकित्सा करने में भी पूर्ण पाण्डित्य रखते हैं। आयुर्वेदिक पद्धति नाड़ीविज्ञान पर आश्रित है। आप नाड़ी की परीक्षा करके रोगज्ञान करते हैं और इस प्रकार रोगी को चिकित्सा द्वारा शीघ्र रोगमुक्त करके स्वस्थ कर देने की आप में चमत्कारिक शक्ति विद्यमान है। आपने अपनी प्रतिभा के द्वारा कई अपूर्व आयुर्वेद-ग्रन्थों को लिखकर प्रकाशित कराया।

आचार्य जी के छह मुख्य ग्रन्थ हैं, जिनमें एक ग्रन्थ अमुद्रित है। ग्रन्थों के नामशः उनका परिचय इस प्रकार है :—

(१) "औषध विज्ञान"—यह सर्वप्रथम रचना है। सन् १६३४ में लिखकर प्रकाशित कराया, जिसका अनुभूत योगमाला प्रेस, इटावा ने प्रकाशन किया। इसमें औषधि विज्ञान के सम्बन्ध में कणेहत्य विवेचन किया गया है।

(२) "त्रिदोष विमर्श"—यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा में है। सन् १६३६ में लाहौर के मैसर्स मोतीलाल बनारसीदास की ओर से मुद्रित है। इसमें समस्त रोग त्रिदोषजन्य होते हैं, इसका सूक्ष्म विचार किया गया है।

(३) "आयुर्वेदिक इन्टर प्रिटेशन आफ मेडिसिन"—(अर्थात् चिकित्सा की आयुर्वेदिक दृष्टि), यह ग्रन्थ आंग्ल भाषा में मुद्रित है। सन् १६५२ में लिखा गया है, जिस पर उत्तरप्रदेश की सरकार ने आपको पारितोषिक भी प्रदान किया है।

(४) "आधुनिक चिकित्सा शास्त्र"—यह ग्रन्थ कलेवर में अति बृहत् है, इसकी पृष्ठ संख्या १४०० है। सन् १६६६ में लिखा गया है, जिसका प्रकाशन मैसर्स मोतीलाल बनारसीदास की ओर से किया गया है।

(५) "त्रिदोष संग्रह"—यह ग्रन्थ सन् १६६७ में लिखा गया है। संग्रहात्मक है। मूल संस्कृत में है। इसकी टीका हिन्दी में है। चौखम्बा प्रेस वाराणसी की ओर से प्रकाशित हुआ है, जिस पर लखनऊ की "आयुर्वेदिक एण्ड तिब्बी एकेडेमी" ने पुरस्कार देकर सम्मानित किया।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त छठा एक धार्मिक ग्रन्थ भी आपने सदाचारसंहिता नामक लिखा है जो अभी अमुद्रित है।
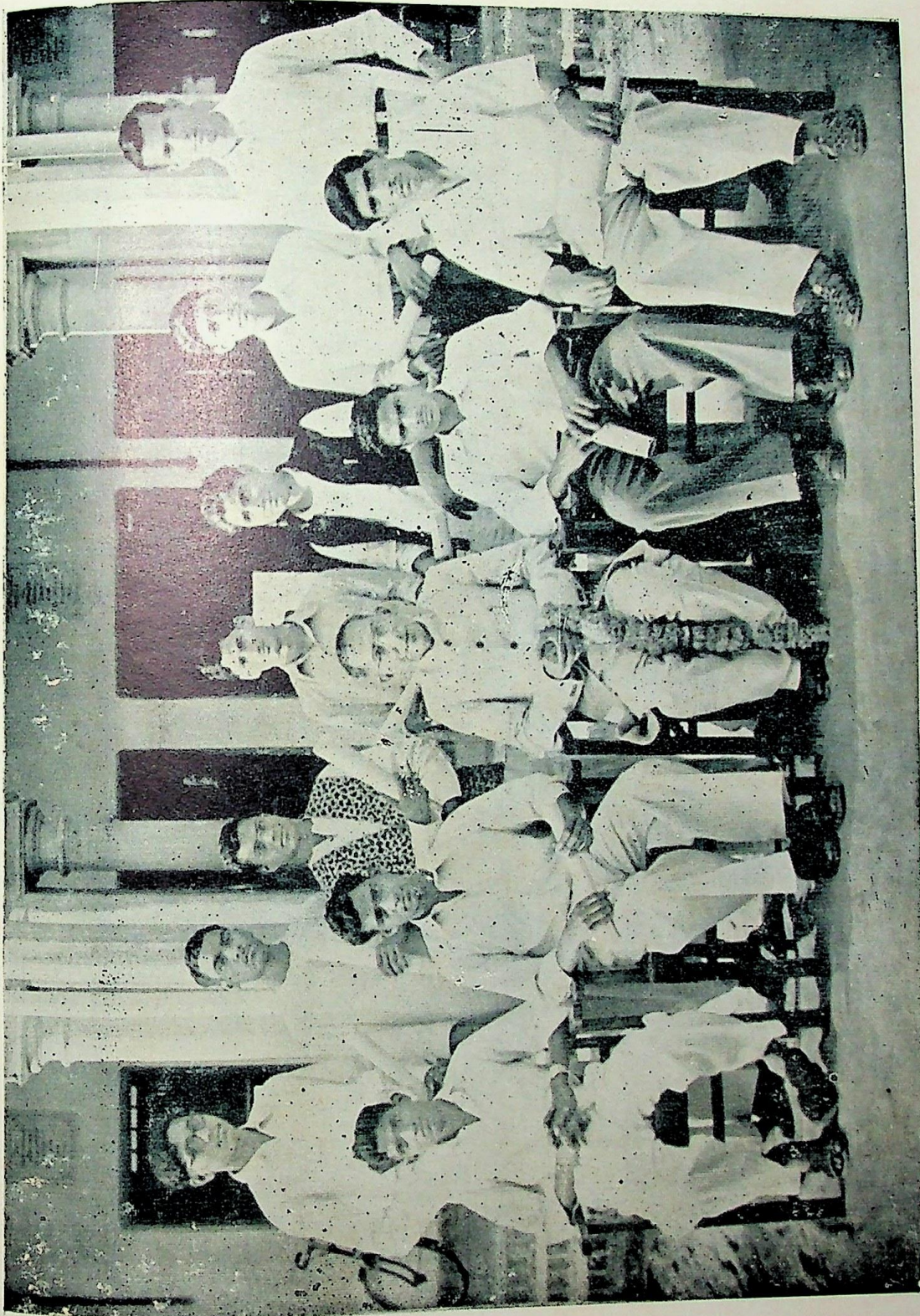
छात्रपरिषद्, आयुर्वेद कालेज, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के मध्य आचार्य धर्मदत्त वैद्य

# आचार्य धर्मदत्त वैद्य का प्रसाद

प्रोफेसर श्री जनमेजय विद्यालकार, एम० ए०, कानपुर

"श्री पण्डित धर्मदत्त जी वैद्य महोदय का विधिवत् शिष्य रहने का सौभाग्य कुछ समय के लिए मुझे भी प्राप्त रहा है। उस समय में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की चतुर्दश श्रेणी में पढ़ता था। गुरुकुलीय अध्ययन काल का वह मेरा अन्तिम वर्ष था, जब कि गुरुकुल में आयुर्वेद के प्रोफेसर के रूप में वैद्य धर्मदत्त जी ने प्रथम प्रथम अध्यापन का कार्य प्रारम्भ किया था। यह कार्य उन्होंने प्रातः स्मरणीय स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के आदेशानुसार प्रारम्भ किया था। श्री स्वामी जी महाराज को आदमी पहिचानने की अद्भुत प्रतिभा प्राप्त थी, इसीलिए वह मद्रास से बुलवाकर वैद्य धर्मदत्त जी को गुरुकुल में लाए थे। स्वामी जी महाराज समझ गए थे कि गुरुकुल के आयुर्वेद कालेज के लिए वैद्य धर्मदत्त जी परमोपयोगी होंगे और वैद्य धर्मदत्त जी के लिए भी तात्कालिक गुरुकुल ही सर्वोत्तम कार्यक्षेत्र रहेगा। मुझ को तथा मेरी श्रेणी के अन्य आयुर्वेदिक छात्रों को भी इस बात का सदैव अभिमान रहा है, और अब भी है, कि वैद्य धर्मदत्त जी के प्रथम प्रथम शिष्य हम लोग ही थे।

यद्यपि वैद्य धर्मदत्त जी महोदय से विधिवत् आयुर्वेद पढ़ने का सुअवसर हमें केवल एक वर्ष तक ही प्राप्त रहा, किन्तु उस एक वर्ष में ही आयुर्वेद का जो शास्त्रीय ज्ञान उन्होंने हमें दिया तथा जो आयुर्वेद का क्रियात्मक बोध हमें उन्होंने करवाया, उससे मैं तथा मेरे सहपाठी छात्र कृतकृत्य हो गए। वह एक प्रकार से finishing Touch था। मेरे आयुर्वेदिक ज्ञान का finishing Touch इतना अच्छा हुआ और इतना प्रभावशाली हुआ कि मैं सदा के लिए वैद्य धर्मदत्त जी का प्रशंसक बन गया, अनुगृहीत हो गया।

बाद में विस्तृत संसार के विस्तृत कार्यक्षेत्र में आने पर भी मुझ पर वैद्य धर्मदत्त जी की कृपा हमेशा ही बनी रही। उनकी अकृत्रिम सहृदयता से और निश्छल आत्मीयता से और आडम्बरशून्य स्नेह से, मैं सदा ही अत्यन्त प्रभावित रहा हूं। किसी भी शारीरिक रोग से आक्रान्त होने पर मैं जब जब भी उनके पास पहुंचा हूं तब तब ही उन्होंने बड़ी तत्परता से मेरी चिकित्सा की है और मुझे आरोग्य लाभ हुआ है। मेरे आत्मीय जनों की चिकित्सा करने में भी उन्होंने सदैव सहृदयता का तथा योग्यता का अद्भुत परिचय दिया है। पण्डित धर्मदत्त जी वैद्य अन्तःसार व्यक्ति हैं। आडम्बर शून्य,। ऐसे ही अन्तःसार वैद्यों की हमारे देश को इस समय बड़ी आवश्यकता है। ईश्वर की कृपा से पण्डित धर्मदत्त जी को यश सुख समृद्धि प्रतिष्ठा और सौ वर्षों की लम्बी आयु अवश्य प्राप्त हो, भूयश्च शरदः शतात्, यह मेरी हार्दिक अभिलाषा है।"

---

# जोत से जोत जले

महाशय बुड़ीराम वैद्य, योगी फार्मेसी, कनखल

महाशय श्री खुशाबीराम जी के सुपुत्र आचार्य वैद्य धर्मदत्त विद्यालंकार आजकल कनखल के निवासी हैं। पण्डित धर्मदत्त वैद्य को कौन नहीं जानता है। पण्डित धर्मदत्त वैद्य का नाम लेते ही उनकी सौम्य आकृति, निश्छल स्वभाव, निष्कपट व्यवहार, सरल हृदय, गम्भीर व्यक्तित्व, निस्पृह जीवन, दृढ़ अध्यवसाय, प्रकाण्ड विद्वत्ता उज्ज्वल चरित्र, अनेक गुण मानसपटल पर अंकित होने लगते हैं। सदा शास्त्रों के मनन में लगे रहना, सदा लिखते-पढ़ते रहना इनके जीवन का अंग बन गया है। चिकित्सा व्यवसाय में इनका उद्देश्य लोक सेवा है।

इन्हीं पण्डित धर्मदत्त वैद्य के पिता थे—महाशय श्री खुशाबीराम जो लायलपुर (पाकिस्तान) में रहते थे। महाशय खुशाबीराम जी रेलवे में स्टेशनमास्टर थे। रेलवे की सेवा से स्टेशनमास्टर के रूप में रिटायर्ड हुए। महाशय खुशाबीराम जी रेलवे की सेवा में रहते हुए सदा ईमानदार रहे। कर्तव्यपालन करने में सदा अग्रणी रहे। कभी प्रमादवश या आलस्यवश अपना कर्त्तव्य पूरा करने में नहीं चूके। उनके उज्वल चरित्र का प्रताप यह था कि लोग उनके सामने रिश्वत देने की बात करने से भी घबराते थे। उनके चरित्र के प्रताप से सब घबराते थे।

महाशय खुशाबीराम जी कट्टर आर्यसमाजी विचारों के थे। उनमें उज्वल चरित्र का प्रताप आर्यसमाज के प्रभाव से ही आया था। उनके आगे भ्रष्टाचारी पुरुष के पैर कांपते थे। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव यह था कि भ्रष्टाचार पनप नहीं सकता था। जैसे सूर्य का तेज दूर तक फैलता है वैसे उनका प्रभाव दूर तक था। प्रभाव ऐसी वस्तु है जो दूर से दूर स्थान तक भी पहुंचती है। धर्म के प्रति उनकी दृढ़ आस्था थी। वेदों में उनकी अगाध श्रद्धा थी। भारतीय सभ्यता, भारतीय संस्कृति, राष्ट्रीयता में दृढ़ विश्वास रखते थे। परछिद्रान्वेषण की आदत उनमें नहीं थी। परोत्कर्ष की असहिष्णुता ने उनको छुआ भी नहीं था। सदा समाज के कल्याण में अपना समय लगाते थे।

महाशय खुशाबीराम जी ने अस्पृश्यता निवारण के लिए अनेक प्रयत्न किये थे। 'शुद्धि' का कार्य बड़े जोरशोर से कराते थे। असल में आज देश में जो साम्प्रदायिकता का विष लोगों के दिलों में जड़ जमाता जा रहा है उसका मूल कारण जातीय अनेकतावाद या जातीय पृथक्तावाद है। पृथक् जातीयता की भावना तभी समाप्त हो सकती है जब हम अन्य जातियों या अन्य सम्प्रदायों को भी अपने में मिला लें। अपने अनुरूप बना लें। यह कार्य 'शुद्धि' द्वारा संभव है। ऐसा दृढ़ सिद्धान्त महाशय खुशाबीराम जी का था। 'शुद्धि' का तात्पर्य अन्य धर्मों, अन्य सम्प्रदायों, तथा अन्य भिन्न जातियों को परस्पर आत्मसात् करना है ताकि विश्वबन्धुत्व की भावना विकसित हो और एक मानव धर्म तथा केवल मानवजाति की भावना विश्व में विकसित हो। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने इसी वास्ते 'शुद्धि' का कार्य शुरू किया था।

महाशय खुशाबीराम जी गोसेवा के पक्षपाती थे। उनको हिन्दी का ज्ञान, संस्कृत के प्रति रुचि तथा वेदों के प्रति अगाध निष्ठा थी। इन्होंने अपने सारे परिवार को आदर्श बनाने का संकल्प किया था। आदर्श पिता के अनुरूप ही आदर्श पुत्र हुए—हमारे आचार्य धर्मदत्त वैद्य विद्यालंकार जी। आचार्य धर्मदत्त वैद्य जी को अपने पिता श्री महाशय

खुशाबीराम जी से विरासत रूप में उज्वल चरित्र की निधि तो मिली ही थी। लेकिन गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में शिक्षादीक्षा होने से और स्वामी श्रद्धानन्द जी–आचार्य सत्यानन्द जी–तपस्वी आचार्य अभयदेव जी के सांनिध्य से श्री धर्मदत्त वैद्य जी में अनेक उदात्त मानवीय गुणों मधुरभाषिता–दीनजनसेवा–निःस्पृह स्वभाव–का विकास हुआ। श्री धर्मदत्त वैद्य जी ने अपने पिता श्री महाशय खुशाबीराम जी के कार्य को आगे ही बढ़ाया। श्री वैद्य धर्मदत्त जी ने अनेकों विद्वान शिष्य पैदा किए, इनके अनेक शिष्यगण आज किसी न किसी आयुर्वेद कालेज में प्रिंसीपल पद को सुशोभित कर रहे हैं। श्री धर्मदत्त वैद्य विद्यालंकार जी ने अनेकों अमूल्य ग्रन्थ लिखकर आयुर्वेद जगत के गौरव को बढ़ाया है। गुरुकुल कांगड़ी का आयुर्वेद कालेज जब नन्हा पौधा था, तब श्री धर्मदत्त वैद्य जी ने प्रिंसीपल पद पर रह कर उसको खूब विकसित किया। गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी का भी प्रारम्भ इन्होंने आयुर्वेद कालेज के लिए कराया था। गुरुकुल आयुर्वेद कालेज के छात्रों को रसशास्त्र तथा औषधनिर्माण की क्रियात्मक शिक्षा के लिए गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी को शुरू करने की दिशा में वैद्य धर्मदत्त जी का पर्याप्त योगदान रहा है।

इन्होंने आयुर्वेदजगत को जो अमर कृतियां प्रदान की हैं उससे वैद्य वर्ग गौरवान्वित हो रहा है। आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों का विवेचन करने में इनकी निजी प्रतिभा अत्यन्त प्रखर हुई हैं। कायचिकित्सा का अगाध ज्ञान इनकी अध्ययन रुचि का परिणाम है। इनके पास चिकित्सा कराने के लिए दूर के रोगी ज्यादा आते हैं। इन्होंने कभी अपना इश्तिहार नहीं किया। इश्तिहार के बल पर अपना यश फैलाने की कभी कोशिश नहीं की। रोगी की विवशता से अनुचित धनलाभ की कभी इच्छा नहीं की।

मेरी प्रार्थना परमपिता परमेश्वर से है कि वह इनको दीर्घायुष्य तथा आरोग्यसुख प्रदान करे जिससे समाज को, दीन जनों को, रोगी जनों को, तथा देश को इनकी सेवाओं का लाभ प्राप्त होता रहे।

# अजातशत्रु आयुर्वेदाचार्य श्री धर्मदत्त वैद्य विद्यालंकार

डाक्टर वेदव्रत एम० बी० बी०-एस०, एम० एस० (सर्जरी) ई-१।१ कृष्णनगर दिल्ली-५१

महाराजा भर्तृहरि अपनी नीतिशतक में लिखते हैं :—

मनसि वचसि काये पुण्य पीयूषपूर्णास्त्रिभुवन-मुपकार श्रेणिभिः प्रीणयन्तः। पर गुण परमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं, निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥

मन, वचन शरीर में पवित्रतारूपी अमृत से पूर्ण, तीनों लोकों को उपकारों से तृप्त करने वाले और दूसरे के छोटे से गुणों को भी बड़ा मानकर अपने मन में प्रसन्न होने वाले महात्मा संसार में विरले ही होते हैं।

उपर्युक्त श्लोक में जैसे महात्मा का वर्णन किया गया है, श्री वैद्य धर्मदत्त जी वैद्य वैसे ही महापुरुष हैं। दया, प्रेम, विनम्रता और मानवता जिनके रक्त में समाई हुई है, वे वैद्य जी २० दिसम्बर १९७० ई० को अपने महत्वपूर्ण जीवन के ७६ वर्ष पूर्ण कर रहे हैं।

उनका जन्म २० दिसम्बर १८९४ में पश्चिमी पंजाब के जिला लायलपुर के अन्तर्गत चिनियोट नगर में हुआ। उनके पिता श्रीमान् महाशय खुशाबीराम जी नार्थ वेस्टर्न रेलवे स्टेशन मास्टर थे, महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त और दृढ़ आर्य-समाजी थे। धर्मप्रचार की उनके हृदय में अत्यन्त लगन थी। जब स्वनाम धन्य महात्मा मुंशीराम जी ने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना के लिए धनसंग्रह किया, उन्होंने इस पुनीत कार्य में महात्मा जी की बड़ी सहायता की।

आदर्श आर्य बनाने के विचार से सन् १९०१ में गुरुकुल की स्थापना होते ही उन्होंने अपने दोनों बड़े पुत्रों विश्वकर्मा जी तथा जयदेव जी को गुरुकुल में प्रविष्ट करा दिया। १९०३ में वैद्य जी गुरुकुल में प्रविष्ट हुए।

वैद्य जी के दो बड़े भाई जिनका वर्णन ऊपर हुआ है, और दो छोटे भाई श्री विद्याधर जी तथा श्री धर्मवीर जी और एक छोटी बहन श्रीमती सुशीला जी पासी—ये सब ही वैदिक धर्म के अनन्य उपासक हैं, और आर्यसमाज की सेवा में सर्वात्मना सतत संलग्न रहते हैं।

वैद्य जी की धर्मशीला धर्मपत्नी श्रीमती सावित्रीदेवी जी सर्वदा परोपकार रत रहती हैं। उनकी सुपुत्री कमला रानी तथा जामाता श्री राघवेन्द्र महेन्द्रू जो बम्बई में कैलिको मिल में एक उच्च अधिकारी हैं—ये दोनों भी बड़े धर्मपरायण हैं।

वैद्य जी बड़े प्रतिभाशाली, विनयशील और गुरुभक्त छात्र रहे। प्रत्येक कक्षा में पुरस्कार पाते रहे। १५ वर्ष तक गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा प्राप्त करके १९१७ में प्रतिष्ठित स्नातक हुए। अपनी चतुर्मुखी योग्यता द्वारा आपने युगपत् दो उपाधियां—विद्यालंकार तथा 'सिद्धान्तालंकार' अर्जित कीं। तदनन्तर मद्रास आयुर्वेदिक कालेज में चार वर्ष का कोर्स तीन वर्ष में समाप्त करके १९२१ में आयुर्वेदाचार्य उपाधि उपलब्ध की।

१९२२ में श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल कांगड़ी आयुर्वेद कालेज में आपको उपाध्याय नियुक्त किया गया। आपके अनुपम अध्यापन अन-वरत अध्यवसाय तथा अपरिमित परिश्रम से प्रभूत प्रभावित होकर गुरुकुल कांगड़ी के अधिकारी वर्ग ने १९४० में आपको उक्त कालिज के प्रिंसीपल पद पर प्रतिष्ठित किया। चार वर्ष तक उक्त पद पर आपने सफलतापूर्वक कार्य किया। १९४४

में कनखल में आपने अपनी पुत्री के नाम पर 'कमला फार्मेसी' स्थापित की तब से आप निरन्तर चिकित्सा कार्य कर रहे हैं।

आपका कार्यक्षेत्र केवल अध्यापन और चिकित्सा तक ही सीमित नहीं रहा, प्रत्युत आपने समय-समय पर उच्च कोटि के ग्रन्थों का प्रणयन किया। १९३४ में 'औषधि विज्ञान' (हिन्दी में), १९३५ में 'त्रिदोष विमर्श' (संस्कृत में), १९५६ में आयुर्वेदिक इन्टर प्रिटेशन आफ मेडिसिन (अंग्रेजी में), १९६६ में 'आधुनिक चिकित्सा शास्त्र,' तथा १९६८ में 'त्रिदोष संग्रह', हिन्दी में प्रकाशित हुए। 'सदाचार' पर एक सुन्दर पुस्तक 'सदाचार संहिता' आपने लिखी है जो शीघ्र ही मुद्रित होने वाली है। उत्तरप्रदेश सरकार आयुर्वेदिक एंड तिब्बती एकेडमी द्वारा आपकी दो पुस्तकें पुरस्कृत भी हुई हैं।

आप दृढ़ आर्यसमाजी हैं, ऋषि दयानन्द के अनुयायी हैं, सब धर्मों के प्रति आदर बुद्धि रखते हैं, दुराग्रह आपको छू तक नहीं गया। विश्व बन्धुत्व, समत्व और समन्वय के मार्ग के आप पथिक हैं। इसी कारण आप "अजात शत्रु" कहलाते हैं।

आयुर्वेद के धुरन्धर विद्वान् होते हुए भी अन्य चिकित्सा प्रणालियों की उपयोगी बातों को निःसंकोच ग्रहण करने के आप पक्षपाती हैं। विज्ञान के क्षेत्र में 'आग्रह वाद' आपको बिल्कुल पसन्द नहीं है।

शिक्षा के सम्बन्ध में आप प्राचीन गुरुकुल शिक्षापद्धति के समर्थक हैं, जिसमें बालक शान्ति, सरलता, सेवा एवं आध्यात्मिकता के वातावरण में पलकर वैदिक शिक्षा के साथ साथ आधुनिक वैज्ञानिक विषयों का भी अध्ययन करता है। शिक्षा समाप्त करने पर वह जीवन के वास्तविक ध्येय अर्थात् सार्वजनिक सेवा द्वारा आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त करने का अभिलाषी हो जाता है, केवल धनोपार्जन या ऊंचे-ऊंचे पदों को प्राप्त करने की लिप्सा से मुक्त रहता है।

वैद्य जी बड़े उदार व्यक्ति हैं। गरीबों की वे यथाशक्ति सहायता करते हैं; दीन दुखियों की सहायता करना वे अपना धर्म समझते हैं। चेतना के प्रतीक, आर्य संस्कृति के साक्षात् स्वरूप, सर्वोदयी भावना के प्रेरक पूज्य वैद्य जी के प्रदर्शित पथ पर चल कर हम सबों को अपना जीवन सफल बनाना चाहिए। इस शुभ अवसर पर हम उनके स्वस्थ और दीर्घ जीवन के लिए परम दयालु परमात्मा से हार्दिक प्रार्थना करते हैं।

---

**वैद्यकुलकमलदिवाकर, 'विद्यालंकार', 'सिद्धान्तालंकार' 'वैद्यभूषण', विविधग्रन्थरत्नों के लेखक, परम प्रेमास्पद, आदरणीय श्रद्धेय वैद्य प्रवर आचार्य श्री धर्मदत्त जी के करसरोरुह में समर्पित यह**

# शुभाभिनन्दन-पत्र

श्री शिवचैतन्यपुरी, कनखल

आज मुझे इस सुर-सरिता भागीरथी के पवित्र उपकण्ठ में विराजमान वैद्य श्री धर्मदत्त जी का अभिनन्दन करते हुए महती प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

मेरा और आपका संस्तव बहुत पुराना है। आपसे जब भी मैं मिलता या प्रसंगवश किसी नैतिक या शास्त्रविषयक बातचीत करने का शुभावसर उपलब्ध होता था तो मेरा मन अत्यन्त प्रसन्न हो जाता था।

आपके वैयक्तिक जीवन से मेरा परिचय चिरकाल का है। आप अपने विषय के प्रौढ़ विद्वान् हैं। परन्तु मैंने अनुभव किया है कि देश सेवा, समाज सेवा, राष्ट्र की सेवा, जनता की सेवा में भी आपका अपूर्व योगदान रहा है। समता की भावना आपके अन्दर ओत-प्रोत है।

रोगियों की चिकित्सा करने में आप सुप्रसिद्ध हैं।

कनखल पुरी में ब्राह्मणों तथा वैद्यों का बाहुल्य है। साथ ही यह पुण्य तीर्थस्थान भी है। यहां दक्ष प्रजापति का प्राचीन सुप्रसिद्ध स्थान है। सतीघाट अपनी महिमा के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। देश-देशान्तर से लोग आते-जाते रहते हैं और बहुत-से असाध्य रोगों की मुक्ति के लिए भी आते हैं। मैंने कतिपय रोगियों के मुख से श्री धर्मदत्त वैद्य जी की प्रशंसा सुनी है। चिकित्सक को रोगी के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए आप में विशेष गुण है जो रोगी के हृदय को सद्यः समाकृष्ट कर लेता है जिस कारण रोगी चिकित्सा कराने के लिए समुद्यत हो जाता है। आपके नाड़ी-निदान की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए भी रोगी थकता नहीं है। अथर्ववेद में यह वाक्य आया है—"पयस्वन् मामकं वचः" (३।२४।५) मेरी वाणी सारयुक्त और रसयुक्त हो। अर्थात् वाणी अत्यन्त मधुर हो—यह आकर्षक गुण आप में स्वाभाविक रूप से हैं। आपकी सरलता-सरसता, शिष्टता, मितभाषिता, मधुरभाषिता गुण निसर्गसिद्ध हैं। "वसुधैव कुटुम्बकम्" को आप विशेष महत्व देते हैं, और एक सिद्धान्त आपका मुझे अत्यन्त प्रिय लगा—जो कि अथर्ववेद में आया है—

"शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर"
अथर्व ३।२४।५)

सैकड़ों हाथों से कमाई कर और हजारों हाथों से वितरण कर। निर्धन-विद्यार्थी, दीन-हीन सन्त-साधु रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा करने में आप कभी भी हिचकिचाये नहीं हैं। रोगी के रोग को दूर करना आप अपना कर्त्तव्य समझते हैं। यही कारण है आपकी विशेष ख्याति हो गई है और रोगी आपके नाम को सुनकर दूर-दूर से आते हैं और चिकित्सा कर रोगमुक्त हो कर प्रसन्नचित्त जाते हैं।

आप नेत्र के विशेष चिकित्सक हैं। बहुत-से गुप्त रोग ऐसे हैं जो असाध्य हैं। पर उनके भी आप सफल चिकित्सक हैं। चिकित्सा सम्बन्धी आप कई

ग्रन्थ लिख चुके हैं उन में से कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें आपको विशेष पुरस्कार से सम्मानित किया गया है।

आप की आयु इस समय लगभग ७६ वर्ष की हो रही है। आप वयोवृद्ध हैं, विद्यावृद्ध हैं, अनुभव वृद्ध भी हैं। सम्प्रति आपको यह जो विद्वद्वैद्यप्रवरों की ओर से सम्मानपूर्वक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है यह नितान्त उपयुक्त कार्य है जिसका मैं भी हृदय से अनुमोदन करते हुए सादर-सविनय श्रद्धेय आचार्य धर्मदत्त जी के कर कमलों में यह तुच्छ प्रेम-प्रसून रूप कुछ शब्द लिखकर भेंट करता हूं। परात्पर प्रभु से सविनय अभ्यर्थना करता हूं कि आप दीर्घायु हों।

# आदरणीय वैद्य धर्मदत्त जी

लाला श्री वेणीप्रसाद जिज्ञासु, कनखल

जब से जालन्धर के महात्मा मुन्शीराम जी ने अपनी चलती वकालत को लात मार कर तपस्वी वेश धारण करके १६०१ में गंगा के उस पार चण्डी पर्वतमाला की उपत्यका तथा कांगड़ी ग्राम के निकट एक रम्य वनस्थली में गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की तभी से मेरा निकट परिचय गुरुकुल से रहा है।

उस समय एक समस्या थी कि उस बियाबान जंगल में अपने बालकों को अपने से अलग कर कौन वहां भरती करेगा। परन्तु आश्चर्य की बात है कि ऋषि दयानन्द के भक्तों ने अपने बालकों को भरती करना प्रारम्भ कर दिया। उस समय पंजाब की वीर भूमि के बालकों का ही अधिकतः प्रवेश हुआ। मैं अभी छोटा था पर मेरे बड़े भाई लाला किशनचन्द जी जो आर्यसमाज के प्रभाव में आ चुके थे, प्रारम्भ से ही गुरुकुल की हर तरह सेवा किया करते थे। उनके इस कार्य के कारण हमारा घर गुरुकुल के बाहर से आने जाने वालों का विश्राम-स्थान बन गया था।

उन्हीं दिनों की बात है कि वैद्य धर्मदत्त जी के पिता बाबू खुशावीराम जी जो उन दिनों मुलतान स्टेशन पर स्टेशन मास्टर थे अपने दो पुत्र रत्नों को जो वैद्य धर्मदत्त जी के बड़े भाई थे दाखिल करने के लिए इधर आये थे। वे हमारे घर पर भी थोड़ी देर ठहरे थे। मैं उस समय १२-१३ वर्ष का था परन्तु मुझे आज तक बाबू जी का हंसमुख चेहरा, मधुर वाणी, उनका इकहरा बदन, उनके मुख पर दाढ़ी, उनकी ऋषि दयानन्द में भक्ति, गुरुकुल शिक्षाप्रणाली में विश्वास, तथा आर्यसमाज के प्रचार की लगन जो उनमें मैंने देखी वह आज तक मेरी आंखों के सामने है। उन दिनों के आर्यसमाजियों में आर्यसमाज की जो उमंग और धर्मनिष्ठा थी वह मुझे उनमें देखने को मिली। वे स्टेशन-मास्टरी के अतिरिक्त अपना सारा खाली समय आर्यसमाज और धर्मप्रचार में लगाते थे इसके लिए उन्हें सरकार का कोपभाजन भी बनना पड़ा था।

इसके दो वर्ष बाद १६०३ में वे अपने तीसरे पुत्र वैद्य धर्मदत्त जी को गुरुकुल में दाखिल करने के लिए आए थे।

वैद्य धर्मदत्त जी के दोनों बड़े भाइयों श्री विश्वकर्मा जी तथा श्री जयदेव जी ने गुरुकुल में शिक्षा पाई, दोनों बड़े धर्मनिष्ठ, चरित्रवान् और परम ईश्वर-भक्त थे। दोनों ने अपना सारा जीवन आर्यसमाज की सक्रिय सेवा में व्यतीत किया। अभी १६६६ के अन्त में तथा १६७० के आरम्भ में क्रमशः दोनों भाइयों के वियोग का दुःख वैद्य जी को उठाना पड़ा।

वैद्य जी के दो छोटे भाई श्री विद्याधर जी तथा श्री धर्मवीर जी रेलवे में सेवा करते थे और अब देहली में रह रहे हैं। सेवा काल में वे सदा आर्यसमाज की सेवा करते रहे हैं। इनकी एक छोटी बहिन श्रीमती सुशीला जी धर्मपत्नी डाक्टर सी०डी० पासी जो शिमला में रहती हैं, शिमला आर्यसमाज क्षेत्र की प्रमुख कार्यकर्त्री हैं। इस प्रकार बाबू खुशाबीराम जी के सब पुत्र पुत्री बाबू जी की देन को पाकर आर्य-समाज की सेवा में अग्रसर रहे हैं।

वैद्य धर्मदत्त जी जब से १६४३ में गुरुकुल आयुर्वेद कालेज से रिटायर होकर कनखल में अपना चिकित्सा कार्य करने लगे हैं तभी से मैं इनके निकट सम्पर्क में आया हूं। मैंने तथा उन्होंने मिलकर आर्यसमाज, कांग्रेस तथा सर्वोदय समाज में कार्य किया है। इनको मैंने दृढ़ आर्यसमाजी,
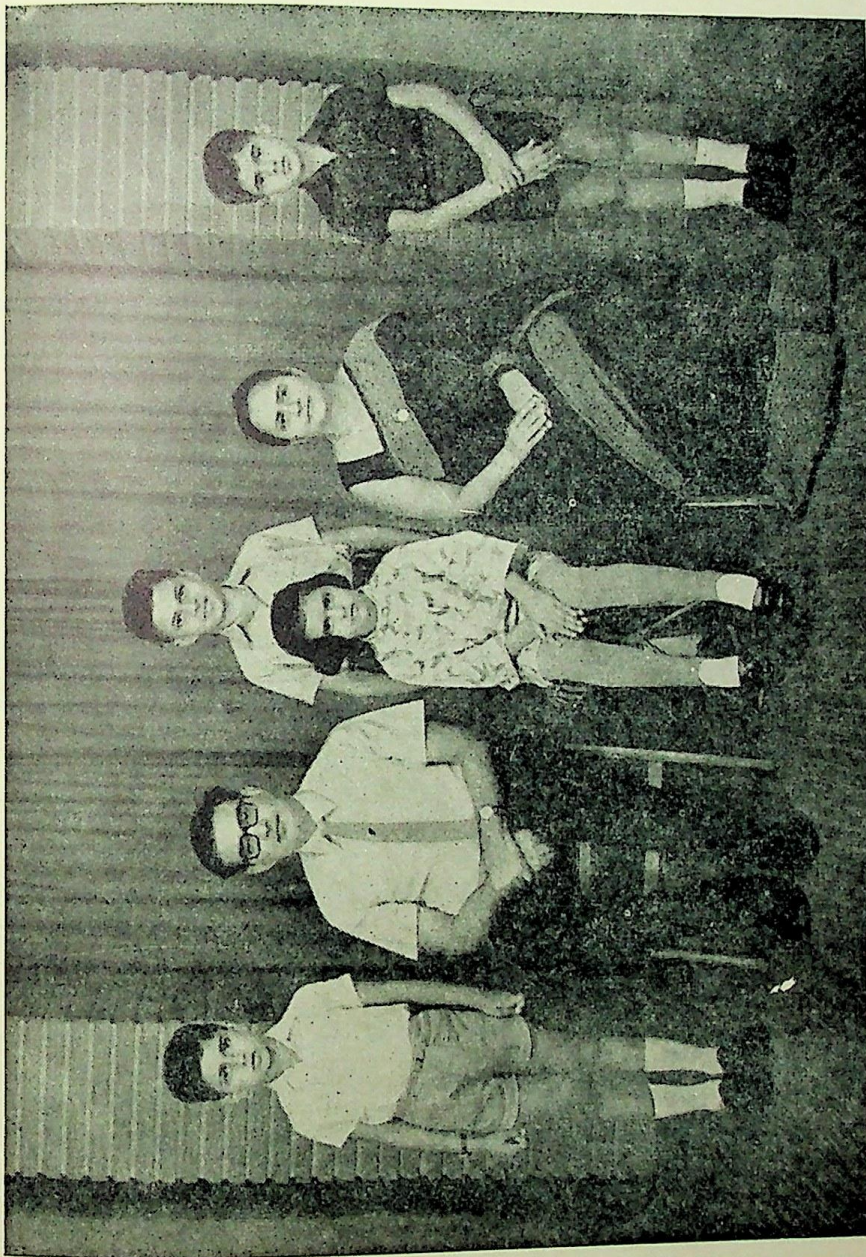
वैद्य धर्मदत्त जी की पुत्री कमला तथा दामाद राघवेन्द्र महेन्द्र तथा तीन दोहते और एक दोहती, सन् १९७०।
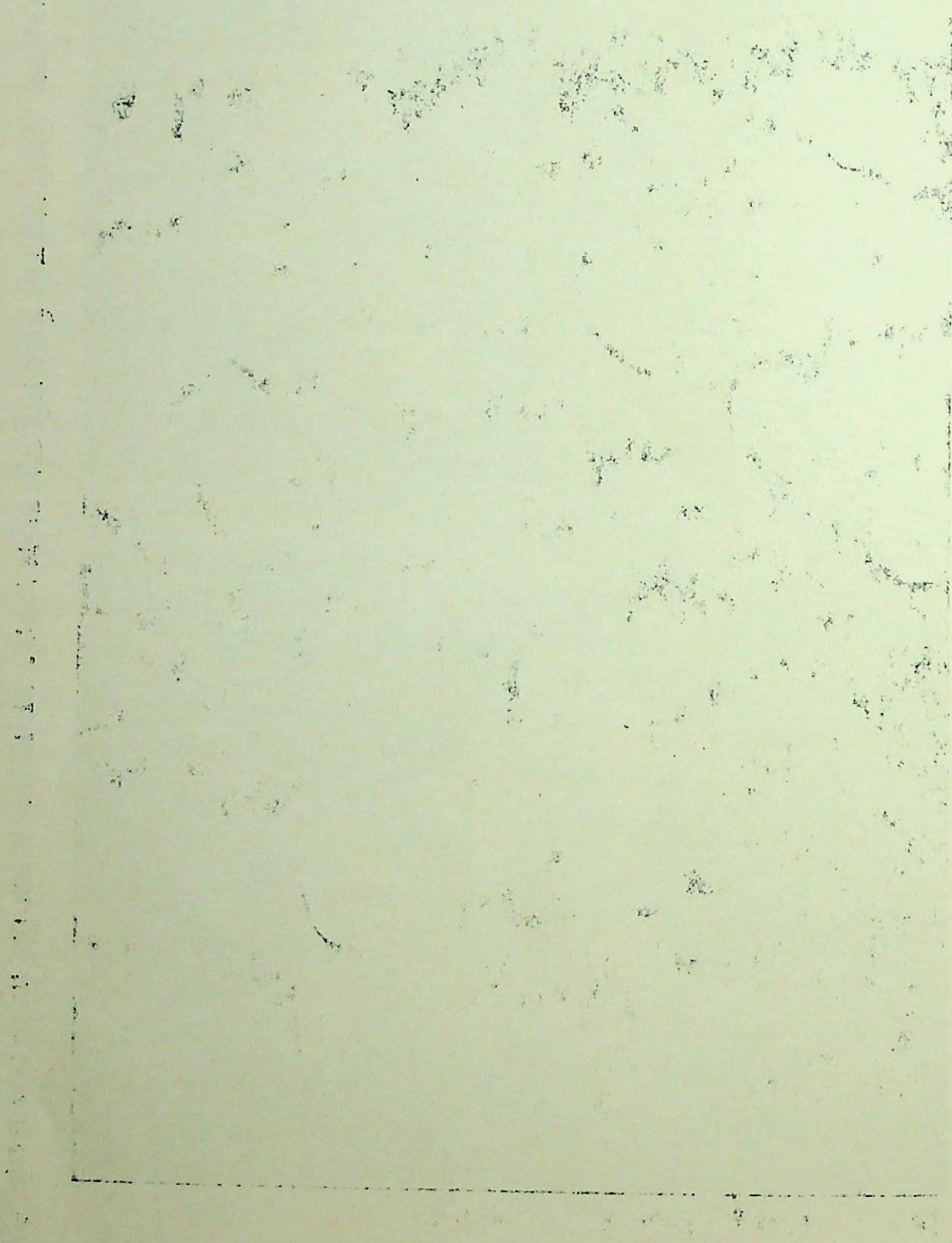
सच्चा कांग्रेसी और सर्वोदय विचारधारा का सच्चा अनुयायी पाया है। आपने कनखल में खादी तथा चर्खे के प्रचार कार्य में तथा हरिजनोद्धार के कार्यों में सदा सहयोग प्रदान किया है। आप स्वामी दयानन्द, गांधी जी तथा सन्त विनोवा के दृढ़ अनुयायी हैं। आप हर प्रकार के मतवाद, जातिवाद, संप्रदायवाद, एक को दूसरे से पृथक् करने वाले हरएक वाद से शून्य हैं। आप के अन्दर किसी धर्म किसी सम्प्रदाय किसी राजनीतिक दल के लिए विरोध या द्वेष का भाव कभी देखने में नहीं आया। आप मण्डन करना जानते हैं, खण्डन करना नहीं। आप मानव धर्म या मानवतावाद में विश्वास रखते हैं, उसे सर्वोपरि धर्म मानते हैं तथापि आप अपने को दृढ़ आर्यसमाजी कहते हैं।

हम आर्यसमाजी क्यों हैं इस विषय में आपका तथा मेरा भी यह विचार है--

(१) क्योंकि आर्यसमाज नाना देवी देवताओं की पूजा के स्थान पर एक सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान सर्वान्तिर्यामी परमेश्वर की पूजा सिखाता है।

(२) क्योंकि आर्यसमाज का उद्देश्य किसी सम्प्रदाय को कायम करना नहीं है, उसका उद्देश्य सर्व साधारण को आर्य या आर्यसमाजी बनाना है। आर्यसमाज सद्धर्मप्रचारक संस्था है। कोई विशेष संप्रदाय नहीं है।

(३) क्योंकि आर्यसमाज अन्धविश्वास और अन्धश्रद्धा के स्थान पर तर्क पर बल देता है। वह दैववाद के स्थान पर उद्योग पर बल देता है।

(४) क्योंकि आर्यसमाज जन्मजात वर्णव्यवस्था में विश्वास नहीं रखता। ऊंचनीच, स्पृश्यास्पृश्य आदि भेदभावों को मिटाता है वह मनुष्यमात्र को सादगी देता है।

(५) क्योंकि आर्यसमाज धर्म के बाह्य आडम्बरों को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। वह चरित्र को और सद्व्यवहार को धर्म का प्रधान लक्षण मानता है।

(६) क्योंकि आर्यसमाज सिनेमा, नाच, गान, तमाशे शौक आदि पर व्यर्थ खर्च करने के स्थान पर अनाथालयों, हस्पतालों, विद्यालयों आदि को दान देने पर बल देता है।

(७) क्योंकि आर्यसमाज धर्मप्रचार और वैदिक सिद्धान्तों के मण्डन पर अधिक बल देता है।

श्री वैद्य धर्मदत्त जी के साथ इतने वर्ष रहते हुए मैंने अनुभव किया है कि उनके भौतिक शरीर में एक प्रकाशमान आत्मा निवास करती है,जो जरा से अधर्माचरण को सहन नहीं करती। वे सत्य और अहिंसा के पुजारी हैं। सब के प्रति प्रेम के अतिरिक्त दूसरा भाव न रखना उनका स्वभाव है। वे व्यक्तियों सम्प्रदायों दलों आदि के गुण ही देखते हैं, अवगुण नहीं। वे कभी किसी के लिए निन्दासूचक शब्द नहीं बोलते। आर्यसमाजी और कांग्रेसी होते हुए भी वे सब धर्मों सब राजनैतिक दलों के व्यक्तिओं के लिए आदर और प्रेम का भाव रखते हैं। विचारों में विरोध होने पर भी वे व्यक्ति से प्रेम भाव रखते हैं। 'यथाचित्ते तथा वाचि' के अनुसार वे शुद्ध सरल हृदय हैं। चिकित्साकार्य में भी वे स्वार्थ-साधना के लिए नहीं,अधिकतर सेवा के उद्देश्य से ही प्रवृत्त रहते हैं। अपने काम से बचे समय को वे अध्ययन स्वाध्याय आदि में व्यतीत करते हैं 'कुछ हमजिंस वाहम प्रवाज कबूतर बाकबूतर बाज व बाज' की कहावत के अनुसार हमविचार होने से मेरा उनका साथ वर्षों से चला आ रहा है। ऐसे मित्र सखा व साथी को पाकर मैं प्रसन्नता अनुभव करता हूं और उनके इस सामाजिक अभिनन्दन के समय उनका हृदय से अभिनन्दन करता हूं, तथा परम-दयालु परमेश्वर से प्रार्थना करता हूं कि वह उनको दीर्घायु प्रदान करे।

'पश्येम शरदः शतम्' जीवेम शरदः शतम्"।

---

### चिरपरिचित सौजन्यादिगुणोपेत-विमलात्मा-आचार्यवरेण्य वैद्य श्री धर्मदत्तजी को सेवा में "प्रेमी" की

# प्रेमाप्लावित प्रशस्त पुष्पाञ्जलि

श्री सीताराम 'प्रेमी', महामन्त्री गंगासभा, हरद्वार

अजस्र विमलवारिधारा को प्रवाहित करने वाली भगवती भागीरथी के पवित्रोपकण्ठ में हरिद्वारस्थ पंचपुरी में कनखल भी एक पुण्य तीर्थ सुप्रसिद्ध है। केदारखण्ड में ये श्लोक आये हैं--

गंगाद्वारे कुशावर्ते बिल्वके नीलपर्वते।
स्नात्वा कनखले तीर्थे पुनर्जन्म न विद्यते ।।
खलः को नाम मुक्ति वै भजते तत्र मज्जनात्।
अतः कनखलं तीर्थं नाम्ना चक्रुर्मुनीश्वराः ।।

शास्त्र में कनखल की यह विशिष्ट महिमा है। यहां पर निदानज्ञ, असाध्य रोगों के चिकित्सक प्रवीण वैद्यों की बहुलता है। अतः बहुत से लोग कनखल को वैद्यों की पुरी के नाम से भी स्मरण करते हैं।

इसी प्रसिद्ध पुरी में सुप्रसिद्ध वैद्यप्रवर आचार्य धर्मदत्त जी विशिष्ट राजकीय उपाधियों से विभूषित चिरकाल से निवास करते हैं।

मेरा आपके साथ चिरकाल का परिचय है। आप एक सफल चिकित्सक के रूप में यहां पर विख्यात हैं। केवल यहीं नहीं अपितु बहुत दूर-दूर तक सुविख्यात हो चुके हैं। नाड़ीविज्ञान आपका अपूर्व है। कठिन-से कठिन रोगों का निदान आप नाड़ीपरीक्षण से कर लेते हैं। रोगिओं का यातायात सतत बना रहता है। रोगियों के साथ किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए यह एक कलात्मक दृष्टिकोण आपके अन्दर विशेष आकर्षण है। जो भी रोगी आपसे एक बार मिलता है आपकी सरलता, सरसता से प्रभावित होकर चिकित्सा कराने के लिए तत्पर हो जाता है। परोपकार की भावना आपके अन्दर ओत-प्रोत है। रोगी के रोगनिवारण की ओर आपकी दृष्टि रहती है। अर्थोपार्जन का लक्ष्य गौण होता है। जो कि सर्वसाधारण में यह बात नहीं देखी जाती।

आप अपने विषय के पूर्ण विद्वान् हैं। आपका वैयक्तिक जीवन सत्यता, सादगी, साधना से आप्लावित है। धर्म-कर्म में आपकी पूर्ण निष्ठा है। आप क्रियात्मक जीवन को अधिक महत्त्वशाली समझते हैं। यों तो आप पूर्ण रीति से समन्वयवादी हैं। यही कारण है-'महात्मा विनोबा भावे' से संचालित सर्वोदय समाज में आपकी अनन्य निष्ठा विद्यमान है।

मैं आपके विषय में अधिक क्या कह सकता हूं। आपके समस्त जीवन की ओर एक विहंगम दृष्टि से जो निष्कर्ष निकाल सका हूं वह श्री भगवद्गीता के शब्दों में इस प्रकार है--

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखक्षमी ।।

इस समय आपकी आयु लगभग ७६ वर्ष की चल रही है। समस्त आयुर्वेदसेवाओं के लिए भारत के विशिष्ट आयुर्वेद के धुरीण विद्वानों ने जो अभिनन्दन करने का सुनिश्चय किया है यह शुभ कार्य उनके अनुरूप ही है। इतना कह कर मैं भक्तवत्सल भगवान् सर्वेश्वर से यह अभ्यर्थना करता हूं कि--

आचार्य वैद्य श्री धर्मदत्त जी आयुर्वेदाचार्य सपरिकर सुखसम्पत्समन्वित होकर दीर्घायु को सम्प्राप्त करें।

"कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन

# श्रद्धेयं कविराजं धर्मदत्त महोदयंप्रति शुभाञ्जलिः

श्री धर्मदेवो विद्यामार्तण्डः (देवमुनिर्वानप्रस्थः), आनन्दकुटीरम् ज्वालापुरम्

सौम्योऽभिमान रहितो भिषजां वरेण्यः
पीयूषपाणिरमलः सरल स्वभावः ।
नित्यंपरोप करणे निरतः सुधीर्यः
तं धर्मदत्त कविराज महं नमामि ॥१॥

ज्ञानं यदीय मतुलं किल वैद्यकस्य
धर्मानुशोलनरतः सततं मनीषी ।
श्रद्धा परास्त्यविचला खलु यस्य देवे
तं धर्मदत्तकविराजमहं नमामि ॥२॥

उच्चा विचारसरणी ऋजुजीवितं च,
आभाणकस्य भुवि योऽस्ति हि मूर्तरूपः ।
यद् दर्शनेन परिणश्यति दुःखमर्धं
तं धर्मदत्त कविराज महं नमामि ॥३॥

यस्मात्परं नहि मयाधिगतं सुमित्रं
प्रादर्शि येन विपदः समये स्वसख्यम् ।
यस्य स्मृतिः पुलकितं खलु मां करोति
तं धर्मदत्तकविराज महं नमामि ॥४॥

धन्योऽस्मि येन सुसखाधिगतः सुधीरो
नित्यं प्रसन्नवदनः सदनं गुणानाम् ।
सन्मार्ग दर्शकवरोऽकृतको हितैषी
तं धर्मदत्त कविराजमहं नमामि ॥५॥

सन्ध्यासुगीतखचिता सुखदा यदीया
आनन्दपूरभरितानि च गीतकानि ।
गीताऽनुवादकमहं सुमतिं प्रशान्तं
तं धर्मदत्तकविराज महं नमामि ॥६॥

विद्वद्वर्यः सरल सुमतिर्वैद्यकत्वप्रकाण्डः
स्वातन्त्र्याप्तावविहितमतिर्यातनायः प्रषेहे ।
शिष्यैः साकं सुतवदिह यो वर्तते स्नेहमूर्तिः
केनेदृक्षो गुणगणनिधिर्धर्मदत्तो न वन्द्यः ॥७॥

शत युरारोग्यसुकीर्ति युक्तां,
श्रियं हि तस्मै प्रददातु देवः ।
सेवा व्रतो धर्मपरायणोऽसौ
सौख्याञ्चितः सन् मुदितोऽत्र जीव्यात् ॥८॥

# श्री धर्मदत्त जी वैद्य : एक संस्था एक व्यक्ति

श्री महेशदास शिक्षारत्न, भूतपूर्व प्रधानाचार्य सनातनधर्म हायर सैकेन्ड्री स्कूल, कनखल

मेरा यह सौभाग्य है कि श्री धर्मदत्त जी वैद्य से मेरा सुखद सामीप्य रहा है। वैद्य जी लायलपुर के निवासी हैं, आप के पिता महात्मा खुशाबीराम निवृत्तमान स्टेशन मास्टर तथा आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता थे। उनके यहां लायलपुर में १ वर्ष तक उनके समीप रहने का अवसर मुझे मिला था, यह बात १६२० की है जब मैं मुख्य अध्यापक के रूप में सनातनधर्म स्कूल लायलपुर में नियुक्त हुआ था। वह स्मरण समय यद्यपि बीत गया है किन्तु उन दिनों की सुखद स्मृतियों के घोंसले से मेरा मन पंछी अब भी बाहर नहीं निकला है।

१६४७-४८ से मैं कनखल में शिक्षण का कार्य कर रहा हूं। इस अवधि में सामाजिक कार्यकर्त्ता के रूप में मैंने वैद्य जी के क्रिया कलाप को निकट से देखा है। स्वस्थ चिन्तनशील विचारक तथा स्वच्छ हृदय वाले आदर्श नागरिक के सभी गुण मुझे वैद्य जी के व्यक्तित्व में गुंथे हुए मिले हैं। वैद्य जी कुशल चिकित्सक हैं। निदान में वह रोग के मूल स्रोत का पता लगाते हैं और तब उचित औषधि देते हैं। उनके इसी गुण के कारण बाहरी गांवों से अनेक रोगी परामर्श के लिए उनके पास आते हैं तथा उनके उपचार से पूर्ण स्वास्थ्य लाभ करते हैं। चिकित्साशास्त्र पर उन्होंने अनेक उपयोगी और प्रामाणिक पुस्तकें लिखी हैं। उन्होंने जनसेवा के व्रत का अखण्ड निर्वाह किया है। उनके इस अभिनन्दन समारोह पर मेरी हार्दिक शुभ कामनायें हैं कि वह शतायु हों तथा अपनी पूर्ण निष्ठा के साथ जनसेवा का कार्य करते रहें।

# श्री धर्मदत्तगुरवे नमः

डाक्टर वासुदेव चैतन्य, आयुर्वेदालंकार

विद्याधनेन सम्पन्नं, पाण्डित्येन सुपूरितम् ।
विद्वद्वरं सदा वन्दे, "धर्मदत्तं" मनीषिणम् ।। १ ।।

श्रद्धास्पदं वैद्यवरं प्रशस्तं, सेवाव्रतं निश्छलकर्मशीलम् ।
धीरं प्रशान्तं नररूप 'धर्म'', श्रीधर्मदत्तं शतशो नमामि ।। २

श्रीधर्मदत्तायमहोदयाय, विद्वद्वरेण्याय सुपण्डिताय ।
पीयूषवर्षाय चिकित्सकाय, भक्त्या च स्नेहेन नमो नमोऽस्तु ।। ३

भागीरथीतीरसमाश्रितानां, श्रद्धादयाप्रेम तपोधनानाम् ।
परोपकाराय सतां मुनीनां, संदर्शनं भाग्ययुता लभन्ते ।। ४

भागीरथीतीर समाश्रितानां, ज्ञानाग्नियज्ञेन सुगन्धभाजाम् ।
लोकोपकारेण सुपुष्पितानां, पादारविन्दं सुभगा लभन्ते ।। ५

सत्कामकर्मकरणे हृदयेन युक्तः, सद्भावशुद्धमनसा सुविचारशीलः ।
विद्याविवेकविभवः सुसुखेन जीव्यात्, श्रीधर्मदत्तप्रवरः शरदः शतानि ।। ६

सौभाग्यशीलयुतवीरवरेण्यरूपः, प्रज्ञानमानधनिको विनयोन्नतश्च ।
शिष्याभिपूजितगुरुर्यशसा सुजीव्यात्, श्रीधर्मदत्तसुबुधः शरदः शतानि ।। ७

विद्यावदातमुखपद्मविभूषितोऽयं, स्नेहार्द्रचित्तरुचिरः कुलकान्तकेतुः ।
पीयूषपाणिपरसश्च चिरं सुजीव्यात्, श्रीधर्मदत्त सुमनः शरदः शतानि ।। ८

श्रद्धाभक्तिसमन्वितः सुसरलो दुखापहारी सदा,
पापाद्वारणतत्परः शुभपथे नित्यं सुसंयोजकः ।
आपत्कालसहायकः सुखकरः दाता च काले स्वयं,
शिष्यान् शिक्षयति प्रबोधयति च श्रीधर्मदत्तो गुरुः ।। ९

'धर्म'' स्नेहयुतं समीक्ष्य, पुत्रो दुःखं विनष्टं मम,
सर्वं शोकभयं कथं विगलितं चिन्ता चिता निर्गता ।
नष्टो व्याधिरिदं प्रफुल्लितमनो हर्षेण सम्पूरितम्,
कोऽयं दिव्यगुणान्वितो ? गुरुवरः पीयूषवर्षाकरः ।। १०

# अभिनन्दनीय वैद्यराज

कविराज श्री योगेन्द्रपाल शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य

वैद्यराज श्री पंडित धर्मदत्त जी, विद्यालंकार आयुर्वेदाचार्य, मेरे नगर के हैं, मेरे अग्रज, मेरे श्रद्धेय हैं—इसलिए मैं यह पंक्तियां लिखने को उद्यत नहीं हुआ, अपितु मुझे उल्लास हुआ कि पूज्यों की पूजा, विद्वानों के सत्कार का यह सुकर्म करने की सत्प्रेरणा राष्ट्रीय चेतना का एक प्रतीक है। राष्ट्र के लिए जहां कहीं भी जिस किसी रूप में भी जो विद्वान मनीषी अपना योगदान दे रहे हैं वे सभी वन्दनीय हैं।

हम उन ऋषि मुनियों के प्रति राष्ट्रवासियों को कृतज्ञ बनाने का तो प्रयास करते हैं जिन्होंने अपने गहनज्ञान का प्रचार एवं प्रसार ऐसे समय में किया जबकि अखिल विश्व अज्ञानान्धकार से ढका हुवा था। किन्तु उस विज्ञान के विस्तार की बेला में पाश्चात्य संस्कृति के प्रबल प्रवाह में आकन्ठ निमग्न भारतीयों को अपने "स्व" की रक्षा के लिए अडिग रखने वाले जागरूक प्रहरियों का निर्माण करने वाले आज के शीर्षस्थ राष्ट्रपुरुष का यदि यथोचित सम्मान न करते तो अकृतज्ञ होने का अपराध होता। इस दृष्टि से श्री पं० धर्मदत्त जी उस पीढ़ी के विद्वान् हैं, जिन्होंने राष्ट्रीय चेतना के प्रचार युग के लिए गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के आयुर्वेद कालेज के आचार्य के नाते अपने परम प्रवीण शिष्यों की एक पंक्ति प्रदान की है, जिन्होंने देश के कोने-कोने में आज भी आयुर्वेद की पताका को अपने सबल करो में सम्भाला हुआ है। आपके आचार्य काल में निकले हुए विद्वानों को यह निश्चिन्तता नहीं थी कि "आयुर्वेदालंकार" होने पर सरकारी सेवा सुनिश्चित है—उन्हें अपनी विद्वता एवं योग्यता के बल पर ही अपनी सत्ता बनानी थी-इस दिशा में तत्कालीन गुरुकुल के आयुर्वेद स्नातकों ने प्रभूत यश उपार्जित किया। उन्हें उस प्रकार की क्षमताओं से सम्पन्न बनाने का सम्पूर्ण श्रेय श्री पं० धर्मदत्त जी को है। इसमें दो मत नहीं हैं।

वैद्य कैसा होना चाहिये जब यह प्रसंग आता है तो आचार्य सुश्रुत ने बताया:—

यस्तूभयज्ञो मतिमान स समर्थोऽर्थ साधने।

आचार्य वाग्भट्ट ने कहा—

दक्षस्तीर्थात्तशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक्।

आचार्य चरक ने कहा—

स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत्

इन सभी कसौटियों पर श्री पं० धर्मदत्त जी एक सफल वैद्यराज सिद्ध होते हैं। वे प्रकाण्ड पाण्डित्यपरिपूर्ण शास्त्रज्ञ होने के साथ सिद्धहस्त चिकित्सक भी हैं, वे शास्त्रों के मर्म और शरीर के मर्मों के समान रूप से ज्ञाता हैं, वे संशयग्रन्थि और शारीर ग्रन्थि दोनों के संशमन में समर्थ हैं। प्राचीन ज्ञान के साथ अर्वाचीन विज्ञान में उनकी गति समान है। प्राणदान देने की कला में कुशल विचक्षण वैद्यराज की योग्यताओं से सम्पन्न होते हुए भी वे सदा स्वाध्यायशील उत्कट जिज्ञासु और विनम्र गुणग्राही हैं। इस आधार पर भावी चिकित्सकों के लिए आचार्य श्री पं० धर्मदत्त जी आज के भारत में आदर्श वैद्यराज हैं। मैं अपनी सम्पूर्ण शुभकामनाओं के साथ उनकी दीर्घायुष्य के लिए प्रभु से प्रार्थना करता हूं।

———

# महामान्यानां श्री धर्मदत्त वैद्य महोदयानामभिनन्दनम्

कविवरः श्रीमान् जनमेजयः विद्यालंकारः ।

धर्मदत्त इति ख्यातो भिषक् प्रवर आत्मवान् ।
सादरं सबहुश्रद्धमद्यास्माभिः प्रणम्यते ॥१॥

पीयूषपाणिर्वैद्योऽयं लोकानां हितकाम्यया ।
प्रवृत्तोऽभूच्चिकित्सायां तथैवाद्यापि वर्तते ॥२॥

चिकित्साप्राभृतः सोऽयं प्राणाभिसर आत्मवान् ।
भिषजां संसदि सदा लेभे सम्मानमुत्तमम् ॥३॥

आडम्बरविहीनोऽयमाटोपोनास्य रोचते ।
अन्तःसारो महाप्राणः प्राणसारो जितेन्द्रियः ॥४॥

आशावान् धृतिमान् विद्वान् प्रियवाक् प्रियदर्शनः ।
सहायको दयालुश्च सर्वभूतहिते रतः ॥५॥

अध्यापयन् शिष्यगणानायुर्वेदं सविस्तरम् ।
प्रतिभाति सदैवायमायुर्वेदः शरीरवान् ॥६॥

एषो हि स्मारयत्येव चिकित्सायां सदैव नः ।
आत्रेयापरनामानं भगवन्तं पुनर्वसुम् ॥७॥

भिषजां प्रवरः सोऽयं धर्मदत्त इति श्रुतः ।
विरुदैर्बहुभिर्युक्तोऽन्वर्थनामापि विद्यते ॥८॥

शिष्यैः परः शतैर्नित्यं गीयमानमहायशाः ।
शतं वर्षाण्ययं जीव्याद् भूयश्च शरदः शतात् ॥९॥

# वह अविस्मरणीय दिवस

श्री महादेव प्रसाद पाण्डे, एम० ए०, ए० एम० एस०, शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, रायपुर

आचार्य श्री धर्मदत्त जी की ख्याति, विद्यार्थी जीवन से ही, एक सफल, अध्यापक के रूप में, मैं सुनता आ रहा था, किन्तु उनके प्रत्यक्ष दर्शन का सौभाग्य नहीं मिला था। वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन की तरफ से ऋषिकेश, लक्ष्मण झूला में आयोजित, चतुर्थ अखिल भारतीय आयुर्वेदशास्त्रचर्चा परिषद में मुझे भी सम्मिलित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। यह ज्ञानयज्ञ तिथि ७.६.६८ से १७-६-६८ तक सफलतापूर्वक सम्पन्न होता रहा। तिथि १५-६-६८ को गोष्ठी में आन्त्र गत वात चर्चा का विषय निर्धारित था। इसके अध्यक्ष गुजरात राज्य के भू०पू० आयुर्वेद निदेशक आदरणीय विद्वद्वर श्री वासुदेव भाई जी थे। चूंकि आन्त्र-गत वात संज्ञा से किसी विशिष्ट अवस्था का उल्लेख शास्त्रों में नहीं मिलता, अतः यह विषय आकर्षण का केन्द्र था और विद्वानों में उस दिन काफी युक्ति प्रत्युक्ति चल रही थी। परिषद् के प्रारम्भिक दिनों से अब तक भाग लेने वाले विद्वानों से, एक पारिवारिक संबन्ध जैसा हो चुका था। तिथि १५-६-६८ की उस गोष्ठी में कृशकाय किन्तु आत्म-विश्वास की दृढ़ता से परिलक्षित एक नवीन मूर्ति मुझे दिखाई पड़ी जिसने प्रथम दृष्टिपात में ही मेरा ध्यान आकर्षित किया। अनेक विद्वान विवेच्य विषय पर प्रकाश डाल चुके थे। इतने में श्री धर्मदत्त जी का नाम विचारप्रस्तुतार्थ मञ्च पर आमन्त्रित किया गया। वह नवीन मूर्ति ही मञ्च की ओर अग्रसर हुई। इस विशिष्ट व्यक्तित्व ने जिस धोर गम्भीर वाणी एवं पाण्डित्यपूर्ण शैली से, विषय का प्रतिपादन प्रस्तुत किया वह चिरस्मरणीय रहेगा। प्रस्तुत विषय पर मेरे भी कुछ नवीन विचार थे, जिसे प्रस्तुत करने में मुझ को कुछ झिझक हो रही थी। आश्चर्य का विषय था कि इनके और मेरे विचारों में पर्याप्त समानता थी, और मेरी सारी झिझक जाती रही क्योंकि अब मेरे विचारों के पीछे एक सबल व्यक्तित्व का सहारा था।

एक वक्ता के बाद फिर मेरा नाम आया और उस दिन के उल्लेखनीय विषय प्रतिपादनकर्ता के रूप में मेरे भाषण की भी चर्चा रही।

उस दिन की मेरी सफलता का श्रेय आचार्य श्री धर्मदत्त जी को ही है, जिनके विचारों ने मुझे अपना पक्ष प्रस्तुत करने में बहुत बड़ा बल प्रदान किया था। गोष्ठी समापन के बाद मुझे श्री पुरुषोत्तमदेव जी मुलतानी ने, आचार्य जी का प्रशंसात्मक शुभाशीष, जो मेरे सम्बन्ध में बताया, उसे मैं संकोचवश उल्लेख नहीं करना चाहता, क्योंकि मैं उसके योग्य नहीं हूं। वह मेरे जीवन की एक अनुपम निधि ही रहेगी।

परम पिता परमेश्वर से यह हार्दिक प्रार्थना है कि आयुर्वेद में सामयिक चेतना का प्रतीक यह महर्षि दीर्घजीवी होकर आयुर्वेदसेवा में रत नवयुवकों का दिशानिर्देशन करते रहें।

———

# श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड

# द्वारा प्रकाशित कुछ ग्रन्थ



अष्टांग-संग्रह (सूत्रस्थान)--सर्वाङ्गसुन्दर-व्याख्या-सहित। व्याख्याकार--वैद्य पंडित लालचन्द शास्त्री। पृष्ठसंख्या ७७०; मूल्य १२) रु०

आरोग्य प्रकाश (पन्द्रहवां संशोधित संस्करण)--वैद्यराज पंडित रामनारायण शर्मा वैद्यशास्त्री पृष्ठसंख्या ४८८; मूल्य ४) रु०।

आरोग्य प्रकाश (मराठी संस्करण)--वैद्य पंडित रामनारायण शर्मा, पृष्ठसंख्या ५०४; मूल्य ४) रु.।

आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर! -(सचित्र) रायल अठपेजी, लेखक-वैद्य रणजितराय देसाई, प्रिन्सिपल, आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत। पृष्ठ संख्या ८७४; मूल्य १४) रु.।

आयुर्वेदीय व्याधि विज्ञान (पूर्वार्द्ध)-लेखक : आयुर्वेद मार्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य, बम्बई। पृष्ठ संख्या १२८, मूल्य २)६०।

आयुर्वेदीय व्याधि विज्ञान (उत्तरार्द्ध)--लेखक : आयुर्वेद-मार्तण्ड वैद्य यादव जी, त्रिकमजी पृष्ठ संख्या २७४; मूल्य ६)२५।

आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान--लेखक : वैद्य रणजितराय देसाई। पृष्ठ संख्या २८८; मूल्य ६)२५।

आयुर्वेदीय हितोपदेश (द्वितीय संस्करण)--लेखक : रणजितराय देसाई। पृष्ठसंख्या २८८; मूल्य ३)५०।

त्रिदोष-तत्त्व-विमर्श (द्वितीय संस्करण)--लेखक : आयुर्वेदबृहस्पति वैद्य रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य। पृष्ठ २५२; मूल्य ३) रु.।

द्रव्यगुणविज्ञानम् पूर्वार्ध (तीसरा संस्करण)--लेखक : आयुर्वेद-मार्त्तण्ड, वैद्यवाचस्पति वैद्य यादव जी त्रिकमजी आचार्य, बम्बई। पृष्ठ ३८०; मूल्य ४)७५।

निदान-चिकित्सा-हस्तामलक (प्रथम खण्ड)--लेखक : वैद्य रणजितराय देसाई। पृष्ठ ६५६; मूल्य ६) रु.।

पदार्थ विज्ञान--लेखक : आचार्य रामरक्ष पाठक, पृष्ठ २६२; मूल्य ५) रु.।

वनौषधि शतक--लेखक : प्राणाचार्य वैद्य पंडित दुर्गाप्रसाद शर्मा। पृष्ठ [illegible]; मूल्य ५) रु.।

शार्ङ्गधर संहिता--टीकाकार : आचार्य पंडित राधाकृष्ण पराशर। पृष्ठ [illegible]; मूल्य [illegible])२५ रु.।

सिद्धयोग संग्रह--(पंचम संस्करण) आयुर्वेदोद्धारक वैद्यवाचस्पति श्री यादव जी त्रिकम जी आचार्य पृष्ठ १७८; मूल्य २)७५।

औषधिविज्ञानशास्त्र (नवीन प्रकाशन)--लेखक : श्री विश्वनाथ द्विवेदी। पृष्ठ संख्या ८०० से अधिक मूल्य केवल रु. १५-००।

आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान (नवीन प्रकाशन)--लेखक : श्री हरिदास श्रीधर कस्तुरे। पृष्ठ संख्या ६८८; मूल्य केवल रु. १५-००।